चित्र ६ बुद्ध जीवन के दृश्य
गुप्त युग, सारनाथ (इंडियन म्यूजियम, कलकत्ता)
पृष्ठ ११३

काशी का इतिहास

हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर सीरीज

काशी का इतिहास

वैदिक काल से अर्वाचीन युग तक का
राजनैतिक-सांस्कृतिक सर्वेक्षण

लेखक

डा० मोतीचन्द्र

डायरेक्टर, प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम, बम्बई

प्रकाशक

हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर प्राइवेट लिमिटेड,
हीराबाग — बम्बई—४

संस्करण | प्रथम, सितम्बर, १९६२

●

मूल्य | अट्ठाईस रुपए

●

प्रकाशक | यशोधर मोदी
मैनेजिंग डायरेक्टर,
हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर प्राइवेट लिमिटेड,
हीराबाग, गिरगांव,
बम्बई—४

●

मुद्रक | लक्ष्मीदास,
व्यवस्थापक,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मुद्रणालय,
वाराणसी—५

वाराणसी पूर्व दिशा की शाश्वत नगरी है, न केवल भारत के लिये, किन्तु पूर्वी एशिया के लिये भी।

—जवाहरलाल नेहरू

श्रद्धेय राय कृष्णदास को,

तस्मै श्री गुरवे नमः

—मोतीचंद्र

रायकृष्ण दास

दो शब्द

आज से करीब पन्द्रह वर्ष पहले काशी का इतिहास लिखने की मुझे प्रेरणा हुई। अनेक कार्यो में व्यग्र रहते हुए भी अपनी नगरी के भूतकालीन चित्र देखने का लोभ मैं सवरण न कर सका। सामग्री की तलाश में तो ऐसा मालूम पडता था कि नगरी के इतिहास की सामग्री विपुल होगी, पर जैसे-जैसे काम आगे वढता गया, वैसे-वैसे पता चलने लगा कि नगरी का इतिहास एक ऐसे रूढिगत ढाचे में ढल गया था जिसमें तीर्थ से सवधित धार्मिक कृत्यो और पठन-पाठन का ही मुख्य स्थान था, इतिहास तो नगर के लिए गौण था, पर छानवीन करने से यह भी पता चला कि वाराणसी का तीर्थ रूप तो नगरी के अनेक रूपो में एक था। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण वाराणसी का वहुत प्राचीन काल से व्यापारिक महत्त्व था। उसके तीर्थ तथा धार्मिक क्षेत्र वनने के प्रधान कारण नि सन्देह वहाँ के व्यापारी रहे होगे। इतिहास इस वात का साक्षी है कि भारत में धर्म-प्रचार में व्यापारियो का, चाहे वे हिन्दू, वौद्ध अथवा जैन कोई भी हो, वडा हाथ था। वाराणसी में तो हाल तक व्यापारियो के वल पर ही धर्म-प्रचार और सस्कृत शिक्षा चल रही थी।

धर्म, शिक्षा और व्यापार से वाराणसी का घना सम्वन्ध होने के कारण नगरी का इतिहास केवल राजनीतिक इतिहास न रहकर एक ऐसी सस्कृति का इतिहास वन गया, जिसमें भारतीयता का पूरा दर्शन होता है। वनारस के सास्कृतिक इतिहास की सामग्री सीमित होते हुए भी जहाँ तक सभव हो सका है, पुरातत्त्व, साहित्य और पुराने कागजातो, अभिलेखो इत्यादि के आधार पर नगर के वहुरगी जीवन पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। समय के वदलते चलचित्र का स्पष्ट प्रभाव वाराणसी के इतिहास पर भी दीख पडता है, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वाराणसी की सस्कृति का जो नक्शा वहुत प्राचीन काल में वना, वह अनेक परिवर्तनो के होते हुए भी मूल में जैसा का तैसा वना रहा। प्राचीनता की परिपोषक इस नगरी के प्रति लोगो का रोष हो सकता है तथा नगर की मध्यकालीन वनावट, गन्दगी और ठगहारियो के प्रति लोगो का आक्रोश ठीक भी है। पर इन सव कमजोरियो के होते हुए भी यह तो मानना ही पडेगा कि वनारस उस सभ्यता का सर्वदा परिपोषक रहा है, जिसे हम भारतीय सभ्यता कहते है और जिसके वनाने में अनेक मत मतान्तर और विचार धाराओ का सहयोग रहा है। यह नगरी हिन्दू विचार-धारा की तो केन्द्रस्थली थी ही पर इसमें सन्देह नही कि वुद्ध के पहले भी यह ज्ञान का प्रधान केन्द्र थी। अशोक के युग से वहाँ वौद्ध धर्म फूला फला। तीर्थंकर पार्श्वनाथ की जन्मस्थली होने के कारण जैन भी नगरी पर अपना अधिकार मानते हैं। इस तरह धर्मों और सस्कृतियो का पवित्र सगम वन जाने पर वाराणसी भारत के कोने-कोने में वसने वालो का पवित्र स्थल वन गयी। अगर एक सीमित स्थल में सारे भारत की झाँकी लेनी हो तो वनारस ही ऐसा शहर मिलेगा। विविध भाषाओ के वोलने वाले, नाना वेष-भूषाओ

से सुसज्जित तथा तरह-तरह के भोजन करने वाले तथा रीति-रिवाज मानने वाले वाराणसी में केवल एक ध्येय यानी तीर्थ यात्रा के उद्देश्य से मालूम नहीं कितने प्राचीन काल से इकट्ठे होते रहे हैं और आज दिन भी इकट्ठे होते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से यात्रियों की यह श्रद्धा अन्धविश्वास और भेंड़ियाधसान की श्रेणी में आ जाती है, पर श्रद्धा में तर्क का स्थान सीमित होता है। जो भी हो, यह तो निश्चित है कि बहुरूपी भारतीय सभ्यता में समन्वय की भावना स्थापित करने में काशी का बहुत बड़ा हाथ रहा है और शायद इसीलिए हिन्दुओं का वाराणसी के प्रति इतना आकर्षण है।

राजनीतिक इतिहास के क्षेत्रों में भी काशी की अपनी महत्ता रही है। बुद्ध के पहले काशी का स्वतन्त्र अस्तित्व था, पर बाद में वह कोसल में मिल गयी। अजातशत्रु के समय तो काशी-कोसल मगध के साम्राज्य में आ गया। शुंग से गुप्त युग तक काशी का सम्बन्ध पाटलिपुत्र और कोशाम्बी से था। मध्य युग में गुर्जर प्रतिहारों, राष्ट्रकूटों और पालों की लड़ाई में काशी और उसके आसपास का प्रदेश सामरिक दृष्टि से महत्त्व का रहा होगा। पर मध्ययुग में काशी की सबसे मजबूत राजनीतिक स्थिति गाहड़वाल युग में थी जब गाहड़वालों ने उसे अपनी राजधानी बनाया। इसके फलस्वरूप वाराणसी धार्मिक, राजनीतिक और शिक्षा की दृष्टि से उत्तर भारत की प्रधान नगरी बन गयी। अलबीरूनी के अनुसार ११ वी सदी में काशी उत्तर भारत की विद्या क्षेत्र थी। मुसलमानों के बढ़ते प्रभाव के कारण कश्मीर और पंजाब के पण्डित यहीं शरण पा रहे थे और अपनी सीमित शक्ति के अनुसार विजेताओं के प्रति घृणा का भाव फैला रहे थे। पर इस्लाम के बढ़ते प्रभाव के सामने काशी के गाहड़वाल अधिक दिनों तक ठहर नहीं सके। ११९४ ईस्वी में कुतबुद्दीन ऐबक की फौजों ने वाराणसी को तहस-नहस कर डाला तथा नगरी की प्राचीन परम्परायें छिन्न-भिन्न कर डाली। उस समय तो ऐसा लगता था कि वाराणसी नेस्तनाबूद हो गयी, पर इस नगरी में कुछ ऐसी शक्ति है कि मुस्लिम आक्रमण और अधिकार के कुछ दिन बाद ही उसने अपने प्राचीन रूप को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया और अनेक कठिनाइयों के रहते हुए भी, जिनमें मन्दिरों का प्रायः ढहा दिया जाना एक था, उसने अपनी प्राचीन धार्मिक परम्पराओं को फिर से चलाया। इसके साथ ही साथ जन-जीवन में पुनः उत्साह की एक लहर दौड़ गयी।

मुगल युग में वाराणसी का जीवन प्रायः अबाध गति से चलता रहा। शाहजहाँ और औरंगज़ेब की आज्ञा से यहाँ के मन्दिर तोड़े गये पर उपलब्ध विवरणों के आधारपर यह कहा जा सकता है कि अनेक कठिनाइयों के बावजूद नगर का तीर्थ स्वरूप ज्यों का त्यों बना रहा। १८वी सदी के मध्य में बनारस के इतिहास ने एक दूसरा रुख लिया। नगर को कब्जे में करने के लिए अवध के नवाबों, अंग्रेजों और मराठों में होड़-सी लग गयी। पर इन तीनों शक्तियों की तब तक कुछ न चली, जब तक काशी नरेश बलवतंसिंह जीवित थे। बलवतंसिंह के पुत्र चेतसिंह और वारेन हेस्टिंग्ज की कशमकश एक इतिहास प्रसिद्ध घटना है। चेतसिंह का अधिकार समाप्त होते ही शहर पर अंग्रेजों का कब्जा हो गया।

पर बनारस वाले अंग्रेजो की सत्ता यो ही स्वीकार कर लेनेवाले नही थे। समय समय पर अंग्रेजो की बराबर मुखालफत की जाती रही, पर नगर के जीवन का ढाँचा अब बहुत कुछ सुव्यवस्थित हो चुका था। १८वी सदी के अन्त और १९वी सदी के मध्य तक जो घटनाएँ बनारस में हुई और इनमें १८५७ का विद्रोह मुख्य था, उनका महत्त्व सार्वदेशिक न होकर स्थानीय ही था। बनारस के प्रशान्त जीवन पर राजनीतिक तरगें आलोडित हो पडती थी पर नगर के महत्त्व पर उनका कभी विशेष प्रभाव नही पडा, जिसके फलस्वरूप नगर का धार्मिक और शैक्षणिक जीवन अपने क्रम से चलता रहा।

काशी के इतिहास का पर्दा जब ऊपर उठता है, तब हम वैदिक विश्वासो के साथ साथ नाग और यक्ष पूजाका बोलबाला देखते है। उस युग मे भी शिवपूजा अवश्य प्रचलित रही होगी पर इसका विस्तार गुप्त युग में खूब बढा। काशी बौद्ध धर्म का भी एक प्रधान क्षेत्र बना रहा पर पुरातात्त्विक अवशेषो के आधार पर यही कहा जा सकता है कि वह सारनाथ तक ही सीमित था, वाराणसी क्षेत्र में तो शैवधर्म का बोलबाला था। सातवी सदी में युवान चूवाङ ने भी यह बात परिलक्षित की। अनेक धर्मो का अड्डा रहते हुए भी वाराणसी शैव धर्म की ही केन्द्र थी और अब भी है। पौराणिक साहित्य भी बनारस के शिवलिंगो की महिमा से भरा पडा है। समय की गति के अनुसार जैसे जैसे काशी का इतिहास आगे बढता है वैसे वैसे शिवलिंगो की सख्या भी बढती जाती है तथा चित्र विचित्र वेशवाले योगियो और सन्यासियो की भी। शैवधर्म के साथ ही गगा की भी महिमा बढी तथा गाहडवाल युगमें तो काशी के अनेक घाटो का भी सृजन हुआ।

वाराणसी केवल तीर्थ मात्र ही न होकर सस्कृत शिक्षा का एक प्रधान केन्द्र थी। जातको में यहाँ की शिक्षा-प्रणाली का उल्लेख है। गुप्त युग में नगरी वैदिक शिक्षा की केन्द्र बन गयी तथा गाहडवाल युग में यहाँ के पण्डित विद्यार्थियो को अपने यहाँ रखकर अनेक विषयो में शिक्षा देते थे। लगता है कि आरम्भिक मुस्लिम युग में इस शिक्षा-क्रम को धक्का लगा, पर अकबर के युग से आज तक बनारस में सस्कृत की शिक्षा अबाध गति से चल रही है। यहाँ के पण्डितो ने अधिक प्राचीन ग्रन्थो पर टीकाएँ लिखी और आधुनिक दृष्टि से उनका दृष्टिकोण सकुचित भी नही कहा जा सकता। इसमें सन्देह नही कि सस्कृत भाषा की रक्षा और प्रचार में बनारस के पण्डितो का बडा हाथ रहा है। यह उन्ही का प्रभाव था कि देश के कोने-कोने से विद्यार्थी काशी आकर ज्ञानार्जन करने में अपना गौरव समझते थे।

पर काशी की महत्ता केवल तीर्थ और विद्या पर ही अवलम्बित नही थी। अगर काशी में व्यापार न होता तो नगरी केवल एक आश्रय ही बनकर रह जाती और उसमें उस नागरिक सस्कृति का अभाव होता, जिसके लिए बनारस आज भी विख्यात है। बनारस के इस व्यापारिक महत्ता के अनेक साहित्यिक और पुरातात्त्विक प्रमाण मिले हैं। बौद्ध साहित्य में वाराणसी के व्यापारियो की प्रशसा की गयी है और उनके व्यापार के प्रधान अग काशी के बने कपडो और चन्दन के अनेक उल्लेख आये है। जहाँ तक रेशमी वस्त्रो

के उत्पादन का सम्बन्ध है, बनारस अपनी पुरानी परम्परा को अक्षुण्ण बनाये हुए है। यहाँ के व्यापारियों ने हमेशा देश, समाज और शिक्षा की उन्नति में सहयोग दिया है।

जहाँ तक सम्भव हो सका है, मैंने काशी के इतिहास और संस्कृति सम्बन्धी बिखरी सामग्री इकट्ठी कर दी है। काशी के सम्बन्ध में और भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है, पर इसके लिए ऐतिहासिक सामग्री के चयन की अतीव आवश्यकता है। भारतीयों में ऐतिहासिक भावना की कमी होने से बनारस सम्बन्धी सामग्री परिसीमित है। अभिलेखों इत्यादि से यहाँ के इतिहास पर धुँधला प्रकाश पड़ जाता है, पर उनका विषय ब्राह्मणों को दान दक्षिणा देना ही मुख्य है। यह उम्मीद की जा सकती थी कि मुगल युग से लेकर १८ वीं सदी के अन्त तक के कागज पत्र बनारस के पुराने खान्दानों में काफी संख्या में मिलेंगे, पर जहाँ तक मैंने पता लगाया, पुराने कागजात या तो दीमक खा गये या रद्दी के भाव बेंच दिये गये। जो बचे, उन्हें गंगा जी में पधरा दिया गया। भाग्यवश ही १८ वीं सदी में मराठों का सम्बन्ध बनारस से बढ़ा जिसके फलस्वरूप पेशवा दफ्तर में संरक्षित पत्र-व्यवहार बनारस के लिए अपूर्व सामग्री उपस्थित करते हैं। ये पत्र केवल रूखी सूखी ऐतिहासिक बातों से ही नहीं भरे हैं, उनमें नगर के जीवन के विचित्र पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। अंग्रेजी और फारसी कागज पत्रों से भी नगर की राजनीतिक परिस्थिति पर प्रकाश पड़ता है और व्यापारियों का अंग्रेजों के साथ व्यवहार भी स्पष्ट होता है। बनारस में ऐतिहासिक और अर्ध-ऐतिहासिक अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। उनमें अपना मजा है, पर इतिहास रचना में मैंने उनका उपयोग समझ बूझकर ही किया है।

मेरी पत्नी श्रीमती शान्ति देवी ने बड़े ही परिश्रम से पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार कर दी, पर पुस्तक दो-तीन साल से टाइप होकर पड़ी थी। मुझे इतना समय भी नहीं मिलता था कि उसे उलट पुलटकर प्रेस कापी बना सकूँ। मैं काशी विश्वविद्यालय के कॉलेज आफ इण्डोलॉजी में कला और वास्तुशास्त्र के इतिहास के अध्यापक डा० आनन्द कृष्ण का अत्यन्त ही अनुगृहीत हूँ जिन्होंने बड़े ही परिश्रम के साथ प्रेस कापी तैयार की और मेरे टालमटूल करते हुए भी उसे प्रेस में भेज ही दिया। भारत-सरकार के सूचना विभाग के अफसर श्री अशोक जी ने भी टाइप कापी के संशोधन में मेरी काफी मदद की, मैं उनका आभारी हूँ। पुस्तक के प्रकाशक तथा हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई के मालिक मोदी बन्धुओं का भी अनुगृहीत हूँ। श्री लक्ष्मीदास, प्रबन्धक, हिन्दू विश्वविद्यालय प्रेस ने पुस्तक अच्छे ढंग से छापने में काफ़ी तत्परता दिखलायी। अगर सब मित्रों का उत्साह न मिलता, तो मेरे जैसे बहुधन्धी के लिए यह सम्भव न था कि पुस्तक जल्दी से छप सके।

१५ जुलाई, १९६२

—मोतीचन्द्र

भूमिका

'काशी का इतिहास' नामक यह ग्रथ हिन्दी साहित्य में एक नई चासनी सामने रखता है। इसके लेखक श्री मोतीचन्द्र जी यशस्वी विद्वान् हैं। वे काशी निवासी श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी के वशज है। ऐसा सटीक इतिहास लिखकर उन्होने अपने आपको अपनी नगरी के ऋण से उऋण कर लिया है।

अपने यहाँ के नगरो को कीर्तिशाली वनाना प्राचीन भारतवासी जानते थे। गुप्त युग में उज्जयिनी और पाटलिपुत्र का यश समस्त भूखड में छा गया था। इस कारण उन्हें 'सार्वभौम' नगर कहा जाता था। उज्जयिनी चतुर्दिक व्यापार की सबसे बडी मडी थी। वाण ने कादम्वरी में लिखा है कि वहाँ के नागरिक अनेक देशो की भाषाएँ और लिपियाँ जानते (सर्वदेश भाषा लिपिज्ञ) थे।

प्राय बडे नगर तीर्थ भी होते थे। भूसन्निवेश के आरम्भ में तीर्थ ऐसे स्थान थे जहाँ वर्षाऋतु के अतिरिक्त अन्य समय में नदी को पैदल ही पार किया जा सकता था। ऋग्वेद १०।११४।७ में ऐसे स्थान को 'आप्लान तीर्थ' कहा गया है। 'आप्लान' का अर्थ है लोकव्यापी अर्थात् जनता में सुविदित। यही से उन स्थानो की प्रसिद्धि का श्री गणेश होता था और कालान्तर में वे जन सन्निवेश के केन्द्र वन जाते थे। जीवन के विकास के जितने घाट-पहल है सवकी किरणें ऐसे केन्द्रो में छिटकने लगती थी। पुराण लेखको ने चार प्रकार के तीर्थ कहे है—धर्म तीर्थ, अर्थ तीर्थ, काम तीर्थ, मोक्ष तीर्थ। एक प्रकार से यह अपने नगरो का ही वर्गीकरण है। इनमें भी जो विशिष्ट केन्द्र थे उनमें इन चारो पुरुषार्थों की उपलब्धि का सतुलित आयोजन सुलभ रहता था। काशी इसी प्रकार के समन्वय का तीर्थ था।

यो तो हिमवान् से सागर तक गगा की धारा पन्द्रह सौ मील लम्बी है, पर गगा ने जैसे छवीला पैतरा काशी में भरा है वैसा अन्यत्र नही है। रामनगर के डीह से टकरा कर धारा काशी की ओर मुड आती है और नगवा से वरना तक एक दह वनाती हुई आगे वढ जाती है। यहाँ सचमुच गगा उत्तरवाहिनी हो गई है, मानो शिव की पुरी में आकर उसे भगवान् शिव की कैलास-व्यापी जटाओ का ध्यान आ गया हो और उनसे मिलने की आकुलता ने उसे कुछ समय के लिये उत्तर की ओर खीच लिया हो। गगा के इस सात्विक मन का फल भरपूर मात्रा में काशी को मिला। वही यह काशी ह्रद है जिसमें अगाध जल राशि भरी है, जिसके दर्शन से चित्त प्रफुल्लित हो उठता है, और जिसके वरदान से काशी के घाटो पर गगा का कल्लोल सदा सुनाई पडता है। राजघाट के पुल पर खडे होकर देखें तो गगा जी का यह अनुपम सौन्दर्य प्रत्यक्ष दिखाई पडता है, मानो गगा जी ने पिछली वातो का स्मरण करके अपने आपको चन्द्रलेखा के रूप में ढाल लिया हो और उनकी भक्ति से प्रसन्न हुए शिव ने उन्हें त्रिपुड्र के रूप में पुन मस्तक पर रख लिया हो।

काशी और गगा अभिन्न है। चचरी और डीहो से भरी हुई काशी की भूमि पहले थी या भू-रचना करनेवाली गगा की धारा पहले हुई, यह देवयुग का प्रश्न हमारे लिये अतर्क्य है।

पर इतना प्रत्यक्ष है कि गोमती और गगा के कछारो का मध्यवर्ती प्रदेश जन-संनिवेश के लिये प्रकृति ने ही रचा था, और उसी में काशि जनपद की स्थापना हुई। उसी जनपद की राजधानी वाराणसी हुई जिसे काशी भी कहते हैं। दूर तक सोचने से इन दोनो नामो की व्युत्पत्ति का कुछ कारण समझ में आता है। वह भूभाग जो अधिक जल के कारण कुश और काश के जगलो से भरा रहता था काशि कहा गया, जिसका अवशेष अब भी 'कसवार' शब्द में है। वरणा और असी नामो की कल्पना तो बाद की है, मूल में वराणसी ही वरणा थी, जो नाम भीष्मपर्व की नदी सूची में (१०।३०) बचा रह गया है। पाणिनि के 'वरणादिभ्यश्च' सूत्र (४।२।८२) के अनुसार वरणा नाम के वृक्षो के पास का स्थान भी वरणा कहा जाता था (वरणानामदूर भव नगर वरणा)। इस प्रकार का एक सुदृढ दुर्ग स्वात घाटी में था जहाँ के निवासियो ने सिकन्दर से घोर युद्ध किया था और जिसे यूनानियो ने 'असोरनस' कहा है। अवश्य ही वह भिन्न नगर था, पर उसके जैसे प्रवृत्ति-निमित्त के कारण ही वरणा वृक्षो से घिरी हुई नदी वरणासी कहलाई। वरणासी का ही रूपान्तर वराणसी मिलता है। अथर्ववेद (४।७।१) में वरणावती नदी का उल्लेख है। उसे लुडविग ने गगा माना था, पर उसकी ठीक पहचान कठिन है। हाँ, वरणावती और वरणासी इन दोनो नामो के पड़ने का हेतु समान जान पड़ता है।

नामो को बारीकी से कसने में अब कोई रस नहीं है। सत्य यह है कि गगा तट के इस ध्रुव विन्दु पर बसने के कारण काशी की जन्म कुडली में दो ग्रह बहुत उच्च के पड गए, एक व्यापार या अर्थ समृद्धि के लिये और दूसरा धर्म के लिये। काशी मध्यवर्ती जनपद था। उसके पिछवाडे की भूमि में कोसल और वत्स जैसे महाजनपद थे जो कृषि और ग्रामोद्योगो से लहलहा रहे थे, और उसके सामने के आँगन में विदेह और मगध के दो बडे जनपद थे जहाँ के अन्न-कोठारो की अतुलित राशि काशी की ओर बहती थी। काशी से मार्गों का चौमुखी फटाव साफ दिखाई पडता है। उत्तर की ओर श्रावस्ती और दक्षिण की ओर कोसल के प्रदेश भी काशी के साथ सदा हाथ मिलाए रहते थे। काशी में गगा पर नावो के ठट्ठ जुडे रहते थे और यहाँ के साहसी महानाविक गगा के तो राजा थे ही, ताम्र-लिप्ती से आगे बढकर पूर्व के महोदधि समुद्र को पार करने की जोखिम को भी कुछ न गिनते थे। जैसा हम सस्कृत और प्राकृत की कहानियो में पढते हैं, काशी के व्यापारिक सूत्र द्वीपान्तरो (वर्तमान हिन्देशिया) के साथ मिले हुए थे। इसका एक पक्का प्रमाण काशी का सप्त सागर मुहल्ला है। यहाँ अभी तक सप्त समुद्रो के कूप और मदिर है जहाँ 'सप्त सागर' महादान और पूजा आदि होती है। गुप्त युग में जब भारत का विदेशी व्यापार बहुत बढा तब प्रत्येक महानगर में इस प्रकार के स्थान बन गए जहाँ समुद्र यात्रा से लौटने वाले व्यापारी उपार्जित धन का सदुपयोग 'सप्त सागर' नामक महादान के रूप में करते थे। अब तक खोज करने पर ऐसे स्थानो के अवशिष्ट प्रमाण हमें मथुरा, प्रयाग, काशी, पाटलिपुत्र और उज्जयिनी में मिले है। इस प्रकार के स्थान और दान का उल्लेख मत्स्य पुराण में (अ० २८७) आया है जिसके सांस्कृतिक महत्त्व की व्याख्या हमने अपने 'कटाहद्वीप और सप्त-सागर महादान' लेख में अन्यत्र की है। काशी में जो कोटयधिपति व्यापारियो का प्रमुख सगठन था उसे निगम कहते थे। वह सराफे जैसा सगठन था जिसके सदस्यो की सख्या

नियत होती थी और जिनका चुनाव सर्व सम्मति से होता है। कालिदास ने भी गुप्तकाल के 'नैगम' महाजनो का उल्लेख किया है। राजघाट से लगभग छ मुहरें 'निगम' सस्था की प्राप्त हुई है। उनपर एक बड़े कोठार (कोष्ठागार) का चिह्न अंकित है जिसे वाराणसी के निगम ने अपनी मुद्रा के लिए चुना था। तीन मुहरो पर भरत, श्रीदत्त और शौर्याढ्य, ये नाम भी हैं। ज्ञात होता है कि ये निगम के तत्कालीन सभापति थे जिन्हें 'महाश्रेष्ठी' भी कहा जाता था। निगम सभा के शेष सदस्य केवल महाजन या श्रेष्ठी कहे जाते थे। गुप्त कालीन जीवन मे महाजनो का बहुत ही महत्त्वपूर्ण और सम्मानित स्थान था। राजा के समान इन्हें भी हाथी की सवारी करने का अधिकार था।

नाना प्रकार के कुटीर उद्योगो की श्रेणियाँ प्राचीन काल में बन गई थी। उनमें से दो की मुहरें मिल गई हैं, एक ग्वाले या अहीरो की श्रेणी जिनकी बडी जन-सख्या अभी तक काशी जनपद की शोभा है (गवयाक श्रेणि), और दूसरी 'वाराणस्यारण्यक-श्रेणि अर्थात् वाराणसी के चारो ओर बसने वाली जगली जातियो का सगठन जो शहर के जीवन के लिये उपयोगी बहुत-से धन्धो में लगी हुई थी। लकडी काटना, कोयला फूंकना, टोकरी-पत्तल बनाना आदि कितने ही उद्योग इन्ही के सहारे आज भी चलते हैं। इनके अतिरिक्त और भी शिल्पियो की श्रेणियाँ काशी में रही होगी। उनकी मुहरें नही मिली पर उनकी कारीगरी के असली या लिखित प्रमाण हमारे सामने है, जैसे कुम्भकार श्रेणी जिनके बनाए हुए मिट्टी के भाडो और खिलौनो के भडार भारत कला भवन में भरे है, मणियो को तराशकर भाँति भाँति की गुरिया बनाने वालो की मणिकार श्रेणी जिनके बनाये हुए कई सहस्र मनके राजघाट की खुदाई के फल स्वरूप हाथ लगे है और कलाभवन तथा लखनऊ और प्रयाग के सग्रहालयो में सुरक्षित है। पत्थर की मूर्तियाँ बनाने वाली शिल्पि श्रेणि भी काशी में बहुत सक्रिय थी जिसना प्रमाण सारनाथ के सग्रहालय की नानाविध मूर्तियो और शिल्प की उकेरी के रूप में प्राप्त है। जब तक भारत है तब तक काशी की इस शिल्प कला का स्थान गौरवपूर्ण बना रहेगा। काशी के वस्त्र तो जातकयुग से ही नामी हो गए थे, जिन्हें कासेय्यक या वाराणसेय्यक कहते थे। वे वस्त्र तो नही रहे, पर उनकी सजावट में प्रयुक्त होने वाले अलकरणो का एक छटापूर्ण नमूना सारनाथ में धमेख स्तूप के शिला पट्टो से निर्मित आच्छादन पर अभी तक शोभा की वस्तु है। इसके वल्लरी प्रधान और सर्वतोभद्रादि आकृतियो से पूरे हुए अलकरण अपरिमित सौन्दर्य के साक्षी हैं। काशी के वस्त्रो की वह पुरातन कला अपने यश से आज भी गमक रही है। काशी की फूल गली भी प्रसिद्ध रही होगी। जातको में इसका नाम ही 'पुप्फवती' आया है, अर्थात् यह फूलो की नगरी थी, जो अभी तक काशी के रुचिपूर्ण नागरिक जीवन का एक विशेष लक्षण है।

काशी पुरी के जन्मारम्भ से ही धार्मिक विशेषता भी उसके बँटवारे में आ गई थी। यहाँ पहले यक्षो की पूजा-मान्यता थी। काशी में कई यक्षो के पूजा-स्थान अभी तक है जिन्हें बीर या चौरा कहते है। लहुरावीर और बुल्लावीर प्रसिद्ध है जो भारहुत से मिली हुई चुलकोका और महाकोका यक्षियो के ढग पर छोटे और बडे 'बीर' सज्ञक देवता थे (विपुल=विउल=बुल्ला=बडे)। काशी विश्वविद्यालय में भी वीरो के कई चौरे अभी तक जगते है।

मत्स्य पुराण की एक कथा के अनुसार, जिसका विवरण श्री मोतीचन्द्र जी ने दिया है (पृ० ३३) काशी के हरिकेश यक्ष ने शिव की अखड भक्ति करके काशी में स्थायी रूप से बसने का वरदान प्राप्त किया। तब से उसने शिव पूजा का प्रचार और यक्ष पूजा का बहिष्कार किया। यह कहानी सुन्दर ढग से यह बताती है कि किस प्रकार यक्ष पूजा की पुरानी तह को शिव पूजा की नई तह ने क्रमश ढक लिया और उसी के अनुसार काशीपुरी का धार्मिक विकास होने लगा। इसका प्रत्यक्ष फल यह हुआ कि काशी के पासु-प्राकार या धूल्कोट के भीतर अनेक शिव-स्थानो की नीव पडी। ये ही वे शिवलिंग हैं जिनकी सूची काशी खड में एव लक्ष्मीधर के तीर्थ कल्पतरु ग्रन्थ में पाई जाती है। राजघाट की खुदाई में जो मिट्टी की मुहरें मिली हैं उन्होने पहली बार काशी के प्राचीन इतिहास की लगभग एक सहस्र वर्ष (२०० ई० पू० से ८०० ई० पू०) की सामग्री का उद्घाटन किया है। यह चमत्कार जैसा ही लगता है कि पुराणो में आए हुए कुछ शिव लिंगो के अस्तित्व का समर्थन पुरातत्त्व की सामग्री से हो रहा है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण अविमुक्तेश्वर का शिवलिंग था जिसे देवदेव स्वामी भी कहते थे। वनपर्व ८४।१८ में तीर्थ यात्रा के प्रसग में इसका स्पष्ट उल्लेख आया है—

अविमुक्त समासाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह।
दर्शन द् देवदेवस्य मुच्यते ब्रह्महत्यया॥

अर्थात् अविमुक्त नामक स्थान में पहुँच कर भगवान् देवदेव (मुद्रा के अनुसार देवदेव स्वामी) के दर्शन से यात्री अत्यधिक पुण्य लाभ करता है। इसी प्रकार गभस्तीश्वर, श्री सारस्वत, योगेश्वर, पीतकेश्वर स्वामी, भृगेश्वर, वटुकेश्वर स्वामी, कलसेश्वर, कर्दमकरुद्र और श्री स्कन्दरुद्र स्वामी इन शिवलिंगो की मुहरें भी मिली हैं। पीतकेश्वर स्वामी की मुद्रा पर ही अविमुक्त का नाम भी अकित है जिससे सूचित होता है कि पहले की व्यवस्था का प्रबन्ध अविमुक्त मन्दिर के साथ ही था। देवमन्दिरो की यह कथा सत्य थी। इसका समर्थन युआन चुआङ के यात्रा-वृत्तान्त से भी होता है जिसने काशी में ब्राह्मण-धर्म के बीस देव-मन्दिरो का उल्लेख किया है। ये देवालय धर्म के साथ साथ विद्या के भी केन्द्र स्थान रहे होगें।

काशी का एक पुराना नाम 'ब्रह्मवड्ढन' भी मिलता है। इसका अर्थ वही है जिसे आज ज्ञानपुरी कहते हैं। यो तो जातक युग में ही काशी ने यह ख्याति प्राप्त कर ली थी, पर इसका पूरा विकास तो गुप्तकाल में हुआ जब स्वर्ण युग की प्राणवन्त सस्कृति में सस्कृत भाषा और साहित्य का अभूतपूर्व अभ्युत्थान सामने आया। काशिका की रचना उसी का फल था, अर्थात् उसी समय से काशी के विद्वानो में पाणिनीय व्याकरण का पठन-पाठन गहरी जड पकड गया।

लेकिन काशी जैसे विद्या केन्द्र ने जिस क्षेत्र में सबसे अधिक उन्नति की वह वेदो का अध्ययनाध्यापन था। इस सम्बन्ध की जो मुहरें मिली है वे भारतीय शिक्षा के इतिहास में बेजोड है। उनसे ज्ञात होता है कि यहाँ ऋग्वेद के बह्वृचचरण का बहुत बडा विद्यालय था। उस मुद्रा की रचना काशी के कल्पनाशील कलाकारो की प्रतिभा का नमूना है। मुद्रा पर एक आश्रम अकित है। उसके मध्य में जटाधारी आचार्य खडे है और अपने हाथ के

कमण्डलु-जल से आश्रम के वृक्षो को सीच रहे हैं। दोनो ओर ब्रह्मचारी भावमुद्रामें खडे हैं। यही काशी का 'ब्रह्मवर्धन' स्वरूप था। ऋग्वेद के समान कृष्णयजुर्वेद के लिये चरक चरण, सामवेद के लिये छन्दोगचरण, चारो वेदो के लिये चतुर्विद्य, और तीन वेदो के लिये त्रिविद्य विद्यालय थे। सभवत 'श्री सर्वत्रविद्य' नामक विद्यालय वेदागो और शास्त्रो की शिक्षा के लिये था। काशी का जैसा अनुपम उत्कर्ष गुप्तकाल में हुआ वैसा फिर कभी देखने में नही आया। धर्म, ज्ञान, और अर्थ इन तीनो का अपूर्व समन्वय इस युग की काशी में हुआ और नगर के जीवन पर धर्म तीर्थ, मोक्षतीर्थ और अर्थतीर्थ के आदर्शों की छाप सदा के लिये अकित हो गई जो आजतक काशी के मनस्वी नागरिको को अनुप्राणित करती है।

काशी ज्ञान की पुरी है और गगा ब्रह्मद्रवी है, ये काशी के अध्यात्मसूत्र हैं। इन्ही की नित्य नई-नई व्याख्या काशी के जीवन की सार्थकता है। यदि ज्ञान इस मानव-जीवन के लिये आवश्यक है और यदि उस ज्ञान का अन्तिम प्रयोजन ब्रह्म का साक्षात्कार ही है, तो इन दोनो की उपलब्धि काशी में होनी चाहिए। तभी काशी में निवास करने और गगा में स्नान करने की चरितार्थता है। काशी और गगा के स्थूल प्रतीको को अर्थों की भारी सम्पत्ति से सीचा गया है। वही देवो की काशी है, मनुष्यो की काशी तो प्रकट है ही। जहाँ मनुष्य और देव एक धरातल पर मिल सकें वही तो सच्चा तीर्थ है। शकराचार्य का दृष्टान्त इसका साक्षी है। स्थूल ज्ञान के द्वारा उन्होने ब्रह्म की आराधना की, पर उपनिषदो में प्रतिपादित रहस्य तत्त्व का साक्षात् दर्शन उन्हें काशीश्वर के रूप में यही प्राप्त हुआ। अन्नमय देह शूद्र भाव है, चैतन्य आत्मा ब्रह्मभाव है—यही शकराचार्य का काशी में प्राप्त अनुभव था। ससार के इतिहास के किस दूसरे नगर के विषय में यह कहा जा सकता है कि वहाँ भूतो की अपेक्षा आत्मतत्त्व को नगर के जीवनादर्श के साथ इस प्रकार मिला दिया गया हो?

नगर की सस्कृति का अरण्य की सस्कृति के साथ मेल करना यही काशी का विशेष लक्ष्य रहा है। केवल काशी में जैसे तैसे रह जाने से ही यह सिद्ध नही होता। यो तो गगा में मछली-कछुए और मगरमच्छ भी रहते हैं। काशी में वसने का तात्पर्य है यहाँ के अध्यात्म आदर्श में भाग पाना। इसकी युक्ति जो जान सके उसी के लिये काशी चरितार्थ है।

श्री मोतीचन्द्र जी ने प्रस्तुत इतिहास में भी अपने 'सार्थवाह' और 'भारतीय वेश भूषा' की भाँति तिल-तिल सामग्री जोडकर इतिहास का सुमेरु खडा किया है। यह एक नमूना है कि इस वडे देश के महानगरो का इतिहास किस प्रकार रचा जा सकता है। यह काम अभी बहुत आगे वढ़ाना है। एथेन्स रोम आदि प्राचीन नगरो के कितने ही इतिहास वने हैं, उनके धर्म, कला, जीवन, अर्थ समृद्धि, सस्कृति आदि के विषय में विलक्षण अध्यायो का जैसे अन्त ही नही है। कुछ वैसा ही अध्यवसाय भारत की महापुरियो के लिए भी करना होगा। उसी का उत्तम उदाहरण इस रूप में पाकर हमें प्रसन्नता होती है।

काशी विश्वविद्यालय
देवशयनी एकादशी, सवत् २०१९

—वासुदेवशरण

विषय-सूची

द्वितीय खण्ड

पहला अध्याय

प्राकृतिक रचना और यातायात के साधन

किसी नगर के इतिहास को जानने के पहले उसकी प्राकृतिक बनावट के बारे में जानना अत्यंत आवश्यक है। इतिहास के भौगोलिक आधारो को ठीक-ठीक समझने के बाद हम उस स्थान से सबधित बहुत-से जटिल प्रश्नो पर अनायास ही प्रकाश डाल सकते है, और उसकी बहुत-सी गुत्थियाँ सुलझा सकते है। सुदूर प्राचीन काल में वाराणसी की स्थापना का आधार धार्मिक न था। इतिहास से हमें पता चलता है कि हिन्दू धर्म से बनारस का सबध बहुत बाद की घटना है, क्योकि मनुस्मृति आदि ग्रथो में तो काशी की साधारण-सी चर्चा है। बौद्ध जातको में वाराणसी की धार्मिक प्रवृत्तियो के बदले काशी की बहुत सी बातो पर प्रकाश डाला गया है। वास्तव में उस प्राचीन युग में काशी का सनातन आर्य-धर्म से तो कोई विशेष सबध नही था। इसमें सदेह नही कि काशीवासी धार्मिक कट्टरता के पक्षपाती न थे, दूसरी ओर वे विचार स्वतत्रता के पक्षपाती थे तथा इस देश की मूल धार्मिक धाराओ का जिनमें शिव और यक्ष-नाग पूजा मुख्य थी काशी में अधिक प्रचार था।

इतिहास की जाच पडताल करने पर पता चलता है कि काशी और उसकी राजधानी वाराणसी का महत्व विशेष रूपसे उसका व्यापारिक और भौगोलिक स्थिति के कारण था। जब सरस्वती के किनारे से आर्यों का काफिला विदेघ माथव के नेतृत्व में आधुनिक उत्तर प्रदेश के घने जगलो को चीरता हुआ सदानीरा अथवा गडकी के किनारे जा पहुँचा और कोसल जनपद की नीव पडी, उसी समय सभवत काश्योने बनारस में अपना अड्डा जमाया। अगर ध्यान देकर देखा जाय तो उनके यहाँ भूस्थापन का कारण वाराणसी की भौगोलिक स्थिति है। बनारस शहर अर्धचन्द्राकार में गगा के बायें किनारे पर अवस्थित है (अ० २५°१८′ उत्तर और देशातर ८३°१′ पू०)। नगर की रचना एक ऊँची ककरीले करारे पर जो गगा के उत्तरी किनारे पर तीन मील फैली है, होने से नगर को बाढ़ से कोई खतरा नही रहता। आधुनिक राजघाट का चौरस मैदान जहाँ नदी-नालों के कटाव नही मिलते, शहर बसाने के लिए उपयुक्त था। एक तरफ बरना और दूसरी तरफ गगा नगर की प्राकृतिक खाई का काम देती हैं। उत्तर-पश्चिम की ओर काशी के मार्ग में ऐसा कोई नैसर्गिक साधन जैसे पहाडियाँ, झील, दुर्लंघ्य नदी इत्यादि नही है जिससे नगर के बचाव में सहायता हो पर यह तो निश्चित है कि काशी के आस-पास के घनघोर वन, जिसका उल्लेख जातकों में आया है, काशी के बचाव में काफी सहायक रहे होगे। आधुनिक मिर्जापुर जिले की विन्ध्याचल की पहाडियाँ भी बनारस के बचाव में महत्त्वपूर्ण थी। इतिहास में अनेक ऐसे प्रकरण है जिनसे पता लगता है कि शत्रुओ के धावो से त्रस्त होकर बनारस के शासक विन्ध्याचल की पहाडियो में जा छिपते और मौका मिलते ही पुन शत्रुओ को मार भगाते थे। १८ वी सदी के मध्य में बलवन्तसिंह ने भी इसी नीति का सहारा लेकर अवध के नवाब शुजाउद्दौला को काफी छकाया था।

पश्चिम की ओर गगा और यमुना के रास्ते काशी के व्यापारी मथुरा पहुँचते थे तथा पूरब की ओर चम्पा होते हुए ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह तक। वाराणसी उस महाजन पथ पर अवस्थित थी जो तक्षशिला से राजगृह और बाद में पाटलिपुर को जाता था। यहाँ से अन्य सडकें देश के भिन्न-भिन्न भागो को जाती थी, जिनसे होकर काशिक चन्दन और वस्त्र के द्वारा काशी की व्यापारिक महत्ता देश में चारो ओर फैलती थी।

यह कहना कठिन है कि जब आरम्भिक युग में यहाँ मनुष्य बसे तो बनारस की प्राकृतिक बनावट का क्या रूप था पर कृत्यकल्पतरु, काशीखड और १९ वी सदी में जॉन प्रिंसेप के नक्शे के आधार पर यह कहना सम्भव है कि गगा वरना सगम से लेकर अस्सी सगम के कुछ उत्तर तक एक ककरीला करारा है जो गोदौलिया नाले के पास कट जाता है। जमीन की सतह नदी की सतह से नीची पड जाने पर पानी अनेक तालो में इकट्ठा हो जाने से अधिक पानी वरना में चला जाता था। गोदौलिया नाले से मिसिर पोखरा, लक्ष्मीकुण्ड था, बेनिया तालाब का पानी गगा में बह जाता था। मछोदरी रकबे का पानी वरना में गिरता था। मछोदरी के पूरब में कगार के नीचे एक चौरस मैदान पड जाता था जिसके उत्तर में नाले बहते थे।

स्थलपुराणों में मत्स्योदरी का काशी की एक नदी के रूप में उल्लेख एक पहेली है। लक्ष्मीधर ने तीर्थ विवेचन खड में (पृ ३४, ५८, ६९) इस नदी का तीन बार उल्लेख किया है। एक स्थान पर (पृ ३४–३५) शुष्क नदी यानी अस्सी को पिंगला नाडी वरणा को इला नाडी और इन दोनो के बीच मत्स्योदरी को सुषुम्ना नाडी माना है। अन्यत्र (पृ ५८) गगा और मत्स्योदरी के सगम पर स्नान मोक्षदायक माना गया है। तीसरे स्थान पर (पृ ६९) इस नदी के तीर पर देवलोक छोडकर देवताओ के बसने की बात कही गयी है। मित्र मिश्र द्वारा उद्धृत काशीखड (पृ २४०) में मत्स्योदरी को बहिरन्तश्चर कहा गया है और वह गगा के प्रतिकूल धारा (सहार मार्ग) से मिलती थी। इन सब उल्लेखो से पता चलता है कि कम से कम बारहवी सदी में मत्स्योदरी कोई छोटी-मोटी नदी अथवा नाले के रूप में थी जो गगा से मिल जाती थी। पर काशीखड के आधुनिक सस्करण में मत्स्योदरी को भूमि के भीतर बहने वाली नदी माना गया है जिससे यह प्रकट होता है कि १५ वी सदी में यह नदी लुप्त हो चुकी थी और लोग उसका अस्तित्व भूल चुके थे। सोलहवी सदी में नारायण भट्ट की व्युत्पत्ति के अनुसार मत्स्याकार काशी के गर्भ में अवस्थित होने से इसका नाम मत्स्योदरी पडा।[1]

अब प्रश्न यह उठता है कि काशी की राजधानी वाराणसी का नामकरण कैसे हुआ। बाद की पौराणिक अनुश्रुतियों के अनुसार वरणा और असि नाम की नदियो के बीच में बसने के कारण ही इस नगर का नाम वाराणसी पडा। कनिंघम[2] भी इस मत की पुष्टि करते है। लेकिन एम० जूलियन ने इस मत के बारे में सदेह प्रकट किया था[3]। उन्होंने

---

[1] तीर्थ विवेचन खड, पृ० ३४, ५८, ६९

[2] एशेंट जियोग्राफी, पृ ४९९, इत्यादि

[3] जूलियन, लाइफ एड पिलिग्रिमेज आफ युवान च्वाङ १, १३३, २, ३५४

वरणा का प्राचीन नाम ही वरणासि माना था पर इसके लिए उन्होने कोई प्रमाण नही दिया। विद्वानो ने इस मत की पुष्टि नही की, पर इस मत के पक्ष में बहुत-से प्रमाण है।

वाराणसी की पौराणिक व्युत्पत्ति को स्वीकार करने में बहुत-सी कठिनाइया है। पहली कठिनाई तो यह है कि अस्सी नदी न होकर बहुत ही साधारण नाला है और इस बात का भी कोई प्रमाण नही है कि प्राचीन काल में इसका रूप नदी का था। प्राचीन वाराणसी की स्थिति भी इस मत का समर्थन नही करती। प्राय विद्वान् सर्वसम्मत है कि प्राचीन वाराणसी आधुनिक राजघाट के ऊँचे मैदान पर बसी थी और इसका प्राचीन विस्तार जैसा कि भग्नावशेषो से भी पता चलता है वरना के उस पार भी था पर अस्सी की तरफ तो बहुत ही कम प्राचीन अवशेष मिले है और जो मिले भी है, वे परवर्ती अर्थात् मध्यकाल के है।

अब हमें विचार करना पडेगा कि वाराणसी का उल्लेख साहित्य में कब से आया। काशी शब्द तो जैसा हम आगे देखेंगे सबसे पहले अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा से आया है और इसके बाद शतपथ में। लेकिन यह सभव है कि नगर का नाम जनपद से पुराना हो। अथर्ववेद (४।७।१) में वरणावती नदी का नाम आया है और शायद इससे आधुनिक वरना का ही तात्पर्य हो। अस्सी का तो नाम तक किसी प्राचीन साहित्य में नही आया है। बाद के पौराणिक साहित्य में अवश्य असि नदी का नाम वाराणसी की व्युत्पत्ति की सार्थकता दिखलाने को आया है (अग्नि पु० ३५२०)। यहाँ एक विचार करने की बात यह है कि अग्निपुराण में असि नदी को नासी भी कहा गया है। वस्तुत इसमें एक काल्पनिक व्युत्पत्ति बनाने की प्रक्रिया दीख पडती है। वरणासि का पदच्छेद करके नासी नाम की नदी निकाली गयी है, लेकिन इसका असि रूप सम्भवत और बाद में जाकर स्थिर हुआ। महाभारत ६।१०।३० तो इस बात की पुष्टि कर देता है कि वास्तव में वरना का प्राचीन नाम वराणसी था और इसमे से दो नदियो के नाम निकालने की कल्पना बाद की है। पद्मपुराणान्तर्गत काशी माहात्म्य[1] में भी वरणासि एक नदी है। वाराणसी का विस्तार वर्णन करता हुआ पुराणकार कहता है कि उसके उत्तर और दक्षिण में तो नदियाँ है और पूर्व में वरणासि नदी। यहाँ उत्तर दक्षिण की नदियो के नाम तो नही दिये गये है पर इसमें सन्देह नही कि यहाँ गगा और गोमती से तात्पर्य है। मत्स्यपुराण से तो यह पूर्णतया सिद्ध हो जाता है कि असि नदी की कल्पना बाद की है। शिव वाराणसी का वर्णन करते हुए कहते हैं—

> वाराणस्या नदी पुण्या सिद्धगन्धर्वसेविता
> प्रविष्टा त्रिपथा गगा तस्मिन् क्षेत्रे मम प्रिये। (१८३।६-७)

सिद्ध-गधर्वो से सेवित पुण्य नदी वाराणसी जहाँ गगा से मिलती है, हे प्रिये, वह क्षेत्र मुझे प्रिय है।

वाराणसी क्षेत्र का विस्तार बताते हुए मत्स्य पुराण में एक और जगह कहा गया है—
वरणासी नदी यावत् तावच्छुल्कनदीतुवै भीष्मचडिकमारभ्यपर्वतेश्वरमतिके (१८३।६२)

[1] पद्मपुराण ५।५८। शेरिंग, दि सेक्रेड सिटी आफ बनारस, लडन १८६८,

वरणासी नदी से गगा नदी तक भीमचडी से पर्वतेश्वर तक काशी का विस्तार है। उक्त श्लोक की वरणासी आधुनिक वरना है। शुक्ल नदी (सितासिते सरिते यत्र सगते, ऋक्, खिलभाग) गगा है और भीष्मचण्डी आधुनिक भीमचडी है जो आधुनिक पचकोसी के रास्ते पर पडती है। पर्वतेश्वर का ठीक-ठीक पता नहीं पर शायद यह मदिर राजघाट के आस-पास कही रहा हो।

उक्त उद्धरणो की जाच पडताल से यह पता चलता है कि वास्तव में नगर का नामकरण अस्सी पर वसने से हुआ। अस्सी और वरना के बीच में वाराणसी के वसने की कल्पना उस समय से उदय हुई जव नगर की धार्मिक महिमा वढी और उसके साथ-साथ नगर के दक्षिण में मदिरो के वनने से नगर के दक्षिण का भाग भी उसकी सीमा में आ गया, साथ ही पञ्चकोशी की मध्यकालीन कल्पना के अनुसार नगर की परिधि और भी विस्तृत कर दी गयी।

लेकिन प्राचीन वाराणसी सदैव वरना पर ही स्थित नही थी, गगा तक उसका प्रसार हुआ था। कम से कम पतजलि के समय में अर्थात् ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में तो यह गगा के किनारे-किनारे वसी थी जैसा कि अष्टाध्यायी के सूत्र 'यस्य आयाम' (२।१।१६) पर पतजलि के भाष्य 'अनुगग वाराणसी, अनुशोण पाटलिपुत्र' (कीलहार्न, १, ३८०) से विदित है। मौर्य और शुग युग में राजघाट पर गगा की ओर वाराणसी के वसने का प्रमाण हमें पुरातत्व के साक्ष्य से भी लग चुका है।

वरणा शब्द एक वृक्ष का भी द्योतक है। प्राचीनकाल मे वृक्षो के नाम पर भी नगरो के नाम पडते थे जैसे कोशव से कौशाबी, रोहीत से रोहीतक इत्यादि। यह सभव है कि वाराणसी और वरणावती दोनो का ही नाम इस वृक्ष विशेष को लेकर ही पडा हो।

वाराणसी नाम के उक्त विवेचन से यह न समझ लेना चाहिए कि काशी की इस राजधानी का केवल एक ही नाम था। कम से कम बौद्ध साहित्य में तो इसके अनेक नाम मिलते है। उदय जातक मे इसका नाम सुरुधन (सुरक्षित), सुतसोम जातक में सुदर्शन (दर्शनीय), सोणदण्ड जातक मे ब्रह्मवर्द्धन, खडहाल जातक में (पुप्पवती), युवजय जातक में रम्म नगर (सुन्दर नगर) (जा० ४।११९), शख जातक में मोलिनी (मुकुलिनी) (जा० ४।१५) मिलता है। इसे कासिनगर और कासिपुर के नाम से भी लोग जानते थे (जातक, ५।५४, ६।१६५, धम्मपद अट्ठकथा, १।६७)। अशोक के समय में इसकी राजधानी का नाम पोतलि था (जा० ३।३९)। यह कहना कठिन है कि ये अलग-अलग उपनगरो के नाम है अथवा वाराणसी के ही भिन्न-भिन्न नाम है।

यह सभव है कि लोग नगरो की सुन्दरता तथा गुणो से आकर्पित होकर उसे भिन्न-भिन्न आदरार्थक नामो से पुकारते हो। पतजलि के महाभाष्य से तो यही प्रकट होता है। अष्टाध्यायी के ४।३।७२ सूत्र के भाष्य मे (कीलहार्न, २, ३१३) नवै तत्रेति तद् भूयाज्जित्वरीयदुपाचरेत् श्लोक पर पतजलि ने लिखा है—वणिजो वाराणसी जित्वरीत्युपाचरन्ति, अर्थात् ई० पू० दूसरी शताब्दी में व्यापारी लोग वाराणसी को जित्वरी नाम से पुकारते थे।

जित्वरी का अर्थ है जयनशीला अर्थात् जहाँ पहुँच कर पूरी जय अर्थात् व्यापार में पूरा लाभ हो। जातको में वाराणसी का क्षेत्र उसके उपनगर को सम्मिलत कर बारह योजन बताया गया है (जा० ४, ३७७, ५, १६०)। इस कथन की वास्तविकता का तो तभी पता चल सकता है जब प्राचीन वाराणसी और उसके उपनगरो की पूरी तौर से खुदाई हो, पर बारह योजन एक रूढिगत अक-सा विदित होता है।

कृत्यकल्पतरु[1] के तीर्थ विवेचन में भी वाराणसी के सम्बन्ध में अनेक उद्धरण मिलते है। ब्रह्मपुराण में शिव पार्वती से कहते है कि–हे सुरवल्लभे, वरणा और असि इन दोनों नदियो के बीच में ही वाराणसी क्षेत्र है उसके बाहर किसी को नही बसना चाहिए। मत्स्य पुराण के अनुसार यह नगर पश्चिम की ओर ढाई योजन तक फैला था और दक्षिण में यह क्षेत्र वरणा से गगा तक आधा योजन फैला हुआ था। मत्स्य में ही अन्यत्र नगर का विस्तार बतलाते हुए कहा गया है—पूर्व से पश्चिम तक इस क्षेत्र का विस्तार दो योजन है और दक्षिण में आधा योजन, नगर भीष्मचण्डी से लेकर पर्वतेश्वर तक फैला हुआ था। ब्रह्मपुराण के अनुसार इस क्षेत्रका प्रमाण पाँच कोस का था, उसके उत्तर में गगा तथा पूर्व में सरस्वती नदी थी। उत्तर में गगा दो योजन तक शहर के साथ-साथ बहती थी। स्कद पुराण के अनुसार उस क्षेत्र का विस्तार चारो ओर चार कोस था। लिंग पुराण में इस क्षेत्र का विस्तार कुछ और बढाकर कहा गया है। इसके अनुसार कृत्तिवास से आरभ होकर यह क्षेत्र एक-एक कोस चारो ओर फैला हुआ है। उसके बीच में मध्यमेश्वर नामक भूमि लिंग है। यहाँ से भी एक-एक कोस चारो ओर क्षेत्र का विस्तार है। वही वाराणसी की वास्तविक सीमा है, उसके बाहर विहार न करना चाहिए।

अग्नि पुराण (३५२०) के अनुसार वरणा और असी नदियो के बीच बसी हुई वाराणसी का विस्तार पूर्व में दो योजन और दूसरी जगह आधा योजन है। मत्स्य पुराण की मुद्रित प्रति (१८४।५१) में इसकी लम्बाई चौडाई अधिक स्पष्ट रूप से वर्णित है। दक्षिण और उत्तर में इसका विस्तार आधा योजन है, वाराणसी का प्रस्तार गगा नदी तक है।

ऊपर के उद्धरणो से यह पता चलता है कि प्राचीन वाराणसी का विस्तार काफी दूर तक था। वरना के पश्चिम में राजघाट का किला जहाँ निस्सन्देह प्राचीन वाराणसी बसी थी एक मील लम्बा और ४०० गज चौडा है। गगा नदी इसके दक्षिण-पूर्व मुख की रक्षा करती है, और वरना नदी उत्तर और उत्तर-पूर्व मुखो की रक्षा एक छिछली खाई के रूप में करती है, पश्चिम की ओर एक खाली नाला है जिसमें से होकर किसी समय वरना बहती थी। रक्षा के इन प्राकृतिक साधनो को देखते हुए ही शायद प्राचीन काल में वाराणसी नगरी के लिए यह स्थान चुना गया। सन् १८५७ की बगावत के समय अग्रेजो ने भी नगर रक्षा के लिए वरना के पीछे ऊँची जमीन पर कच्ची मिट्टी की दीवारें उठाकर किलेबन्दी की थी। पर पुराणो में आयी वाराणसी की सीमा राजघाट की उक्त लम्बाई चौडाई से कही अधिक है। ऐसा जान पडता है कि इन प्रसगो में केवल नगर की सीमा

---

[1] तीर्थ विवेचन खड, के वी रगस्वामी अय्यगर सपादित, बरोडा, १९४२, पृ० ३९–४०।

ही नहीं वर्णित है, वरन् तीर्थ के कुछ भागों की सीमा भी सम्मिलित कर ली गयी है। यह भी बात ध्यान देने योग्य है कि वरना के उस पार तक प्राचीन बस्ती के अवशेष काफी दूर तक चले गये है। हो सकता है पुराणो द्वारा वर्णित इस सीमा में वे सब भाग भी आ गये हो। अगर यह ठीक है तो पुराणो में वर्णित नगर की लम्बाई चौडाई एक तरह से ठीक ही उतरती है।

वाराणसी के चारो ओर शहरपनाह का वर्णन जातको में आया है (जा० १।१२)। यहाँ नगर के चारो ओर को शहरपनाह का विस्तार १२ योजन और नगर और उसके उपनगरो की शहरपनाह का विस्तार ३०० योजन कहा गया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि शहरपनाह का यह आयाम अतिशयोक्तिपूर्ण है, अत इससे हम केवल यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वाराणसी के चारों ओर शहरपनाह थी। युद्ध में इस शहरपनाह का क्या उपयोग होता था इसका सुन्दर वर्णन एक जातक में आया है (जा० २।९४–९५)। एक समय एक बडी सेना के साथ, हाथी पर सवार होकर एक राजा ने बनारस पर धावा बोल दिया और नगर के चारो ओर घेरा डालकर उसने एक पत्र द्वारा काशिराज को आत्मसमर्पण करने अथवा लडने के लिए ललकारा। बनारस के राजा ने लडने की ठानी। वह नगर के रक्षार्थ प्राकार, द्वार, अट्टालक और गोपुरो पर योद्धाओ को नियुक्त करके शत्रुओ का सामना करने लगा। इस पर आक्रमणशील राजा ने अपने हाथी को पाखर पहना दिया और स्वय जिरह बख्तर पहन कर और हाथ में अकुश लेकर हाथी को शहर की ओर बढा दिया। नगर-रक्षक सेना को खौलती मिट्टी, गुलेलो से पत्थर (यन्तपासाण) और भाति-भाति के शस्त्रास्त्रो के साथ चलता देख कर हाथी डरा लेकिन पीलवान ने उसे आगे बढाया। एक भारी बल्ली को अपने सूड़ में लपेटकर उसने नगर द्वार (तोरण) पर धक्के मार कर द्वार के ब्योडे (पलिघ) को तोड दिया और इसतरह वह शहर में घुस गया।

यह उल्लेखनीय है कि बनारस की प्राचीन शहरपनाह के चिह्न अब भी बच गये है। शेरिंग ने[१] इस बात की जाँच की और उन्हें वरना सगम से आदमपुर मुहल्ले तक लगातार ऊँचे टीले इस प्राचीन शहरपनाह के भग्नावशेष प्रतीत हुए। बाढ के दिनो में वरना का जल शहरपनाह अथवा टीलो की इस शृङ्खला तक पहुँच जाता है। सूखे दिनो में इन टीलो और वरना के बीच में एक खाल पड जाती है। प्रिंसेप का मत था कि इस शहरपनाह को मुसलमानो ने शत्रु से नगर की रक्षा करने के लिए बनवाया, पर अपने मत के पक्ष में उन्होंने कोई प्रमाण नही दिया। शहरपनाह का दक्षिण पश्चिमी छोर अब गगा से एक तिहाई मील पर है लेकिन यह मानने का पर्याप्त कारण है कि मुसलमानी आक्रमण के बहुत पहले यह शहरपनाह गगा से मिली हुई थी। इन सब बातो के साक्ष्य से ऐसा जान पडता है कि यह लबी शहरपनाह प्राचीन काल में दक्षिण ओर से नगर की सीमा निश्चित करती थी और बाद में, जब नगर दक्षिण और दक्षिण पश्चिमकी ओर बढ गया और नगरवासियो ने आत्मरक्षार्थ इस साधन को छोड़ दिया तब मुसलमानो

[१] शेरिंग, उल्लिखित, पृ० २९९।

ने इन टीलो का उपयोग आक्रमण के लिए किया[1]। यह शहरपनाह आरभ में शायद वर्तमान टीलो के सीध में गगा तक चली गयी थी अथवा दूरी कम करने के लिए यह गगा तक वर्तमान तेलिया नाला होकर पहुँची हो। ऐसी अवस्था में इसका कुछ भाग वाद में शहर वसाने के लिए तोड दिया गया होगा क्योकि इस वात के काफी प्रमाण है कि गगा के किनारे शहर एक सँकरी पट्टी के रूप में वसा। अगर यह विचार सही है तो इससे यह नतीजा निकलता है कि वनारस शहर की सवसे पुरानी वस्ती वरना से गगा तक फैली थी तथा इन दोनो नदियो के सगम तक एक लवा अतरीप छोडती हुई वह राजघाट के पठार को घेरती हुई इस शहरपनाह के अदर आजाती थी। ऐसा होने पर आधुनिक शहर की तुलना में प्राचीन वनारस काफी छोटा रहा होगा। लेकिन वाराणसी क्षेत्र की सीमा जैसा हमें पुराणकार 'वतलाते है काफी लवी चौडी थी और वह इसलिए कि शहरपनाह के वाहर का भी भाग नगर की सीमा में ले लिया गया था।

बुद्ध-पूर्व महाजनपद युग में वाराणसी काशी जनपद की राजधानी थी। यह कहना कठिन है कि प्राचीन काशी जनपद का विस्तार कहाँ तक था। जातको में (जा० ३।१८९, ५।४१, ३।३०४, ३९१) काशी का विस्तार तीन-सौ योजन दिया गया है। काशी जनपद के उत्तर में कोसल, पूर्व में मगध, और पश्चिम में वत्स था[2]। डा० आल्टेकर के मतानुसार काशी जनपद का विस्तार उत्तर पश्चिम की ओर दो-सौ पचास मील तक था, क्योकि इसका पूर्व का पडोसी जनपद मगध और उत्तर पश्चिम का पडोसी जनपद उत्तर पचाल था। एक जातक (१५१) के अनुसार काशी और कोसल की सीमाएँ मिली हुई थी। काशी की दक्षिणी सीमा का पता नही है पर वह शायद विन्ध्य शृखला से घिरी थी। जातको के आधार पर डा० आल्टेकर इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि काशी का विस्तार वलिया से कानपुर तक शायद रहा हो[3]। पर श्री राहुल साकृत्यायन का मत है कि आधुनिक वनारस कमिश्नरी ही प्राचीन काशी जनपद की द्योतक है। सभव है कि आधुनिक गोरखपुर कमिश्नरी का भी कुछ भाग काशी जनपद में शामिल रहा हो।

प्राचीन युग में वनारस का क्या रूप था और काशी जनपद की क्या स्थिति थी इसके सम्वन्ध में ऊपर कहा जा चुका है पर काशी के इतिहास के लिए आधुनिक वनारस जिले की भौगोलिक स्थिति के वारे में भी कुछ वातो का जानना जरूरी है। प्राचीन साहित्य के आधार पर यदि हम तत्कालीन वनारस की प्राकृतिक स्थिति का अध्ययन यदि कर सकते तो वह वडा ही उपयोगी होता पर इसके लिए मसाला कम है। इसमें सन्देह नही कि आजकल के वनारस से प्राचीन वनारस वहुत भिन्न रहा होगा क्योकि आज जिले के जिन भागो में घनी वस्ती है उन भागो में गाहडवाल युग तक जगल थे। शहर के अनगिनत तालावो और पुष्करणियो का भी, जिनमें वहुत-सी तो १९ वी सदी तक वच गयी थी, अव पता नही है। वे नाले भी अव पट चुके है जो एक समय वनारस की भूमि को

---

[1] शेरिंग, उल्लिखित, पृ० ३००।

[2] कैंब्रिज हिस्ट्री आफ इडिया, भा० १, पृ० १४

[3] ए० एस० आल्टेकर, हिस्ट्री आफ वनारस, वनारस १९३७, पृ० १२।

काटते रहते थे। ब्रह्म नाली पर जो एक समय चौक तक पहुँचती थी अब शहर की घनी आबादी है और नालो के तो अब केवल नाम ही बच गये है।

जिले की आबादी आज बहुत घनी है, पर जातको मे हमें पता चलता है कि बनारस के आसपास घने जगल थे। काशी जनपद के जिन ग्रामो इत्यादि के वर्णन हमें मिलते है उनमें अधिकतर आधुनिक बनारस तहसील के अथवा जौनपुर के थे जो प्राचीन काशि-जनपद का अग था। मृगदाव और इसिपतन जिसे आज हम सारनाथ कहते है बनारस तहसील में है तथा मच्छिकाखड (आधुनिक मछली शहर) और कीटगिरि (केराकत) जौनपुर में है[१]। सम्भवत चन्दौली तहसील मध्यकाल में आबाद हुई। कम से कम इस तहसील में अभी तक गुप्तकाल या उसके पहले के भग्नावशेष नही मिले है, पर गाहड-वाल युग (११–१२ वी शताब्दी) में चन्दौली तहसील पूरी तरह से बस चुकी थी जैसा कि हमें उस युग के ताम्रलेखो से पता चलता है।

बनारस जिला जिसमें रामनगर की भूतपूर्व देशी रियासत भी सम्मिलित है, गगा के दोनो किनारो पर २५ ८ और २५ ३५ अक्षाश उत्तर तथा ७८ ५६ और ७९ ५२ देशान्तर पूर्व तक फैला है। यह इलाका टेढी-मेढी शकल का है और इसकी लम्बाई पूर्व से पश्चिम तक ८० मील और उत्तर से दक्षिण तक चौडाई ३४ मील है। उत्तर में इसकी सीमा जौनपुर जिले से लगती है, उत्तर-पूर्व और पूर्व में गाजीपुर से, दक्षिण में मिर्जापुर से, दक्षिण-पूर्व में बिहार जिला शाहाबाद से जिसे करमनासा नदी बनारस से अलग करती है। गगा के बहाव से जिले का रकबा उत्तर-पूर्व की ओर घटता-बढता रहता है, लेकिन यह घट-बढ यो ही मामूली-सी होती है।

सारा जिला गगा की घाटी मे स्थित है और इसके भूगर्भिक स्तरो से मिट्टी के सिवा और कुछ नही निकलता, क्योकि विन्ध्याचल की पहाडियाँ मिर्जापुर जिले में समाप्त हो जाती है। जिले में मिट्टी की गहराई का ठीक-ठीक पता नहीं है। पर गहरे कुओ की खोदाई से ३५ फुट तक लोम, उसके बाद तीस फुट नीली साच, उसके बाद ७७ फुट जमी मिट्टी और उसके नीचे पानी के सोतो वाली लाल बालू मिलती है। प्राकृतिक बनावट की दृष्टि से बनारस को दो भागो में बाँटा जा सकता है, एक उपरवार और दूसरा तरी। ये दोनो भाग गगा के ऊँचे-नीचे करारो से विभाजित है। इन करारो की भिन्नता जमीन, प्रकृति और नदी के बहाव पर भी अवलबित है। बनारस के दोनो भाग मुख्यत जमीन का तल और ढाल में एक-दूसरे से भिन्न है।

जिले का पश्चिमी भाग जिसमें बनारस तहसील और गगापुर तथा भदोही सम्मि-लित है पूर्व की चन्दौली तहसील की अपेक्षा ऊँचे है। बनारस तहसील में जमीन की सतह पूर्व और दक्षिण-पूर्व की तरफ ढलुई है। तालो का बहाव गगा की तरफ है इसी लिए जिले का पश्चिमी भाग नीचा-ऊँचा पठार है। जौनपुर आजमगढ की सडकें जहाँ

[१] बी० सी० लाहा, इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टेक्सट्स आफ बुधिज्म एण्ड जैनिज्म, पृ० ४२

उत्तर से बनारस पार करती है वहाँ उनकी ऊँचाई क्रमश २३८ और २५० फुट है। बनारस की ऊँचाई समुद्री सतह से २५२ फुट है और यहाँ गगा की सबसे कम ऊँचाई १९७ फुट है। उत्तर पूर्व अर्थात् परगना जाल्हूपुर में यह सतह क्रमश ढलती हुई नदी के उस पार बलुआ में आकर २३८ फुट रह जाती है।

सतह की इस ऊँचाई-निचाई का प्रभाव सतह की बनावट पर भी काफी पडा है। जिले के पश्चिमी भाग की समतल जमीन अच्छी है। जल विभाजकों के पास यह मूर सवई कहलाती है, बाद में यह मूर अर्थात् बलुई हो जाती है। जिले की निचली जमीन मटियार कहलाती है और उसमें झीलो और तालाबो की सिंचाई से धान खूब होता है।

बनारस तहसील की प्राकृतिक बनावट के उपर्युक्त विवरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आर्यों ने अपना केन्द्र पहले यहाँ क्यो बनाया। अच्छी जमीन, पानी की सुलभता तथा आयात-निर्यात के साधन इसके मुख्य कारण थे।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्राचीन युग का राजपथ भी बनारस से गाजीपुर होकर बिहार की ओर जाता था और वह शायद इसलिए कि ग्रेंड ट्रक रोड के आधुनिक रास्ते पर उस समय घनघोर वन थे। गगा पार चन्दौली तहसील में जमीन नीची होने से बरसाती पानी छोटी नदियो में बाढ लाकर काफी नुकसान पहुँचाता है और पानी के बहाव का ठीक रास्ता न होने से सिंचाई का प्रबन्ध भी ठीक से नही हो सकता। जमीन नीची होने से शायद यहाँ मलेरिया का भी अधिक प्रकोप रहा हो। जो भी हो अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा में बनारस के अवैदिक रीति-रिवाजो से अप्रसन्न होकर सूक्तकार काशी जनपद पर तक्मा को धावा करने को कहता है। सभवत प्राचीनकाल में तक्मा अर्थात् मलेरिया से लोग बहुत डरते थे और उनका डरना स्वाभाविक भी था क्योंकि कुनैन के आविष्कार के पहले मलेरिया भारी प्राण सहारक होता था।

गगा—बनारस की प्राकृतिक रचना में गगा का मुख्य स्थान है। गगापुर के बेतवर गाव से पहले पहल गगा इस जिले में घुसती है। यहाँ इससे सुवहा नाला आ मिला है। वहाँ से प्राय सात मील तक गगा बनारस मिर्जापुर जिले से अलग करती है और इसके बाद बनारस जिले में बनारस और चन्दौली तहसीलो को विभाजित करती है। गगा की धारा अर्ध-वृत्ताकार रूप में वर्ष भर बहती है। इसके बाहरी भाग के ऊपर करारे पडते हैं और भीतरी भाग में रेती अथवा बाढ की मिट्टी। जिले में गगा का रुख पहले उत्तर की तरफ होता हुआ रामनगर के कुछ आगे तक देहात अमानत को राल्हूपुर से अलग करता है। यहाँ करारा ककरीला है और नदी उसके ठीक नीचे बहती है। तूफान में नावो को यहाँ काफी खतरा रहता है। देहात अमानत में गगा का बाया किनारा मूडादेव तक ऊँचा चला गया है। इसके नीचे की ओर वह रेती में परिणत हो जाता है और बाढ में पानी से भर जाता है। रामनगर छोड़ने के बाद गगा की उत्तर-पूर्व की ओर झुकती दूसरी केहुनी शुरू होती है। धारा यहाँ बायें किनारे से लगकर बहती है। अस्सी सगम से लेकर ऊँचे करारे पर बनारस के मन्दिर घाट और मकान बने हैं और दाहिने किनारे पर बलुआ मैदान है। मालवीय पुल से कैथी तक नदी पूरब की ओर बहती है। यहाँ धारा बायें

किनारे से लगकर बहती है और यह ऊँचा करारा वरना सगम के कुछ आगे तक चला जाता है। नावो के लिए खतरनाक चचरियो की वजह से गगा की धारा बदलने की सभावना ही नहीं रह जाती। तातेपुर पर यह धारा दूसरे किनारे की ओर जाने लगती है और किनारा नीचा और बलुआ होने लगता है। दाहिनी ओर मिट्टी के नीचे करारे का बाढ से डूबने का भय रहता है।

कैंथी के पास गगा पुन उत्तर की ओर झुकती है और उसका यह रुख बलुआ तक रहता है। कैंथी के कोंवर तक दक्षिणी किनारा पहले तो भरभरा रहता है पर बाद में ककरीले करारे में बदल जाता है लेकिन कोंवर से बलुआ तक मिट्टी की एक उपजाऊ पट्टी कुछ भीतर घुसती हुई पडती है। इस घुमाव के अन्दर जाल्हूपुर परगना है। इस परगने के अन्दर से गगा की एक उपधारा बहती है जो बरसात में कैंथी का एक कोना काटकर चार गाँवो का एक टापू छोड देती है। यह उपधारा बलुआ के कुछ ऊपर गगा से मिल जाती है। बलुआ से गगा उत्तर-पश्चिम की ओर घूम जाती है। इसका बायीं ओर का किनारा जाल्हूपुर और कटेहर की सीमा तक नीचा और बलुआ है। यहाँ से नदी पहले उत्तर को ओर, बाद में उत्तर-पूर्व की ओर बहती है। कटेहर के दक्खिन-पूरब ऊँचा ककरीला किनारा शुरू हो जाता है और यहाँ-वहाँ चादर के टुकडे दीख पडते है। दूसरा किनारा पराना बरह में पडता है। बरह के उत्तरी छोर से कुछ दूर गगा गाजीपुर और बनारस की सीमाएँ अलग करती है और सैदपुर से वह गाजीपुर जिले में घुस जाती है।

बानगगा—किनारे की भूगर्भिक बनावट और बहुत जगहो पर ककरीले करारो की वजह से जिले में नदी की धारा में बहुत कम अदल-बदल हुआ है। इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि प्राचीनकाल में बरह शाखा के सिवा गगा की कोई दूसरी धारा थी। लेकिन इस बात का प्रमाण है कि गगा की धारा प्राचीनकाल में दूसरी ही तरह से बहती थी। परगना कटेहर में कैंथी के पास की चचरियो से ऐसा लगता है कि इन्ही ककरीले करारो की वजह से नदी एक समय दक्खिन की ओर घूम जाती थी। गगा की इस प्राचीन धारा के बहाव का पता हमें बानगगा से मिलता है जो बरसात में भर जाती है। टाँडा से शुरू होकर बानगगा दक्खिन की ओर छह मील तक महुआरी की ओर जाती है, फिर पूर्व की ओर रसूलपुर तक, अन्त में उत्तर में रामगढ को पार करती हुई वह हसनपुर (सैदपुर के सामने) तक जाती है। जिस समय गगा की धारा का यह रुख था उस समय गगा की वर्तमान धारा में गोमती बहती थी जो गगा में सैदपुर के पास मिल जाती थी। यह कहना आसान नही है कि कैंथी और टाँडा के बीच में कँकरीले करारे को गगा ने कब तोडा लेकिन ऐसा हुआ अवश्य, इसका पता यहाँ की जमीन की बनावट से लगता है। ऊपर हम देख चुके है कि इस स्थान पर नदी का पाट, दूसरी जगहो की अपेक्षा जहाँ नदी ने अपना पाट नही बदला है, बहुत कम चौडा है। दूसरी तरफ बानगगा का पाट बहुत चौडा है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किसी समय यह किसी बडी नदी का पाट था। बैराँट की लोककथाओ से भी इस मत की पुष्टि होती है। जनश्रुति यह है कि शान्तनु ने बानगगा को काशिराज की कन्या के स्वयम्वर

के अवसर पर पृथ्वी फोडकर निकाला। काशिराज की राजधानी उस समय रामगढ थी। अगर किसी समय राजप्रासाद रामगढ़ में था तो वह गगा पर रहा होगा और इस तरह इस लोककथा के आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि एक समय गगा रामगढ से होकर बहती थी।

गगा की इस प्राचीन धारा के बारेमें प्राचीन साहित्य में भी अनेक प्रमाण है। ब्राह्मण और बौद्ध-साहित्य में तो गगा की इस धारा की कोई चर्चा नही है पर जैन-साहित्य में इसका थोडा-बहुत उल्लेख है। जैनो के एक प्राचीन अग नायाधम्म कहा (४।१२१) में इस बात का उल्लेख है कि बनारस के उत्तर-पूर्व में मयगगा तीर्थदह अर्थात् मृतकगगा तीर्थह्रद था। उत्तराध्ययन चूर्णि (१३, पृ २१५) तथा आवश्यक चूर्णि (पृ ५१६) के अनुसार मयगगा के निचले बहाव के रुख में एक ह्रद था जिसमें काफी पानी इकट्ठा हो जाता था जो कभी निकलता नही था। जिनप्रभ सूरि ने विविध तीर्थकल्प[१] में मातग ऋषि बल का जन्म-स्थान मृतगगा का किनारा बतलाया है। कथा में यह कहा गया है कि ऋषि बल एक समय तिन्दुक नामक उपवन में ठहरे थे। वहाँ उन्होने अपने गुणो से गडी तिन्दुक यक्ष को प्रसन्न कर लिया। कोसलराज की कन्या ने एक समय ऋषि को देखकर उनपर थूक दिया इस पर यक्ष उसके सिर पर चढ गया और राजकन्या को ऋषि से विवाह करना पडा। ऋषि ने बाद में उसे त्याग दिया और उसने रुद्रदेव से विवाह कर लिया। भिक्षा-याचन पर निकले ऋषि का एक समय ब्राह्मण अपमान कर रहे थे लेकिन भद्रा ने उन्हें पहचाना और ब्राह्मणो की भर्त्सना की। ऋषि ने फिर ब्राह्मणो को भी क्षमा कर दिया।

मृतगगा सबधी उक्त कथा से कई बाते ज्ञात होती है, पहली यह कि कम से कम गुप्तयुग में जब नायाधम्म कहा लिखी गयी मृतगगा आज के जैसीही थी। दूसरी यह कि यह मृतगगा बनारस के उत्तर-पूर्व में थी जो भौगोलिक दृष्टिकोण से बिलकुल ठीक है। तीसरी यह कि आज से तेरह-सौ बरस पहले इसमें पानी भरा रहता था और यह दह बन जाती थी। आज दिन तो मृतगगा में पानी केवल बरसात में आता है। सभवत हजार बरस पहले बानगगा अधिक गहरी थी और बाद में मिट्टी भरने से छिछली हो जाने के कारण पानी रोकने में असमर्थ हो गयी।

रामगढ़ में बानगगा के तट पर बैराँट के प्राचीन खडहरो की स्थिति है, जो महत्त्वपूर्ण है। लोककथाओ के अनुसार यहाँ एक समय प्राचीन वाराणसी बसी थी। सबसे पहले बैराँट के खडहरो की जाँच पडताल ए० सी० एल० कार्लाइल[२] ने की। बैराँट की स्थिति गगा के दक्षिण में सैदपुर से दक्षिण-दक्षिणपूर्व में और बनारस के उत्तर-पूर्व में करीब १६ मील और गाजीपुर के दक्षिण-पश्चिम करीब बारह मील है। बैराँट के खडहर बान गगा के वर्तुलाकार दक्षिण-पूर्वी किनारे पर है।

बैराँट के नाम की व्युत्पत्ति के बारे में ठीक-ठीक नही कहा जा सकता। मत्स्यो की राजधानी बैराँट जो जयपुर, राजस्थान में है, इससे भिन्न है, फिर भी मत्स्यो

[१] विविधतीर्थकल्प, शान्तिनिकेतन, १९३४, पृ ७३,

[२] ए० एस० रि० २२, पृ० १०८ इत्यादि।

के इस प्रदेश में होने का उल्लेख एक जगह महाभारत में आया है। लगता है मत्स्य एक जगह स्थिर न होकर आगे-पीछे आते-जाते रहे होंगे और शायद इन नाम से उनका संबंध भी हो। पर लौकिक अनुश्रुति के अनुसार इस स्थान का प्राचीन वाराणसी से संबंध है। आगे चलकर हम देखेंगे कि इस अनुश्रुति में सत्य का अंश है और इसे हम कोरी गप्प मानकर नहीं टाल सकते।

बैराँट के खडहरों में प्राचीन किले का भग्नावशेष बान गंगा के पूर्वी कोने पर है। प्राचीन नगर के अवशेष किले से लेकर दक्षिण में बहुत दूर तक ऊँची जमीन पर हैं, इसके बाद वे घूमकर दक्षिण-पश्चिम की ओर नदी के किनारे पर स्थित हैं। पुराना किला मिट्टी का बना है पर उसमें बहुत-सी ईंटें भी मिलती हैं। उत्तर-दक्खिन में इसकी लंबान १३५० फुट और पूरब-पश्चिम में ९०० फुट है। इसके बगल में प्राकार के ७० से १०० फुट चौडे वप्र के अवशेष हैं। कहीं कहीं यह वप्र ऊँचा है पर अधिकतर नालियों से कट गया है। किले के तीन ओर अर्थात् उत्तर-पूर्व, उत्तर-पश्चिम और दक्खिन-पूरब के अट्टालक बच गये हैं। किले के चारों फाटकों का, विशेष रूप से उत्तर-दक्खिन के फाटकों का अभी भी पता लगता है। किले के अंदर दक्खिन में करीब एक तिहाई भाग नीचा है, फिर एक तिहाई जमीन उत्तर की ओर चढती हुई है और किले का उत्तरी चौथा भाग और भी ऊँचा है। उत्तर-पूर्व अट्टालक के पास किसी बड़ी इमारत के भग्नावशेष हैं। किले के बाहर की खाई के निशान अब भी उत्तर-दक्खिन की ओर देख पडते हैं।

किले से करीब ३८० फुट की दूरी पर बैराँट नामक गाँव है। इस गाँव के उत्तर-पूर्व में १५० फुट की दूरी पर एक दूसरा टीला है। गाँव से उत्तर की ओर करीब २०५० फुट पर नगतिन का तालाब है जिसके उत्तर में करीब ३२० फुट पर एक दूसरा टीला है। तालाब से करीब ६३० फुट पश्चिम में राममाला नाम का मंदिर है जहाँ अघोरी महंत और उनके चेले रहते हैं। इस मंदिर से करीब चौथाई मील उत्तर में रामगढ का गाँव है।

बैराँट गाँव के उत्तर पूरब ६५० फुट पर ठीकरों और ईंटों से पटी कुछ ऊँची जमीन है। किले के दक्खिन में करीब ४५० फुट पर प्राकार के भग्नावशेष हैं जो पूर्व से पश्चिम तक करीब १४०० फुट तक दीख पडते हैं। इसके पास ही में एक चौरस टीला है जिसके दक्खिन में एक नाला है। इस नाले से करीब ३२०० फुट पर रसूलपुर का गाँव और एक टीला है। इस तरह देखने से पता चलता है कि बानगंगा के पूर्वी किनारे पर पुराने किले से रसूलपुर तक कोई प्राचीन शहर बसा था क्योंकि बरसात के प्रारम्भ में बराबर यहाँ से ठीकरे और ईंटें निकलती रहती हैं। इतना ही नहीं प्राचीन शहर के भग्नावशेष रसूलपुर से दक्खिन-पश्चिम करीब ३००० फुट और आगे तक चले गये हैं। शहर के इस बढाव के दक्खिनी कोने पर बानगंगा पर पुराना घाट है। जहाँ शहर के अवशेष खतम होते हैं वहाँ एक मिट्टी का ऊँचा बुर्ज है।

कार्लाइल के अनुसार प्राचीन किले को छोडकर शहर की पूरी लम्बाई करीब ७००० या ८००० फुट यानी डेढ मील है लेकिन किले को लेकर शहर की लम्बाई

करीब पौने दो या दो मील है। पूरब से पश्चिम तक शहर की चौडाई का इसलिए ठीक पता नही लगता क्योंकि खेतो के लिए जमीन समतल कर दी गयी है। लेकिन ध्यान से देखने पर शहर की उत्तर ओर चौडाई २००० फुट और दक्खिन १४०० से १००० फुट और ठेठ दक्षिण ओर ८०० फुट रह जाती है। प्राचीन नगर के ठेठ पूर्व में एक प्राचीन छिछली नदी का तल था जिससे नगर घिरा था। अब यह सूख गया है पर इसमें बरसात में थोडा पानी भर जाता है।

कार्लाइल ने बैरांट मे बहुत-से आहत और ढलुए सिक्के पाये। ईसा पूर्व दूसरी सदी की ब्राह्मी लिपि में ज्येष्ठदत्त तथा विजयमित्र के सिक्के तथा कनिष्क के भी थोडे सिक्के उन्हें मिले। राय कृष्णदास के साथ लेखक ने भी बैरांट से बहुत आहत सिक्के इकट्ठे किये। एक सिक्के पर शुगकालीन ब्राह्मी में गोमि लेख है।

कार्लाइल को अकीक इत्यादि की बहुत-सी मणियाँ भी यहाँ से मिली। भारत कला भवन काशी में भी ऐसी मणियो का अच्छा सग्रह है। यहाँ हाथी दाँत की चूडियो के भी टुकडे काफी सख्या में मिलते है। हम लोगो को पत्थर का एक टुकडा भी यहाँ से मिला जिस पर भरहुत से मिलती-जुलती शुगकालीन वेल बनी है।

कार्लाइल को बैरांट के आस-पास के नालो और खेतो से प्रस्तर युग की चिप्पियाँ (flakes) तथा कोर भी मिले थे। इन सब बातो से यह सिद्ध हो जाता है कि बैरांट की बस्ती बहुत प्राचीन है। काली मिट्टी के ओपदार बरतनो के टुकडो के मिलने से तो यह निश्चित हो जाता है कि मौर्ययुग में यहाँ बस्ती थी।

ऊपर हमने बैरांट के प्राचीन शहर का इसलिए विस्तारपूर्वक वर्णन किया है कि इस नगर की स्थिति से वाराणसी के प्राचीन इतिहास पर प्रकाश पडता है। इस इतिहास के बारे में तो हम आगे चलकर विस्तार से वर्णन करेंगे यहाँ केवल काशी की प्राचीन स्थिति के सबध की कुछ बातो का जानना आवश्यक है। महाभारत (अनुशासनपर्व, १८९९, १९००) में यह कथा आयी है कि काशिराज हर्यश्व को वीतिहव्यो ने गंगा-जमुना के मैदान में हराकर मार डाला। हर्यश्व के पुत्र सुदेव को भी लडाई में मात खानी पडी। बाद में उनके पुत्र दिवोदास ने दूसरी वाराणसी गगा के उत्तर किनारे और गोमती के दक्षिण किनारे पर बसायी। अब प्रश्न उठता है कि दिवोदास का बसाया यह दूसरा बनारस कहाँ पर था? गगा की आधुनिक धारा को देखते हुए यह नगर गगा गोमती के सगम कैथी के पास होना चाहिए पर कैथी के आस-पास किसी प्राचीन नगर का भग्नावशेष नही है। चद्रावती के भग्नावशेष भी गाहडवाल युग के पहले के नही है और एक बडे शहर का तो यहाँ नाम निशान भी नही मिलता। आज तक यह भी नही सुनने में आया कि चद्रावती से कोई प्राचीन सिक्के भी मिले हो। आस-पास खोजने पर बैरांट के सिवा कोई ऐसी दूसरी जगह नहीं मिलती जहाँ प्राचीन काल में एक शहर रहा हो। गगा-गोमती की वर्तमान धारा इस मत के विरुद्ध पड़ती है, पर गगा की प्राचीन धारा की अगर कल्पना की जाय तो बैरांट पर ही दिवोदास की बनायी दूसरी वाराणसी सभव जान पडती है। बानगगा रसूलपुर तक पूर्ववाहिनी रहती है पर रामगढ़ के आगे उत्तरवाहिनी होकर हसनपुर में गगा के वर्तमान प्रवाह में मिल

जाती है। जिस समय गगा का मूल प्रवाह वानगगा काँठे से था, उस समय गोमती गगा की वर्तमान धारा में वहती हुई सैदपुर के पास गगा से आ मिलती थी। इस तरह वैराँट या प्राचीन वनारस गोमती के दक्षिण में पडता था जैसा कि महाभारत में कहा गया है।

अव प्रश्न यह है कि यह नयी वाराणसी कव तक वसी रही। ऐसा जान पडता है कि जव तक गगा ने अपना प्रवाह नहीं वदला था तव तक नगर वैराँट में ही वना रहा। पर जव गगा ने इस जगह को छोड दिया तव नगर भी धीरे-धीरे वीरान हो चला और अत में केवल टीला रह गया। लेकिन यह सव हुआ कव? ऐसा पता लगता है कि मौर्य युग तक तो वैराँट का शहर वसा था और शायद गगा ने तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व के वाद ही अपना रास्ता वदला होगा। कम-से-कम जैसा हमें जैन अनुश्रुतियो से पता लगता है गुप्तयुग में तो मृतगगा अर्थात् वाणगगा इतिहास में आ चुकी थी, अत गगा ने अपना रास्ता इसके कई शताब्दी पहले वदला होगा। यह प्रश्न ऐतिहासिक दृष्टि से वडे महत्त्व का है पर इस प्रश्न पर और अधिक प्रकाश तभी पड सकता है जव वैराँट की आधुनिक ढंग से खुदाई हो। भारत कलाभवन की ओर से करीव २५ साल पहले हम लोगो ने पुरातत्त्व विभाग का ध्यान इस ओर आकर्षित किया था और इस सवध में कुछ पैमाइश भी हुई थी पर वाद में मामला ठडा पड गया। क्या हम आशा कर सकते हैं कि भविष्य में पुरातत्त्व-विभाग इस प्रश्न को अपने हाथ में लेगा?

वरना—सुवहा और अस्सी जैसे दो एक मामूली नाले-नालियो को छोड़कर इस जिले में गगा की मुख्य सहायक नदियाँ वरना और गोमती हैं। वनारस के इतिहास के लिए तो वरना का काफी महत्त्व है क्योकि जैसा हम पहले सिद्ध कर चुके है इस नदी के नाम पर ही वाराणसी नगर का नाम पडा। अथर्ववेद (५।७।१) में शायद वरना को ही वरणावती नाम से सवोधन किया गया है। उस युग में लोगो का विश्वास था कि इस नदी के पानी में सर्प-विष दूर करने का अलौकिक गुण है। प्राचीन पौराणिक युग में इस नदी का नाम वरणासि था। वरना इलाहावाद और मिर्जापुर जिलो की सीमा पर फूलपुर के ताल से निकलकर वनारस जिले की सीमा में पश्चिमी ओर से घुसती है और यहाँ उसका सगम विसुही नदी से सरवन गाँव में होता है। विसुही नाम का सवन्ध शायद विषघ्नी से हो। सभवत वरना नदी के जल में विष हरने की शक्ति के प्राचीन विश्वास का सकेत हमें उसकी एक सहायक नदी के नाम से मिलता है। विसुही और उसके वाद वरना कुछ दूर तक जौनपुर और वनारस की सीमा वनाती है। वलखाती हुई वरना नदी पूरव की ओर जाती है और दक्खिनी ओर कसवार और देहात अमानत की ओर उत्तर में पन्द्रहा, अठगावाँ और शिवपुर की सीमाएँ निर्धारित करती है। वनारस छावनी के उत्तर से होती हुई नदी दक्खिन-पूर्व की ओर घूम जाती है और सराय मोहाना पर गगा से इसका सगम हो जाता है। वनारस के ऊपर इस पर दो तीर्थ हैं, रामेश्वर और कालकावाडा। नदी के दोनो किनारे शुरू से आखिर तक साधारणत ऊँचे है और अनगिनत नालो से कटे है।

गोमती—इस नदी का भी पुराणो में वहुत उल्लेख है। पौराणिक युग में यह विश्वास था कि वाराणसी क्षेत्र की सीमा गोमती से वरना तक थी। इस जिले में पहुँचने

के पहले गोमती का पाट सई के मिलने से बढ जाता है। नदी जिले के उत्तर में सुल्तानीपुर से घुसती है और वहाँ से बाईस मील तक अर्थात् कैथी में गगा से सगम होने तक यह जिले की उत्तरी सरहद बनाती है। नदी का बहाव टेढा-मेढा है और इसके किनारे कही ऊँचे और कही ढालुए है।

नद—नद ही गोमती की एकमात्र सहायक नदी है। यह नदी जौनपुर की सीमा पर कोल असला में फूलपुर के उत्तर-पूर्व से निकलती है और धौरहरा में गोमती से जा मिलती है। नद में हाथी नाम की एक छोटी नदी हरिहरपुर के पास मिलती है।

• **करमनासा**—मध्यकाल में हिंदुओ का यह विश्वास था कि करमनासा के पानी के स्पर्श से पुण्य नष्ट हो जाता है। करमनासा और उसकी सहायक नदियाँ चन्दौली तहसील में है। नदी कैमूर पहाडियो से निकल कर मिर्जापुर जिले से होती हुई, पहले-पहल बनारस जिले में मझवार परगने के फतहपुर गाँव से घूमती है। मझवार के दक्खिन-पूरबी हिस्से में करीब दस मील चलकर करमनासा गाजीपुर की सरहद बनाती हुई परगना नरंवन को जिला शाहाबाद से अलग करती है। जिले को ककरैत में छोडती हुई फतेहपुर से चौंतीस मील पर चौसा में वह गगा से मिल जाती है। नौबतपुर में इस नदी पर पुल है और यही से ग्रैंड ट्रक रोड और गया को रेलवे लाइन जाती है।

गडई—करमनासा की मुख्य सहायक नदी गडई है जो मिर्जापुर की पहाडियो से निकलकर परगना धूस के दक्खिन में शिवनाथपुर के पास से इस जिले में घुसती है और कुछ दूर तक मझवार और धूस की सीमा बनाती हुई बाद में मझवार होती हुई पूरब की ओर करमनासा में मिल जाती है।

चन्द्रप्रभा—मझवार में गुरारी के पास मिर्जापुर के पहाडी इलाके से निकल कर चन्द्रप्रभा बनारस जिले को बबुरी पर छूती हुई, थोडी दूर मिर्जापुर में बहकर उत्तर में करमनासा से मिल जाती है।

बनारस जिले की नदियो के उक्त वर्णन से यह ज्ञात होता है कि बनारस तहसील में तो प्रस्रावक नदियाँ है लेकिन चन्दौली में नही है जिससे उस तहसील में झीलें और दलदल है, अधिक बरसात होने पर गाँव पानी से भर जाते है तथा फसल को काफी नुकसान पहुँचता है। नदियो के बहाव और जमीन की ऊँचाई-निचाई की वजह से जो हानि-लाभ होता है उसे प्राचीन आर्य भली-भाँति समझते थे और इसीलिए सबसे पहले आबादी बनारस तहसील में हुई।

किसी नगर की बढती का एक मुख्य कारण यातायात के साधन है। बहुत प्राचीन काल से काशी में यातायात का अच्छा सुभीता रहा है। बौद्ध युग में एक रास्ता काशी होकर राजगृह जाता था। इस सडक पर अन्धकविन्द पडता था। (विनय, १, पृ० २२०)। दूसरा रास्ता भद्दिया होता हुआ श्रावस्ती को जाता था (विनय १, १८९)। बनारस से तक्षशिला (धम्मपद अ० १, १२३) और वेरजा के बीच भी एक रास्ता था। कहा गया है कि एक समय बुद्ध वेरजा से बनारस तक इस रास्ते से गये। वेरजा से सोरेय्य, सकिस्स, कण्णकुज्ज होते हुए उन्होने गगा को प्रयाग-प्रतिष्ठान में पार

किया। बाद में बनारस से वे वैशाली चले गये (समन्तपासादिका, १, २०१)।" बनारस गाजीपुर रोड होकर ही यह प्राचीन रास्ता वैशाली की तरफ गया होगा। बनारस से वेरजा तक की सड़क प्राचीन महाजन पथ का एक भाग जान पड़ती है। वेरजा से सड़क मथुरा जाती थी और वहाँ से तक्षशिला। बनारस से वैशाली तक जाने वाली सड़क के कुछ निशान अब भी बच गये हैं। कपिलधारा तालाब से एक पतला रास्ता ग्रान सड़क के समकोण में वरना की तरफ निकल जाता है और इस नदी को पार करके गाजीपुर की ओर चला जाता है। इस रास्ते की गहराई देखते हुए और इसके दोनों ओर प्राचीन वस्तुओं के मिलने से यह कहा जा सकता है कि यह सड़क बहुत प्राचीन है और बौद्ध-युग में ऋषिपत्तन से बनारस तक आने का यही मुख्य मार्ग था। मुगलों ने इस रास्ते में वरना पर एक पुल भी बाँधा था लेकिन अब यह खतम हो चुका है और इसी के सहारे से इक्के के समय वरना का आधुनिक पुल बना था। इस सड़क पर अकबरपुर से वरना पार जाने के लिए पुल बन गया है जिससे काशी से सारनाथ का प्राचीन मार्ग फिर से आरम्भ हो गया है।

यात्रियों के आराम पर बनारसवासियों का काफी ध्यान था। वे सड़कों पर जानवरों के लिए पानी का भी प्रबन्ध करते थे। जातकों में (जा० १७४) एक जगह कहा गया है, कि काशी जनपद के रास्तों पर एक गहरा कुआँ था जिसके पानी तक पहुँचने के लिए कोई साधन न था। इस रास्ते से जो लोग जाते थे वे पुण्य के लिए पानी खींचकर एक द्रोणी भर देते थे जिससे जानवर पानी पी सकें।

यात्रियों के विश्राम के लिये अक्सर चौराहों पर सभाएँ बनवायी जाती थीं। इनमें सोने के लिये आसन्दी और पानी के घड़े रखे होते थे। इनके चारों ओर दीवारें होती थीं और एक ओर फाटक। भीतर जमीन पर बालू बिछी होती थी और ताड़ वृक्षों की कतारें लगी होती थीं (जा० १।७९)।

अलबेरूनी के समय में (११वीं सदी का आरम्भ) बारी (आगरा की एक तहसील) से एक सड़क गंगा के पूर्वी किनारे-किनारे अयोध्या पहुँचती थी। बारी से अयोध्या २५ फरसख तथा वहाँ से बनारस बीस फरसख था। यहाँ से गोरखपुर, पटना, मुंगेर होती हुई यह सड़क गंगासागर को चली जाती थी[1]। यही वैशाली वाली प्राचीन सड़क है और इसका उपयोग सल्तनत युग में बहुत होता था।

सड़क-ए-आज़म जिसे हम ग्रैंड ट्रंक रोड कहते हैं, बहुत ही प्राचीन सड़क है जो मौर्य काल में पुष्कलावती से पाटलिपुत्र होती हुई ताम्रलिप्ति तक जाती थी। शेरशाह ने इस सड़क का पुनः उद्धार किया, इस पर सराएँ बनवाईं और डाक का प्रबंध किया। कहते हैं कि यह सड़क-ए-आज़म बंगाल में सोनारगाँव से सिंध तक जाती थी और इसकी लंबाई १५०० कोस थी। यह सड़क बनारस से होकर जाती थी[2]। इस सड़क की अकबर के समय में भी काफी उन्नति हुई और शायद उसी काल में मिर्ज़ामुराद और सैयद राजा

[1] सचाऊ, अल्बेरूनीज इंडिया, भा० १, लंदन, १९१०, पृ० २००–२०१।

[2] कानूनगो, शेरशाह, ३९३–९५।

में सराएँ बनी। आगरे से पटने तक इस सडक का वर्णन पीटर मडी ने[1] १६३२ में किया है। चहार गुलशन[2] में भी बनारस से होकर जाने वाली सडको का वर्णन है। एक सडक दिल्ली-मुरादाबाद-बनारस होकर पटना जाती थी और दूसरी आगरा-इलाहाबाद होकर बनारस आती थी। इन बडी सडको के सिवा बहुत-से छोटे-मोटे रास्ते बनारस को जौनपुर, गाजीपुर और मिर्जापुर से मिलाते थे।

मुगलो के पतन के बाद बनारस की सडको की पूरी दुर्गत हो गयी। १७८८ में बनारस के रेसिडेंट श्री डकन ने सुझाव दिया कि बनारस की सडकें बहुत खराब हो गयी है और उन्हें अग्रेज अथवा राजा बनवा दे। १७८९ में तहसीलदारो को अपने हल्को में सडकें ठीक रखने का आदेश हुआ,पर इसका कोई खास नतीजा नही निकला। १७९३ में पुन डकन ने इस बात की सूचना दी कि चुगी और दूसरी मदो से कुछ रुपया निकाल कर सडको की मरम्मत करवा दी गयी थी। उसी समय बनारस से कलकत्ता तक १५ फुट चौडी सडक बनी। १७९४ में बरना का पुल बँधा। पर इस सबके होते हुए भी सडको की अवस्था विशेष न सुधरी। १८४१ में बोर्ड आफ रेवेन्यू के प्रस्ताव को मानकर एक प्रतिशत मालगुजारी से रोड मेस फड कायम किया गया और तभी से बनारस की सडको की क्रमश उन्नति होने लगी।

बनारस के धार्मिक और व्यापारिक प्रभाव का मुख्य कारण इसकी गगा पर स्थित है। गगा में बहुत प्राचीन काल से नावें चलती थी जिनमे काफी व्यापार होता था। बनारस से कौशाबी तक जलमार्ग से दूरी तीस योजन दी हुई है[3]। बनारस से समुद्र यात्रा भी होती थी। एक जातक (३८४) में कहा गया है कि बनारस के कुछ व्यापारियो ने दिशाकाक लेकर समुद्र यात्रा की। यह दिशाकाक समुद्र में यात्रा के समय किनारे का पता लगाने के लिए छोडा जाता था। कभी-कभी काशी के राजा भी नावो के बेडो में (बहुनावासघाटे) सफर करते थे (जा० ३।२२६)।

बनारस की उन्नति का प्रधान कारण नदी-व्यापार था। यह व्यापार कलकत्ते से दिल्ली तक रेल बनने से पूर्व तक बराबर चलता रहा, पर रेल चलते ही बनारस के नदी मार्ग के व्यापार को गहरा धक्का लगा। विजेता भी नदी मार्ग का उपयोग करते थे। अकबर ने गगा से बनारस होकर अफगानो को हराने के लिए पटने की तरफ नाव से प्रस्थान किया। बनारस पर अग्रेजो का अधिकार होने पर क्रमश सडको की उन्नति होने लगी, जकात-महसूल कम कर दिये गये और स्थल यात्रा में चोर-डाकुओ का भय भी क्रमश कम होने लगा। इन सब कारणो से भी गगा नदी का व्यापार क्रमश कम होने लगा फलत बनारस की समृद्धि को काफी धक्का पहुँचा। नदी में यातायात की कमी सबसे पहले १८४८ में लक्षित हुई। १८१३ तक तो शहर में अनाज नदी से आता था और १८२८ में बनारस में पटैलो के झुरमुटो का उल्लेख है। इस घटते हुए व्यापार को

---

[1] दि ट्रेवल्स आफ पीटर मडी, टेंपुल द्वारा सपादित, भा० २, ७८, इत्यादि

[2] सरकार, इंडिया आफ औरगजेब,कलकत्ता १९०१

[3] मज्झिम निकाय, अट्ठकथा, भा०, २, ९२९

रोकने के लिए कर लगा कर नदी गहरी करने की योजना भी बनी पर यह सब बेकार गया। स्थल मार्ग से यात्रा नदी की यात्रा से सुखकर और सरल निकली और लोग उसी ओर झुक गये। पुराने कागजातो से पता लगता है कि नदियों पर भी डाकेजनी होती थी। बीमे वालों को ठगने के लिए भी अक्सर नावें डुबा दी जाती थीं। इन सब बदमाशियो से रक्षा पाने के लिये १८४९ मे योजनाएँ बनायी गयीं पर उस समय तक तो नदी का व्यापार काफी ढीला पड चुका था।

महाजनपद युग में भी गगा पर घाट चलते थे। घाटो मे नाविक यात्रियो को पार ले जाते थे। अवारिय नामक एक बनारस के मूर्ख नाविक की कहानी में यह कहा गया है कि वह लोगो को पार पहुँचा कर फिर किराया मांगता था, और बहुधा उसे अपने किराये से हाथ धोना पडता था। बोधिसत्व ने उसे उपदेश दिया—अपना किराया नदी पार करने के पहले माँगो क्योंकि यात्रियों की चित्तवृत्ति बराबर बदला करती है (जा० ३।१५२)। मुगल युग में भी गगा और गोमती पर घाट चलते थे। इस समय भी गगा पर कई घाट हैं जिनमें रामनगर, बलुआ और कैथी के घाट खूब चलते हैं। गोमती पर भी कई घाट हैं। बनारस के पास बरना पर तीन घाट हैं। अंग्रेजों की अमलदारी के शुरू में घाटों पर सरकार का कोई अधिकार न था, फिर भी सभवत घाट चलाने का ठीका होता था। घाट पुश्त दरपुश्त माँझियों के अधिकार में होते थे और वे ही उनकी देख रेख करते थे। १८१७ में बनारस के कलेक्टर को उनपर अधिकार करने की आज्ञा मिली और कर सरकार में जमा करने को कहा गया पर फकीरो और साधुओं को मुफ्त में ले जाने की प्रथा कायम रक्खी गयी (बनारस गजेटियर, पृ० ७९-८०)।

• •

दूसरा अध्याय

काशी का इतिहास और वैदिक पौराणिक तथा बौद्ध ग्रन्थों के साक्ष्य

१ वैदिक आधार

वैदिक आर्यों के आगमन से पूर्व कालीन काशी के इतिहास के बारे में कुछ कहना कठिन है क्योकि बनारस नगर और जिले दोनो में ही पुरातत्त्व सम्बन्धी खोज अभी बहुत कम हुई है। फिर भी अगर हम बनारस की वर्तमान आबादी का विश्लेषण करें तो हमें बनारस के प्राचीन इतिहास का कुछ सकेत मिलेगा। बनारस की आबादी में भर इत्यादि जातियो की सख्या काफी है। काशी और उसके आस पास के इलाको में यह अनुश्रुति प्रचलित है कि एक समय में बनारस और गाजीपुर में भरो और सुइरो का, जो निश्चित ही अनार्य जातियाँ थी, प्राधान्य था। बनारस शहर में तो नही, पर गाजीपुर में मसोन-डीह के सबसे नीचे स्तर से वाराणसी जिले में बैरांट से, मिर्जापुर शहर के पास से, मि० कार्लाइल को प्रस्तर युग के हथियार मिले हैं[1]। यह मानने में आपत्ति नही होनी चाहिए कि जिस आदिम सभ्यता के प्रतीक ये पत्थर के हथियार हैं उसका अधिकार बनारस और उसके आस-पास के इलाको पर रहा होगा। सभवत आर्यों के काशी पर अधिकार कर लेने के बाद भी इन आदिम निवासियो का बनारस के आस-पास काफी प्रभाव था। पौराणिक अनुश्रुति[2] है कि काशिराज दिवोदास को हराकर जब हैहय-राज भद्रश्रेण्य ने काशी जनपद पर अधिकार कर लिया तब मौका पाकर राक्षस क्षेमक ने वाराणसी पर कब्जा कर लिया फिर दिवोदास के पोते अलर्क ने क्षेमक को मारकर पुन बनारस पर अपना अधिकार जमाया। राक्षसो से यहाँ आदिम निवासियो का ही आशय जान पडता है तथा इस आख्यान में हम विजित और विजेताओ की उस कशमकश का आभास पाते हैं जिसमें कभी एक का पलडा भारी हो जाता था और कभी दूसरे का।

पूर्व भारत में आर्यों का प्रवेश कब हुआ, इसका ठीक-ठीक समय निश्चित करना तो कठिन है, लेकिन यह घटना उसी समय घटी होगी जब सरस्वती के किनारे से चल कर विदेघ माथव और उनके पुरोहित गौतम राहुगण ने उत्तरप्रदेश मे वैदिक सभ्यता का प्रकाश फैलाया। शतपथ ब्राह्मण (१।४।१।१०-१७) में इसकी कथा यो है—एक समय विदेघ माथव के मुख में अग्नि वैश्वानर बद हो गये। उनके कुल पुरोहित गौतम राहुगण ने राजा को बुलाना चाहा, पर वे इस भय से नही बोले कि कही अग्नि उनके मुख से टपक न पडे। पुरोहितजी ने ऋग्वेद की ऋचाओ से अग्नि का आवाहन किया पर कुछ नतीजा न निकला। सयोग से एक ऋचा में घृत का नाम आ गया। अग्नि को घृत प्रिय है, बस क्या था, वे राजा के मुख से निकल पडे और पृथ्वी को दग्ध करते हुए पूर्व की ओर चल पडे और उनके पीछे-पीछे विदेघ माथव और गौतम राहुगण हो लिए। अग्नि ने अपने विक्रमण से नदियाँ सुखा डाली और इस प्रकार वे उत्तर हिमालय से निकली सदानीरा नदी के किनारे

---

1. ए एस आर भा २२, पृ ११ से
2. वायु पु ९२।२३–२८, ६१-६८, ब्रह्माड पु ३।६३, ११९-१४१।

पहुँचे पर इस नदी को वे दग्ध न कर सके। प्राचीन काल में ब्राह्मणो ने इस नदी को इसलिए पार नहीं किया था क्योंकि वह अग्नि वैश्वानर से दग्ध नहीं हुई थी। ये घटनाएँ बहुत प्राचीन काल की थीं क्योंकि शतपथ काल में तो नदी के पूर्व में भी बहुतसे ब्राह्मण रहते थे। जिस समय सदानीरा के किनारे अग्नि वैश्वानर पहुँचे उस समय सदानीरा के पूर्व के प्रदेश में खेती नहीं होती थी और जमीन दलदल थी। इन सब का कारण शतपथ के अनुसार यह है कि अग्नि वैश्वानर द्वारा वह प्रदेश तब तक दग्ध नहीं हुआ था। शतपथ के समय में उस प्रदेश में खेती होती थी और गरमी में भी सदानीरा में ठंडा पानी जोरों से बहता रहता था। राजा ने जब अग्नि से अपने रहने का स्थान पूछा तो उसने नदी के पूरब का प्रदेश दिखला दिया। शतपथ के समय सदानीरा नदी कोसल और विदेह की सीमा बनाती थी। कोसल और विदेह दोनो माथव के अधीन थे।

इस अनुश्रुति में आर्यों की पूर्व में भूप्रतिष्ठा की एक के बाद दूसरे पडावो का उल्लेख है। पहले पडाव में आर्य पजाब से सरस्वती नदी तक फैले थे। वहाँ से विदेघ माथव के नेतृत्व में सदानीरा (आधुनिक गडक) तक, जो कोसल और विदेह की प्राकृतिक सीमा है, पहुँचे। कुछ समय तक आर्यों की सदानीरा नदी पार करने की हिम्मत नहीं हुई; लेकिन शतपथ युग में नदी के पूर्व का भाग उन्होंने अपने अधीन कर लिया था। अग्नि वैश्वानर यहाँ आर्यधर्म और सभ्यता के प्रतीक यज्ञ के परिचालक हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब सदानीरा की ओर से आर्य सभ्यता का उत्तर बिहार में प्रसार हो रहा था उस समय काशी की ओर भी आर्य बढ चुके थे अथवा नहीं। काशी प्रदेश में आर्यों की भूप्रतिष्ठा की कोई अनुश्रुति वैदिक साहित्य में नहीं मिलती। काशी का सर्वप्रथम उल्लेख अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा (५।१२।१४) में आता है, वह भी विचित्र रूप में। मत्रकार एक रोगी के लिए तक्मा अथवा जूडी से प्रार्थना करता है कि वह उसे छोडकर गधार काशी और मगध के लोगो में अपना अधिकार फैलावे। इसके माने तो यह होते हैं कि गधार मगध और काशी के लोगो से कुरु-पचाल देश के ठेठ वैदिक सभ्यता के अनुयायी आर्य अप्रसन्न थे और उनकी अवनति देखना चाहते थे। इस शत्रुता का कारण शायद इन प्रदेशो में धर्म-पालन की शिथिलता थी। शतपथ ब्राह्मण (१३।५।४।१९) में काशिराज धृतराष्ट्र का भरत-कुल के शतानीक सात्राजित द्वारा हराये जाने का उल्लेख है। इस हार का नतीजा यह हुआ कि काशी-वासियो ने शतपथ ब्राह्मण के समय तक अग्निहोत्र छोड दिया था लेकिन यह समझ में नहीं आता कि हार जाने पर काशीवासियो ने अग्निहोत्र क्यों छोड दिया। क्या इस घटना से काशीवासियो की वैदिक प्रक्रियाओ की ओर अवहेलना प्रकट होती है? ऐसा सभव है क्योंकि वैदिक युग और बहुत बाद तक भी काशीवासियों में धार्मिक कट्टरता की कमी थी। वे दूसरो की बातें सुनते थे और दूसरो के विश्वासो का आदर करते थे। इसीलिए प्राचीन वैदिक दृष्टि में काशी की कोई धार्मिक महत्ता नहीं थी। आज दिन हम काशी को प्राचीन वैदिक धर्म का केन्द्र मानते हैं, पर मनुस्मृति में (तीसरी सदी ई० पू०) तो भारतवर्ष का पवित्रतम क्षेत्र ब्रह्मावर्त्त था, काशी की कोई गिनती ही नहीं थी। उसमें तो काशी मध्यदेश में भी नहीं सम्मिलित हुई है।

काश्यो और विदेहो का वडा घनिष्ट सवध था और इसका कारण दोनो का भौगोलिक सान्निध्य था। काशि-विदेह द्वद्व का प्रयोग कौशीतकी उपनिषद् (४।१) में सबसे पहले आता है। बृहदारण्यक (३।८।२) में गार्गी अजातशत्रु को काशी अथवा विदेह का राजा कहती है। शाखायन श्रौतसूत्र में (१६।१९।५) जलजातुकर्णी को काशी कोसल और विदेह के राजाओ का पुरोहित कहा गया है। बौधायन श्रौतसूत्र (२१।१३) में भी काशी और विदेह का पास-पास में उल्लेख हुआ है। काशि-कोसल का सर्वप्रथम उल्लेख गोपथ ब्राह्मण (१।२।९) में हुआ है। काशी की स्वतत्र राज्यसत्ता नष्ट हो जाने पर और उसके कोसल में मिल जाने पर काशि-कोशल साथ-साथ आने लगे। महाभाष्य के काशि-कोसलीया (काशी-कोसल सबधी) उदाहरण[1] में काशी और कोसल जनपदवाची शब्दो का जोडा बनाया गया है।

काशी के उक्त उल्लेखो से ज्ञात होता है कि काशी शब्द वैदिक साहित्य में काफी बाद में आया, लेकिन जैसा कि कीथ का अनुमान है [2]वाराणसी काफी पुरानी हो सकती है क्योकि अथर्ववेद में (४।७।१) वरणावती नदी का नाम आया है जिसके नाम पर ही वाराणसी का नामकरण हुआ। यह बात विचारणीय है कि काशी का कोसल और विदेह से घनिष्ट सबध होने पर भी कुरुपाचालो से उसका सबध शत्रुतापूर्ण था। इस शत्रुता का कारण राजनीतिक अनबन तथा कुछ हद तक सास्कृतिक दृष्टिकोण में विभिन्नता रही होगी। शतपथ मे वर्णित विदेघ माथव की कथा से तो यह पता चल जाता है कि कुरु-पचाल देश वैदिक सस्कृति का प्रधान केन्द्र था। पश्चिम के वैदिक क्रियावाद को पूर्व ने पूर्णत स्वीकार नही किया था और पूर्व का झुकाव ब्राह्मण अध्यात्मवाद की ओर पूर्णरूप से नही था। बौद्धधर्म भी पूर्व की देन है और जैसा बौद्धग्रथो से पता चलता है यहाँ क्षत्रियो का स्तर ब्राह्मणो से ऊँचा था। इस ब्राह्मण और क्षत्रिय मनोमालिन्य का पता हमें बाद के वैदिक ग्रथो[3] से लगता है जिनमें मगध के प्रति सदेह व्यक्त हुआ है। इसका कारण मगधवासियो की धार्मिक-वृत्ति ही हो सकती है। इस वृत्ति को हम वाजसनेयी सहिता (३०।५।२२) तक में देख सकते है। यह भी सभव है कि कोसल, विदेह और काशी कुरुपाचालो की ही शाखाएँ थी। सभवत आदिवासियो को पूरी तरह न हरा सकने के कारण उनके विश्वासो और धर्म में आदिवासियो के धार्मिक विश्वासो का मिश्रण हो गया। दिवोदास के पौराणिक आख्यान और काशी में बहुत प्राचीन काल से लिंगपूजा शायद उत्तर प्रदेश की इस सकर वैदिक सस्कृति की ओर सकेत करते है। जैसा हम आगे देखेंगे, अगर कस्सियो से काश्यो का कोई सबध है तो उनकी मिश्र एसियानी और आर्यसस्कृति को इस देश के आर्य सदिग्ध दृष्टि से देखते रहे हो तो इसमें आश्चर्य न होना चाहिए।

वैदिक युग में स्थानवाचक प्रथा के अनुसार काशी के राजाओ को काश्य कह कर सबोधन करते थे। शतपथ में काशिराज धृतराष्ट्र का नाम आया है। हमें काशी के

[1] ४।८।४५, कीलहार्न, २, २८०
[2] वैदिक इडेक्स, भाग १, पृ० १५४
[3] कात्यात्यान श्रौतसूत्र, २५।४।२२, लाट्यायन श्रौतसूत्र, ८।६।२८

एक दूसरे राजा अजातशत्रु का भी पता है जिसने काशी को विदेहराज जनक की राजधानी की तरह दर्शन का केन्द्र बनाने का प्रयत्न किया। राजा अजातशत्रु स्वय दार्शनिक थे जैसा कि ब्राह्मण बलाकी के साथ उनके सवाद से पता चलता है। पर इन राजाओ का काल गणना क्रम में क्या स्थान था यह कहना सभव नही है।

२ पौराणिक आधार

वैदिक साहित्य में काशी के इतिहास की सामग्री बहुत परिमित है, पर पुराणो में ऐसी बात नही है। इनमें जो वशावलियाँ दी हुई है उनके आधार पर महाभारत के पूर्व काशी के इतिहास का ढाँचा खडा किया जा सकता है। पुराणो के द्वारा काशी के धार्मिक विश्वासो पर और विशेषकर काशी में शिवपूजा के इतिहास पर भी काफी प्रकाश पडता है। फिर भी पौराणिक आधारो का उपयोग समझ बूझकर ही किया जा सकता है। इसका मुख्य कारण यह है कि पुराणो के निर्माण अथवा सकलन काल का पक्का पता हमें नही है। बहुत काल तक श्रुत होने से भी वशावलियो में गडबडी आ गयी है। पुराणो में बहुधा अनेक युगो की बातो का सग्रह है और इसी कारण से नयी पुरानी बातें मिल गयी है, जिन्हें छाँटकर उपयोग में लाने का काम आसान नही है। इतना सब होते हुए भी पौराणिक आधारो को केवल कपोल कल्पित समझकर छोडा नही जा सकता। उनमें इस देश के धार्मिक विश्वासो, वशावलियो तथा भूगोल सबधी बहुत-सी सामग्री भरी पडी है, पर इनका उपयोग सावधानी से और तर्कसंगत दृष्टि से ही करना चाहिए।

श्री एफ० ई० पार्जिटर ने काशी के इतिहास के इन पौराणिक आधारो की तर्कसगत व्याख्या की है। उनके निष्कर्षो की पुष्टि पुरातत्त्व की खोजो द्वारा ही हो सकती है। *फिर भी जिन तथ्यो पर वे पहुँचे है उनमें से कोई असभव बात नही दीख पडती।*

पुराणो में काशी वश के दो उद्गम दिये गये है। सात पुराणो (ब्रह्माड, वायु इत्यादि) के अनुसार यह वश अयु के पुत्र से प्रारभ हुआ। इस अनुश्रुति के अनुसार इस वश के पहले चार राजा क्षत्रवृद्ध, सुनहोत्र, काश और दीर्घतपस् हुए। ब्रह्म और हरिवश पुराण इस वश की भिन्न उत्पत्ति बतलाते है, जिसमें सुनहोत्र और पौरव वश के सुहोत्र को एक ही बताया गया है। इस अनुश्रुति के अनुसार सुहोत्र वितथ का पुत्र था और इस प्रकार से काशी वश की उत्पत्ति सुहोत्र पौरव से हुई। इस दूसरी अनुश्रुति के अनुसार इस वश के प्रथम चार राजगण क्रमश वितथ, सुहोत्र, काशिक और दीर्घतपस् हुए। यह तालिका भर्ग तक पहुँचती है। लेकिन यह कहना कठिन है कि हम भर्ग को कालक्रम में कहाँ रक्खें[१]।

पुराणो के आधार पर श्री पार्जिटर ने काशी वश की निम्नलिखित तालिका दी है—

(१) मनु, (२) इला, (३) पुरुरवस्, (४) अयु, (५) नहुष, (६) क्षत्रवृद्ध, (७-८) खाली, (९) सुनहोत्र, (१०-११) खाली, (१२) काश, (१३)-(१४) खाली, (१५) दीर्घतपस्, (१६) खाली, (१७) धनव, (१८) खाली, (१९) धन्वतरि, (२०) खाली, (२१) केतुमत प्रथम, (२२) खाली, (२३) भीमरथ, (२४) खाली, (२५) दिवोदास प्रथम, (२६) अष्टरथ, (२७-३७) खाली, (३८) हर्यश्व, (३९) सुदेव, (४०) दिवोदास द्वितीय,

[१] पार्जिटर, इडियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन, ५।१०।१, लडन १९२२

(४१) प्रतर्दन, (४२) वत्स, (४३) अलर्क, (४४) खाली, (४५) सन्नति, (४६) सुनीथ, (४७) खाली, (४८) क्षेम, (४९) खाली, (५०) केतुमत द्वितीय, (५१) खाली, (५२) सुकेतु, (५३) खाली, (५४) धर्मकेतु, (५५) खाली (५६) सत्यकेतु, (५७) खाली, (५८) विभु, (५९) खाली, (६०) सुविभु, (६१) खाली, (६२) सुकुमार, (६३) खाली, (६४) धृष्टकेतु, (६५) खाली, (६६) वेणुहोत्र, (६७) खाली, (६८) भर्ग। (६९-७०) खाली, (७१) पौरवस् (७२) जन्हु।

इस तालिका से काशी के इतिहास पर विशेष प्रकाश नही पडता। तालिका में वैदिक साहित्य में आये राजाओ जैसे धृतराष्ट्र और अजातशत्रु के भी नाम नही मिलते।

पुराणो में बहुत-सी ऐसी परपराए मिलती है जिनमें हैहयो का काशी और अयोध्या के इतिहास से सबध है। पुराणो के अनुसार दक्षिण मालवा में भद्रश्रेण्य की अधीनता में हैहयो का चरमोत्कर्ष हुआ और उनका प्रभाव पूर्व की ओर बढा। भद्रश्रेण्य महिष्मत के पुत्र थे। अपने पूर्व की विजयो में उन्होने काशी जीतकर उस पर अपना अधिकार जमा लिया। उनकी चौथी पुश्त में अर्जुन कार्तवीर्य नर्मदा पर स्थित माहिष्मती पर राज्य करते थे। दिग्विजय करते हुए उनकी आयव वसिष्ठ से मुठभेड हुई अर्थात् उन्होने मध्यदेश जीत लिया। बाद में तालजघो और हैहयो ने उत्तर-पश्चिमी सेना की सहायता से अयोध्या के राजा बाहु को मार भगाया, पर बाहु के पुत्र सगर ने हैहयो से अपना राज्य वापस ले लिया और उनकी सत्ता नष्ट कर दी। अर्जुन कार्तवीर्य के समकालीन अयोध्या के शासक त्रिशकु और हरिश्चन्द्र थे। इस तरह सगर की कहानी से हैहयो और इक्ष्वाकुओ की तालिकाए मिल जाती है।

काशी सबधी पौराणिक कथानको में मेल खाता दिखलायी देता है[1]। इन कथानको के अनुसार भीमरथ के पुत्र काशिराज दिवोदास अपनी राजधानी वाराणसी छोडकर अपने राज्य के ठेठ पूरब में गोमती के किनारे एक दूसरा नगर बसाकर रहने लगे। भद्रश्रेण्य ने काशी जनपद जीत लिया और राक्षस क्षेमक ने वाराणसी दखल कर ली। दिवोदास ने भद्रश्रेण्य के पुत्रो से पुन काशी वापस ले ली, लेकिन भद्रश्रेण्य के पुत्र दुर्दम ने पुन नगरी पर अपना अधिकार जमा लिया। दिवोदास के बाद उनके भाई अष्टरथ काशी की गद्दी पर आये। प्रतर्दन दिवोदास के पुत्र थे। उन्होने पुन अपना राज्य हैहयो से वापस ले लिया और हैहयो के साथ उनकी लडाई समाप्त हुई। प्रतर्दन के पौत्र अलर्क ने राक्षस क्षेमक को मारकर पुन वाराणसी वापस ले ली। ये सब घटनायें एक हजार वर्ष में हुई[2]। इस कहानी को पूरी तरह समझने में एक दूसरी क्षत्रिय अनुश्रुति से सहायता मिलती है[3]। इस अनुश्रुति की बातें कुछ गडबड भी है फिर भी इससे यह पता चलता है कि इस अनुश्रुति का सबध तालजघ के परवर्ती हैहयो और खासकर राजा वीतिहव्य के वशजो से है। कथा में कहा गया है कि काशिराज हर्यश्व, वीतिहव्य के वशजो द्वारा गगा-यमुना के सगम पर हराये और मारे गये।

[1] वायु पु० ९२।२३-२८, ब्रह्माड, ३।६३, ११९-१४१

[2] पार्जिटर, उल्लिखित, पृ० १५३-१५४

[3] अनुशासन पर्व, ३०।१९४९-९६

हर्यश्व के पुत्र सुदेव काशी की गद्दी पर बैठे पर वीतिहव्यों ने उन्हें भी हरा दिया। इनके बाद दिवोदास काशी के राजा हुए तथा उन्होंने वाराणसी नगरी बसायी। यह नयी वाराणसी नगरी गंगा के उत्तर किनारे और गोमती के दक्षिण किनारे पर बसी थी, लेकिन वीतिहव्यों ने उस पर भी चढ़ाई कर दी और एक हजार दिन लड़ाई होने के बाद दिवोदास हारकर जंगल में भागे जहाँ उन्होंने बृहस्पति के सबसे बड़े पुत्र भरद्वाज के आश्रम में आश्रय पाया। यह भी अनुश्रुति है कि वैशाली से भरद्वाज काशी आकर दिवोदास के पुरोहित हो गये। दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन ने वीतिहव्यों को हराया और वीतिहव्य भागकर भृगु ऋषि की शरण गये। भृगु ऋषि ने उन्हें ब्राह्मण बना उनकी रक्षा की। इस घटना की पुष्टि ब्राह्मण अनुश्रुतियों से होती है जिनके अनुसार भरद्वाज दिवोदास के पुरोहित थे और उन्होंने प्रतर्दन को राज्य वापस दिलवाया[1]।

काशी सबंधी इन दोनों कथाओं की तुलना से पार्जिटर इस नतीजे पर पहुँचे कि पहली कथा में हैहयों और काश्यों के बीच की लड़ाई के आदि और अंत का वर्णन आता है, तथा दूसरी कथा में इसके बाद की घटनाओं का। पार्जिटर के अनुसार काशी के राजवंश में दो दिवोदास हुए, एक तो पहले प्रारंभ में हुए जो भीमरथ के पुत्र थे और दूसरे अंत में जो सुदेव के पुत्र थे। दोनों दिवोदासों के बीच में कम-से-कम तीन राजाओं यथा अष्टरथ, हर्यश्व और सुदेव ने काशी पर राज्य किया। पहिली कथा में दोनों दिवोदासों का सम्मिश्रण हो गया है। प्रतर्दन दिवोदास द्वितीय के पुत्र थे। यह भी पता चलता है कि दूसरी कथा के वीतिहव्य (संभवत वंशावलियों के वीतिहोत्र), तालजंघ के बाद के हैहय वंशीय राजा थे। पार्जिटर के अनुसार शायद दिवोदास प्रथम ने दूसरी वाराणसी की स्थापना की[2]।

पुराणों में काशी के राजाओं के बारे में थोड़ी-सी और फुटकर बातें मिलती हैं जैसे अलर्क काशी के बड़े प्रतापी राजा थे। मत्स्य पुराण (१८०।६८) में तो वाराणसी को अलर्क की पुरी कहा गया है। अलर्क के प्रताप और दीर्घ राज्यकाल का कारण लोपामुद्रा की उन पर अनुकंपा कही गयी है[3]।

हैहयों और काश्यों के युद्ध से ज्ञात होता है कि मध्यप्रदेश के राजाओं की काशी पर बहुत प्राचीनकाल से दृष्टि रहा करती थी। ऐतिहासिक काल में भी ११ वीं सदी में गांगेयदेव द्वारा काशी पर अधिकार इस प्राचीन राजनीतिक परंपरा का सूचक है।

महाभारत में भी काशी संबंधी कुछ फुटकर बातें मिलती हैं। एक जगह कहा गया है कि काशिराज की पुत्री सार्वसेनी का विवाह भरत दौष्यन्त से हुआ था (आदिपर्व अ० ९५)। भीष्म ने काशिराज की तीन पुत्रियों यथा अंबा, अंबिका, और अंबालिका को स्वयंवर में अपने भाई विचित्रवीर्य के लिए जीता (उद्योग पर्व, १७२।९४)। एक जगह काशिराज सुबाहु का भीम द्वारा जीते जाने का उल्लेख है (सभापर्व, अ० ३०)। कहा गया है कि काशिराज युधिष्ठिर के मित्र थे और उन्होंने कुरुक्षेत्र के युद्ध में पांडवों

[1] पञ्चविंश ब्रा० १५।३।७; काठक संहिता, २१।१०, वैदिक इंडेक्स, भा० २, पृ० ९८

[2] पार्जिटर, उल्लिखित, पृ० १५५

[3] पार्जिटर, उल्लिखित, पृ० १६८

की मदद की (उद्योग अ० ७२) काशिराज का युद्धक्षेत्र में सुवर्ण माल्य विभूषित घोडो पर चढने का (द्रोणपर्व, २२।३८) तथा शैव्य के साथ काशिराज का पाडव सेना के बीच ३०,००० रथो के साथ स्थित रहने के (भीष्मपर्व, अ० ५०) उल्लेख हैं। एक जगह काशिराज को धनुर्विद्या में बहुत प्रवीण माना गया है (द्रोणपर्व, अ० २५)। युद्धक्षेत्र में काशी, कारूष और चेदि की सेनाएँ धृष्टकेतु के नायकत्व में थी (उद्योगपर्व, १९८)।[1]

महाभारत में एक जगह (उद्योगपर्व ४७।४०) कृष्ण द्वारा वाराणसी के जलाये जाने का वर्णन है। विष्णु पुराण में भी काशी के जलाये जाने की पूरी कथा आती है।[2] कथा के अनुसार पौड्रक नाम का एक वासुदेव था जो लोगो की खुशामद से बहककर अपने को सच्चा वासुदेव समझने लगा और उसने वासुदेव के लक्षणो को भी अपना लिया। इसके बाद उसने असली वासुदेव के पास एक दूत भेजा और उन्हें अपने लक्षणो को उतार फेंकने और अपनी अर्थात् पौंड्रक या नकली वासुदेव की अभ्यर्थना करने के लिए आवाहन किया। कृष्ण ने हँसकर दूत को वापस भेज दिया और पौंड्रक से कहलवा दिया कि वे अपने चिह्न चक्र के साथ स्वय उसके पास आ उपस्थित होगे। इसके बाद कृष्ण पौंड्रक की ओर बढे। काशिराज ने अपने मित्र पौंड्रक को आपत्ति से घिरा देखकर उसकी सहायता के लिए स्वय सेना भेजी और स्वय सेना के पृष्ठदेश में हो लिए। दोनो की सम्मलित सेनाए कृष्ण का सामना करने के लिए आगे बढी। लडाई में इस सम्मिलित सेना को हार खानी पडी और पौंड्रक के टुकडे-टुकडे उडा दिये गये। काशिराज फिर भी युद्ध से विरत नहीं हुए और तब तक लडते रहे जब तक उनका सिर कटकर अलग नही हो गया। इस तरह कृष्ण और काशिराज की लडाई का पहला अध्याय समाप्त हुआ और कृष्ण द्वारका लौट गये।

काशिराज के पुत्र ने यह पता लगने पर कि उसके पिता के घातक कृष्ण थे शकर की आराधना की और उनके प्रसन्न होने पर कृष्ण को नष्ट करने का वर माँगा। शिव ने कृत्या का सृजन किया और वह द्वारका जलाने के लिए दौडी।। उसे नगर की ओर आते देखकर कृष्ण ने चक्र को उसे नष्ट कर देने की आज्ञा दी। चक्र को देखते ही कृत्या भागी पौर चक्र ने उसका पीछा किया और इस तरह से दोनो वाराणसी पहुँचे। काशिराज ने अपनी सेना के साथ चक्र का सामना करना चाहा पर चक्र ने उसे मार गिराया और वाराणसी में जहाँ कृत्या छिपी थी, आग लगा दी। इस तरह से वाराणसी नगरी जो देवताओ के लिए अवरुद्ध थी चक्र द्वारा उद्भूत आग की लपटो से आवृत होकर पूरी तरह से नष्ट हो गयी। यह कथा हरिवश, भागवत और पद्म पुराणो में भी कुछ हेर-फेर के साथ आयी है।

उक्त कथा की जाँच-पडताल से तो ऐसा जान पडता है मानो यह कथा शैवो और वैष्णवो की लडाई की ओर सकेत करती हो। शिव की नगरी वाराणसी में कैसे वासुदेव प्रवेश नही पा सकते थे और कैसे भागवतो ने इससे क्रुद्ध होकर नगरी जला दी यही इस कथा के भीतर छिपी हुई घटना जान पडती है। पर वाराणसी जलाने का एक राजनीतिक

[1] बी० सी० लॉ, ट्राइब्स इन एशेन्ट इडिया, पृ० १०५

[2] विष्णु पुराण, ५।३४, एच एच विल्सन का अनुवाद, पृ ५९७ से लडन १८४०

उद्देश्य भी हो सकता है। कथा से स्पष्ट है कि पौंड्रक अर्थात् पौंड्र देश (उत्तरी बंगाल) के राजा का काशिराज से मित्रता का संबंध था। संभवतः पौंड्रक जरासंध के अनुयायी थे। महाभारत के समय जरासंध मगध का राजा था तथा मगध से कृष्ण की शत्रुता थी। विष्णु पुराण के अनुसार इस शत्रुता का कारण कृष्ण द्वारा कंस का वध था क्योंकि कंस को जरासंध की दो पुत्रियाँ ब्याही थीं। जो भी हो, महाभारत से तो यह पता चलता है कि जरासंध ने उत्तर के अनेक राजाओं को हराकर कृष्ण की राजधानी मथुरा को जा घेरा। चेदिराज शिशुपाल से और जरासंध से इतनी घनिष्ट मित्रता थी कि जरासंध ने उसे मगध का सेनानी बना दिया था। काशिराज का उस समय क्या रुख था यह तो नहीं कहा जा सकता पर वे जरासंध के अनुगत रहे हों तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। इस तरह की राजनीतिक गुटबंदी से यह स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण ने बदला लेने के लिये वाराणसी नष्ट कर दी।

महाभारत से यह भी पता लगता है कि भारतवर्ष में काशी और अपर काशी नाम की दो जातियाँ (भीष्मपर्व, १०।८०) थीं। काशी तो काशी जनपद में बसते थे पर अपर काश्यों का निवास किस प्रदेश में था और उनका काश्यों से क्या संबंध था इस पर कहीं से प्रकाश नहीं पड़ता। हो सकता है कि काशी और अपर काशी एक ही कबीले की दो शाखाएं रही हों। एक शाखा काशी तो टूटकर काशी जनपद में जा बसी और दूसरी शाखा अपने आदि स्थान पर ही रह गयी। अब प्रश्न यह उठता है कि इन काश्यों का स्थान कहाँ था। अगर विदेहों और कोसलों की तरह काश्यों को भी कुरु-पंचालों की एक शाखा मान ली जाय तो अपर काश्यों को हमें कुरु-पंचाल देश ही में कहीं ढूँढना पड़ेगा। यह भी उल्लेखनीय है कि गंगोत्री के रास्ते में भी उत्तरकाशी नाम का एक तीर्थ स्थान पड़ता है पर इस स्थान का अपर काश्यों से हम तब तक संबंध नहीं जोड़ सकते जब तक हमें यह पता न चल जाय कि वास्तव में उत्तरकाशी की स्थिति बहुत प्राचीन है।

रामायण में काशी से संबंधित बहुत थोड़े ही प्रकरण आये हैं। उत्तर कांड में (५६।२५) काशीराज पुरुरवस् का नाम आया है। उसी कांड में (५९।१९) में ययाति के पुत्र पुरु को प्रतिष्ठान पर राज्य करते हुए काशी का भी राजा बतलाया गया है।

उक्त पौराणिक आधारों से काशी के प्राचीन इतिहास पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से वह धुंधला ही है। यह भी कहना आसान नहीं है कि ऐतिहासिक कालगणना के क्रम में काशिराजों में किस राजा का क्या समय है। बहुत सोच समझकर शायद हम यह कह सकते हैं कि पौराणिक वंशावलियों में जो काशी के राजगण आये हैं उनका समय ईसा पूर्व १००० वर्ष के पहले था पर कितने पहले, इस तथ्य तक पहुँचना कठिन है।

यहाँ पर हम एक विशेष बात की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं जिसका संबंध काश्यों के उदय से संभव है। ईसा पूर्व करीब दो हजार पहले के बाबुली अभिलेखों से हमें कस्सी लोगों का पता चलने लगता है। खेती के मजदूरों के रूप में वे करीब १५० वर्ष तक बाबुल में प्रवेश पाते रहे। ईसा पूर्व १८ वीं सदी के मध्य में उन्होंने बाबुल जीत लिया और उस देश पर उनका अधिकार ११७१ ईसा पूर्व तक बना रहा। लूरिस्तान के निवासी कस्सी

उत्तर और पूर्व में बढे। कस्सियो में अधिकतर एसियानिक थे पर भारोपीयो का उनपर कब्जा था। उसका नतीजा यह हुआ कि कस्सियो में एसियानी देवताओ और विश्वासो के साथ-साथ हम बाबुली और भारोपीय देवताओ और विश्वासो का मेल देख सकते है जैसे सस्कृत सूर्य की जगह शुरियश, मरुत् की जगह मरुतश् इत्यादि। अश्व कस्सियो का दिव्य प्रतीक था। एसियानी जाति के देव का नाम कश्शु था।

कस्सियो का वास्तविक इतिहास ईसा पूर्व २४वी सदी से आरभ होता है। अशुर इन्हें कस्सी कहते थे और ग्रीक कोस्सैओई (Kossaioi)। कास्पियन सागर, काजविन काश्यपपुर (मुल्तान) तथा कश्मीर के नामो में कस्सियो का नाम बच गया है। ईरान तथा बाबुल के इतिहासे में कस्सी सस्कृति के बारे में काफी सूचना मिल जाती है पर भारत के साथ उनका सबध कैसा रहा इसके बारे में इतिहास प्राय मौन है पर काश्य—काशी—कश्यपपुर—कश्मीर में अगर कस्सियो के नाम का अवशेष बच गया है तो कस्सियो के भारत आगमन की बात पुष्ट होती है। महेसर के पास नवदा टोली से मिले पुरातात्विक अवशेषो, विशेषकर चित्रित मिट्टी के बरतनो से जिनका सबध सियाल्क की कस्सी सभ्यता से है इस बात की सभावना और भी पुष्ट हो जाती है। पर इस सबध में अधिक जानकारी काशी के आस-पास की खुदाई से ही अधिक मिल सकती है।

३ बौद्ध साहित्य में काशी

मगध पर महाभारत के युद्ध काल से ईसा पूर्व सातवी शताब्दी तक जब शैशुनाग वश का उदय हुआ, बार्हद्रथ राजाओ का राज था। इस युग के पालि वाङमय से यह प्रकट होता है कि बुद्ध के जन्म के कुछ शताब्दियो पहले काशी पर ब्रह्मदत्त वश का राज्य था।

जातको से, जिनसे हमें भारतवर्ष की प्राचीन राजनीतिक स्थिति का ज्ञान होता है, पता चलता है कि मगध, वत्स, काशी, कोसल, उत्तर पचाल और मगध गगा की घाटी के मुख्य जनपद थे। काशी षोडश महाजनपदो में एक थी (अगुत्तर, १।२१३) और यहाँ ब्रह्मदत्त वश का राज्य था। मत्स्य पुराण के अनुसार (पृ० ५५६, ६७२, आनन्दाश्रम सीरीज) ब्रह्मदत्त वश के सौ राजाओ ने काशी पर राज किया। एक जातक में उल्लेख है कि राजा ब्रह्मदत्त ने कुमार ब्रह्मदत्त को अपना उत्तराधिकारी बनाया (जा० २।६०)। इससे भी यह पता चलता है कि ब्रह्मदत्त वश का नाम था। गगमाल जातक में (जा० ३।४५२) बनारस के राजा उदय को ब्रह्मदत्त कहकर सबोधन किया गया है।

सभवत जातक युग में काशी और कोसल में अक्सर युद्ध हुआ करता था। विजय कभी एक पक्ष की होती थी कभी दूसरे की। उदाहरण के लिए एक जातक (३।२११)[1] में कहा गया है कि काशी के एक ब्रह्मदत्त राजा वैभवशाली थे और इसके विपरीत कोसल के राजा दीघीति गरीब थे। ब्रह्मदत्त ने उन पर धावा बोल कर उनका खजाना जीत लिया। दीघीति और उनकी पत्नी जान बचाकर भागे। कुछ समय बाद उनको दीघावु नाम का एक पुत्र हुआ जिसे उन्होने दूसरी जगह भेज दिया। जब ब्रह्मदत्त को यह पता चला कि कोसलराज सपत्नीक उनके राज्य में छद्मावस्था में रह रहे है, उसने उनके वध की आज्ञा

[1] विनय १। ३४३, इत्यादि, धम्मपद अट्ठकथा, १। ५६ इत्यादि

दी। वधभूमि को जाते हुए दीघीति ने अपने पुत्र दीघावु को देखा और उसे उपदेश दिया कि बहुत पास और बहुत दूर मत देखो। उनके उपदेश का आशय समझकर दीघावु ने काशिराज की नौकरी कर ली। एक दिन दीघावु ब्रह्मदत्त का रथ हाँकता हुआ दूर निकल गया। थक जाने पर राजा ने रथ रुकवा दिया और सो गये। दीघावु ने पहले तो उसे मार डालने की सोची पर अपने पिता का उपदेश याद करके वैसा करने से रुक गया। ब्रह्मदत्त के जागने पर दीघावु ने उसे अपना परिचय दिया। ब्रह्मदत्त ने उसे उसका राज लौटा दिया और उससे अपनी बेटी ब्याह दी।

एक दूसरे समय (जातक, ३।११५ इत्यादि) काशिराज ब्रह्मदत्त ने कोसल पर चढ़ाई करके कोसल राज को बंदी बना लिया और वहाँ अपने प्रादेशिक नियुक्त कर दिये। इसके बाद लूट-खसोट के बहुत-से द्रव्य के साथ वे काशी वापस आ गये। कोसल नरेश को छत्त नाम का एक पुत्र था। अपने पिता के कैद होने पर वह अपनी शिक्षा समाप्त करने के लिए तक्षशिला भाग गया। तक्षशिला से लौटते समय एक जंगल में उसकी ५०० ऋषियों से भेंट हो गयी और वह उनका मुखिया बन बैठा। बनारस आने पर उसने राजा के उपवन में एक रात बितायी, दूसरे दिन तपस्वी भिक्षा माँगते हुए राजमहल के दरवाजे पर पहुँचे। छत्त से आकर्षित होकर राजा ने उससे अनेक प्रश्न किये और उसने उनके सन्तोषप्रद उत्तर दिये। मंत्रबल से उसने राजा के उपवन में गड़े अपने पिता से लूटे हुए धन का भी पता लगाया। बाद में तपस्वियों से उसने अपना भेद खोला और उनकी मदद से खजाना श्रावस्ती पहुँचाया। तदुपरान्त उसने ब्रह्मदत्त के सब कर्म-चारियों को पकड़कर अपना राज्य फिर से जीत लिया।

उपर्युक्त घटना से यह न समझना चाहिए कि जीत सदा काशी की ही होती थी। कोसल द्वारा भी अक्सर बनारस जीतकर उस पर अधिकार करने के हवाले जातकों में आये हैं। महासीलव जातक (जा० १।२६२ इत्यादि) में कहा गया है कि एक समय कोसलराज ने बनारस जीतकर उसके राजा महासीलव और उसके सिपाहियों को गले तक जमीन में गड़वा दिया। महासीलव किसी तरह गढ़े से निकले और उन्होंने अपने सिपाहियों को छुड़ाया तथा दो यक्षों की मदद से जो एक शव के लिए आपस में लड़ रहे थे राजा ने अपनी तलवार प्राप्त की और कोसलराज के शय्यागृह में आधी रात में जाकर उसे डराया। बाद में कोसलराज ने काशिराज को उनका राज लौटा दिया और वे अपनी सेना के साथ कोसल लौट गये।

एक जातक (जा० १।४०९) से पता चलता है कि एक समय कोसलराज ने एक बड़ी सेना के साथ काशी पर चढ़ाई करके उसके राजा को मार डाला और वह उसकी रानी को उठा ले गया। लेकिन काशी का राजकुमार किसी तरह से निकल भागा और एक बड़ी सेना इकट्ठी करके वह पुनः काशी पर चढ़ आया। उसने अपना डेरा नगर के पास डाल दिया और कोसलराज के पास दूत भेजकर राज्य वापस लौटा देने अथवा युद्ध करने को ललकारा। कोसलराज ने युद्ध करना निश्चित किया, पर राजपुत्र की माता ने उससे कहलवा भेजा कि वह चारों ओर से नगर छेंक ले जिससे भूख-प्यास से

व्याकुल होकर लोग आप-ही-आप आत्म-समर्पण कर देंगे। राजकुमार ने ऐसा ही किया। भूख-प्यास से पीडित होकर नागरिको ने सातवें दिन कोसलराज का सिर काटकर राजकुमार के पास भेज दिया और इस तरह वह अपना पैत्रिक राज्य पाने में सफल हुआ।

ऐसा जान पडता है कि इन लडाइयो में काशी जनपद धीरे धीरे कमजोर पडता गया। ईसा पूर्व छठी सदी के आरभ में काशी जनपद कोसल में मिला लिया गया। इसका श्रेय कोसलराज कस (जा० २८२, ५२१) को है क्योकि इन्हें वाराणसिग्गहो (जा० २।४०३) अर्थात् वाराणसी विजेता कहा गया है। छठी सदी ईसा पूर्व के तृतीय चरण में जब मगध नरेश बिंबिसार ने महाकोसल की पुत्री और प्रसेनजित् की बहन से विवाह किया तब काशी के कोसल में मिलने की बात पक्की हो चुकी थी क्योकि विवाह के अवसर पर महाकोसल ने स्नानद्रव्य के लिए अपनी पुत्री को कासिक ग्राम उपहार दे दिया (जा० २।४०३, ४।३४२)। बहुत सभव है कि यह कासिक ग्राम आधुनिक परगना कसवार रहा हो।

काशी के राजा वीर होते थे। उनकी कोसल के साथ लडाइयो का वर्णन तो हम ऊपर कर चुके हैं। कामनीत जातक से हमें पता चलता है कि बनारस के एक राजा ने इद्रप्रस्थ, उत्तर पचाल और केकय देशो को जीतने की ठानी थी। अस्सक जातक से हमें पता चलता है कि विंध्य पर्वत के उस पार अस्सको ने भी काशी का अधिकार माना था।

जातको में काशी के और बहुत-से राजाओ के, यथा अग, उग्गसेन, उदय, धनजय, विस्ससेन, कलाबु (जातक ३।३९) सयम और किकी के नाम आये है। पर इनकी ऐतिहासिकता के बारे में कुछ कहा नही जा सकता[१]।

काशी के यो तो बहुत-से राजाओ ने अपना राज्य बढाने की चेष्टा की लेकिन काशिराज मनोज ने तो तमाम भारतवर्ष में लडाई लडकर अपने लिये अग्गराजा की पदवी प्राप्त की। सोणनद जातक (जा० ५।३१५ इत्यादि) में इस विजययात्रा का सागोपाग वर्णन है। पहले उसने कोसलराज को हराया और बाद मे क्रमश अग, मगध, अस्सक और अवती को। इस प्रकार वह सारे जबूद्वीप का राजा बन बैठा। शायद उसके विरुद राजाधिराजा एव जयतपति थे (जा० ५।३२२, गा० १२७)। वाराणसी का नाम उसके समय में ब्रह्मवर्धन पडा।

मगधराज बिंबिसार के पितृहता अजातशत्रु द्वारा मारे जाने के बाद बिंबिसार की वैदेही और कौसली पत्नियो का पतिवियोग के दुख से देहात हो गया। उसी समय महाकोसल के स्थान पर प्रसेनजित् कोसल की गद्दी पर बैठे और उन्होने काशीग्राम की आमदनी वापस लेनी चाही। इस प्रश्न को लेकर अजातशत्रु और प्रसेनजित् में लडाई छिड गयी। पहली तीन लडाइयो में अजातशत्रु ने प्रसेनजित् को हराकर श्रावस्ती तक खदेड दिया लेकिन चौथी लडाई में विजय प्रसेनजित् के हाथ लगी और उन्होने काशीग्राम जीत लिया। यह सब होने पर भी प्रसेनजित् ने अजातशत्रु से सुलह करके उसके साथ

[१] मलालशेखरे, डिक्शनरी ऑफ पाली प्रापर नेम्स में इन नामो की व्याख्या देखिये।

अपनी कन्या का विवाह कर दिया और दहेज में लडाई की जड काशी ग्राम को भी दे दिया (सयुक्त निकाय १, पृ० ८२–८५)।

दीघनिकाय (१।२२८–९) मे पता चलता है कि राजा प्रसेनजित् काशी-कोसल की प्रजा से कर वसूल करके अपने कर्मचारियो के साथ उसे बांट लेते थे। महावग्ग में एक काशिराज का नाम आता है जिसने जीवक को एक वस्त्र भेजा था। बुद्धघोष के अनुसार यह काशिराज प्रसेनजित् का सगा भाई था (विनय २, पृ० १९२, पा० टि० २)। शायद यह प्रसेनजित् का एक उपराजा था। जैन निरयावलिओ के अनुसार काशी-कोसल में अट्ठारह गणराय थे। इस उल्लेख का शायद यह तात्पर्य है कि काशी-कोसल प्रदेश में अट्ठारह उपराजा थे जो इस प्रदेश के राजा के अधीन थे।

मगध के बढते हुए राज्य और अजातशत्रु के पराक्रम के आगे कोसल बहुत दिनो तक अपनी स्वतत्र सत्ता कायम नही रख सका। अजातशत्रु के राज्य के अतिम दिनो में कोसल के कुछ हिस्से मगध में मिला लिये गये और धीरे धीरे कोसल और उसके साथ ही साथ काशी मगध में मिल गये और उनकी स्वतत्रता और राज्य सत्ता नष्ट हो गयी।[1]

बुद्ध के समय में तो काशी की स्वतत्रता नष्ट हो चुकी थी पर काशी का गत इतिहास लोगो की आंखो के सामने था और उसी की छाया हम बौद्ध साहित्य में पाते हैं। काशी के राजाओ तथा सामाजिक जीवन का बौद्ध साहित्य में सुदर वर्णन है। बुद्ध के समय वाराणसी एक स्वतत्र महाजनपद की राजधानी नही रह गयी थी फिर भी उसका सुनाम सारे भारतवर्ष में था। इसकी इतनी ख्याति थी कि बुद्ध के महापरिनिर्वाण के लिए प्रस्तावित स्थानो में राजगृह, चपा, साकेत, कोशाबी और श्रावस्ती के साथ वाराणसी का भी नाम आता है (दीघनिकाय २, १४६)। ●●

[1] भाडारकर, कार्माइकेल लेक्चर्स पृ० ७९

तीसरा अध्याय

प्राचीन साहित्य के आधार पर काशी का धार्मिक इतिहास

हिन्दू पुराणो में, विशेषकर मध्यकालीन पुराणो में, काशी को शैव धर्म का प्रसिद्ध क्षेत्र माना गया है। पर वैदिक और बौद्ध साहित्य में काशी जनपद और वाराणसी का महत्त्व उसका व्यापार और सस्कृति है, धर्म नही। कुरुपचाल देश में सर्वधित आर्य-धर्म और वाराणसी के आर्यों के धार्मिक विश्वासो में अतर अवश्य था और इसीलिए काशी को वैदिक साहित्य में विशेष स्थान न मिल सका। काशी के आर्य-धर्म में और कुरु-पचाल देश के आर्य-धर्म में क्या अतर था, इसका तो हमें प्राचीन वैदिक साहित्य से अधिक पता नही चलता पर पुराणो और बौद्ध साहित्य में काशी के इस प्राचीन धर्म की कुछ बातें अवश्य आयी हैं। पुराण एक मत से इस बात के साक्षी है कि काशी तीर्थ शिव का प्रधान क्षेत्र है और आज से नही, सृष्टि के आरभ से। इस में कहाँ तक सत्य है यह तो तव तक नही कहा जा सकता जव तक पुरातत्त्व के द्वारा यह प्रमाणित न हो जाय कि गुप्तकाल के भी पहले काशी शैवो का प्रधान अड्डा था।

पुराणो में दक्ष-यज्ञ की कथा आती है। इस यज्ञ में शिव इसलिए नही वुलाए गये कि उनका वैदिक धर्म में विश्वास नही था। शिव-पत्नी सती विना न्योते के ही अपने पिता के घर गयी, वहाँ उनका निरादर हुआ और उन्होने दुखी होकर यज्ञ-कुड में कूदकर अपना शरीर त्याग दिया। इसके उपरान्त शिव की आज्ञा से वीरभद्र ने यज्ञ विध्वस कर दिया। इस कथा में डाक्टर अल्टेकर के अनुसार, शैव और वैदिक धर्मों के मतभेदो को दूर करने की चेष्टा का आभास मिलता है पर यह चेष्टा सफल नही हुई[1]।

काशीखड (अध्याय ६२) और अन्य बहुत-से पुराणो में वर्णित दिवोदास की कथा में भी वैदिक धर्म को काशी की प्रजा और राजा दोनो ही द्वारा काशी में प्रवेश न करने देने की प्रवृत्ति के सकेत मिलते है। इस कथा के अनुसार राजा दिवोदास ने काशी से शिव को छोडकर और सव देवताओ को निकाल वाहर किया। काशीखड का कहना है कि (अध्याय ५८, ७८) सव देवताओ के काशी से निकल जाने पर वहाँ सत्य का प्रचार बढा। वदला लेने के लिए देवताओ ने काशी को सहायता देना वद कर दिया पर दिवोदास अडिग रहे। अत में देवताओ ने धोखा देने की सोची। गणेश ने दिवोदास को इस बात पर तैयार किया कि अट्ठारह दिन बाद उत्तर से आने वाले एक ब्राह्मण की सलाह दिवोदास मान लें। यह ब्राह्मण छद्म वेश में विष्णु थे। उन्होने दूसरे देवताओ को काशी में आने के लिए दिवोदास को तैयार कर लिया। वायु पुराण से (३०।५८) यह सूचना मिलती है कि दिवोदास के काशी छोड देने पर भी और उसके नष्ट हो जाने पर भी शिव ने काशी नही छोडी। वाराणसी में विहार करते हुए उन्होने गौरी से कहा—हे देवि, मै इस नगर

[1] अल्टेकर, उल्लिखित, पृ० ३ से

को छोडकर कही नहीं जा सकता। इमी लिए स्वय देव ने इसे अविमुक्त क्षेत्र कहा है। अग्नि पुराण (३५।१६) के अनुसार भी काशी का नाम अविमुक्त पडा क्योंकि शिव इमे कभी नही छोडते।

महाभारत मे काशी के शैव तीर्थ होने का वर्णन केवल आरण्यकपर्व (८२।६९–७०) में आया है। यह मार्के की बात है कि तीर्थयात्रा पर्व में जहाँ कुरु-पचाल देश के अनेक छोटे मोटे तीर्थों का भी बहुत बढ़ा चढाकर वर्णन किया गया है वहाँ काशी क्षेत्र को केवल दो श्लोकों में ही समाप्त कर दिया गया है। दूसरे शब्दों में काशी का उस काल में अपेक्षाकृत धार्मिक महत्त्व नही था जितना अब है। यह भी सभव है कि भागवत धर्म के समर्थक महाभारत में शिव की नगरी वाराणसी का उतना ध्यान नही किया गया हो। आरण्यक पर्व मे पता लगता है कि वाराणसी में वृषभध्वज की पूजा होती थी और कपिलह्रद (आधुनिक कपिलधारा) में स्नान करने से राजसूय यज्ञ का पुण्य होता था। बनारस के पास गगा और गोमती के सगम पर मार्कण्डेय तीर्थ का भी उल्लेख आया है।

लेकिन जैसा हम ऊपर कह आये हैं बौद्ध और जैन साहित्य में तो काशी में शिव की पूजा के उल्लेख नही के बराबर हैं। इनके अनुसार वहाँ नागो और यक्षो की पूजा प्रचलित थी। सभव है कि इन्ही यक्षो में शिव का भी स्थान रहा हो पर विशेष रूप से शिव का नाम वाराणसी के सबध में कही नही आया। बौद्ध साहित्य में शिव की गणना यक्षो में है, उदाहरणार्थ महामायूरी में[1] बनारस के प्रधान यक्ष को महाकाल कहा गया है जो शिव का एक नाम है। जो भी हो, यक्ष पूजा से बनारस का बडा प्राचीन सबध जान पडता है और आज भी बनारस के बरम और बीर में प्राचीन यक्ष पूजा के अवशेष बच गये हैं।

जातक कथाओ में जन साधारण यक्षो से बहुत भयभीत चित्रित किये गये हैं। यक्षो के राजा वैश्रवण से भी लोग भय खाते थे। जन साधारण के लिए ससार यक्षो से भरा था और वे उन्हें मूर्तरूप में देखते थे। उनकी आँखें निश्चल होती थीं, परछाहीं नही पडती थी और वे निडर और क्रूर स्वभाव वाले होते थे। यक्ष मनुष्य और पशुओ का मास खाते थे और रेगिस्तान तथा जगलो पेडो और नदियो में घूमा करते थे। यक्षिणियो का स्वभाव तो और भी क्रूर होता था और वे अपने रूप, रस, गध, स्पर्श से मनुष्यो को लुभाकर उन्हें अपना शिकार बनाती थीं। यक्ष मनुष्यो पर आते भी थे।[2] बनारस में कम से कम शुग युग तक ऐसे यक्षो की पूजा होती थी क्योंकि इस युग की अथवा इसके पहले की यक्ष मूर्तियाँ भारत कला भवन बनारस तथा सारनाथ सग्रहालय में है।

जैन साहित्य से भी हमें पता चलता है कि ईसा पूर्व की शताब्दियों में यक्ष पूजा बहुत प्रचलित थी और उत्तर भारत के प्रत्येक शहर में यक्षो के चैत्य होते थे। जैन साहित्य से यह भी पता चलता है कि कुछ यक्ष ऊँचे दरजे के भी होते थे जो तपस्वियो का आदर करते थे (उत्तराध्ययन ३।१४ इत्यादि)। वाराणसी के गडि तिंदुग नाम के यक्ष का नाम उत्तराध्ययन (१६।१६) में आया है। यह यक्ष मातग ऋषि के गडि तिंदुक उपवन की

---

[1] जर्नल० यू० पी० हि० सो०, भाग १५, पार्ट २, पृ० २७

[2] रतिलाल मेहता, प्रीबुधिस्ट इडिया, पृ० ३२४, बबई, १९३९

रक्षा करता था। यक्ष अष्टमी, चतुर्दशी, अमावास्या और पूर्णिमा के दिन लोगो की मदद करते थे। पुत्र-कामिनी स्त्रियो के मानता मानने पर यक्ष उनको पुत्र प्राप्ति का वरदान देते थे। यक्ष लोगो की बीमारियो से भी रक्षा करते थे। एक जगह कहा गया है कि माणिभद्र यक्ष की प्रार्थना करने पर उन्होने माता के रोग से नागर की रक्षा की। यक्ष कुलटा स्त्रियो का भी पता पा लेते थे। माणिभद्र और पुण्यभद्र यक्ष उस समय मगध और अग में पुजते थे।[१]

पर यक्ष केवल दयालु-ही नही होते थे, वे लोगो को मार भी डालते थे और अक्सर जैन साधुओ को रात में भोजन करा के उनका नियम भग करवा देते थे। यक्ष लोगो के सिर चढ जाते थे और झाड-फूंक के वाद उतरते थे। एक विचित्र विश्वास यह भी था कि यक्ष स्त्रियो से मैथुन करते थे। नीची जातियो के यक्ष अलग होते थे। यक्षो के उपलक्ष्य में वहुत-से उत्सव भी होते थे।

यक्षो के वारे में जो वाते वतलायी गयी हैं उनका सवध मगध और अग के यक्षो से है, पर काशी के यक्षो और मगध के यक्षो की पूजा में कोई भेद नही था। सभवत काशी की यक्ष अथवा देव पूजा में भेड, वकरी, मुरगी, सूअर इत्यादि पशुओ और पक्षियो के वलिदान होते थे और पूजा में गध पुष्प के अतिरिक्त वलि पशुओ के रक्त रजित शव भी चढाये जाते थे (जा० १।१२६।१२७)।

मत्स्य पुराण (अध्याय १८०) में यक्ष हरिकेश की कहानी से काशी की यक्ष पूजा पर काफी प्रकाश पडता है और यह भी पता चलता है कि शिव-पूजा के आदोलन के द्वारा यक्ष-पूजा काशी से कैसे हटी। हरिकेश यक्ष पूर्णभद्र यक्ष का पुत्र था। वह वहुत शुद्ध आचरण वाला और तपस्वी था तथा वचपन से ही शिव-भक्त था। हरिकेश के इस आचरण से पूर्णभद्र यक्ष वहुत कुपित हुआ और उसने उसे घर से निकाल वाहर करने की धमकी दी, पूर्णभद्र की राय में हरिकेश का आचरण यक्षो के आचरण के प्रतिकूल था। यक्ष तो स्वभावत क्रूर, मास खाने वाले और हिंसाशील होते थे इसीलिए हरिकेश को मनुष्यो का आचरण शोभा नही देता था। जव हरिकेश ने अपने पिता की वात न मानी तो उसे अपना घर छोड़ देना पडा और वाराणसी में आकर उसने एक हजार वर्ष तक शिव की आराधना की (मत्स्य० १८०।६–२०)। शिव ने इस घोर तपस्या से प्रसन्न होकर हरिकेश से वर माँगने को कहा। इस पर हरिकेश ने वाराणसी में सदा स्थित रहने का वर माँगा। शिव ने उसकी इच्छा स्वीकार कर ली और उसे काशी का क्षेत्रपाल नियुक्त किया और उसके सहायक त्र्यक्ष, दण्डपाणि, उद्भ्रम और सभ्रम यक्ष नियुक्त किये गये (मत्स्य० १८०।८८।९९)। मत्स्य पुराण में एक दूसरी जगह (१८३।६२।६६) वाराणसी के शिव गणो में यक्षो के वहुत-से नाम गिनाये गये हैं यथा विनायक, कूष्माण्ड, गजतुड, जयत, मदोत्कट इत्यादि। इसमें कुछ सिह और व्याघ्र-मुख वाले होते थे। कुछ का आकार विकट था और कुछ कुब्ज और वामन होते थे। दूसरे गण नन्दी, महाकाल, चडघट, महेश्वर, दड-

[१] जगदीशचन्द्र जैन, लाइफ इन ऐंशेंट इडिया, पृ० २२०–२२१, ववई, १९४७

[२] वही, पृ० २२१–२२

चडेश्वर तथा घटाकर्ण थे। ये बडे पेट वाले यक्ष वज्रशक्तिधारी होते थे और सदा अवि-मुक्त तपोवन की रक्षा करते रहते थे।

इस कथा से कई बातो का सकेत मिलता है। सबसे पहली बात तो यह है कि हरिकेश यक्ष की पूजा बनारस में होती थी और इस यक्ष का सबध पूर्णभद्र यक्ष से था। दूसरी बात यह है कि जिस समय बनारस में यक्ष पूजा प्रचलित थी उस समय वहाँ शिव पूजा भी जारी थी। लगता है यक्ष और शैवधर्म में बराबर कशमकश जारी रही। अत में दोनो धर्मो में समझौता हो गया या यो कहिये कि शैवधर्म ने यक्षधर्म को अपने में मिला लिया और जितने यक्ष थे वे सब शिव के पार्षद हो गये। मत्स्य पुराण (१८०।६२) में एक जगह यहाँ तक कहा गया है कि महायक्ष कुबेर ने भी वाराणमी में अपना स्वभाव छोड दिया और गणेशत्व पद को प्राप्त हो गये। शिव के सेवक हो जाने से मुद्गरपाणि यक्ष द्वार द्वार पर रक्षक का काम करने लगे (मत्स्य, १८३।६६)। शैवधर्म की यक्ष-धर्म पर पूर्ण विजय कब हुई यह कहना तो मुश्किल है पर यह एकाएक नही हुई, यह तो निश्चय है, इसमें सदियो लग होगें। सभवत गुप्तकाल में शैवधर्म की यक्ष-धर्म पर पूर्ण विजय हो गयी। कम से कम हम पुरातत्त्व के आधार पर तो इसी नतीजे पर पहुँचते हैं।

हरिकेश की कथा के सबध में एक बात जानना जरूरी है। यह कथा काशी खड (अ० ३२) में भी आती है लेकिन यहाँ इस कथा की प्राचीनता नष्ट हो गयी है। पूर्णभद्र और हरिकेश यक्ष के उल्लेख तो है पर वे यहाँ पूर्ण शिवभक्त माने गये हैं। यहाँ तक कि हरिकेश का जन्म भी शिव-तपस्या का प्रसाद कहा गया है। पूर्णभद्र और हरिकेश में जब बहस होती थी तब पूर्णभद्र उसको वाराणमी जाने से रोकने का कारण अपना वैभव बतलाता था। मत्स्य वाली कहानी में पूर्णभद्र यक्ष-धर्म की खास बातें बतलाता है, जैसे क्रूरता, मास भक्षण इत्यादि, इन सब का काशी खड में पता तक नही है। लगता है कि चौदहवी शताब्दी में यक्ष-धर्म की प्राचीन कल्पना करीब करीब नष्ट हो चुकी थी। पर बनारस में परपरा बहुत मुश्किल से मरती है। हजारो वर्ष बीत जाने पर भी हरिकेश यक्ष आज दिन भी बनारस से थोड़ी दूर पर भभुआ में हरसू बरम के नाम से तथाकथित छोटी जातियों द्वारा पूजे जाते हैं। आज भी उनके नाम से मन्नतें मानी जाती है, तथा हरसू बरम स्त्रियो के सिर पर आते है और भूत भविष्य की बातें बताते है। भूत उतारने के लिए तो हरसू बरम बडे ही प्रसिद्ध माने जाते हैं।

महाजनपद युग में बनारस में हिमालय के अनेक तपस्वियो का बराबर आवागमन होता रहता था (जा० ३।३६१)। जातको से यह तो पता नही चलता कि ये तपस्वी कौन-सा धर्म मानने वाले थे, पर हम इन्हें शैव मान सकते हैं। बनारस वाले इन तपस्वियो को काफी दान दक्षिणा देते थे और राजा भी उनका काफी आदर करते थे। विषय नाम के काशी के एक सेठ ने तो नगर के चारो द्वार पर, नगर के बीच में और अपने घर पर दान शालाएँ बनवायी थी जहा निरतर भिक्षार्थियो को भिक्षा बँटा करती थी (जा० ३।१२९)।

इस युग में नाग पूजा भी बहुत प्रचलित थी। लोगो का विश्वास था कि नाग जल के अदर बडे बडे महलों में रहते थे और अपनी इच्छानुसार मनुष्य तथा दूसरे रूप धारण कर सकते थे। क्रुद्ध होने पर वें भीषण हो उठते थे लेकिन साधारणत वे स्वभाव से दया-

वान और कोमल होते थे। वाराणसी के नागरिक उनकी पूजा दूध, चावल मछली, मास और मद्य से करते थे (जा० १।३११)।

बुद्ध के समय बनारस में नाग पूजा प्रचलित थी। धम्मपद अट्ठकथा में (३।२३०) कहा गया है कि बनारस के पास सात सिरीस के पेडो का झुरमुट था और यही बुद्ध ने नाग एरकपत्त को उपदेश दिया। आज दिन भी बनारस में नाग-पूजा के कुछ अवशेष बच गये हैं। नाग कुआँ को लोग अब भी पवित्र मानते हैं और नागपचमी तो बनारस का एक प्रधान त्यौहार है।

उत्तर भारत की और दूसरी जगहो की तरह बनारस में भी उस समय वृक्ष-पूजा का सभवत काफी प्रचार था। इस वृक्ष-पूजा के द्वारा वृक्ष के अदर बसने वाले देवता अथवा यक्ष की पूजा होती थी। जातकों में वृक्षों को बलि देने की प्रथा का उल्लेख है और कभी कभी तो वृक्षो को नर बलि भी दी जाती थी। वृक्षो से भविष्य की बातें भी पूछी जाती थीं और वे पुत्र और धन देने वाले माने जाते थे। वृक्षो पर मालाए लटकायी जाती थी और उनके चारो ओर दीपक वाले जाते थे।[१]

महाजनपद युग में मत्र तत्र बहुत लोकप्रिय थे और लोग जादू टोने में विश्वास करते थे। शकुन-विद्या (निमित्त शास्त्र) अर्थात् ज्योतिष का भी बोलबाला था। लक्षण पाठक, स्वप्न पाठक, अगविद्या पाठक, नैमित्तिक और नक्षत्रज्ञाता शकुन अपशकुन, सायत, अच्छेबुरे भाग्य इत्यादि की बातें लोगो को बतलाते थे। ओझा भूतो पर अपना अधिकार बतलाकर मत्रो के द्वारा अपशकुनो को वारण करने की क्रियाए करते थे। लोगो का विश्वास था कि अभिमन्त्रित बालू सिर पर रखकर और सिर पर नाड़ा बाँधने से भय से मुक्ति मिलती है। बहुत-सी जगहो में भूत प्रेतो का डेरा माना जाता था और उनके हटाने के लिए मत्र प्रयोग में लाये जाते थे।[२] बनारस के एक राजा का उल्लेख धम्मपद अट्ठकथा में (१।१५१) है। इस राजा ने मत्र सीखने के लिए एक ब्राह्मण को एक हजार कार्षापण दिये थे।

उपर्युक्त धार्मिक विवरण से यह पता चलता है कि उस समय सर्वसाधारण भूत प्रेत, यक्ष, नाग, वृक्ष आदि की पूजा करते थे और जादू टोने में उनका काफी विश्वास था। धर्म की यह अवस्था समाज के आदिम युग की सूचक है और सभवत ये विश्वास आर्यों के पहले से इस देश में चले आते थे। आर्यधर्म की देश के इस आदिम धर्म से टक्कर हुई पर जैसा कि अथर्व वेद से विदित होता है विजेताओ ने विजितो के बहुत-से विश्वासो को अपना लिया। पर धर्म और विश्वास के क्षेत्र में इस उथलपुथल से कुछ लोगो में प्रज्ञात्मक वृत्ति जागी और इस तरह एक नवीन विचारधारा का उदय हुआ, जिसे हम उपनिषद् काल की विचारधारा कहते हैं।

इस युग की दार्शनिक विचारधारा को हम वैदिक विचारधारा का स्वाभाविक विकास मान सकते हैं। वैदिक विचारधारा और कर्मकाडो से लोगो की रुचि हटने लगी। लोग अनुभव करने लगे कि आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए वेदाध्ययन, कर्मकाड और दान-

[१] मेहता, उल्लिखित, पृ० ३२६।
[२] मेहता, उल्लिखित, पृ० ३२७।

दक्षिणा से कुछ नही होता, उसके लिए तो गभीर चिंतन और ज्ञान की आवश्यकता है और ब्रह्मज्ञान यज्ञादि से कहीं ऊँचा है। शायद औद्दालक आरुणि के नेतृत्व में वैदिक कर्मकाड के विरुद्ध यह आदोलन चला और इसी काल मे परिव्राजकों की परपरा का भी उदय हुआ। उनकी विचार-धारा में वैदिक धर्म के वाह्याडवरो की अपेक्षा तत्त्वज्ञान का अधिक अन्वेषण हुआ और धीरे धीरे यह विचार-धारा वैदिक धर्म के क्रियाकाड मे अलग होने लगी। जातकों (जा० ६।२०६-०८, गाथा ८८३-९०२) के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि इस विचार-धारा के अनुसार वेदो का कोरा अध्ययन वृथा था। इसी प्रकार यज्ञ, होम और अग्निहोत्र इस विचार-धारा के अनुसार ब्राह्मणो की धोखेबाजी थी और ब्राह्मण असत्यवक्ता और झूठी कथाओं को कहने वाले थे। यह विचार-धारा ब्रह्म की कल्पना को भी इसलिए नहीं मानती थी क्योंकि यदि ब्रह्म सारी सृष्टि में व्याप्त है तो फिर ससार में दु ख, अशाति, ठगी, झूठ, अनाचार और अन्याय क्यो है ?

ज्यो ज्यो महावीर और बुद्ध का समय पास आने लगता है, हम महाजन पद युग के सास्कृतिक वायु-मडल में इस नवीन विचारधारा और दर्शन का बढ़ता हुआ प्रकाश देखते है। इस विचारधारा को देश में फैलाने के लिए कोई सघटित सघ न था और न इसके अनुयायियो के लिए यही आवश्यक था कि वे इन नये विचारो को ही अतिम सत्य मानकर अपनी चिंतन शक्ति को विश्राम दें, उनमे यह अपेक्षित नहीं था कि अपने स्वतत्र विचारो को किसी तरह दबावें। इस नये धर्म को ग्रहण करने का एक ही अर्थ था कि लोग प्राचीन विचारशैली को छोडकर नवीन एव स्वतत्र दृष्टिकोण ग्रहण करें। यह धर्म रूढिगत भावनाओ को दबाता था पर उसकी दृष्टि ऐसी उदार थी जो दूसरो के दृष्टिकोण को भी देख सकती थी।

महाबोधि जातक में (जा० ५।२२८ इत्यादि) महाजनपद युग की दार्शनिक विचार-धाराओ का यथा अहेतुवाद, इस्सरकारणवाद, पुब्बेकतवाद, उच्छेदवाद, और खत्तविज्जावाद का उल्लेख किया है। अहेतुवादी कारण नही मानते थे और उनके अनुसार पुनर्जन्म शुद्धि का कारण था। इस्सरकारणवादी एक कर्त्ता की स्थिति मानते थे। पुब्बेकतवादी कर्मवाद पर विश्वास करते थे, उच्छेदवादी मृत्यु के बाद ही शरीर का अत मानते थे और खत्तविज्जा-वादियों का सिद्धान्त था—आत्मान सतत रक्षेत् और इसमें अगर पिता तक का वध करना पडे तो कोई बुरी बात नही थी। इन विचार शैलियो का बुद्ध और महावीर दोनो ने घोर विरोध किया।

आजीवक धर्म को, जो जैन और बौद्ध दोनो धर्मो से प्राचीन था, मस्करी गोसाल ने आगे बढाया। बौद्ध और जैन शास्त्रो में इस धर्म की काफी हँसी उडाई गयी है। आजीवक घोर तपस्या में विश्वास करते थे और नगे रहते थे, बुरे या भले कर्मफल पर विश्वास नहीं करते थे, सब जीवो को समान मानते थे और नियतिवादी थे।

महाजनपद युग में उपर्युक्त विचार धाराओ के साथ साथ एक ऐसी विचार-धारा थी जिसमें कर्मफल, धर्म और शील अथवा विनय का महत्त्वपूर्ण स्थान था जो भारतीय सास्कृतिक इतिहास में बहुत दिनो तक बना रहा।

धार्मिक जीवन में तपस्या का स्थान तो समाज की आदिम अवस्था में भी किसी न किसी रूप में मिलता है, यद्यपि इसका उद्देश्य समय समय पर बदलता रहता है। भारतीय दर्शनो में जब से पुर्नजन्म और कर्मफल के सिद्धान्त प्रतिपादित होने लगे तब से जीवन और उसके मूल्यो के सबध में पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अनुसार जीवन क्रम अनन्त हो गया और इस पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति के उपाय लोग ढूढ़ने लगे। दार्शनिक विचार-धारा तेजी तथा मजबूती के साथ तपस्या की ओर बढी और तपस्या का महत्त्व धीरे धीरे सर्व-साधारण पर छा गया। तपस्वियो के दो विभाग थे श्रमण और ब्राह्मण। रमते परिव्राजक जातकों में नही मिलते। शायद इनका बाद में उदय हुआ होगा।

भारतीय सस्कृति में तपस्वियो का महत्त्व तो बहुत प्राचीन काल से मिलता है। ऐसा जान पडता है कि बौद्ध धर्म के उदय के थोडे ही पहले तपस्वियों की एक नयी शाखा चली जो अपने को ब्राह्मण कहती थी। ब्राह्मण शब्द से उनका अभिप्राय यह था कि वे अपने को उन तपस्वियो से अलग मानते थे, जो वन में रहकर तपस्या और यज्ञ करते थे क्योकि ब्राह्मण गृहस्थ होते थे। प्राचीन तपस्वियो की परिपाटी इस युग तक समूल नष्ट नही हो गयी थी। ये बस्तियो के पास वनो में रहते थे और अध्ययन-अध्यापन और तपस्या में अपना समय बिताते थे। वे बहुधा हिमालय में भी चले जाते थे तथा झोपडियो में रहते थे, रक्त रग के अधोवस्त्र और उपवस्त्र, अजिन, दड, उपानह और कमडल धारण करते थे। वे जटाजूट धारी होते थे, मूँज की मेखला पहनते थे, वन के फल फूल तथा चावल, शहद इत्यादि खाते थे। आश्रमो की दैनिक परिचर्या इस भाँति थी सवेरे आश्रम झाड-बुहारकर सोफ कर दिया जाता था, इसके बाद लोग पास की नदी से पानी लाते और फल-फूल इकट्ठे करते, ईंधन के लिए लकडी चीरते और भोजन बनाते थे। वे लोग दोपहर में थोडा विश्राम करते थे और तीसरे पहर अध्ययन अध्यापन चलता था। शाम को भोजन करके लोग विश्राम करते थे। आश्रमो में अतिथियो का बडा स्वागत होता था। बरसात में तपस्वी पहाडो के नीचे उतर आते थे। शहरो से दूर बसने पर भी समाज पर इनका काफी प्रभाव था और लोग अपने प्रश्नो को लेकर बराबर उनसे मिला करते थे।

बनारस में सथागार-साला का उल्लेख आता है, इसका सार्वजनिक कामो के लिए उपयोग नही होता था बल्कि धार्मिक और दार्शनिक शास्त्रार्थो के लिए उपयोग होता था। (जा० ४।७४)। जो श्रमण बनारस में आते थे वे कुभकार शाला में रात बिताते थे (धम्मपद अट्ठकथा, १,३९)।

श्रमणो की यह नयी परिपाटी धीमे धीमे प्राचीन वैदिक तपश्चर्या से बिलकुल भिन्न हो गयी। महाजनपद युग में हम घोर तपश्चर्या की काफी निंदा पाते है। जातको में इस घोर तपस्या के कुछ साधन दिये गये है। कुछ लोग बराबर झूलते रहते थे, कुछ कटक शय्या पर लेटे रहते थे, कुछ पचाग्नि तापते थे, कुछ ऊँकडू ही बैठे रहते थे, कुछ बराबर स्नान ही किया करते थे कुछ बराबर मत्र ही पढा करते थे। इन साधुओ में बहुत-से झूठे, निकम्मे और व्यभिचारी भी होते थे।

परिव्राजको और श्रमणो में विशेष भेद नही था। ये साल में आठ या नौ महीने बराबर घूम घूमकर दर्शन या अध्यात्मवाद की चर्चा करते थे। श्रमण और परिव्राजक

मुडित-मस्तक होते थे, भिक्षा माँगकर अपना पेट भरते थे तथा चीवर धारण करते थे। बायें कधे पर एक झोले में इनका भिक्षा पात्र होता था और हाथ में दड। राजा से प्रजा तक (मेहता, उल्लिखित, पृ० ३४०) सभी इन श्रमणो का आदर करते थे और इन्हें भिक्षा देते थे। ब्राह्मणो से लेकर सब जाति तक के लोग श्रमण हो सकते थे[१]।

ऊपर हमने कुछ विस्तार मे महाजन पद युग के विभिन्न धर्मों का इसलिए वर्णन किया है क्योंकि बनारस प्राचीन काल में भी एक सास्कृतिक और धार्मिक क्षेत्र था। हमें बृहदारण्यक और कौषीतकी उपनिषदो मे पता चलता है कि काशी के राजा अजातशत्रु की अध्यात्मवाद में काफी रुचि थी और वे स्वय भी प्रसिद्ध दार्शनिक थे। औपनिषदिक विचार धारा में बनारस का कितना हिस्सा था इसका तो पता नहीं पर उपनिषदो में बनारस का नाम आने से ही यह बात सिद्ध हो जाती है कि मिथिला की तरह बनारस भी उस युग में नवीन विचार धारा का परिपोषक था।

महाजनपद युग में बनारस में ही, महावीर से करीब २५० वर्ष पहले, यानी ईसा पूर्व आठवीं शताब्दी में जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म हुआ। जैन अनुश्रुति के अनुसार इनके पिता अश्वसेन बनारस के राजा थे। तीस वर्ष की उमर में इन्होंने श्रमण धर्म स्वीकार किया और सत्तर वर्षो तक धर्मोपदेश देते हुए अन्त में उन्होंने सम्मेत गिरि पर निर्वाण प्राप्त किया (कल्पसूत्र, ६।१४९–१६९)। पार्श्वनाथ कोई साधारण व्यक्ति न थे। इसीलिए इनके लिए जैन शास्त्रों में पुरिसादानीय (कल्पसूत्र, ६।१४९) और पालि में पुरिसाजानीय (अगत्तर, १।२९०) शब्द का व्यवहार हुआ है। महावीरस्वामी के समय तक पार्श्वनाथ के अनुयायी होते थे और स्वय महावीर के माता पिता भी पार्श्वनाथ के मत को मानने वाले थे।

महावीर के जैनधर्म और पार्श्वनाथ के जैन धर्म में अतर था। पार्श्वनाथ के अनुयायी वस्त्र पहनते थे और जीवन के अत में जिनकल्प धारण करते थे। पार्श्वनाथ का धर्म अहिंसा-मूलक था और जात-पाँत के भेद के बिना वह अपने सप्रदाय में सबको स्वीकार करता था, स्त्रियाँ भी उनके सघ में शामिल हो सकती थीं। पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म में अहिंसा, झूठ न बोलना, चोरी न करना, और बाह्य उपकरणो से दूर रहना था। घोर तपश्चर्या ही पार्श्वनाथ के मतानुसार निर्वाण की हेतु थी। पार्श्वनाथ ने अपना मत चलाने के लिए चार गण और चार गणधर नियुक्त किये। महावीर के समय पार्श्वनाथ का प्राचीन मत महावीर के मत में मिल गया।

जैन शास्त्रो से यह पता चलता है कि गगा प्रदेश, जिसमें बनारस भी सम्मिलित था, बहुत प्राचीन काल में वानप्रस्थ तपस्वियों का अखाडा बना हुआ था (ओवाइय सूत्र)। इस प्रदेश में होत्तिय अग्निहोत्र करते थे, कोत्तिय जमीन पर सोते थे, पोत्तिय कपडा पहनते थे, जण्णई यज्ञ करते थे, सट्ठइयो का विश्वास श्रद्धामूलक था, थालई अपना सब सामान साथ लेकर चलते थे, हुबोट्ठ कुडिका लेकर चलते थे, दतुक्खलीय दाँत से पीसकर कच्चा अन्न खाते थे, उमज्जक नदी में केवल एक गोता लगाते थे, समज्जक कई गोते लगाते थे,

[१] मेहता, उल्लिखित, पृ० ३४३–४४

निमज्जक नदी में थोडी देर तक रहते थे, सपक्खाल अपना वदन मिट्टी से साफ करते थे, दक्खिण कुलाग गगा के केवल दक्खिन किनारे पर रहते थे, उत्तर कुलाग गगा के केवल उत्तर किनारे पर रहते थे, सखधमग खाने के पहले शख वजाकर लोगो को दूर करते थे, कूलधमग नदी के किनारे खाने के पहले शख वजाकर लोगो को दूर भगाते थे, मियलुद्धय जीवहत्या करते थे, हत्थितावस हाथी को मार कर उसके मास पर महीनो रहते थे, उड्डडग, अपनी लाठी उठाकर चलते थे, दिसापोक्खी फल पुष्प इकट्ठा करने के पहले दिशाओ में पानी छिडकते थे, वकवासी केवल वल्कल पहनते थे, अवुवासी पानी में रहते थे, विलवासी गुफाओ में रहते थे, जलवासी अपना शरीर पानी में डुवाकर रखते थे, रुक्खमूला वृक्ष के मूल में रहते थे, अवुक्खावी केवल पानी पीकर जीते थे, वाउभक्खी हवा पीकर रहते थे तथा सेवालभक्खी केवल सेवाल खाकर जीते थे।[1]

भगवान वुद्ध का वाराणसी अथवा यो कहिए इसिपतन से सवघ सव को विदित है। इसिपतन (आधुनिक सारनाथ) में उन्होने धर्मचक्र प्रवर्तन किया और ५३५–४८५ ईसा पूर्व के वीच अनेक वार विहार करते हुए वे यहाँ आये। उरुवेला से इसिपतन अट्ठारह योजन था। यहाँ वुद्धत्व प्राप्त करके गौतम वुद्ध इसिपतन की ओर रवाना हुए क्योकि उनके साथी पचवग्गिय भिक्खु उन्हें कठिन तप से निरत होते देख उन्हें छोडकर इसिपतन चले गये थे (जा० १, ६८)। वुद्ध उरुवेला से इसिपतन की ओर पैदल चलकर आये और रास्ते में उनकी आजीवक उपक से भेंट हुई। पास में पैसा न होने से शायद वुद्ध को गगा नदी उतरने में अडचन पडी। वाद को, अनुश्रुति है कि विंविसार ने यह सुनकर तपस्वियो और व्राह्मणो को नदी पार जाने के भाडे में छूट कर दी। इसिपतन में पहुँचकर उन्होने आषाढी पूर्णिमा को धर्मचक्र प्रवर्तन किया और इस तरह वहुजन हित वहुजन सुख और लोकानुकपा का अपूर्व सदेश ससार को दिया (विनय, १।१०, इत्यादि)। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नही कि वुद्ध के मध्यम-मार्ग का वनारस से ही आरभ हुआ।

वौद्ध साहित्य से पता चलता है कि वुद्ध वनारस में कई वार ठहरे। उन्होने यहाँ वहुत-से सूत्रो का उपदेश किया और वाराणसी में रहने वाले यश (विनय १।१५) एव उसके मित्रो को यथा विमल, सुवाहु, पुण्णजि, गवापति जो सव अच्छे घरानो के थे, वौद्ध धर्म में दीक्षित किया। वाराणसी अथवा इसिपतन में ही वुद्ध ने भिक्षुओ को ताड के जूते न पहनने का आदेश दिया (विनय, १।१८९)। एक दूसरी वार राजगृह से वहाँ पहुँचकर वुद्ध ने कुछ अविहित मासो के खाने का निषेध किया (विनय, १।२१६ इत्यादि)।

धर्मचक्र प्रवर्तन सूत्र के सिवा वुद्ध ने वाराणसी में निम्नलिखित सूत्रो का पाठ किया—पच सुत्त, रथकार या पच्चेतनसूत्र, दोपास सुत्त, समय सुत्त, कट्ठुविजय सुत्त, परायण की मेत्तयपञ्ह पर व्याख्या, तथा धम्मदिन्न सुत्त जो धम्मदिन्न नाम के एक प्रसिद्ध नागरिक को उपदेश स्वरूप में दिया गया।

जान पडता है वौद्ध सघ के कुछ प्रधान भिक्षु समय समय पर इसिपतन में रहा करते थे। इसिपतन में रहते हुए सारिपुत्त और महाकोट्ठिक के वार्तालापो का कई जगह

[1] जैन, उल्लिखित, पृ० २०३–०५।

वर्णन है। एक स्थल पर महाकोट्ठिक और चित्तहत्थि सारिपुत्त की बातचीत[1] की चर्चा आयी है। इसिपतन में छन्न को उसकी कठिनाइयों में सहायता देने के लिए कई भिक्षुओं का आपस में सवाद भी आया है।

बौद्ध धर्म में प्रव्रज्या लेने वालों में जनपदकल्याणी अड्ढकासी का भी उल्लेख है। कहा जाता है कि इस वेश्या की एक दिन की फीस काशी की आमदनी का आधा भाग नियुक्त किया गया था। बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर अड्ढकासी अरहत्पद को प्राप्त हुई। विनय (२।३५९-६०) से पता लगता है कि सारिपुत्त और महाकोट्ठिक के सिवा महा-मोग्गल्लान, महाकच्चान, महाचुद, अनिरुद्ध, रेवत, उपालि, आनद और राहुल भी बराबर काशी प्रदेश से होकर आते जाते रहते थे।

धर्मचक्र प्रवर्तन सूत्र में बुद्ध वचन में बुद्ध की महत्ता वर्णित है, जो निश्चय ही बाद में सकलनकर्ताओं द्वारा जोडी गयी मालूम पडती है। वाराणसी में धर्मचक्रप्रवर्तन करने का हेतु यह जान पडता है कि यहाँ पचवर्गीय भिक्षु थे। पर ऐसा भी हो सकता है कि वाराणसी की उस समय इतनी ख्याति थी कि वहाँ धर्मचक्रप्रवर्तन करना बुद्ध के नये उपदेश के उपयुक्त था। जो भी हो बुद्ध उरुवेला से वाराणसी की ओर चल पडे। बोधगया और गया के बीच उनकी उपक आजीवक से भेंट हुई। उपक ने बुद्ध की काति देखकर उनके परिव्रजित होने की बात जान ली। बुद्ध क्रमश यात्रा करते हुए वाराणसी में ऋषिपतन मृगदाव में, जहाँ पचवर्गीय भिक्षु थे, पहुँचे। पचवर्गीय भिक्षुओं ने भगवान को दूर से आते देखा और उन्हें देखते ही आपस में बातचीत करने लगे—आवुसो, साधना-भ्रष्ट सचय-कर्मी गौतम आ रहा है। इसे अभिवादन नहीं करना चाहिए, न इसके लिए खड़ा होना चाहिए, न इसका पात्र चीवर लेना चाहिए। केवल आसन रख देना चाहिए यदि इच्छा होगी तो बैठेगा। लेकिन जैसे ही बुद्ध उनके पास आये उनकी सब बातें हवा हो गयी। एक ने बढकर पात्र चीवर लिया, दूसरे ने आसन बिछाया, तीसरा पैर धोने का पानी लाया और चौथे ने पादपीठ और पाद कठलिका ला रखी। भगवान ने अपने पैर धोये। बातचीत में बुद्ध ने अपने अर्हत्व की बात उनसे कही पर उन्होंने इसे मानने से इनकार कर दिया। तब भगवान ने उन्हें उपदेश दिया।

भिक्षुओ, दो अतियो की सेवा सदा अनर्थो और कामवासनाओ से लिप्त अति, और दु खमय, आत्मपीडक अति की जाती है। भिक्षुओ, इन दोनो अतियो में न पडकर तथागत ने मध्यम-मार्ग निकाला है जो परम दृष्टि देने वाला, ज्ञानबोधक, शातिदायक तथा अभिज्ञा, परिपूर्ण ज्ञान और निर्वाण के लिए है। यह वही आर्य अष्टागिक मार्ग है, जिसमें सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीवन, सम्यक् जीविका, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि निहित है। यह है भिक्षुओ, मध्यम मार्ग।

---

[1] थेरीगाथा अट्ठकथा, पृ० ३०-३१, विनय, ३।३६०, नो०, ३, वि० पृ० १९५-९६, नो० ३

भिक्षुओ, दुःख आर्य-सत्य है। जन्म, जरा और मरण दुःख है, अप्रियो का सयोग और प्रियो का वियोग भी दुःख है। इच्छित वस्तु का न मिलना भी दुःख है। सक्षेप में सर्व भौतिक अभौतिक पदार्थ ही दुःख है। भिक्षुओ दुःख-कारण आर्य-सत्य है। फिर से जन्म लेने की आकाक्षा, राग सहित जहाँ तहाँ प्रसन्न होने की प्रवृत्ति जिसे काम, भव और विभव तृष्णाएँ कहा है, ये सब तृष्णाएँ हैं। हे भिक्षुओ, यह दुःख-निरोध आर्य-सत्य तृष्णा से विरक्त होना है। भिक्षुओ, यह दुःख निरोध-गामिनी-प्रतिपद् आर्य सत्य है, यही आर्य अष्टागिक मार्ग है।

यह दुःख आर्य-सत्य है और परिज्ञेय है ऐसी मुझे दृष्टि उत्पन्न हुई। यह दुःख-समुदय, यह दुःख-निरोध और यह दुःख-निरोधगामिनी-प्रतिपद् आर्य-सत्य है इसका भी मुझे ज्ञान हुआ।

भिक्षुओ, जब तक मुझे इन चार सत्यो का यथार्थ शुद्ध ज्ञान नही हुआ तब तक भिक्षुओ, मैंने यह दावा नही किया कि देव, मार, ब्रह्मा, मनुष्य तथा साधु ब्राह्मण सब में अनुपम परम ज्ञान को मैंने जान लिया। मैंने ज्ञान को देख लिया, मेरी मुक्ति अचल है, मेरा यह अतिम जन्म है, मेरा फिर आवागमन नही होगा।

भगवान् के इन वचनो से सतुष्ट होकर पचवर्गीय भिक्षुओ ने भगवान् के भाषण का अभिनदन किया। भाषण के बीच में आयुष्मान् कौंडिन्य का धर्मचक्षु खुल गया और उन्हें ज्ञान हुआ कि जो कुछ उत्पन्न होने वाला है वह सब नाशमान है और इस बात को जान लेने से ही कौंडिन्य का नाम आज्ञात कौंडिन्य पडा।

बुद्ध के उपदेश से सशय और विवाद रहित होकर आज्ञात कौंडिन्य ने बुद्ध से प्रव्रज्या और उपसपदा चाही।

भगवान् ने कहा—भिक्षुओ, यह यह धर्म सुदर तरह से व्याख्यात है इसलिये दुःख के अच्छी तरह से नाश के लिये ब्रह्मचर्य का पालन करो। यही उन आयुष्मानो की उपसपदा हुई। इसके बाद वप्प और भद्दिय की भी दीक्षा हुई। इसके बाद बुद्ध ने रूप, वेदना सज्ञा सस्कार को अनात्म्य, अनित्य और दुःखमय बतलाया। उन्होने यह भी समझाया कि रूप इत्यादि का जो कुछ भी भूत, भविष्य और वर्तमान सबधी, भीतरी-बाहरी, स्थूल या सूक्ष्म, अच्छा या बुरा दूर या नजदीक का भाव है उसे अपना न मानना चाहिये। ऐसा करने से विद्वान आर्य-शिष्य रूप इत्यादि से उदास होकर विराग और मुक्त होता है। मुक्त होने पर उसका आवागमन नष्ट हो जाता है, ब्रह्मचर्य-वास पूरा हो जाता है और उसे पता लग जाता है कि जो कुछ करना था कर लिया, कुछ करने को बाकी नही है।

जिस समय बुद्ध ने इसिपतन में धर्मचक्र प्रवर्तन किया उसके थोडे ही बाद यश की प्रव्रज्या हुई। यश वाराणसी के श्रेष्ठि का पुत्र था। उसके पास वैभव की कमी न थी, सब ऋतुओ के योग्य महल थे। रात भर तैल दीपो के प्रकाश में नाच रग होता रहता था। एक दिन एकाएक यश की निद्रा खुली तो उसने अपने परिजनो की अस्तव्यस्त अवस्था देखी और यह सब देखकर उसे अत्यन्त घृणा हुई और वह सीधे मृगदाव में बुद्ध के पास पहुँचा।

बुद्ध उस समय सवेरे उठकर टहल रहे थे। यश को देखकर वे आसन पर बैठ गये, उसे अपने पास बैठाकर उन्होंने प्रव्रज्या दी। बाद में यश के माता पिता भी बुद्ध के उपासक हुए, यश का पिता बौद्ध धर्म का प्रथम उपासक कहा जाता है। इसके बाद यश के मित्रो ने यथा विमल, सुबाहु, पूर्णजित और गवांपति ने प्रव्रज्या ग्रहण की। फिर क्या था काशी में प्रव्रज्या लेने की होड-सी लग गयी और यश के बहुत-से जानपदगृही मित्रो ने भी प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। अत में भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं को अपना अमर उपदेश सुनाया जिसमें आदि से अत तक कल्याण की भावना टपकती है।

चरथ भिक्खवे चारिक बहुजनहिताय बहुजन सुखाय लोकानुकपाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सान।

देसेथ भिक्खवे धम्म आदि कल्याणं मज्झे कल्याण परियोसान कल्याण सात्थ सब्यजन केवल परिपुण्ण परिसुद्ध ब्रह्मचरिय पकासेथ।

हे भिक्षुओ, जनता के हित के लिए, जनता के सुख के लिए, लोक पर अनुकपा करने के लिए, देवताओ और मनुष्यों का हित सुख करने के लिए विचरो। आरभ में कल्याणकर, मध्य में कल्याणकर, अत में कल्याणकर धर्म का शब्दो और भावो सहित उपदेश करके सर्वांश में परिपूर्ण, परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो।

वाराणसी से उद्घोषित बुद्ध का यह अमर उपदेश हजारो भिक्षुओं द्वारा इस देश के कोने-कोने में फैला, साथ ही नदी नद, समुद्र, पर्वत और भीषण रेगिस्तानो को पार करता हुआ एक ओर जापान से लेकर अफगानिस्तान तक और दूसरी ओर सुवर्णभूमि से लेकर सिंहल तक फैल गया। शताब्दियो बाद बौद्ध धर्म के इस जाज्वल्यमान सदेश के स्थान पर वज्रयान और मत्रयान के पूजा पाठ ने अपना घर कर लिया, लेकिन सदियों के गहरे अँधेरे को चीरती हुई अब भी बुद्ध की यह अमरवाणी हमें बहुजनहित के लिए आवाहन कर रही है। ● ●

चौथा अध्याय

महाजनपद युग में बनारस के सामाजिक इतिहास के कुछ पहलू और व्यापार

मध्यकाल में बनारस की ख्याति उसके तीर्थ क्षेत्र और विद्या का केन्द्र होने के कारण थी। पर महाजनपद युग में शिक्षा का सबसे बडा केन्द्र तक्षशिला था, जहाँ देश के कोने-कोने से लोग शिक्षा के लिए जाते थे। तक्षशिला के बाद शिक्षा के लिए बनारस ही मशहूर था। लगता है बनारस को शिक्षा का केन्द्र बनाने का श्रेय तक्षशिला के उन स्नातको को था जिन्होने बनारस लौटकर शिक्षण का कार्य प्रारभ किया (जातक १।४६३, २।१००)। खुद्दकपाठ अट्ठकथा (पृ० १९८) में तो यहाँ तक कहा गया है कि बनारस की कुछ शिक्षा सस्थाएँ तो तक्षशिला की शिक्षा सस्थाओ से भी पुरानी थी। धम्मपद अट्ठकथा (३।४४५) में इस बात का उल्लेख है कि तक्षशिला के शख नामक एक ब्राह्मण ने अपने पुत्र सुसीम को शिक्षा के लिए बनारस भेजा। कुछ दिनो बाद बनारस में भी संसारप्रसिद्ध आचार्य होने लगे जिनका काम विद्यार्थियो को शिक्षा देना था (जा० १।२३८, ३।१८, २३३, ४।२३७)। बनारसवासियो में शिक्षा के प्रति इतना अनुराग था कि भोजन देकर वे गरीब बालको को शिक्षा दिलवाते थे (जा० १।१०९)। आज दिन भी बनारस में विद्यार्थियो के लिए अनेक अन्न-सत्र है और विद्यार्थियो की हर तरह से मदद करना काशीवासी अपना धर्म मानते है। गुट्टिल जातक में कहा गया है कि बनारस सगीत-विद्या का केन्द्र था (जा० २।२४८ इत्यादि)। एक ऐसा समय था जब वहाँ वीणावादन की प्रतियोगिता भी होती थी।

इस बात का तो पता नही लगता कि महाजनपद युग में बनारस की पाठशालाओ का क्या पाठ्यक्रम था पर बनारस और तक्षशिला के शिक्षाक्रमो में समानता होने के कारण हम बनारस के शिक्षा क्रम के बारे में कुछ अदाज लगा सकते है। प्रारभिक शिक्षा समाप्त करके सोलह वर्ष की अवस्था में विद्यार्थी उच्च शिक्षा के लिए गुरुओ के पास जाते थे। विद्यार्थीगण आचार्यों को दक्षिणा अग्रिम रूप में देते थे। दक्षिणा न दे सकने पर गुरु की सेवा करके भी विद्यार्थी पढ सकता था। ऐसे शिष्य दिन में तो गुरु की सेवा करते थे और रात में पढते थे। दक्षिणा देकर पढने वाले विद्यार्थियो को आचारियभागदायक और सेवा करके पढ़ने वाले विद्यार्थियो को धम्मन्तेवासिक कहते थे। पढाई समाप्त करने के बाद भी विद्यार्थी दक्षिणा दे सकते थे। आचार्यो तथा विद्यार्थियो को बहुधा लोग भोजन करा देते थे और दान-दक्षिणा भी दे देते थे। राजकुमारो के साथियो के पढने का आर्थिक भार उनके राज्यकोष उठाते थे।[1] अन्तेवासी प्राय आचार्यों के पास दिन-रात रहते थे, पर दिन में भी आकर विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण कर सकते थे। ऐसे विद्यार्थियो में बहुधा गृहस्थ और विवाहित पुरुष होते थे। आचार्यो के पास विद्यार्थियो की सख्या सर्वदा पाँच सौ दी गयी है, पर यह सख्या गोल-सी मालूम पडती है। विद्यार्थियो में अधिकतर ब्राह्मण

---

[1] मेहता, उल्लिखित, पृ० ३००

और क्षत्रिय होते थे पर इनमें कभी कभी श्रेष्ठियो और राजपुरुषो के लडके भी होते थे। शूद्रो का इन शिक्षालयो में प्रवेश नही था।

अपने शिक्षाकाल में विद्यार्थी सादा जीवन विताते थे और उनकी दिनचर्या पर उनके आचार्य कडी नजर रखते थे, यहाँ तक कि विना आचार्य के वे नदी पर नहाने भी नही जा सकते थे। उनका यह कर्त्तव्य था कि आश्रम के लिए जगल मे लकडियाँ इकट्ठी करें और हर प्रकार से गुरु की सेवा करें। उनके भोजन का मुख्य भाग दलिया और भात होता था इसे आचार्य की एक दासी पका देती थी।

विद्यार्थियो की सख्या काफी होने से आचार्यों को सहकारी अध्यापको की, जिन्हें पिट्ठआचरिय कहते थे, आवश्यकता पडती थी। ऊँचे दर्जों के विद्यार्थी भी पढाने का काम करते थे।

अध्ययन सवेरे आरम्भ होता था। विद्यार्थियो को जगाने के लिए आश्रम में एक मुर्गा रखा जाता था। पहले के पाठ को दोहराने के लिए और एकान्त में अध्ययन करने के लिए भी कुछ समय नियुक्त था। पढ़ने का काम दोपहर तक समाप्त हो जाता था। पढाई मौखिक और पुस्तक दोनो ही के द्वारा होती थी।

पाठ्यक्रम में वेदत्रयी और अट्ठारह शिल्पो का विशेष स्थान था। वार वार तीन वेदो के नाम आने से पता चलता है कि अथर्व वेद का पाठ्यक्रम में स्थान नही था। हस्तिसूत्र, मत्र, लुब्धककर्म, धनुर्विद्या, अगविद्या और चिकित्सा-शास्त्र भी पाठ्यक्रम में थे। इन शास्त्रो को पढकर, विशेपकर चिकित्सा शास्त्र पढने के बाद, विद्यार्थी स्वय घूमकर और अनुभव के आधार पर अपना ज्ञान बढाते थे।

इन शिक्षालयो के अतिरिक्त ऋषि-मुनियो के आश्रमो में भी दर्शन और धर्म-शास्त्रो का अध्ययन-अध्यापन होता था। ये आश्रम हिमालय में तथा अन्य बस्तियो के पास भी होते थे। कहा जाता है कि प्रसिद्ध दार्शनिक श्वेतकेतु पहले बनारस में विद्यार्थी थे। वहाँ अपनी शिक्षा समाप्त करके वे तक्षशिला गये और वहाँ की भी शिक्षा समाप्त कर वे घूमकर सब विषयो और कलाओ का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करते रहे। अन्त में उनकी भेंट एक गाँव में पाँच सौ परिव्राजको से हुई और उन्होंने इन्हें दीक्षित करके सब विद्याएँ पढाई और उनका व्यावहारिक अनुभव कराया।[१]

जातको से पता चलता है कि बनारस की शासन-व्यवस्था में सबके साथ न्याय का बडा ध्यान रखा जाता था। राजा के मन्त्री ईमानदार होते थे। अदालतो में झूठे मुकदमें नहीं आते थे और सच्चे मुकदमें भी इतने कम होते थे कि कभी-कभी न्यायमत्री को यो ही वेकार बैठे रहना पडता था। बनारस के राजा का अपने दोषो को जानने की ओर बराबर ध्यान बना रहता था। एक जातक (जा० २।१-५) में कहा गया है कि एक दिन काशि-राज यह जानने के लिये नगर के बाहर निकले कि क्या कोई ऐसा भी है जो उनके विरुद्ध कोई बात जानता हो। उधर से कोसलराज भी इसी दृष्टि से निकले और दोनो राजाओ की

[१] मेहता, उल्लिखित, पृ० ३०५

भेंट ऐसी जगह हुई जहाँ सडक सँकरी होने से दो रथ एक साथ नही निकल सकते थे। दोनो रथो के सारथियो ने अपने-अपने राजा का यश गाना शुरू किया, पर अत में कोसल के सारथि को वनारस के सारथि को जाने की जगह देनी पडी।

वनारस के लोगो का कुछ ऐसा विश्वास था कि न्यायप्रिय और शातिप्रिय राजा के शासन में वस्तुएँ अपने अकृत्रिम स्वभाव से होती थी लेकिन अन्यायी और अशातिप्रिय राजा के राज में चीजें अपना स्वभाव वदल देती थी, तेल, शहद, गुड तथा और भी दूसरी चीजें यहाँ तक कि जगली फल-फूल भी अपनी मिठास और स्वाद छोड देते थे (जा० ६।११०–१११)।

लेकिन इससे यह न समझना चाहिए कि वनारस के सभी लोग देवतुल्य थे। वहाँ भी चारित्रिक कमजोरियाँ थी और नगर के आसपास चोर-डाकुओ के अड्डे तक थे, जो यात्रियो को वरावर सताया करते थे (जा० २। ८७–८८)।

वनारस शहर की रक्षा करने के लिए नगरगुत्तिक होते थे जो सम्भवत आधुनिक कोतवाल की तरह थे। एक कथा है (जातक ३।३०) कि एक समय अछूत कुल मे उत्पन्न वोधिसत्त्व के ज्ञान से प्रसन्न होकर काशिराज ने अपने गले की माला उतारकर उनके गले में पहनाकर उन्हें नगरगुत्तिक वना दिया। उसी काल से वनारस में नगरगुत्तिको के गले में लाल फूलो की माला पहनने की प्रथा चली। वनारस की अदालतो का भी उल्लेख आता है। एक वोधिसत्त्व के पिता का पेशा वकालत वतलाया गया है (वोहार कत्वा जीवक कम्मेति, जा० २।११)।

वनारस वालो की उत्सव प्रियता आज दिन भी प्रसिद्ध है। वनारस की प्रसिद्ध कहावत है 'आठ वार नौ त्योहार'। महाजनपद युग में भी वनारस में काफी त्योहार मनाये जाते थे। वनारस में दीवाली वडी धूमधाम से मनायी जाती है। महाजनपद युग में भी दीवाली इसी तरीके से मनायी जाती थी। एक जातक मे कहा गया है कि काशी की दीपमालिका कार्तिक में मनायी जाती थी। उस अवसर पर नगर इन्द्रपुरी की तरह सजाया जाता था और सभी छुट्टी मनाते थे। सभवत इस अवसर पर सव लोग, विशेषकर स्त्रियाँ केसरिया रग के वस्त्र पहनकर वाहर निकलती थी (जा० १।३१२–१३)। जैन सूत्रो से भी पता चलता है (जैन सूत्र, १, पृ० २६६) कि वनारस में दीवाली धूम धाम से मनायी जाती थी। इस त्योहार के वारे में यह अनुश्रुति है कि जिस रात को महावीर की मृत्यु हुई वह उपोसथ का दिन था। काशी के राजा ने महावीर की मृत्यु सुनकर यह निश्चय किया कि उस दिन खूब रोशनी की जाय क्योकि महावीर की मृत्यु के साथ ज्ञानदीप तो वुझ गया था, पर दीप जलाने से उसकी स्मृति वनी रहेगी।

छत्र-मगल दिवस वनारस का एक दूसरा त्योहार था। इस अवसर पर नगर खूव सजाया जाता था और राजा की सवारी निकलती थी। वाद में राजा एक सजे सजाये महल में आकर एक श्वेत छत्र से सुशोभित सिंहासन पर वैठता और उपस्थित लोगो की ओर दृष्टिपात करता था। दरवार में एक तरफ अमात्यगण होते थे और दूसरी तरफ ब्राह्मण और गहपति। ये सव के सव आकर्षक वस्त्र पहने रहते थे (नानाविधवेसविलास-समुज्जले)। तीसरी ओर नागरिक हाथो में भाँति भाँति के उपायन (नजरें) लिए खडे रहते थे (नानाविध

पण्णाकारन्हत्थे)। चौथी ओर हजारो की सन्या में नर्तकियाँ होती थी। छत-मंगल दिवस शायद राजा के राज्याधिरोहण दिवस के उपलक्ष्य में मनाया जाता रहा होगा। यह विजया दशमी का भी त्योहार हो सकता है, क्योंकि आज दिन भी राजे-रजवाडे इस उत्सव को वडी धूम-धाम से मनाते हैं।

हस्तिमगल वनारस का प्रसिद्ध त्योहार था। इसमें ब्राह्मण हस्तिसूत्र का पाठ करते थे और शुभ्रदतो वाले भी हाथी इसमें भाग लेते थे। हाथियो को सोने के गहने पहनाये जाते थे और वे सुवर्णध्वजाओ से सजाये जाते थे। वे सुवर्ण जाल से बने झूल से ढके होते थे। इस अवसर पर राजा का महल और आँगन खूब सजाया जाता था। ब्राह्मण श्रेणी बाँधकर खड़े होते थे। इसके बाद राजा का प्रवेश होता था और उनके साथ इस महोत्सव के लिए गहने इत्यादि आते थे (जा० २।३३)।

वनारस में सुरापानोत्सव भी मनाया जाता था जिसे सुराक्षण कहते थे। एक जातक में (१।२०८) कहा गया है कि काशिराज ने एक समय इस उत्सव के अवसर पर तपस्वियो को खूब छककर शराब पिलायी। माले मुफ्त दिले बेरहम की कहावत को चरितार्थ करते हुए इन तपस्वियो ने खूब डटकर शराब पी और इसके बाद वे अपने पडाव को लौटे। नशे की झोक में कुछ तो नाचने गाने, बाद में थक कर घास की टाटियाँ पैरो से बिखेरने लगे और अपने सामान इधर उधर फेंकने लगे। इस सबके बाद वे खर्राटे भर सो रहे (जा० १।२०८)। एक दूसरे जातक में (जातक ८।७३) इस बात का उल्लेख है कि इस मदिरोत्सव पर एक ग्राम भोजक ने, जिसने कडी शराब बेचने की सख्त मनाही कर दी थी, अपनी आज्ञा में ढील कर दी। उत्सव में भाग लेने वालो ने डट कर शराब पी। बाद में आपस में मार पीट हो गयी, जिससे बहुतो के सिर फूटे। इस सुराक्षण का अवशेष अब भी वनारस में पियाले के मेले में बच गया है। यह मेला वर्तमान चौकाघाट और शिवपुर में अगहन के पहले मगल या सनीचर को होता है। कालका ब्राह्मणी और सत्ता चमारिन को शराब भेंट की जाती है और खूब रगरेलियो के बीच दिन काटा जाता है।

जान पडता है कि वनारस में जलोत्सव मनाने की भी प्रथा थी। पानी में उतरने के पहले लोग कुछ भाँग छान लेते थे। ऐसा करने से लोगो का जल की ठढक से बचाव हो जाता था (जा० १।२८०)।

काशी सदैव से मौजी रहा है और इसके फलस्वरूप यहाँ वेश्याओ का हमेशा से जमाव रहा है। जातको में एक जगह (३।४०-८१) सामा नाम की काशी की एक वेश्या का उल्लेख आता है। इस वेश्या की एक रात की फीस एक हजार कार्षापण होती थी और इसकी सेवा में पाँच सौ दासियाँ रहती थी। वह इतनी प्रभावशालिनी थी कि उसने नगर-गुत्तिक को घूस देकर एक डाकू सरदार को छुडवा लिया और एक दूसरे आदमी को उसकी जगह फाँसी पर लटकवा दिया। डाकू सरदार ने जब उसे छोड दिया तब उसने उसकी खोज के लिए बहुत-से नटो को नियुक्त किया।

पशु-पक्षियो पर दया भी काशी के लोगो की एक विशेषता है। अकसर तो यह दया बेवकूफी का स्थान भी ले लेती है जैसे दुष्ट वदरो की रक्षा इत्यादि। सभवत

महाजनपद युग में भी काशीवासी जानवरो और चिडियो पर दयाभाव रखते थे। एक जातक में कहा गया है (१।११२) कि वनारस के नागरिको ने दया-भाव से प्रेरित होकर नगर में जगह-जगह चिडियो के आराम के लिए दौरियाँ लटकवा रक्खी थी।

जातको और बौद्ध साहित्य में वनारस की ख्याति अधिकतर उसके व्यापार के कारण थी। काशिक वस्त्र के उल्लेखो से तो सारा वौद्ध साहित्य भरा पडा है। काशी के वने वस्त्रो को काशीकुत्तम (जा० ६।४७, ६।१५१, १।३३५) और कही कही कासीय भी कहते थे (जा० ६।५००)। वनारस का कपडा इतना प्रसिद्ध था कि महा परिनिव्वाण सुत्त (५।२६) का टीकाकार विहित कप्पास (कुदी किया हुआ कपडा) पर टीका करते हुए कहता है कि वुद्ध का मृत शरीर वनारस के वने कपडे से लपेटा गया था और वह इतना महीन और गफ वुना गया था कि तेल तक नही सोख सकता था। वनारसी कपडे का एक दूसरी जगह वर्णन करते हुए महापरिनिव्वाण सुत्त (३।२९) में कहा गया है कि वनारसी कपडा जिस तरफ देखिए नीला देख पडता था अथवा नीली झलक मारता था। नीले के सिवाय वह पीला, लाल और सफेद भी होता था (वही, ३।३०-३२)। वनारसी कपडे (वाराणसेय्यक) के वारीक पोत का उल्लेख मज्झिम निकाय (२।३।७) में भी आया है। टीकाकार वनारसी कपडे की इसलिए प्रशसा करता है क्योकि वहाँ अच्छी कपास पैदा होती थी, वहाँ की कत्तिनें और वुनकर होशियार होते थे और वहाँ का नरम पानी धुलाई के लिए वहुत अच्छा पडता था। वनारसी कपडे दोनो रुख में मुलायम और चिकने होते थे।

वनारस के आस-पास ऐसा जान पडता है कि एक समय वहुत अच्छी कपास पैदा होती थी। तुण्डिल जातक में (जा० ३।२८६) वनारस के आस पास कपास के खेतो का वर्णन है। स्त्रियाँ इन खेतो की रखवाली करती थी (जा० ६।३३६)। वनारसवासी स्त्रियो द्वारा महीन सूत कतवाकर (सुखुमसुत्तानि कतित्वा) गडियाँ वनवाते थे (जा० ६।३३६)।

वनारस में सूती कपडो के सिवा क्षौम और शायद ऊनी कपडे भी वनते थे। वनारस के रेशमी वस्त्र का एक जगह उल्लेख है (जा० ६।५७७)। वनारस में क्षौम मिश्रित कवल भी वनते थे। जीवक कुमारभृत्य को एक ऐसा ही कवल काशिराज से उपहार में मिला था (महावग्ग, ८।१।४)। महावग्ग (८।२) में, एक दूसरी जगह कहा गया है कि एक समय काशी के राजा ने जीवक की सेवाओ से प्रसन्न होकर उसे अड्ढकासिक कवल उपहार में भेजा। श्री ह्राइस डेविड ने अटकल से इसका अग्रेजी अनुवाद आधे वनारसी कपडे से वना हुआ ऊनी वस्त्र किया है। वुद्धघोस ने कासी का अर्थ एक हजार कार्षापण किया है और अड्ढकासीय का पाँच सौ और इस तरह अड्ढकासीय का अर्थ ५०० कार्षापण मूल्य वाला कपडा किया है। मेरा अनुमान है कि अड्ढकासीय कोई वहुत वारीक कपडा रहा होगा क्योकि आज दिन भी वारीक सूती कपडे को अद्धी कहते हैं। सम्भवत काशी में कसीदे का काम भी वनता था और इसे कासिक-सूचीवत्थ कहते थे (जा० ६।१४४,१४५,१५४)।

काशी में सुगन्धित द्रव्यो का भी व्यापार होता था। जातको में (जा० १।३३१, ५।३०२, गा० ४०, अगुत्तर ३।३९१) काशिक चदन का नाम आया है। काशी विलेपन

से (जा० १।३५५) किसी इत्र जैसे सुगन्धित द्रव्य का बोध होता है। कासिक-चदन शब्द से लोगों का अनुमान है कि शायद यह चदन बाहर से आता था और यहाँ केवल इसके चदन का व्यापारिक नाम कासिक-चदन पड गया। मेरा भी पहले ऐसा ही विचार था, पर बनारस में खोज करने से पता चला कि वरना के किनारे अब भी चदन के बहुत-से पेड मिलते है, जिन्हें किसी ने लगाया नही है। खजुरी के पास तो प्राय सब बगीचो में चदन के पेड है। जान पडता है कि महाजनपद युग में काशी में बहुत अच्छा चदन होता था।

जातकों से पता चलता है कि बनारस में बढईगिरी का काम बहुत अधिक होता था। एक जातक में (जा० २।११) कहा गया है कि जब बनारस में ब्रह्मदत्त राज्य करते थे तब बनारस से थोडी ही दूर एक बढइयो का ग्राम था जिसमें पाँच सौ बढई रहते थे। उनका काम था नाव के द्वारा नदी के ऊपर जाकर, जगल में घुमकर घरो के लिए धरन और तख्ते चीरना (गेहसभारदारुणि कोट्टेत्वा)। वे एक महले या दो महले घरो के ढाँचे तैयार करते थे (एकभूमिद्विभूमिकादि भेदे गेहे सज्जेत्वा), फिर वे खभे से लेकर नीचे के सब भागो पर सख्या देते थे (थमतो पट्ठाय सब्बदारुसु सञ्ञ कत्वा) और इनको नाव पर लादकर शहर में लाते थे और फिर लोगों के आज्ञानुसार घर बनाते थे। उन्हें मजदूरी कार्षापणों में मिलती थी। बनारस में शायद बढइयो का एक मुहल्ला था जिसमें एक हजार बढइयो का परिवार रहता था। उनका दावा था कि वे कुर्सियाँ, पलग और घर बना सकते थे, पर बहुत-से लोगो से पेशगी ले लेने पर और काम न करने पर पता चला कि उनका यह दावा झूठा था। फिर क्या था, उनके गाहकों ने इतना सताया कि उन्हें नगर छोडकर भाग जाना पडा (जा० ४।१५९)। बनारस में अच्छे-से-अच्छे सगतराश भी होते थे (जा० १।४७८)।

बनारस में हाथीदाँत का भी बाजार था जहाँ की दतकारवीथि में दतकार चूडी इत्यादि बनाते थे। कथा है कि उनको हाथीदाँत का काम बनाते देख एक गरीब आदमी ने पूछा कि यदि मैं हाथीदाँत लाऊँ तो क्या तुम लोग उसे लोगे (जा २।१३९)।

बनारस में गगा के इस किनारे और उस पार शिकारियो के गाँव थे और उन गाँवों में शिकारियो के पाँच-पाँच सौ परिवार रहते थे (जा० ६।७१)। मोर जातक (जा० २।३६) में एक बहेलिया, जिसे राजा ने सुनहरे मोर को पकडने की आज्ञा दी थी, बनारस के पास एक निषाद-ग्राम में रहता था और शिकार ही उसका व्यवसाय था। बनारस जिले में अब भी निषादो या मल्लाहो की बहुत बडी सख्या है और इनका व्यवसाय मछली मारना और नावें चलाना है। जान पडता है प्राचीन काल में ये शिकार भी करते थे।

व्यापार का प्रसिद्ध केन्द्र होने के कारण बनारस से बराबर सार्थ (कारवाँ) चला करते थे। काशी से एक रास्ता राजगृह जाता था (विनय, १।२६२, धम्मपद अ० १।१२६)। बनारस से तक्षशिला के लिए एक रास्ता था और दूसरा श्रावस्ती के लिए जो भद्दिया होकर वहाँ पहुँचता था (वि० १।१८९)। बनारस और वेरजा के बीच दो रास्ते थे। एक तो सोरेय्य होकर जाता था और दूसरा प्रयाग में गगा पार करके बनारस

पहुँचता था और वहाँ से वैशाली को चला जाता था। एक उल्लेख है कि बनारस का एक सार्थवाह पाँच सौ गाडियो के साथ प्रत्यत देश जाकर वहाँ से चदन लाया (सुत्त-निपात अ० २, पृ० ५२३ इत्यादि)।' बनारस के एक दूसरे व्यापारी के बारे में कहा गया है (धम्मपद, ३।४२९) कि लाल कपडे से भरी पाँच सौ गाडियो को लेकर वह श्रावस्ती की ओर चला लेकिन बाढ की वजह से भरी नदी पार नही कर सका, और नदी के इसी ओर उसे अपना माल बेच देना पडा। बनारस के अध्यवसायी व्यापारी अपना माल खच्चरो पर लादकर दूर-दूर तक बेचते फिरते थे (जा० २।१०९)।

जातको में बनारस के सार्थवाहो की अनेक कथाएँ है जिनसे पता चलता है कि वे अपने कार्य में कितने दक्ष होते थे। एक जातक (जा० १।१०८ इत्यादि) में कहा गया है कि एक समय बोधिसत्त्व बनारस में एक सार्थवाह-कुल में पैदा हुए, उन्हें अपनी पाँच सौ गाडियो सहित साठ योजन का एक रेगिस्तान पार करना पडा। रेगिस्तान का बालू इतना महीन था कि मुट्ठी में बाँधने पर भी रध्रो से सरक कर निकल जाता था। जलते हुए रेगिस्तान में दिन को यात्रा नही हो सकती थी इसलिए सार्थवाह अपनी गाडियो पर ईंधन, पानी, तेल, चावल इत्यादि लेकर रात में यात्रा करते थे। सबेरा होते ही वे चारो ओर गाडियाँ इकट्ठी करके और उन पर पाल डालकर अपना डेरा डाल देते थे और जल्दी से भोजन करके साये में दिन भर बैठे रहते थे। सूर्यास्त होने के बाद वे ब्यालू करते थे और जैसे ही जमीन ठडी होती थी गाडी जोतकर आगे रवाना हो जाते थे। इस रेगिस्तान में सफर करना समुद्र में सफर करने के समान था और यहाँ रास्ता दिखलाने के लिए एक स्थल-निर्यामिक था। जब रेगिस्तान पार करने में सात योजन रह गये तो गाडियो पर से ईंधन और पानी फेंक दिये गये। गाडी पर आगे बैठकर स्थल-निर्यामिक रास्ता बतला रहा था, पर अभाग्यवश वह सो गया और सार्थ अपना रास्ता भूल गया। मडली में गडबडी पड गयी केवल बोधिसत्त्व ने ही अपना दिमाग ठडा रक्खा। उन्होने रेगिस्तान में पानी ढूँढ निकाला और इस तरह सही सलामत सार्थ को उसके गतव्य स्थान पर पहुँचाया।

बनारस के व्यापारी समुद्री व्यापार भी करते थे। एक जातक में इस बात का उल्लेख है कि दिसाकाक लेकर बनारस के व्यापारी समुद्र-यात्रा को गये (जा० ३।३८४) मित्तविदक बनारस का एक दूसरा व्यापारी था जिसने एक जहाज खरीदकर समुद्र-यात्रा की ठानी और उसे समुद्र-यात्रा में अनेक कष्ट उठाने पडे (जा० ४।२ इत्यादि)।

बनारस में उत्तरापथ के घोडो का भी खूब व्यापार होता था। कथा है कि एक समय बोधिसत्त्व काशिराज के सग्घत्यक (पारखी) नियुक्त हुए और वे राजा के अर्थ-धर्मानुशासन अमात्य का काम करते थे। एक समय उत्तरापथ से व्यापारी पाँच सौ घोडे लेकर आये। जब बोधिसत्त्व राजा के प्रियपात्र थे तब वे व्यापरियो को ही घोडो का मूल्य निर्धारित कर लेने देते थे लेकिन एक बार इस लालची राजा ने अपने एक बदमाश घोडे को इन घोडो के बीच में भेज दिया और उसने कई घोडो को काट खाया। इस प्रकार व्यापारियो को झख मारकर उनके दाम घटाने पडे (जा० २।२१,२२)। सिंधु के अच्छे-से-अच्छे घोडे भी बनारस में उपलब्ध थे (जा० ३।१९८)।

पाँचवाँ अध्याय

मौर्य और शुंग युग की काशी

दूसरे अध्याय में हम देख चुके हैं कि काशी और मगध में किस प्रकार संबंध बढ़ा। महाकोसल ने अपनी कन्या का विवाह बिंबिसार (५४३–४९१ ई० पू०) के साथ करके काशिग्राम (कसवार) जिसकी आमदनी एक लाख सालाना थी अपनी कन्या को महाचुण्णमूल (जा० २।४०३) (दहेज) में दे दिया। अजातशत्रु (४९१–४५९ ई० पू०) ने अपने पिता की हत्या कर डाली। जान पड़ता है अजातशत्रु की इस करनी से क्रुद्ध होकर कोसलराज प्रसेनजित् ने उसे काशिग्राम की आमदनी देनी बंद कर दी। फिर क्या था, आपस में लड़ाई छिड़ गयी जिसमें प्रसेनजित् को तीन बार हार खानी पड़ी पर चौथी बार शकटव्यूह की रचना कर उसने अजातशत्रु को हराकर कैद कर लिया। पर कुछ ही दिनों बाद प्रसेनजित् ने अजातशत्रु को मुक्त कर दिया और उसके साथ अपनी कन्या वजिरा का ब्याह करके चूर्णमूल में काशी ग्राम भी उसे दे दिया।

प्रसेनजित् के बाद काशि-कोसल का राजा विडूडभ हुआ जिसने बदला लेने के लिए शाक्यों को समूल नष्ट कर दिया। विडूडभ के बाद कोसल के किसी राजा का नाम न मिलने से यह पता चलता है कि काशि-कोसल की स्वतंत्र-सत्ता नष्ट हो चुकी थी और वह मगध के बढ़ते हुए साम्राज्य में मिला लिया गया था। शायद यह घटना अजातशत्रु के अन्तिम दिनों में घटी हो। अजातशत्रु के बाद उसका पुत्र उदयभद्र या उदायिन् (४५९–४४३ ई० पू०) मगध की गद्दी पर बैठा और उसने पाटलिपुत्र को अपनी राजधानी बनाया। इसके बाद मुंड (४४३–४३५ ई० पू०) और उसके बाद नागदासक (४३५–४१० ई० पू०) जो पुराणों के दर्शक हो सकते हैं, ये मगध की गद्दी पर आये। महावंश के अनुसार अजातशत्रु से लेकर नागदासक तक मगध के राजा पितृहंता थे। उनके इस अनाचार से क्रुद्ध होकर प्रजा ने नागदासक के अमात्य सुसुनाग की सहायता कर एक नये राजवंश की स्थापना करायी[1]। भांडारकर की राय में सुसुनाग किसी राजा का नाम न होकर नागवंश की एक शाखा का नाम था और इसलिए नवीन वंश कोई दूसरा न होकर बिंबसार के नागवंश की केवल एक शाखा थी। पुराण हमें सूचित करते हैं कि शिशुनाग ने प्रद्योतवंश को नीचा दिखाया, अपने पुत्र को वाराणसी का राजा बनाया तथा गिरिव्रज अपनी राजधानी बनायी। शिशुनाग ने वाराणसी में जो अपने पुत्र को बैठाया इसके दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि उस समय तक अर्थात् नागदासक के समय तक वाराणसी में किसी राजा की सत्ता थी जिसको शिशुनाग ने उखाड़ फेंका अथवा वाराणसी की ऐसी सामरिक और राजनीतिक महत्ता थी कि वहाँ अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए शिशुनाग ने स्वयं अपने पुत्र को भेजना आवश्यक समझा। जातकों की एक कथा में (जा० ६।१६५–६६, गा० ७५२–५९) बनारस पर एक नाग राजा के धावे का उल्लेख

[1] भांडारकर, कार्माइकेल लेक्चर्स, पृ ८०–८१

है और इस प्रकार, जैसा श्री मेहता का अनुमान है[1], जातको में वह अनुश्रुति सुरक्षित है जिसमें काशी के अवनति के दिनो में उस पर नागो का धावा हुआ। फिर भी यह कहना कठिन है कि जातको में उल्लिखित यह धावा शिशुनाग के धावे की ओर सकेत करता है अथवा नही। जातककी कहानी इस प्रकार है—नागराज धतरट्ठ ने बनारस की राजकुमारी समुद्रजा से विवाह करने के लिए बनारस पर धावा बोल दिया। इन जगली योद्धाओ के आक्रमण से बनारस तहस-नहस हो गया और लोग हाथ उठाकर चिल्लाने लगे कि नागराज के साथ राजकुमारी व्याह दी जाय। प्रजा की पुकार सुनकर काशिराज ने राजकुमारी का व्याह नागराज से कर दिया। इस तरह दोनो में मित्रता स्थापित हो गयी।

जो भी हो पुराणो से पता चलता है कि शिशुनाग मगध के सिवाय काशिकोसल और अवंति के भी राजा बन गये और शायद वत्सो का राज भी इनके अधिकार में आ गया। इस प्रकार शिशुनाग पजाब को छोडकर सारे उत्तर भारत का सम्राट बन गया। शिशुनाग ने १८ वर्ष (करीब ४१०–३९२ ई० पू०) तक राज्य किया। उसके बाद कालाशोक गद्दी पर बैठा। इनके समय शिशुनाग वश की राजधानी गिरिव्रज से हटकर पाटलिपुत्र आ गयी। इसी के समय में वैशाली में बौद्ध धर्म की द्वितीय सगीति (ई० पू० ३८३–८२) हुई और उसी समय थेरावाद से महासाघिक अलग हो गये[2]। कालाशोक के बाद उसके दस पुत्रो ने साथ मिलकर बाईस वर्ष तक मगध साम्राज्य पर राज किया और अत में नदवश ने शिशुनाग वश को उखाड फेंका। नव नदो मे उग्रसेन और उसके आठ पुत्रो ने यथा पडुक, पडुगति, भूतपाल, राष्ट्रपाल, गोविपाणक, दशसिद्धक, कैवर्त और धन ने सब मिलकर बाईस वर्षो तक राज किया। महानद उग्रसेन बडा ही प्रभावशाली राजा था और जान पडता है उसने अपने पराक्रम से उत्तर भारत में एकछत्र राज्य स्थापित किया। ३२६ ई० पू० में जब सिकदर ने भारतवर्ष पर चढाई की तो शायद धन नद मगध की गद्दी पर था। नदो के युग में बनारस की क्या अवस्था थी इसका तो हमें ज्ञान नही है, पर नद वैदिक धर्म के अनुयायी थे और इसलिए हम मान सकते है कि शायद बनारस में भी इस धर्म को और अधिक प्रोत्साहन मिला हो।

सिकदर के भारत से लौट आने के कुछ ही दिनो बाद मगध का राज्य करीब ३२१ ई० पू० में नदो के हाथो से मौर्यो के हाथो में चला गया। चद्रगुप्त मौर्य (करीब ३२१–२९७ई० पू०) ने उत्तर भारत में मौर्य साम्राज्य की स्थापना की और विष्णुगुप्त चाणक्य ने उस दृढ राज्यसत्ता की नीव डाली जिसका वर्णन हम कौटिल्य के अर्थशास्त्र में पाते है। सम्राट अशोक (करीब २७२–२३२ ई० पू०) मौर्य वश के सबसे बडे राजा हुए। उन्होंने स्वय बौद्ध धर्म ग्रहण किया और उनके प्रयत्नो से इस धर्म का भारतवर्ष में ही नही इसके बाहर भी प्रचार हुआ।

[1] मेहता, उल्लिखित, पृ० ६८

[2] भाडारकर, उल्लिखित, पृ० ८२

[3] वही, पृ० ८२–८३

अशोक के समय बनारस की क्या अवस्था थी, इसका पता हमें थोड़ा बहुत सारनाथ से मिले अवशेषों से मिलता है। बनारस से कुछ दूर वेंगेट ने भी कुछ मौर्यकालीन सिक्के, ठीकरे इत्यादि मिले हैं। राजघाट की खुदाई में भी मौर्य स्तर मिला है, पर बनारस में पुरातत्त्व संबंधी खोज इतनी कम हुई है कि मौर्य कालीन बनारस की संस्कृति पर अभी तक बहुत कम प्रकाश पड़ सका है। जातकों में (जा० ४।१५) एक जगह कहा गया है कि अशोक के काल में काशी की राजधानी मोलिनी थी। इसका यह अर्थ हुआ कि बनारस का एक नाम मोलिनी भी था। यह नाम कैसे पड़ा और अशोक कालीन बनारस कहाँ बसा था इन सब बातों का पता पुरातत्त्व की वैज्ञानिक खुदाइयों के बिना नहीं चल सकता, फिर भी अशोक कालीन वाराणसी के बारे में जो कुछ हमारा ज्ञान है वह नीचे दिया जाता है।

मौर्य स्तर की जाँच के लिये श्री कृष्णदेव ने राजघाट में शुंगकालीन पाँचवें स्तर के नीचे दो जगहों में दो गढे खोदे। इनमें से एक गढे में करीब २० से २२ फुट के नीचे सत्रह घड़े मिले जिनमें शायद अन्न रखा जाता था। २४–२५ फुट के नीचे पालिशदार काले अथवा गहरे भूरे रंग के बरतनों के टुकड़े मिले। ऐसे बरतन मौर्य काल की विशेषता है और भीड़ और भीटा के सबसे निचले स्तरों से भी मिले हैं।[1] राजघाट से मिली एक मौर्य मुद्रा पर 'सत्यवसुस्य' लेख है। लगता है ये कोई मौर्यकालीन बनारसी रहे होंगे।[2]

सारनाथ से मौर्यकालीन कई अवशेष मिले हैं, जिनसे पता चलता है कि अशोक के युग में इसिपतन की बहुत उन्नति हुई और वहाँ भिक्षु और भिक्षुणियों के संघ स्थापित हो गये। सारनाथ से मिले अशोक के स्तंभोत्कीर्ण लेख[3] में राजा का शासनपत्र अंकित है। यही शासनपत्र सारनाथ, साँची और इलाहाबाद के स्तंभों पर उत्कीर्ण है। पहले दो स्तंभ तो अपने स्थान पर ही हैं पर इलाहाबाद का स्तंभ कौशांबी से हटाकर इलाहाबाद किले में स्थापित है। इस शासन में अशोक का उद्देश्य संघ में विग्रह रोकना था। शासन पत्र कहता है कि जो कोई संघ में विग्रह उत्पन्न करेगा, चाहे वह भिक्षु हो या भिक्षुणी, उसे श्वेत वस्त्र पहनाकर संघ के बाहर निकाल दिया जायगा। इनमें से दो लेखों से यह पता चलता है कि यह शासन महामात्रों के नाम था, एक लेख से यह पता चलता है कि कौशांबी स्थित महामात्रों के नाम यह शासनपत्र था और इसी आधार पर डा० भांडारकर की राय है कि यह शासन दूसरे जिलों के महामात्रों के नाम था जहाँ कि अशोक के समय में बौद्ध संघ थे।[4] अगर यह बात ठीक है और इसके विपक्ष में कोई कारण नहीं दीखता, तो प्रश्न यह उठता है कि शासन पाटलिपुत्र के

---

[1] एनुएल बिब्लिओग्राफी आफ इंडियन हिस्ट्री एण्ड इंडोलाजी, ३, १९४०, (पृ ४१९–४१)

[2] वासुदेवशरण, ए स्टडी ऑफ राजघाट सील्स, टाइपकापी

[3] हुल्ट्श, इंसक्रिप्शंस ऑफ अशोक, ११६ इत्यादि

[4] भांडारकर, अशोक, पृ० ९१, कलकत्ता १९२५

महामात्रो के नाम क्यो सबोधित है, जब उसका तात्पर्य बनारस के भिक्षु सघ से था। इसकी दो व्याख्याएँ हो सकती हैं—(१) वाराणसी पाटलिपुत्र के महामात्रो के अधिकार में थी और इसीलिए सारनाथ का शासन पत्र उन्ही के नाम निकाला गया। (२) उक्त शासन में 'पाट' शब्द, जिसकी यह व्याख्या मानी गयी है कि शासन पाटलिपुत्र से निकाला गया था, वास्तव में किसी दूसरे ही शब्द का द्योतक था, जिसका काशी से सबध था। यहाँ यह विचारणीय है कि एक जातक के अनुसार वाराणसी का नाम भी पोतलि था और यहाँ 'पाट' शब्द से शायद उसी का तात्पर्य रहा हो। जो भी हो, अशोक के काल में बौद्ध सघ में विग्रह का रोकना बहुत ही आवश्यक था। इसके लिए जिले में स्थित महामात्रो को ही शासन देने से काम नही चलने का था। इसीलिए उसी शासनपत्र में राजा आज्ञा देते हैं—ऐसा ही एक शासन ससरण में लगा दिया गया है, जिससे वह आपको सुविधा से मिल सके और एक दूसरी प्रति उपासको के लिये लगा दी गयी है। उपासको को उपोसथ के दिन आकर इस शासन से अपने को परिचित कर लेना चाहिए। हर एक उपोसथ के दिन जिस महामात्र के यहाँ पहुँचने की वारी हो, उसे भी इस शासन को समझ लेना और उससे परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए। साथ ही, जहाँ तक आपका अधिकार है आप इस शासन को लेकर यात्रा पर निकलें। इसी प्रकार विषयो में भी आप आज्ञा देकर मेरे इस शासन के साथ दूसरे राजकर्मचारियो को यात्रा पर भिजवायें।

इस स्तभ लेख से यह बात पक्की हो जाती है कि अशोक बौद्ध सघ में विग्रह रोकने को पूरी तरह से सन्नद्ध था। इस विग्रह को रोकने के लिए उसने तीन उपायो को अपनाया—(१) विग्रह करने वालो को सफेद वस्त्र पहनाकर उन्हें भिक्षुओ के रहने के स्थान से निकाल देना। इस प्रकार भिक्षु अपने साथियो को भडका नही सकते थे। (२) इतना ही नही कही वे उपासको को भी न भडकाएँ और उनकी मदद से सघ में भेद पैदा न हो, इसलिए अशोक ने अपने महामात्रो को आज्ञा दी कि उसके इस शासन की एक प्रतिलिपि एक ऐसी जगह लटका दी जावे जहाँ उपासक आसानी से देख सकें। इस बात का प्रमाण नही है कि शासन की प्रतियाँ कहाँ लटकाई जाती थी पर डा० भाडारकर का अनुमान है कि शायद ये निगम सभा में लटकायी जाती रही हो।[१]

सारनाथ-कौशावी-साँची के स्तभ लेखो से ज्ञात होता है कि अशोक-काल में बौद्ध सघ में विग्रह की आग भडक रही थी और राजा ने उसे रोकना अपना कर्त्तव्य समझा। अशोक से पूर्व बौद्ध सघ दो भागो में, यथा महासाघिक और थेरवाद में बँट चुका था। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार अशोक के राज्याभिषेक के अट्ठारह वर्ष बाद बौद्धो की एक सगीति हुई और इसके बाद थेरवाद दो भागो में और महासाघिक चार भागो में बँट गये। अगर यह तथ्य है तो फिर बौद्ध सघ में विग्रह रोकने से अशोक का क्या तात्पर्य था? इस प्रश्न का पूर्ण विवेचन करके डा० भाडारकर का निष्कर्ष है कि अशोक के युग तक बौद्ध-सघ अविच्छिन्न था और इस सबध की बौद्ध अनुश्रुतियो में अधिक तथ्य नही है।

---

[१] भाडारकर, अशोक पृ० ९३

इसी प्रकार वैशाली की दूसरी संगीति वास्तव में अशोक के समय में हुई, जब बौद्ध संघ शायद दो भागों में, यथा थेरवाद और महासांघिकों में, बँट गया।[1]

अशोक ने सारनाथ में धर्मराजिक स्तूप भी बनवाया। अभाग्यवश १७९४ में बनारस के एक जमींदार बाबू जगत सिंह के आदमियों ने काशी का प्रसिद्ध मुहल्ला जगतगंज बनाने में ईंटों के लिए इस स्तूप को खोदकर बिल्कुल ध्वस्त कर दिया। मि० डंकन के अनुसार[2] इस स्तूप में १८ हाथ की गहराई पर एक प्रस्तर पात्र के भीतर संगमरमर की मंजूषा में कुछ हड्डियाँ एवं सुवर्णपत्र, मोती के दाने और रत्न मिले पर किसी अर्थ के न होने से उन्हें गंगा में प्रवाहित कर दिया गया। १९०५ में पुरातत्त्व विभाग के द्वारा यहाँ की खुदाई से यह पता चला कि अशोक द्वारा बनवाये धर्मराजिक स्तूप का व्यास ४४ फुट, ३ इंच था। इसमें लगे हुए कौलाकार ईंटों की नाप १९॥ इं० × १४॥ इं० × २॥ इं० और १६॥ इं० × १२॥ इं० × ३॥ इं० थी।[3] कुषाण युग में इस स्तूप पर १७ इं० × १०॥ इं० × २$\frac{3}{4}$ इं० नाप की ईंटों का एक आवरण चढ़ा। पाँचवीं या छठी सदी में एक दूसरा आवरण चढ़ाकर स्तूप के चारों ओर करीब १६ फुट चौड़ा प्रदक्षिणापथ बना दिया गया, इसके चारों ओर एक मजबूत दीवार खींच दी गयी और उसमें चार दरवाजे लगा दिये गये। सातवीं सदी में प्रदक्षिणापथ भर दिया गया और स्तूप तक पहुँचने के लिये सीढ़ियाँ लगा दी गयीं। नवीं और दसवीं शताब्दियों में भी कुछ हेर फेर हुए। बारहवीं शताब्दी में पुनः स्तूप पर आवरण चढ़ा और यही आवरण इस स्तूप का अंतिम आवरण था क्योंकि इसके बाद ही मुसलमानों ने सारनाथ नष्ट कर दिया।

शुंग युग

हमें पुराणों से पता चलता है कि अंतिम मौर्य शासक के सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने अपने राजा को मारकर ई० पू० १८४ के करीब मगध पर अपना शासन कायम किया और १४८ ई० पू० तक उन्होंने मगध पर राज्य किया। इनके राज्य में विदिशा और विदर्भ में युद्ध हुआ जिसमें शुंगों की विजय हुई, लेकिन पुष्यमित्र शुंग के राज्यकाल की सबसे मुख्य घटना बाल्हीक के यवनराज डिमिट्रियस की भारत पर चढ़ाई थी। बल्ख से हिन्दूकुश पार करके उसने पहले गंधार पर और इसके बाद तक्षशिला पर अधिकार किया। उसने सिंधु से हिंदूकुश के विजित प्रदेश का डिमिट्रियस द्वितीय को उपराजा बनाया गया और कापिशी इस प्रदेश की राजधानी बनी। तक्षशिला से अपोलोडोरस सिंध की ओर बढ़ा और मिलिंद दक्खिन पूर्व की ओर। मिलिंद ने सबसे पहले साकल (आधुनिक सियालकोट) पर अधिकार किया और फिर मुख्य यवन सेना आगे बढ़कर मथुरा और साकेत को जीतती हुई पाटलिपुत्र तक पहुँच गयी और उसे १७५ ई० पू० के करीब जीत लिया। टार्न के अनुसार पाटलिपुत्र जीतने का श्रेय

---

[1] वही, पृ० ९६–९७।

[2] एशियाटिक रिसर्चेस्, ५, पृ० १३१–१३२

[3] ए० एस० आर० एन० रि० १९०४–०५, पृ० ६५

मिलिंद को था।[१] अपोलोडोरस सिंध से भरुकच्छ तक पहुँच गया और उसे लेकर उसने भरुकच्छ-उज्जैन सडक से आगे बढकर मध्यमिका को जा घेरा। टार्न के अनुसार १६७ ई० पू० में युक्रेटाइड की बगावत के कारण डिमिट्रियस को भारत छोड देना पडा। एक नये मत के अनुसार ये घटनाएँ उत्तर मौर्य युग में ही हो चुकी थी और तब आक्रमण-कारी कौन था, इसका पक्का निश्चय नही हो सका है।

युगपुराण में भी पाटलिपुत्र पर यवनो की इस चढाई का हाल मिलता है। इस पुराण के अनुसार यवन साकेत, पचाल, और मथुरा को जीतते हुए पाटलिपुत्र पहुँच गये लेकिन वे मध्यदेश में इसलिए बहुत दिन नही टिक सके क्योकि उनके देश में आपसी लडाई छिड गयी थी। पर डा० अवधकिशोर नारायण युगपुराण के श्लोको की कुछ और ही व्याख्या करते है। उनके अनुसार पचाल और मथुरा की शक्तियो के साथ सुविक्रान्त यवनो ने साकेत पर धावा बोल दिया और वहाँ से पाटलिपुत्र दखल करने के लिए आगे बढ गये। जब ये शक्तियाँ पाटलिपुत्र की मिट्टी की शहर पनाह पर जा पहुँची तो वहाँ के नागरिक आकुल हो उठे। पचाल और दूसरे राजाओ ने शहर पर धावा बोल कर उसे नष्ट कर दिया। पर विजेताओ की आपस में लडाई हो गयी जिसके फलस्वरूप यवन मध्य देश में टिक न सके। उनके अनुसार वह घटना ई० पू० १५० के आस-पास घटी होगी। (ए० के नारायण, दि इडोग्रीक्स, पृ० ८२–८३, लडन १९५७)। डा० नारायण की राय है कि पाटलिपुत्र की ओर इस अभियान में इडोग्रीक केवल मायुरो और पाचालो के मददगार थे (वही, पृ० ८८)

यवनो की इस चढ़ाई की ओर सकेत पतजलि के दो उदाहरणो से मिलता है यवनो ने साकेत को घेरा (अरुणद् यवन साकेत), यवनो ने मध्यमिका को घेरा (अरुणद् यवनो मध्यमिका)। इस चढाई का सकेत हमें मालविकाग्निमित्र नाटक (अक ५) में भी मिलता है, जिसमें कहा गया है कि सिंधु नदी के किनारे पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र ने यवनो की सेना को पराजय दी।[२]

पाटलिपुत्र पर यवनो की चढाई का यहाँ कुछ विस्तृत वर्णन देने का यह कारण है कि इस चढाई का एक प्रमाण हमें बनारस के पुरातात्त्विक अवशेषो से भी मिलता है। १९३९ में आधुनिक राजघाट पर रेलवे स्टेशन का विस्तार करने के लिए मिट्टी के लिए खुदाई की गयी और उस खुदाई से बहुत सी प्राचीन वस्तुएँ जिनमें मिट्टी की मुद्राएँ भी थी मिलीं, जो अब मुख्यत भारत कला-भवन, और इलाहाबाद म्युनिसिपल म्यूजियम में सुरक्षित है। इन मुद्राओ में एक प्रकार पर यूनानी देवी देवताओ की आकृतियाँ तथा किसी यूनानी राजाओ के सिर अकित है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि आज तक उत्तरप्रदेश अथवा विहार में कहीं से भी इस प्रकार की मुद्राएँ प्राप्त नही हुई है। राजघाट से मिली वस्तुओ से आकर्षित होकर भारतीय पुरातत्त्व विभाग ने श्रीकृष्ण देव की देख-रेख में वहाँ खुदाई करवाई। श्री कृष्णदेव को वहाँ के चौथे स्तर से जिसे वे दूसरी-तीसरी शताब्दी ईसवी का

---

[१] टार्न, दि ग्रीक्स इन इडिया ऐंड बेक्ट्रिया पृ० १४६ कैंब्रिज, १९३८

[२] कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० १, पृ० ५४४

मानते हैं, नीके, अपोलो, पल्लास, हेराक्लीज इत्यादि की आकृतियों सहित मुद्राएँ मिलीं।[1] श्री कृष्णदेव ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि ये मुद्राएँ दूसरी-तीसरी शताब्दियों के स्तरों से मिली हैं अथवा सतह से, अगर वे सतह से मिली हैं जैसा कि मेरा अनुमान है तब तो निश्चय ही ये मुद्राएँ किसी पहले स्तर की हैं जो सतह के किरे, नीचे से मिट्टी पाटने पर ऊपर आ गयी हैं। श्री कृष्णदेव इन मुद्राओं का अध्ययन करके इस नतीजे पर पहुँचे कि शायद ये मुद्राएँ बनारस और पश्चिम के व्यापारिक संबंध की द्योतक हैं[2] लेकिन इस राय को मानने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। सबसे पहली कठिनाई तो यह है कि क्या यूनानी और रोम की व्यापारिक वस्तुएँ मध्यदेश में वहाँ के व्यापारियों द्वारा सीधी पहुँचायी जाती थीं? जहाँ तक हमें भारत के साथ यूनान और रोम के व्यापार के संबंध में ज्ञात है उससे तो यही पता चलता है कि समुद्र-मार्ग से जो व्यापार होता था वह अरब सागर और बंगाल की खाड़ी के बंदरों तक ही सीमित था। वहाँ भारतीय व्यापारी विदेशी वस्तुएँ खरीद कर भारत के कोने कोने में पहुँचाते थे। भारत के भीतरी मार्गों में प्रवेश होने के कारण ही रोमन व्यापारियों द्वारा प्राप्त भीतरी भारत का भौगोलिक वर्णन अधूरा है क्योंकि यह वर्णन दूसरों से सुनकर लिखा गया था। इसका भी कोई प्रमाण नहीं है कि रोम के व्यापारी स्थल मार्ग से किसी काल में भी मध्यदेश तक पहुँचते थे। अगर यह मान भी लिया जाय कि पश्चिम और मध्यदेश के बीच व्यापारिक संबंध था तब यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यह व्यापार केवल बनारस ही तक सीमित नहीं हो सकता, इसके प्रमाण तत्कालीन मध्यदेश के बड़े व्यापारिक नगरों जैसे कौशांबी, सहजाति (आधुनिक भीटा), श्रावस्ती (आधुनिक सहेठ महेठ) से अवश्य मिलने चाहिए। कौशांबी से मिली वस्तुओं से इलाहाबाद म्यूजियम भरा पड़ा है पर उसमें एक भी राजघाट जैसी यूनानी मुद्रा नहीं मिली है। भीटा की काफी खुदाई हुई है पर वहाँ से ऐसी मुद्राओं का पता नहीं चला है। श्रावस्ती से भी बहुत-सा सामान मिला है जिसमें प्राप्त मुद्राएँ लखनऊ म्यूजियम में हैं पर उनमें भी यूनानी मुद्राएँ नहीं हैं। अब प्रश्न उठता है कि अगर इन मुद्राओं का संबंध पश्चिम और बनारस के व्यापार से नहीं है तो ये यहाँ कैसे आयीं, क्या इनका संबंध किसी ऐतिहासिक घटना से है? मैं विचार कर इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि इन मुद्राओं का संबंध डिमिट्रियस अथवा मिलिंद की पाटलिपुत्र की चढ़ाई से है। प्राचीन महाजनपथ, जिससे डिमिट्रियस की सेना मध्यदेश आयी, बनारस से होकर गाजीपुर से गंगा पार करके पाटलिपुत्र या पटना की ओर जाता था। लगता है बनारस में डिमिट्रियस अथवा मिलिंद की सेना ने पड़ाव डाला था; और उसी पड़ाव के प्रसंग में कुछ यूनानी मुद्राएँ यहाँ बच गयी हैं। मेरे इस विचार से प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डा० वासुदेवशरण भी सहमत हैं। अपने एक लेख में (ए स्टडी आफ राजघाट सील्स) वे राजघाट से मिली यूनानी मुद्राओं की वैज्ञानिक ढंग से जाँच पड़ताल करके इस तथ्य पर पहुँचे हैं कि वास्तव में ये मुद्राएँ यूनानी विजेताओं की हैं मुद्राओं पर निम्नलिखित यूनानी देवी देवताओं की मूर्तियाँ आती हैं —

---

[1] एनुएल बिब्लिओग्राफी ऑफ इंडियन हिस्ट्री, ३ (१९४०) पृ० ४९-५१

[2] कृष्णदेव, ग्रीक डिवाइसेस आन राजघाट सील्स, जर्नल आफ दि न्युमिसमेटिक्स सोसाइटी आफ इंडिया, ३ (दिसम्बर, १९४१), पृ० ७७

१—नीके—मुद्राओ के भीतर वदामे के अन्दर सपक्ष नीके दाहिनी ओर खडी है। उसके वाहर की ओर निकले हुए वाएँ हाथ में एक माला है और उसके वाएँ कधे पर ताड का झाड। आकृति बहुत सुन्दर है और एक ही साँचे से निकली मालूम पडती हैं। इन सव मुद्राओ के पीठ पर रस्सी का निशान है जिससे पता चलता है कि वे पत्रो या किसी व्यापारी सामान के साथ लगायी गयी थी।

२—अथेना—वदामे के अदर अथेना दाहिने हाथ में ढाल और वाएँ हाथ में भाला लिये खडी है। अथेना का ऐसा चित्र डिमिट्रियस द्वितीय के सिक्को पर मिलता है (केम्ब्रिज हिस्ट्री, १,४६४, प्लेट ३,५)।

३—(अ) हेराकल्स—नाटे वदामे में हेराकल्स की नगी मूर्ति वाएँ रुख खडी है, उसकी वायी कुहनी एक गदा पर है और उसका दाहिना हाथ कमर पर है। हेराकल्स का ऐसा चित्र डिमिट्रियस के सिक्को पर भी मिलता है (केम्ब्रिज हिस्ट्री, १,५८९, प्ले३,३)।

३—(ब) मुकुट पहने हेराकल्स वाएँ रुख खडे, एक सिंह पर वैठा है। मुकुट के वद पीछे की ओर फडफडा रहे हैं। यह लक्षण युथेडेमोस प्रथम (वी० एम० सी० पृ० १०, प्लेट १) तथा अगाथोक्लिया और स्ट्राटो (वी० एम० सी०, पृ० ५२ प्ले ५,१) के सिक्को पर आते हैं। लेकिन इन सिक्को पर हेराकल्स एक चट्टान पर वैठा दिखलाया गया है और राजघाट की मुद्राओ में हेराकल्स वाएँ रुख खडे सिंह पर वैठा दिखलाया गया है। पीछे भी एक छाप है पर वह साफ नही है।

४—अपोलो—अपोलो दाहिने रुख खडा है। उसके वाएँ हाथ में धनुष है और दाहिने हाथ में एक सदिग्ध वस्तु। कुछ मुद्राओ में इसका दाहिना हाथ मुँह छूता हुआ दिखलाया गया है। एक मुद्रा में उसके उठे हुए हाथ में तीर है। यह 'प्रकार'(डिवाइस) युक्रातीद के सिक्को पर आता है, लेकिन इन सिक्को में अपोलो वाएँ रुख खडा दिखलाया गया है। युक्रातीद उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रात और वाह्लीक में १०५ ईस्वी पूर्व के लगभग राज करता था।

५—मुद्राओ पर राजाओ के सिर—इन शवीहो की अभी तक ठीक तरह से पहचान नहीं हो सकी है लेकिन शायद ये यूथिडेमोस और डिमिट्रियस की शवीहें हो।

६—लखनऊ म्यूजियम की एक मुद्रा में वायी ओर एक हाथी है और नीचे की ओर दो कूवडो वाला एक बलखी ऊँट है। नीचे ब्राह्मी का लेख है जो साफ नही पढा जाता। कला भवन की दो मुद्राओ में दो कूवडो वाला एक वलखी ऊँट दाहिने रुख खडा है और उसी ओर एक जगली सूअर भागता दिखलाया गया है। ब्राह्मी में गयत्मरकस्य लेख है। ऐसा मालूम पडता है कि यह किसी यूनानी नाम का सस्कृत रूप है।

इन मुद्राओ को जाँचने के वाद डा० वासुदेवशरण निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

"राजघाट से इन मुद्राओ जिन पर अथेना, अपोलो, नीके और हेराकल्स की आकृतियाँ वनी है, के मिलने से एक वडी ऐतिहासिक समस्या हमारे सामने खडी हो जाती है। प्रश्न यह उठता है कि ये यूनानी मुद्राएँ वनारस तक कैसे पहुँची? उत्तर भारत में किसी भी

प्राचीन स्थान से अभी ऐसी मुद्राएँ नहीं मिली हैं। यह भी निश्चित् है कि सिक्कों की तरह मुद्राएँ बिना किसी खास कारण के अपने उद्गम स्थान से बहुत दूर नहीं जाती थीं। मुद्राएँ कागज पत्र पर लगाकर उनके सही होने के प्रमाण स्वरूप बाहर भेजी जाती हैं। सर आरेल स्टाइन को मध्य एशिया के नीया नामक स्थान में बहुत-से ऐसे लकड़ी के पट्ट मिले हैं जिनमें मिट्टी की मुद्राएँ उनके बदो पर लगी हुई थीं (जे० आर० ए० एस०, १९०१,५७१)। प्राय मिलने वाली एक भाँति की मुद्रा पर, जो किसी उच्च कर्मचारी की मालूम पड़ती है, ढाल और एजिस के साथ पल्लास और एथेनी के चित्र मिलते हैं, एक दूसरी बड़ी मुद्रा पर यूनानी कारीगरी की श्रेष्ठतम शैली में एरोस का चित्र है। दूसरी मुद्राओं पर राजाओं के सिर इत्यादि बने हैं। यहाँ हम उस ऐतिहासिक घटना की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं जिसका उल्लेख स्त्राबो (११/५१६) ने अपोलोडोरस के आधार पर किया है। इस उल्लेख में यह बताया गया है कि किस प्रकार बाह्लीक की साधारण सीमा डिमिट्रियस और मेनेंडर के विजय पराक्रम के फलस्वरूप आगे बढ़ी। कैंब्रिज हिस्ट्री (पृ० ४४५) के अनुसार इस विजय में जो चीनी तुर्किस्तान की तरफ बढ़ाव का उल्लेख आया है उसे हम डिमिट्रियस अथवा उसके पिता युथिडेमास की उपलब्धि मान सकते हैं। सर आरेल स्टाइन के अनुसार नीया से मिली मुद्राओं का समय दूसरी-तीसरी शताब्दी है (एशेन्ट खोतान, पृ० ३५७) और शायद उनमें से अधिकतर रोमन साम्राज्य से आयीं। लेकिन ऐसा भी हो सकता है कि इनमें से कुछ मुद्राएँ काफी प्राचीन हो और उनकी छापें प्रथम शताब्दी तक बच गयी हों। राजघाट से मिली मुद्राएँ नीया की मुद्राओं से मिलती जुलती हैं और नीया की तरह इनका व्यवहार भी कागजातों के साथ लगाने के लिये होता था।

"इन मुद्राओं के संबध में महत्त्वपूर्ण प्रश्न है—उनका समय और देश के इतने भीतरी भाग में उनके मिलने का कारण। मेरे मित्र डा० मोतीचन्द्र ने इस संबध में एक सुझाव रखा है जो मेरे विचार में राजघाट से मिली मुद्राओं के बारे में ठीक जान पड़ता है। उनके मत में डिमिट्रियस की पाटलिपुत्र पर चढ़ाई के बीच उनकी सेना ने बनारस में डेरा डालकर पाटलिपुत्र के लिये यहाँ पर गगा पार की। ये मुद्राएँ उसी पड़ाव की याद दिलाती हैं। यूनानियों के इस जल्दी में किये गये आक्रमण के अनेक साहित्यिक प्रमाण मिलते हैं। खारवेल के हाथी-गुफा वाले लेख में यवनराज दिमित का मथुरा से हटने की ओर सकेत है (मधुर अपयातो यवनराज दिमित)। अपने राज्यकाल के आठवें वर्ष में खारवेल ने राजगृह और गोरथगिरि पर आक्रमण किया। इस आक्रमण के धक्के से घबराकर दिमित ने पूर्व में पाटलिपुत्र तक बढ़ी अपनी सेना को पश्चिम में हटा लिया।"

इसके बाद डा० अग्रवाल युग-पुराण, महाभाष्य और मालविकाग्निमित्र के प्रमाणों का इस संबध में उल्लेख करते हैं और अत में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राजघाट से मिली मुद्राएँ डिमिट्रियस द्वारा पाटलिपुत्र पर चढाई की सर्वप्रथम ज्ञात पुरातात्त्विक प्रमाण हैं और साथ ही साथ वे पाटलिपुत्र की ओर जाती अथवा वहाँ से लौटती हुई यूनानी सेना के रास्ते में एक निश्चय पड़ाव की ओर सकेत करती हैं। राजघाट की खुदाई होने पर इस संबध की और अधिक सामग्री मिलने की आशा है।

ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में पुष्यमित्र के बाद बनारस का सबध शुग साम्राज्य से क्या था इसका तब तक ठीक ठीक पता नही चल सकता जब तक राजघाट की खुदाई अच्छी तरह से न हो जाय। पर ऐसा जान पडता है, काशी से शुगो का घनिष्ठ सबध था। भागभद्र (करीब ९० ईसा पूर्व) अतिम शुग राजा के ठीक पहले हुए और उनके पास तक्षशिला के यवन राजा अतकिलदास ने अपने एक दूत हेलियदोरस को भेजा। जान पडता है भागभद्र का काशी से सबध था क्योकि इनकी माता काशी की राजकुमारी थीं (कैंब्रिज हिस्ट्री, पृ० ५२२)। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या काशी में उस समय कोई राज्य था? जब तक राजघाट की खुदाई पूरी न हो जाय, इसका ठीक पता चलना कठिन है।

पभोसा के एक लेख से पता चलता है कि ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में पचाल (अहिछत्र) और वत्स (कौशाबी) पर एक ही वश की दो शाखाओ का अधिकार था, और ये दोनो राज्य शुगो का अधिकार मानते थे। हो सकता है कि बनारस उस समय कौशाबी के अधिकार में हो। करीब ७२ ईसा पूर्व में देवभूति शुग वश के अतिम राजा हुए। इसके बाद शायद कौशाबी पर शुगो का कुछ दिन तक और अधिकार रहा पर उनके बारे में कुछ ठीक पता नही चलता।

इस युग में या उससे पहले काशी की क्या दशा थी यह कहा नही जा सकता, लेकिन राजघाट से मिली थोडी बहुत सामग्री से इतना तो पता चलता है कि शायद इस युग में काशी पर कौशाबी के राजवश का अधिकार था। इस सबध में हम राजघाट से मिली दो मुद्राओ का वर्णन करना चाहते है। पहली मुद्रा जेठदत्त की है और डा० अग्रवाल लिपि के आधार पर उसका समय ईसा पूर्व पहली-दूसरी सदी मानते है। मुद्रा पर नदिपद, स्वस्तिक और वैजयती के लक्षण है। सभवत ये वही जेठदत्त है जिनका एक सिक्का कार्लाइल को बनारस के पास वैराँट से मिला था और जिस पर ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी की ब्राह्मी में लेख है।[1] ऐसा जान पडता है कि ये कौशाबी के स्थानीय राजा थे और बनारस इनके अधिकार में था। फाल्गुनीमित्र की मुद्रा पर प्राय ईसा पूर्व पहली शताब्दी की ब्राह्मी में लेख है और उसकी बायी ओर वृषभ और सामने पताका है। या तो ये बनारस के राजा थे अथवा कौशाबी के, जिसके अतर्गत बनारस था। वैराँट से प्राय इसी समय की लिपि वाले गोमित्र के दो सिक्के मिले है, जो भारत कला भवन में है। इन गोमित्र का काशी में इतिहास से क्या सबध था यह तो ठीक ठीक नही कहा जा सकता, पर शायद ये कौशाबी के मित्र वश के राजा थे, सभवत जिनका अधिकार काशी पर काफी दिनो तक बना रहा।

राजघाट की खुदाई से भी शुग कालीन काशी के इतिहास पर कुछ प्रकाश पडता है। पाँचवें स्तर में १८ फुट से २१ फुट नीचे तक श्री कृष्णदेव को दो चको में विभाजित चार मकानो के अवशेष मिले। लेकिन, कमजोर दीवारो और बहुत ही साधारण बनावट के आधार पर ये साधारण लोगो के मकान मालूम पडते है। यहाँ से मिली बहुत-सी वस्तुओ पर फगुनदिस लेख अकित हाथी दाँत की एक मुद्रा और बलमितस नाम की

[1] एलन, कायन्स ऑफ एशेन्ट इडिया, प्लेट ४५, १०।

एक मिट्टी की मुद्रा मिली है। फल्गुनदि और बलमित्र कौन थे इसका तो पता नहीं, पर शायद फल्गुनीमित्र और फलुगनदि मे कोई सबंध हो सकता है। बलमित्र भी शायद काशी के कोई शुग कालीन राजा रहे हो क्योंकि इन दोनो मुद्राओं पर के लेखो पर की लिपि शुग कालीन है और इनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजघाट की खुदाई का पाँचवाँ स्तर शुग कालीन है। इस स्तर से आहत सिक्को के मिलने से भी इस बात की पुष्टि होती है।[1]

कला भवन में कुछ शुग कालीन व्यक्तियों की मुद्राएँ हैं, जिनसे बनारस के कुछ नागरिको के यथा हथिसेन, गोपसेन, खुदपठ के नाम प्रकट होते है।

बौद्ध साहित्य में पुष्यमित्र को बौद्धो का घोर विरोधी कहा गया है और यह भी कहा गया है कि उसने अपनी पूरी शक्ति बौद्धधर्म को उखाड़ फेंकने में लगा दी। पाटलिपुत्र के दक्षिण-पूर्व में स्थित अशोकीय कुक्कुटाराम विहार को उखाड़ फेंकने तथा साकल जाकर बौद्ध सघ को नष्ट करने का प्रयत्न किया। पुष्यमित्र द्वारा प्रत्येक बौद्ध भिक्षु के सिर के लिए एक सौ दीनार इनाम देने की घोषणा करने का उल्लेख है। बौद्ध अनुश्रुतियों के अनुसार इसका अत भी अमानुषिक शक्तियों द्वारा हुआ (दिव्यावदान, पृ० ४३३-४३४)।

इन सब कथाओं से हम कुछ-कुछ ऐतिहासिक तथ्यो का अनुमान लगा सकते है। पुष्यमित्र अशोक कालीन बौद्ध धर्म की विजय के विरुद्ध ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया के प्रतीक थे। पुष्यमित्र ने वैदिक यज्ञ-परिपाटी को पुन जगाया और अपनी विजय के उपलक्ष्य में अश्वमेघ यज्ञ किया। इस बात का कोई ऐतिहासिक प्रमाण तो नहीं है, पर शायद वाराणसी में भी इस ब्राह्मण धर्म के नव-जागरण का असर पडा हो। जो भी हो, सारनाथ मे मिले अवशेषो मे तो यह पता चलता है कि शुग काल में भी वहाँ कुछ विशेष हस्तक्षेप नही किया गया।

२ व्यापार

काशी अथवा बनारस के व्यापार के बारे में मौर्य और शुग युग के साहित्य में विशेष मसाला नही मिलता। पर इतना तो निश्चित है कि इस युग में वाराणसी बौद्धो का प्रसिद्ध धार्मिक क्षेत्र बन चुकी थी और जैसा कि वेदिका स्तभो के लेखो से पता लगता है बौद्ध यात्री उज्जैन से बराबर यहाँ आया करते थे। इसमें भी सदेह नहीं कि महाजनपद युग की भाँति इस युग में भी वाराणसी प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र थी। पाणिनि के एक सूत्र (४।३।७२) पर भाष्य करते हुए (कीलहार्न, २,३१३) पतजलि कहते हैं—न वै तत्रेति चेद्ब्रूयाज्जित्वरीवदुपाचरेत् तद्यथा वणिजो वाराणसीं जित्वरीत्युपाचरन्ति, अर्थात् व्यापारी लोग वाराणसी को 'जित्वरी' के नाम से पुकारते थे। जित्वरी का अर्थ है जयनशीला अर्थात् यहाँ पहुँचकर व्यापारियो की सारी मनोकामना पूरी हो जाती थी। पाणिनि के एक दूसरे सूत्र (२।१।१६) पर पतजलि के भाष्य से पता चलता है कि गगा के किनारे किनारे लबे बल में वाराणसी बसी थी। राजघाट पर जो शुग कालीन स्तर मिला है वह भी गगा के किनारे किनारे लबे बल में है। इस भौगोलिक स्थिति के फलस्वरूप गगा के द्वारा बनारस में काफी व्यापार होता रहा होगा।

---

[1] एनुअल् बिब्लियोग्राफी ऑफ इडियन हिस्ट्री, ३ (१९४०), ४९-५१।
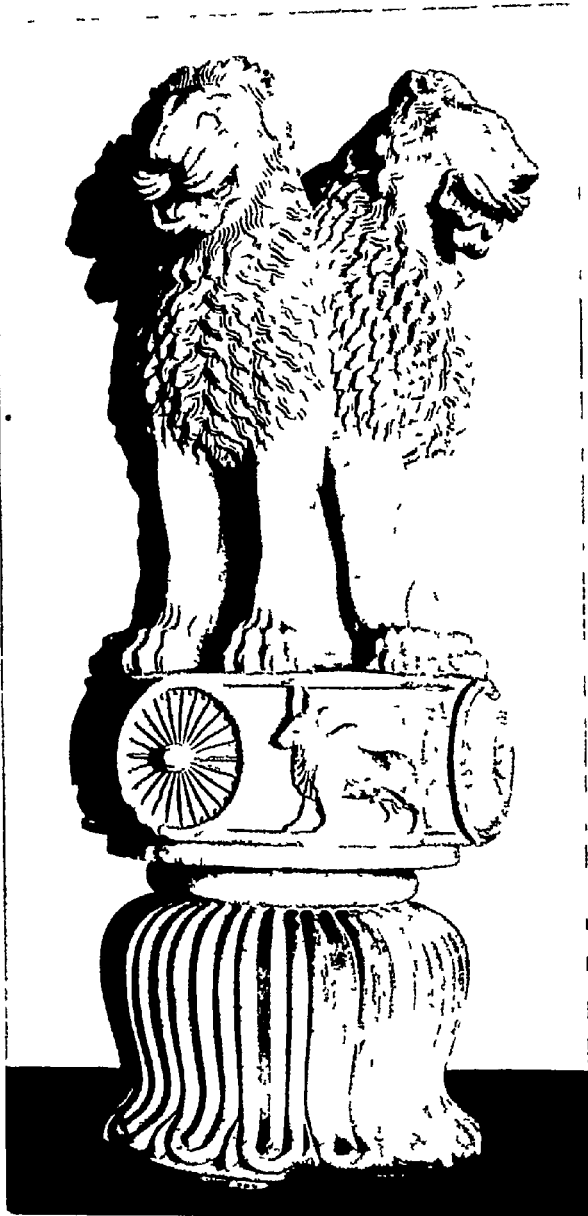
चित्र न १ अशोक स्तभ का सिह शीर्ष
ईसा पूर्व तीसरी सदी (सारनाथ म्यूजियम)
पृष्ठ ६२-६३

चित्र नं २ श्री लक्ष्मी
मौर्य युग, ईस्वी पूर्व तीसरी सदी (भारत कला भवन, काशी)
पृष्ठ ६८

चित्र नं ३ शीर्ष
मौर्य युग, सारनाथ (नेशनल म्यूजियम, दिल्ली)
पृष्ठ ६३

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से पता चलता है कि काशी और पुड्र मौर्य युग में क्षौमवस्त्र के लिये विख्यात थे।[१] जातको में काशिक वस्त्र की बहुत चर्चा आयी है जिससे अनुवादको ने सर्वदा रेशमी वस्त्र का तात्पर्य समझा है। अर्थशास्त्र से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि काशिक का तात्पर्य काशी में बने सूती और क्षौम वस्त्रो से है। पतजलि ने भी महाभाष्य में काशिक वस्त्र की चर्चा की है। पाणिनि के एक सूत्र (५।३।५५) पर भाष्य करते हुए (कीलहार्न २।४१३) पतजलि कहते है—**एव हि दृश्यते इह समाने आयामे विस्तारे पटस्यान्योऽर्घोभवति काशिकस्यान्यो माथुरस्य,** अर्थात् ऐसा देखा जाता है कि लबाई और चौडाई में बराबर होने पर भी काशिक वस्त्र का मूल्य कुछ और होता है और मथुरा के बने हुए वस्त्र का कुछ और। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि शुग युग में वस्त्रो के मूल्य उनकी लबाई-चौडाई पर नही वरन् उनकी कारीगरी पर निर्भर होते थे। इसमें सदेह नही कि काशिक वस्त्र के दाम मथुरा के वस्त्रो के दाम से, नाप में एक होते हुए भी, अधिक रहे होगे।

३ कला

काशी की सभ्यता का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है और जैसा हम देख चुके है महाजनपद युग में यह सभ्यता काफी विकसित हो चुकी थी। पर इस युग की सभ्यता के बाह्य प्रतीक कला का जिसमें मूर्तिकला, तक्षण, वास्तु इत्यादि सम्मिलित है, हमें कुछ भी पता नहीं है। इसका एक कारण तो यह है कि अपने देश की जलवायु के कारण लकडी, कपडे और धातु के सामान तो प्राय सभी नष्ट हो चुके है। पर इस सभ्यता के अवशेष जो अब भी बैराट और राजघाट के नीचे दबे दबाये पडे है उनकी वैज्ञानिक ढग से खोज नही हुई है। आशा है कि इस खोज से काशी के सास्कृतिक और राजनैतिक इतिहास पर काफी प्रकाश पडेगा। ऐसी खोज का महत्त्व काशी के लिए ही महत्त्वपूर्ण नही है, सारी भारतीय सस्कृति के लिए भी है क्योकि काशी उत्तर वैदिक काल से ही कला, शिक्षा और स्वतत्र विचार शैली के लिए सारे भारतवर्ष में प्रसिद्ध रही है और इसका प्रभाव भारतीय इतिहास की अविच्छिन्न धारा पर बराबर पडता रहा है।

काशी के सास्कृतिक इतिहास पर सम्राट अशोक के आते ही परदा उठने लगता है, मौर्य काल से लेकर बारहवी सदी तक हम अविच्छिन्न रूप से काशी की कला की क्रमिक उन्नति और अवनति का अध्ययन कर सकते है। भारतीय कला के आरम्भिक पारखियो का यह विचार था कि भारतीय कला अशोक के समय अपनी चरमावस्था को पहुँच चुकी थी और उसके बाद उसकी क्रमश अवनति होती गयी पर अब इस विचार को विद्वान् नही मानते। हमें तो भारतीय कला में क्रमिक विकास की एक अटूट धारा दीख पडती है। भारतीय कलाकार अपनी कला में सौष्ठव लाने के लिए बराबर प्रयत्नशील थे और कारीगरी के नियमो का पालन करते हुए अपनी कला में सभी युगो में एक नवीनता देने का प्रयत्न करते रहे। भारतीय कला के क्रमिक विकास की कहानी हम सारनाथ से मिली मूर्तियो के द्वारा भली-भाँति जान सकते है। इसका कारण यह है कि जिस दिन से सम्राट अशोक ने सारनाथ को बौद्धो का एक प्रसिद्ध धार्मिक क्षेत्र बनाया

---

[१] अर्थशास्त्र (गणपति शास्त्री), भाग १, पृ० १९१

उसी दिन से ११९४ ईस्वी तक, जब मुसलमानो ने सारनाथ को जमीनदोज़ कर दिया, भारतीय कला के विकास की सब सीढियो का हम वहाँ अध्ययन कर सकते है। खास बनारस शहर में भी कला उन्नतिशील थी। इसके कुछ उदाहरण भारत कला-भवन, बनारस में देखे जा सकते है।

सारनाथ से मिली मौर्यकालीन मूर्तियो में सबसे प्रसिद्ध और कला की दृष्टि से सबसे सुन्दर अशोक स्तभ का शीर्षक है। इसकी ऊँचाई सात फुट है और इसका आकार उत्फुल्ल कमल जैसा है जिसे घटाकृति भी कहा गया है। कमल की पँखडियाँ खरबूजिया है। कमलनाल के स्थान पर गोल कठा है और उसके ऊपर एक गोल पटिया। इसके ऊपर गोल शीर्ष-पट्ट (फलक) है जिसके ऊपर पृष्ठासक्त॰ चार सिंह आकृतियाँ धर्मचक्र को, जो अब टूट गया है, वहन करती थी। इन सिंहो के मुख खुले है और जिह्वाएँ बाहर लपलपा रही है। इनकी सुगठित शिराएँ तथा सुरचित अयाल बहुत ही सुन्दर दिखलाये गये है। शीर्षपट्ट पर एक हाथी, एक वृषभ, एक भागता हुआ घोडा और एक सिंह के अर्धचित्र बने है। इसमें सदेह नही कि कला और कारीगरी की दृष्टि से यह स्तभ-शीर्षक भारतीय कला के क्षेत्र में बेजोड है।

शीर्षपट्ट पर जो पशु मूर्तियाँ बनी है, उनके लाक्षणिक अर्थों के बारे में भिन्न-भिन्न विद्वानो के भिन्न-भिन्न मत है। श्री बेल उन्हें अनोत्तत सरोवर के चारो किनारे पर रहने वाले पशुओ का प्रतीक मानते है। डा॰ ब्लाख के अनुसार ये चारो पशु इद्र, शिव, सूर्य और दुर्गा के प्रतीक है और इनके अशोक-स्तभ पर चित्रण से यह तात्पर्य निकलता है कि ये तीनो देव और एक देवी बुद्ध और उनके धर्म के शरणागत हो गये थे। डा॰ फोगेल इन पशुओ को केवल अलकारिक मानते है। रायबहादुर दयाराम साहनी इस स्तभ शीर्षक में बौद्ध धर्मग्रथो के अनोत्तत सर की छाया देखते है और श्री बी॰ मजूमदार[1] इस शीर्षपट्ट पर आये लक्षणो को कुछ और ही माने लेते है जो मेरी समझ में बहुत-कुछ ठीक मालूम पडता है। तथा-कथित घटाकार शीर्षक उनकी राय में कमल का द्योतक है क्योकि बौद्ध साहित्य में बुद्ध आसनस्थ होकर ध्यान मग्न होते थे, और कमल मायादेवी के गर्भ का भी प्रतीक है। शीर्षपट्ट पर आये चार पशु और उनको अलग करते हुए चौबीस अरो वाले चार चक्रो के भी वे अलग अलग लाक्षणिक अर्थ देते है। चारो पशु शायद बुद्ध के जीवन की मुख्य घटनाओ के लाक्षणिक रूप के प्रतीक है। हाथी उनके गर्भ-प्रवेश का, वृषभ उनकी जन्म-राशि का, दौडता घोडा उनके महाभिनिष्क्रमण का और सिंह उनके शाक्य सिंह होने के प्रतीक है। चौबीस अरो वाले चौबीस बौद्ध प्रत्ययो के प्रतीक है। मूर्ध-स्थित चारो सिंह शायद शाक्य सिंह के महान् विक्रम की चारो दिशाओ में बडाई उद्घोषित करते हुए बौद्ध भिक्षुओ के प्रतीक है। इन लक्षणो का बौद्ध धर्म से सम्बन्ध स्वीकार करते हुए यह कहना ही पडेगा कि ये लक्षण काफी प्राचीन है। जैसा डा॰ कुमार-स्वामी का मत है, इनका ठीक अर्थ समझने के लिए वैदिक साहित्य का आश्रय आवश्यक है। भारतीय कला के पारखी पाश्चात्य आचार्यों को सारनाथ के इस स्तभ-शीर्षक

---

[1] गाइड टु सारनाथ, पृ॰ ४५–४७, दिल्ली, १९४१

में यूनानी कला द्वारा सर्वधित ईरानी कला की स्पष्ट छाया दीख पड़ती है और इसलिये वे सारनाथ के सिंह-शीर्षक को एक विदेशी की कृति मानते हैं। हाँ, इतना तो वे अवश्य कहते हैं कि इसके बनाने में, कुछ छीलछाल करने में शायद भारतीय कारीगरो का भी हाथ रहा हो (कैंब्रिज हिस्ट्री, पृ० ६२१–२२)। इस उपपत्ति में पश्चिमी विद्वानो का इतना दोष नही है जितना उनके उस दृष्टिकोण का जिसके द्वारा वे भारतीय सस्कृति के प्राय हर अग में ईरान और यूनान की छाया देखते है। जैसा डा० कुमारस्वामी ने बतलाया है कि जो जो अलकार अशोक के स्तभो पर आये है वे ईरान के न होकर असीरिया के है फिर यह क्यो न कहा जाय कि मौर्य-युग की कला पर ईरान होकर असीरिया की कला का प्रभाव है। बलख द्वारा प्रचारित जिस यूनानी कला की बात की जाती है कम-से-कम उसका एक भी प्राचीन नमूना अभी तक नही मिला है। फिर हम कैसे समझ लें कि उस कला का, जिसका हमें अभी तक पता भी नही है, मौर्य कला पर प्रभाव था। बात यह है कि पश्चिमी एशिया कुछ तरह के अलकरणो का खजाना थी, जिससे प्राचीन काल में भारतीयो और ईरानियो ने समान रूप से कुछ अलकरण ग्रहण किये। अभाग्यवश भारत की आरम्भिक कला के नमूने लकडी पर बने होने के कारण बिलकुल नष्ट हो गये और ईरान में पत्थर पर बने होने के कारण बच गये, पर केवल इतने से ही यह नही मान लिया जा सकता कि भारत ने सब कुछ ईरान से लिया। लेकिन यह भी न मान लेना चाहिए कि भारतीय कला ने ईरान से कुछ ग्रहण किया ही नही। भारतीय सस्कृति की समन्वय की ओर बहुत प्राचीन काल से प्रवृत्ति रही है। बाहर से अच्छी चीजो को लेना पर उन्हें भारतीयता के रग में रँग देना हमारी सस्कृति की विशेषता रही है और इस प्रवृत्ति के अनुसार उसने ईरान, यूनान, मध्य-एशिया सबसे कुछ-न-कुछ ग्रहण किया पर ढाँचा उन्हें दिया भारतीयता का। अशोक का सारनाथ वाला स्तभ-शीर्षक भी इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। हो सकता है कि इसकी बनावट में ईरानी कारीगरो से मदद ली गयी हो पर इसमें सदेह नही कि इसके निर्माण का कार्य भारतीयो ने किया क्योकि इसकी बनावट से पूर्ण भारतीयता टपकती है जिसे विदेशी कारीगर थोडे दिनो में ही आत्मसात नही कर सकते थे, वह तभी आ सकती है जब कलाकार का भूमि से साक्षात् सबध हो।

सारनाथ से मौर्य युग के अतिम काल के अथवा शुग युग के कुछ सिर भी मिले है जिन पर पालिश है, शायद उन पर कुछ यूनानी प्रभाव भी लक्षित है। इनमें एक सिर के भरे हुए गाल है, छोटी नाक और छोटा मुँह है, नीचे का ओठ मोटा है, आँखें चपटी और खुली हुई है और बडी बडी मूछें दोनो ओर घूमी हुई है। लगता है यह सिर मौर्य-शुग युग के किसी बनारसी सेठ के सिर की प्रतिकृति है। एक दूसरे सिर पर भारी भरकम पगडी है। उसका चेहरा घुटा हुआ है, लबी और सकरपारे के आकार की आँखें है, सीधी नाक है, स्वभाविक-से ओठ है और गोल ठुड्डी है। सारनाथ से इस युग की मूर्तियो में कुछ स्त्रियो के सिर भी मिले है। इन सिरो पर शुगकालीन भारी भरकम शिरोवस्त्र है। सारनाथ से मिली हुई कोर कीहुई स्त्री की एक खडित मूर्ति कला की दृष्टि से बडी ही सुन्दर है। स्त्री बैठी हुई है और उसका दाहिना पैर मुडा हुआ है, उसकी कमर में एक भारी करधनी और उसकी हाथो में एक ककण है। एक दूसरी जगह पत्थर में खचित

स्त्री की एक मूर्ति है। उसका सिर घुटने पर पडे हाथों पर झुका हुआ है और ऐसा मालूम पडता है जैसे वह किसी गहरे शोक में निमग्न हो।

बनारस में मौर्य कालीन कला अवशेषो का वर्णन करते हुए हम राजघाट से मिले कुछ चकियो की ओर ध्यान दिला देना चाहते है जो मौर्य कला के श्रेष्ठ उदाहरण होने के साथ ही साथ बनारस के धार्मिक इतिहास के लिए भी बडी उपयोगी है। ऐसी चकिएँ तक्षशिला, कोसम, सकीसा, महेठ-महेठ, पाटलिपुत्र, वैशाली इत्यादि से भी मिली है। हथियल (तक्षशिला) से मिली चकिया पालिशदार पत्थर की बनी है और इसका ऊपरी भाग सम-केन्द्र वृत्तो में बँटा है, जिसमें मथिया तथा डोरी के अलकार है। चक्र के छिद्र के पास चार नगी देवियाँ है, उनके बीच-बीच में हनीसकल के फूल है।[1] राजघाट के कुछ परेवा पत्थर की टूटी हुई चकियो में से कुछ के ऊपरी भाग के बगल में एक ताल-वृक्ष के पास एक घोडा बना है और उसके बाद एक देवी बनी है जिसके दाहिने हाथमें एक पक्षी है। इसके बाद लबे कान और छोटी दुम वाला एक पशु, एक बगला, फिर देवी, इसके बाद पुन ताल का पेड, एक पक्षी, एक छोटा चक्र, पुन देवी, इसके बाद सपक्ष जन्तु और अन्तमें एक बगला जिसके पैर के पास एक केकडे जैसा कोई जीव है। इस तरह लक्षणो के साथ देवी तीन बार आती है। इस चकिए और तक्षशिला के चकिए में इतना अन्तर है कि राजघाट के चकिए में अलकार ऊपरी भाग में आता है और चकिए के बीच में कोई छेद नही है, पर तक्षशिला के चकिए में ढालुएँ भाग पर अलकार बने है और उसमें बीच में छेद भी है। पर इसमें सदेह नहीं है कि राजघाट वाले चकिए का वही समय है जो तक्षशिला इत्यादि से मिली चकियों का। भारत कला-भवन में एक दूसरा टूटा हुआ छेददार चकिया है। इसमें छेद के पास हाथ फैलाये हुए दो देवियाँ है जिनके बीच में शायद हनीसकल है। चकिए के समतल भाग में डोरीदार अलकारो के बीच बन्दर के शक्ल के दो जीव एक लता पकडे है और उनके बीच में एक मगर है। चकिए के समतल भाग पर घिसा हुआ ब्राह्मी में एक लेख है जो ठीक तरह से पढा नहीं जाता। भारत कला-भवन में कोसम से आयी हुई एक टूटी चकिया में भी ब्राह्मी का एक लेख है जो ठीक तरह से नहीं पढ़ा जा सका है।[2] इस चकिए के छेद के पास अलकार की दो पट्टियाँ है। एक पट्टी में एक उमेठे रस्से वाले अलकार के नीचे मगरो की एक श्रेणी है, और दूसरी पट्टी में ताल-वृक्ष के बीच में देवी है। डा० जितेन्द्रनाथ का मत है कि इन सब चक्रो का किसी धर्म विशेष से सबध है। वे इनकी तुलना सिंधु-सभ्यता की नालो, शाक्तो के यन्त्रों, वैष्णवो के विष्णु-पट्टो और जैनो के आयाग-पट्टो से करते है। पर इन चकियो की समता बाद के शाक्त धर्म के चक्रों और यन्त्रो से कहीं अधिक है। मार्शल के शब्दों में, "इन नालो के इतने छोटे होने से शायद प्रयोजन चढ़ावे के लिए था। इनपर नगी माता की मूर्ति बडी ही खूबसूरती और साव-धानी के साथ खोदी गयी है। बीच के छिद्र के साथ इसका सामीप्य इसका सबध योनि से स्थापित करता है।[3]" जो भी हो इन चकियो से तो यह सिद्ध हो जाता है कि मौर्य-युग

---

[1] ए० एस० आर०, १९२१—२२, पृ० ६६

[2] बेनर्जी, दि डेवेलपमेंट ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, पृ० १८८

[3] मार्शल, मोहेंजोदडो, १, पृ० ६२—६३

और उसके बाद भी उत्तर भारत के और केन्द्रो की भाँति बनारस और कौशाबी में भी माता की पूजा प्रचलित थी। बनारस में तो माता की यह प्राचीन पूजा अब भी चली आती है, यद्यपि कालान्तर में उसमें बहुत परिवर्तन हुए हैं।

जान पडता है कि सातवाहन युग में भी सारनाथ की कला की उन्नति होती रही। इस युग की एक वेदिका के बारह स्तभ स्टेन कोनो और मार्शल को मिले। इस स्तभो पर निम्नलिखित नक्काशियाँ दीख पडती है —(१) सज्जित वेदिका युक्त पीपल का वृक्ष, (२) त्रिरत्न, जो बुद्ध, धर्म और सघ का प्रतीक है, धर्मचक्र के साथ एक स्तभ पर स्थित, (३) स्तूप दोहरी वेदिका, छत्र, बदनवार और मालाओ से सजा हुआ, (४) पर्णशाला के साथ एक चैत्य।[1] इनके अलावा पूर्णघट, पजक, नाग इत्यादि की भी आकृतियाँ आती है। साँची और बोध गया में आये अलकरणो से इनकी तुलना की जा सकती है। सारनाथ और उज्जैन से उस समय सपर्क था जैसा हमें हिंद-पर्सिपोलिस शैली के कुछ स्तभो के शीर्ष-पट्टो के टुकडो के मौर्य कालीन ब्राह्मी के लिखे लेखो से लगता है (मजूमदार, ए गाइड टु सारनाथ, पृ० ५०)। बहुत सभव है कि शुगकालीन सारनाथ की कलापर विदिशा का प्रभाव पडा हो।

आन्ध्र युग अर्थात् पहली शताब्दी ईसा पूर्व का एक स्तभ-शीर्षक मार्शल को सारनाथ से मिला था। शीर्षक की एक तरफ एक घुडसवार है और दूसरी तरफ एक हाथी जिस पर दो महावत है। शीर्षक के कोने पेचकदार है और बाकी जगह में हनीसकल और पजक बने है (केटलाग, वही, पृ० १४६)।

राजघाट की खुदाई से शुग और आध्रकालीन कोई प्रस्तरमूर्ति तो नही मिली है, पर ईसा पूर्व पहली और दूसरी शताब्दी के मिट्टी के खिलौने अवश्य मिले है। यहाँ से मिली शुग मूर्तियो के सिर चौडे और चेहरे चपटे है। स्त्रियो के सिर पर भारी भरकम शिरोभूषा भी मिलती है। गॉर्डन के अनुसार बनारस से निकली ठप्पे से ढली ऐसी स्त्रियो की मृण्मूर्त्तियो का समय करीब ४० ईसा पूर्व का है और ऐसी मूर्तियाँ मथुरा से बनारस तक या उसके और भी पूरब बसाढ़ तक मिलती है।[2] मृण्मूर्तियो के सबध में हम पाठको का ध्यान उस खोद पहने हुए सिर की ओर दिला देना चाहते है जो सारनाथ से मिला है। इसमें कोई सदेह नही कि यह किसी यूनानी सिपाही का सिर मालूम पडता है और शायद ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी का हो। पाटलिपुत्र से भी कुछ ऐसी ही मृण्मूर्तियाँ मिली है जिन पर विदेशी प्रभाव स्पष्ट है।

राजघाट से मिला स्फटिक का बना एक स्त्री का सिर, हाथीदाँत की बनी एक कघी शख की और हाथीदाँत की चूडियाँ यह बतलाती है कि शुग युग में पत्थर काटने, हाथीदाँत के काम इत्यादि के व्यवसाओ की काफी उन्नति थी। ● ●

---

[1] केटलाग आफ दी म्यूजियम ऑफ आर्कियालाजी, सारनाथ, पृ० २०८ इत्यादि

[2] जे० आइ० एस० ओ० ए०, ११ (१९४३), पृ० १११-१२

छठा अध्याय

सातवाहनों से गुप्तों के उदय तक काशी का इतिहास

सातवाहन युग में वनारस के इतिहास का कुछ पता नही चलता, पर सारनाथ से मिले वेदिका-स्तभो और स्तभ-शीर्पपट्टो के टुकडो पर के लेखो मे, जिनमें उज्जैन का नाम आया है, यह पता चलता है कि साँची की आध्र कालीन कला का सारनाथ की कला पर काफी प्रभाव था। ऐसा जान पडता है कि इस युग में भी वनारस कौशाबी के अधिकार में रहा। प्रथम शताब्दी ईस्वी में वनारस कौशावी के राजनीतिक प्रभाव में था। सारनाथ में अशोक के स्तभ पर उत्कीर्ण एक परवर्ती लेख से इस वात का पता चलता है कि राजा अश्वघोप के चालीसवे राज्य सवत् तक वनारस उनके अधिकार में रहा।[1] राजघाट से अश्वघोप की एक मुद्रा भी मिली है, जिस पर अश्वघोपस्य लेख है। इसके नीचे वैठा हुआ एक सिंह वना है। कनिंघम को वहुत दिना पहले अश्वघोप का एक सिक्का मिला था।[2] डा० आल्तेकर ने भी इसी राजा का एक सिक्का प्रकाशित किया है जिसमें अश्वघोप के नाम के ऊपर सिंह की आकृति वनी है।[3] यह तो ठीक नहीं कहा जा सकता कि अश्वघोप का समय क्या है पर ऐसा जान पडता है कि वे कनिष्क द्वारा मध्यदेश पर अधिकार करने से पहले हुए होंगे।

करीव ईसा की प्रथम शताब्दी के अत में कुपाणो का मध्यदेश पर अधिकार हो गया। सारनाथ से मिले दो लेखो से ऐसा पता चलता है कि कनिष्क के तीसरे राज्य वर्ष के पहले अर्थात् ८१ ईसा मे पहले कनिष्क का अधिकार वनारस पर हो चुका था।

ये दोनो लेख भिक्षु वल द्वारा वनवायी गयी वोधिसत्त्व की प्रतिमा पर है।[4] इन लेखो का अभिप्राय यह है कि महाराज कनिष्क के तृतीय राज्य सवत्सर में त्रिपिटज्ञ भिक्षुवल ने वोधिसत्त्व की प्रतिमा और छत्र-यष्टि की वाराणसी में उस जगह स्थापना की जहाँ भगवान् वुद्ध चक्रमण करते थे। इस प्रतिमा का उद्देश्य भिक्षु के माता-पिता, उपाध्याय, आचार्य, अतेवासी, त्रिपिटज्ञा वुद्धमित्रा, क्षत्रप वनस्पर और खरपल्लाण के और चतुर्परिपद् के साथ सर्वसत्त्वो का हित-सुख था। दूसरे लेख से, जो प्रतिमा के पादपीठ पर है, पता चलता है कि भिक्षुवल ने महाक्षत्रप खरपल्लाण और क्षत्रप वनस्पर की मदद से यह प्रतिमा वनवायी।

उपर्युक्त लेखो से यह पता लगता है कि कनिष्क के तीसरे वर्ष में वाराणसी क्षत्रप वनस्प(स्फ)र और महाक्षत्रप खरपल्लाण के अधिकार में थी। वनस्पर शायद वनारस

---

[1] एपि० इडि०, ८।१७१

[2] ए० एस० आर०, १०, ४

[3] जर्नल ऑफ दि न्यूमेस्मेटिक सोसाइटी, ४, पृ० १४

[4] एपि० इडि०, ८।१७६

के क्षत्रप थे और उस समय वहाँ तमाम प्रदेश के, जिसमें बनारस भी था, सबसे बडे अधिकारी खरपल्लाण थे। यह प्रदेश कौशाबी हो सकता है। डा० जायसवाल की राय में पुराणो में इन्ही वनस्पर को विश्वस्फटि(क), विश्वस्फाणि और विवस्फाटि कहा गया है। कनिष्क के तीसरे राज्यवर्ष में वनस्पर केवल क्षत्रप थे और खरपल्लाण महा क्षत्रप। डा० जायसवाल का अनुमान है कि शायद वनस्पर ९०-१२० ईस्वी में महाक्षत्रप हुए हो।[1] अगर डा० जायसवाल की विश्वस्फाटि में वनस्पर की पहचान ठीक है तो इसके सबध में हमें पुराणो से कुछ विवरण मिलता है। ब्रह्माड और वायु तीसरी शताब्दी के राजकुलो का वर्णन करते हुए विश्वस्फाणि का निम्नलिखित शब्दो में उल्लेख करते हैं— मागधो का राजा विश्वस्फाणि (भागवत-विश्वस्फूर्ति, वायु-विश्वस्फटिक) बहुत वडा वीर होगा। सब राजाओ का उन्मूलन करके वह निम्न जाति के लोगो को जैसे कैवर्तो, पचको मद्रको, यादवो तथा पुलिदो को राजा बनायेगा। इन जाति के लोगो को वह बहुत से देशो का शासक नियुक्त करेगा। युद्ध में वह विष्णु के समान पराक्रमी होगा, राजा विश्वस्फाणि का रूप षण्ढ की तरह होगा। क्षत्रियो का उन्मूलन करके वह दूसरी क्षत्रिय जाति बनायेगा। देव, पितृ और ब्राह्मणो को तुष्ट करता हुआ वह गगा के तीर तप करता हुआ शरीर छोडकर इन्द्रलोक जायगा।

विश्वस्फाणि के उपर्युक्त वर्णन से हमें कई बातो का पता चलता है। पहली बात तो यह है कि विश्वस्फाणि को पुराणकार तीसरी सदी में रखते हैं पर वनस्पर की सत्ता तो पहली सदी के अत में और दूसरी सदी के आरम्भ में थी। लेकिन ऐसी गडबडी तो पुराणो में अक्सर आती है और इसका कारण पुराणो का भ्रष्ट पाठ है जो सदियो के हेरफेर से बहुधा कुछ का कुछ हो गया है। विश्वस्फाणि ने लगता है छोटी जातियो को ऊपर बढाया और प्रादेशिको के पदो पर भी बैठाया। इससे यह प्रकट हो जाता है कि वह वैदिक धर्म को मानने वाला नही था। सारनाथ के लेखो से यह स्पष्ट है कि वह बौद्ध था और कम-से-कम बौद्धो में ऊँच-नीच अथवा जातिवाद का स्थान नही था। क्षत्रियो का उन्मूलन करके दूसरी क्षत्रिय जाति बनाने की बात को लेकर जायसवाल का कहना है कि बनाफर राजपूतो की उसने सृष्टि की। इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि उसने नीच जातियो को क्षत्रिय पद दिया। सबसे रोचक बात तो यह है कि इन सब अवैदिक कार्यों को करते हुए भी वह देव और पितृ-पूजक ब्राह्मणो का भक्त माना गया है। इस उल्लेख से साफ पता चलता है कि यह केवल ब्राह्मणो की हार्दिक अभिलाषा का द्योतक है। गगा के तीर पर तप करते हुए शरीर त्यागने की बात में शायद इसकी वाराणसी में मृत्यु की ओर सकेत है। जो भी हो, यह पता नहीं चलता कि विश्वस्फाणि ने किन-किन क्षत्रियो को हराया। ऐसा जान पडता है कि मध्यप्रदेश और मगध में कनिष्क के राज्य स्थापन होने के बाद बहुत-से राजे बच गये होगे और वनस्पर ने उनकी सफाई की।

वासुदेव के बाद करीब १७० ईस्वी में मध्यदेश से कुषाणो का अधिकार हट गया लेकिन कनिष्क के बाद से वासुदेव तक मध्यदेश के इतिहास पर अधिक प्रकाश नही पडता, यह भी पता नही चलता है कि कुषाण सीधे अपना राज्य चलाते थे अथवा मध्यदेश

[1] जायसवाल, हिस्ट्री ऑफ इडिया—ए० डी० १५० टु ३५० ए० डी०, पृ० ४१

में बहुत-से सामतो द्वारा उनका काम चलता था। जो भी हो कौशाम्बी मे मिले सिक्को तथा कुछ लेखो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि द्वितीय शताब्दी में पूर्वी उत्तर प्रदेश एक तरह से स्वतन्त्र था। सभवत ईसा की दूसरी और तीसरी शताब्दियों में भी बनारस कौशाबी के आधीन था। इस विश्वास का कारण यह है कि बनारस में राजघाट से जितनी भी द्वितीय या तृतीय शताब्दी की मुद्राएँ मिली है उन सबका सबध कौशाबी के राजवशो से है। पर केवल इन मुद्राओ के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें उल्लिखित राजाओ का काल-क्रम क्या था। यह सवाल तो तभी हल हो सकता है जब हमें इन राजाओ के शिला लेख भी मिलें।

धनदेव—राजा धनदेव की बहुत-सी मुद्राएँ राजघाट की खुदाई से मिली हैं। मुद्राओ पर धनदेवस्य राञो लेख है, बायी ओर वृषभ है जो यूप और चैत्य के सामने खड़ा है। उसके पीछे एक भाला है। धनदेव के सिक्के भी मिले है। श्री एलन का अनुमान है कि धनदेव के सिक्के कौशाबी के सिक्को की अतिम अवस्था प्रकट करते है और इस राजा का समय ईसा की आरभिक शताब्दियों में है।[1]

जेष्ठमित्र—इनकी मुद्रा पर जेष्ठमित्रस्य लेख है जिसके अक्षर पहली शताब्दी के है। वृषभ बायी ओर अकित है। शायद ये वही ज्येष्ठमित्र हो जिनके सिक्के कोसम से मिले है।[2] सभव है ये कौशाबी के अन्तिम मित्र राजाओ में रहे हो।

अभय—कल्श-सवत वाली मुद्रा पर राञो अभयस्य लेख है और इस पर चक्र और कुभ के लक्षण बने हैं। इलाहाबाद वाली इसी राजा की मुद्रा पर राजा के नाम के नीचे बायी ओर वृषभ है, उसके सामने चैत्य और यूप और उसके पीछे त्रिशल। वृषभ और चैत्य इस राजा का कौशाबी से सबध प्रकट करते है। लेख की लिपि तृतीय शताब्दी की है।

मुद्राओ, सिक्को और लेखो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ईसा की दूसरी तीसरी शताब्दियों में कौशाम्बी पर मघ राजाओ अधिकार था। इन मघ राजाओ में शिवमघ, भद्रमघ, वैश्रवण, भीमवर्मन्[3], सतमघ, विजयमघ[4] पुरमघ, यज्ञमघ, और भीमसेन[5] के सिक्के मिले है। शिवमघ[6] और भीमसेन की मुद्राएँ भीटा से मिली हैं[7] शिवमघ[8] भद्रमघ[9] वैश्रवण[10] भीमवर्मन्[11] और भीमसेन[12] के लेख भी मिले हैं।

---

[1] एलेन, उल्लिखित, पृ० ९६ [2] वही, पृ० ९६, प्लेट० २०, ९

[3] जे० एन० एस० आई०, २ (१९४०), पृ० ९५

[4] वही, जून, पृ० १०–११ [5] वही, पृ० १६

[6] ए० एस० आई० एन० आर०, १९११–१२, पृ० ४१ [7] वही, पृ० ५१

[8] एपि० इडि०, १८।१५९–१६० [9] एपि० इडि०, २३।२४५–४८

[10] एपि० इडि०, २४।१४६–४८

[11] ए० एस० आर०, १०, पृ० ३, प्लेट० २ (३), इडियन कल्चर, जुलाई, १९२६, पृ० १७७–१७९

[12] ल्यूडर्स लिस्ट ९०६

कौशावी से तो इन राजाओ का सबध विख्यात है, पर अभी तक यह पता नही था कि बनारस से इनका क्या सबध था। सौभाग्यवश भीमसेन, रुद्रमघ, हरिषेण और कृष्णषेण की मुद्राएँ बनारस में राजघाट से मिली है जिनसे पता चलता है कि ईसा की दूसरी तीसरी शताब्दियो में सभवत बनारस कौशावी के अधिकार में रहा होगा।

डा० आल्तेकर ने मघ वश पर विस्तार के साथ विचार किया है।[१] इस विषय का काशी के इतिहास से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि हम डा० आल्तेकर के विचारो को यहाँ विस्तृत रूप में देना चाहते है।

'भारतीय इतिहास में मघो के विषय में पौराणिक उल्लेख है। इसके अनुसार कोशल अर्थात् महाकोशल पर नव-मघो ने राज्य किया। पुराणो ने इनके काल पर कोई प्रकाश नही डाला है पर सन्दर्भ से हम यह पता पा सकते है कि शायद वे ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी में राज्य करते थे। मघ राजाओ के अनेक शिलालेख बाधोगढ (रीवाँ) और कौशाम्बी से मिले है और उनमें कुछ नामो के पीछे 'मघ' भी मिलता है।

अभी तक हमें महाराज वासिष्ठी पुत्र भीमसेन के दो लेख, एक बाघोगढ से जिसका समय किसी सवत्सर का ५१ वर्ष है और दूसरा लेख जो ५२ वें साल का है, गिंजा से मिले है।[२] इनकी एक मुद्रा भीटा से मिली है[३] और दूसरी राजघाट बनारस से। इनके पुत्र कोच्छिपुत्र पोठसिरि थे और बाधोगढ से इनके ८६, ८७ और ८८ वर्षो के लेख मिले है। महाराज भद्रमघ का पता हमें ८१, ८६, और ८७ वर्षो में उत्कीर्ण कोसम के मिले लेखो से लगता है।[४] बाघोगढ से मिले भट्टदेव, जिनके लेख में ९० वाँ साल मिलता है, और भद्रमघ एक ही थे। इस लेख मे इन्हें पोठसिरी का पुत्र कहा गया है। इनके सिक्के भी मिले है।[५] महाराज शिवमघ का पता कौशाबी के एक लेख[६] और भीटा से मिली एक मुद्रा[७] तथा सिक्को से चलता है। वैश्रवण का पता हमे १०७ वें साल के कोसम के एक लेख[८] और बाघोगढ़ के दो अप्रकाशित और बिना सवत् के लेखो से, जिनमें उन्हें महासेनापति भद्रबल का पुत्र कहा गया है, और सिक्को से चलता है। महाराज भीमवर्मन् का पता उनके कौशाम्बी से मिले १३० और १३९ सवत वाले लेखो[९] और सिक्को से चलता है। महाराज सतमघ, विजयमघ[१०] पुरमघ तथा यज्ञमघ के भी सिक्के

---

[१] ए एस आल्तेकर, दि मघम् ऑफ साउथ कोसल, जर्नल ऑफ दि गगानाथ झा रिसर्च इन्स्टिट्यूट, फरवरी १९४४, पृ० १४९–१६०,

[२] एपि०, इडि०, ३। ३०६

[३] ए० एस० आर०, १९१०–११, पृ० ५०–५१

[४] एपि० इडि०, २४, २५३, १८।१६०, २३।२४५

[५] जे० एन० एस० आई०, २,९५ से

[६] एपि० इडि०, १८।१५९

[७] ए० एस० आर०, १९१०–११, पृ० ५० से

[८] एपि० इडि०, २४।१४६

[९] इडियन कल्चर, १,१७७

[१०] जे० एन० एस० आई०, जून १९४२, पृ० १०–११

मिले हैं।[1] इन लेखों को जाँच कर डा० आल्तेकर इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि मघवश का सबसे प्राचीन लेख ५१ वें वर्ष का है और सबमें अन्तिम १३९ वें वर्ष का और ये वर्ष किसी सवत्सर के हैं। पर यह कौन-सा सवत्सर है इसके बारे में विद्वानों का मतभेद है। कुछ इसे ३१९ ईस्वी का गुप्त सवत, कुछ १४८ ईस्वी का चेदि सवत, और कुछ इसे ७८ ईस्वी का सवत्सर मानते हैं। डा० आल्तेकर भी इन लेखों के अकों को शक सवत् में ही मानते हैं।

वासिष्ठीपुत्र भीमसेन का राज्यकाल डा० आल्तेकर १२३ और १४८ के बीच और इसका राज्य-विस्तार इलाहाबाद से ४० मील दक्षिण गिंजा से लेकर बघेलखड तक मानते हैं। उनके अनुसार कुषाणों का मध्यदेश में इस काल में भी प्राबल्य था इसलिए मथुरा से पाटलिपुत्र के रास्ते पर होने के कारण कौशाबी कुषाणों के अधिकार में थी। भीमसेन की भीटा वाली मुद्रा से वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भीमसेन वहाँ का राजा था, शायद वह मुद्रा किसी पत्र के साथ बाधोगढ पहुँच गयी हो। वासिट्ठीपुत्र भीमसेन के बाद कोच्छिपुत्र पोठसिरी गद्दी पर आये। इनके समय का अनुमान डाक्टर आल्तेकर १४८–१६८ ईस्वी तक करते हैं। इनके समय के पाँच लेख बाधोगढ में मिले हैं जिनसे पता चलता है कि वहाँ मथुरा और कौशाबी के व्यापारी आते थे। पोठसिरी का मघ नाम का विदेशी मन्त्री भी था। इसके जमाने में कुषाणों की अवनति होने लगी और डा० आल्तेकर का अदाजा है कि युवराज भद्रमघ अथवा भट्टदेव ने उससे करीब १५५ ईस्वी में कौशाबी को छीन लिया क्योंकि कौशाबी में उसके १५९, १६४ और १६५ ईस्वी के लेख मिलते हैं। यहाँ एक कठिनाई उपस्थित होती है कि बाधोगढ से भद्रमघ के पिता के भी लेख १६४, १६५ और १६६ ईस्वी के मिलते हैं। जिसके माने यह होते हैं कि पिता पुत्र साथ ही साथ राज्य करते थे, जो सम्भव नहीं है। इस कठिनाई का निराकरण डा० आल्तेकर इस प्रकार करते हैं कि युवराज भद्रमघ ने अपने पराक्रम से कौशाबी में राज्य स्थापित किया और शायद इसी से प्रसन्न होकर पोठसिरी ने उसे वहाँ स्वतन्त्र रूप से राज्य करने दिया। डा० आल्तेकर का कहना है कि भीटा से मिले अगर एक सिक्के पर प्रस्थश्रिय नाम ठीक है तो लगता है कि पोठसिरी ने अपने बढते हुए राज्य को देखकर अपना सिक्का चलाया। इसके बाद भद्रमघ के सिक्के तो बराबर चलने लगे। भद्रमघ का राज्यकाल डा० आल्तेकर करीब १६८ से १७५ ईस्वी तक मानते हैं।

डाक्टर आल्तेकर का अनुमान है कि भद्रमघ के बाद शिवमघ गद्दी पर आये। इनका भद्रमघ से क्या सबध था इसका तो ठीक पता नहीं है, पर भीमसेन और शिवमघ की मुद्राओं में समानता होने से यह कहा जा सकता है कि वे उसी के समसामयिक होंगे। शायद शिवमघ ने १२५ से १८४ ईस्वी तक राज्य किया। शिवमघ के बाद वैश्रवण गद्दी पर आये जो बाधोगढ के लेख के अनुसार महासेनापति भद्रबल के पुत्र थे। डा० आल्तेकर इस महासेनापति भद्रबल को भद्रमघ न मानकर एक दूसरा व्यक्ति मानते

[1] वही, १९४६ (जून), पृ० ८–९

है। उनकी राय में शायद भद्रवल शिवमघ का छोटा भाई था और इसीलिए शिवमघ के कोई सतान न होने पर उसका भतीजा भद्रवल गद्दी पर बैठा। वैश्रवण का राज्यकाल डा० आल्तेकर करीब १८४ से २०५ ईस्वी तक मानते हैं। उनका विचार है कि वैश्रवण के समय मघो का राज मध्यप्रदेश में बिलासपुर से लेकर शायद उत्तरप्रदेश में फतहपुर तक रहा हो। भीमवर्मन् वैश्रवण के बाद गद्दी पर आये और उन्होने २०५ से २३० ईस्वी तक राज्य किया।

इन मघ राजाओ के अतिरिक्त डा० आल्तेकर को शतमघ, विजयमघ, पुरमघ और यज्ञमघ के सिक्के भी मिले हैं। उनका विचार है कि ये सब भीमवर्मन् के बाद कौशावी के राजा हुए और इनका काल २३० से २७५ ईस्वी तक होना चाहिए।

अब हमें विचार करना चाहिए कि डा० आल्तेकर ने जो मघ राजाओ के इतिहास का खाका तैयार किया है वह कहाँ तक ठीक है और उससे एव बाद की मिली सामग्री को साथ लेकर बनारस के इतिहास पर क्या प्रकाश पडता है। श्री कृष्णदेव को राजघाट, बनारस की खुदाई से राजा भीमसेन की एक मुहर मिली है[1] जिससे यह प्रकट हो जाता है कि भीमसेन का सबध केवल बाघोगढ़, गिंजा और भीटा तक सीमित न होकर बनारस तक था। इसका यह अर्थ नही है कि भीमसेन बनारस के राजा थे क्योकि यह भी सभव है कि यह मुद्रा किसी और दूसरे कारण से भी बनारस में आगयी हो। पर सभावना तो इस बात की है ही कि भीमसेन का राजनीतिक प्रभाव बनारस तक फैला हुआ था। अब हम पाठको का ध्यान गौतमीपुत्र शिवमघ और वासिष्ठीपुत्र भीमसेन की भीटा से मिली मुद्राओ की ओर दिखाना चाहते है।[2] शिवमघ की मुद्रा में एक वृषभ बायी रुख खडा दिखलाया गया है। उसके गले वाले भाग के नीचे एक स्त्री सम्मुख रुख खडी है, उसका दाहिना हाथ फैला हुआ है और बाँया हाथ कमर पर है। वृषभ के पीछे एक स्तभ या वज्र, है बगल में अधिज्य धनु और आम्र सिक्को की तरह गोलियो का एक ढेर है। भीमसेन की मुद्रा पर भी वैसे ही लक्षण है। भीटा के जिस स्तर से ये मुद्राएँ मिली हैं उससे दो बातें प्रकट होती है, एक तो यह कि वह स्तर कुषाण युग का है[3] और दूसरा यह कि इस युग में किसी भीषण आक्रमण होने के कारण यह स्तर ध्वस्त होने पर खाली कर दिया गया।[4] डा० आल्तेकर का अनुमान है कि कौशावी को भद्रमघ ने शायद कौशल से हस्तगत किया, पर पुरातत्त्व का प्रमाण इसके विरुद्ध है। उत्खनन से तो यह भी सिद्ध ही होता है कि शायद कुषाणो को कौशावी या कम से कम भीटा से उखाड फेंकने वाला राजा भीमसेन अथवा शिवमघ था। शिवमघ से भीमसेन का क्या सम्बन्ध था यह तो ठीक ठीक नही कहा जा सकता पर उन दोनो की मुद्राओ पर लक्षणो की समानता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दोनो का समय काफी निकट था। डा० आल्तेकर की यह बात मानने का कोई प्रमाण नही है कि भद्रमघ के बाद शिवमघ

---

[1] एनुअल बिब्लियोग्राफी ऑफ इडियन हिस्ट्री, (१९४२), पृ० ४१-५१

[2] ए० एस० आर०, एन० इ०, १९११-१२, पृ० ४१, ५१

[3] वही, पृ० ३२,

[4] वही, पृ० ३४

गद्दी पर बैठे। शायद यह भ्रान्त धारणा भीमसेन के पौत्र और पोठसिरि के पुत्र भट्टदेव और भद्रमघ को एक व्यक्ति मानने से ही उत्पन्न हुई है। मेरी राय में तो भीमसेन का एक वश ही अलग था और उसको खतम करके ही मघो ने उनके राज्य पर अधिकार जमाया। ऐसा मानने के कई कारण है। (१) डा आल्तेकर का विचार है कि राजा भीमसेन कोई वडे राजा नही थे और इसीलिए पोठसिरी के पुत्र भद्रमघ ने जब कौशावी दखल कर लिया तव उसने मघ वश के सिक्के चलाये। पर वात ऐसी नही है। श्री शुभेंदुसिंह राय ने भीमसेन का एक सिक्का प्रकाशित किया है।[१] नाप और तौल में तो यह मघ सिक्को की ही भाँति है पर यह सिक्का काँसे का है जव कि मघ सिक्के तावे के है। मघ सिक्को के चित ओर चैत्य अथवा चक्र वेदिका के अन्दर वृक्ष और नीचे एक सीढी होती है, पट पर दाहिनी ओर वृषभ होता है। भीमसेन के सिक्के में पट ओर ऊपर वेदिका के अन्दर एक वृक्ष है उसके वाद नदीपद और चित और वायी ओर वृषभ। इन दोनो सिक्को के मिलने से यह पता चलता है कि भीमसेन के सिक्के का प्रकार मघ सिक्को से अलग है और निश्चय ही वे किसी दूसरे वश की ओर सकेत करते है। (२) पोठसिरि के पुत्र भट्टदेव को डा० आल्तेकर ने भद्रमघ माना है पर ऐसा मानने में गडवडी जान पडती है क्योकि पोठसिरि तथा उनके तथाकथित पुत्र भद्रमघ के समय मिलने लगते है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये डा० आल्तेकर को यह कल्पना करनी पडी कि शायद पोठसिरि ने उसे कौशावी में स्वतत्र राज्य कायम करने की आज्ञा दी। पर यह कठिनाई आप-से-आप हल हो सकती है अगर हम मानलें कि मघ वश के भद्रमघ का राज्य १५९ ईस्वी में स्वतत्र रूप से कायम हो चुका था। अव प्रश्न यह उठता है कि कौशावी पर मघ वश का अधिकार कव हुआ। इसका ठीक ठीक तो हमें पता नही है पर ऐसा मालूम पडता है कि पोठसिरि के पहले ही यह घटना घट चुकी होगी। भीमसेन और शिवमघ की मुद्राओ में गहरी समानता देखने से तो यह पता चलता है कि शायद भीमसेन के वाद शिवमघ ने अपनी स्वतत्र सत्ता कौशावी में कायम की। पर इस प्रश्न का तव तक हल नही हो सकता जव तक शिवमघ का कोई सवत् के साथ लेख न मिले। अगर शिवमघ भद्रमघ के पहले हुए तो भद्रमघ के वाद वैश्रवण आये और उनके वाद भीमवर्मन्।

अव हमें वाधोगढ के भीमसेन के वश की ओर भी ध्यान देना चाहिए। भीमसेन ने करीव ईस्वी १२३ से १४८ तक राज्य किया, इनके पुत्र पोठसिरी ने शायद १४८ से १६८ ईस्वी तक। इनके पुत्र भट्टदेव के राज्यकाल का ठीक पता नही है। पर इतना तो पोठसिरी के वाधोगढ़ के एक लेख से पता लगता है कि मघ नाम के एक व्यक्ति पोठसिरी के राज्य में काफी प्रभावशाली व्यक्ति थे। हो सकता है शायद इन्ही मघ ने वाद में शिवमघ नाम ग्रहण कर लिया हो और कौशावी में अपनी स्वतत्र राज्यसत्ता कायम कर ली हो। लगता ऐसा है कि १८४–२०५ ईस्वी के वीच में जो डा० आल्तेकर ने वैश्रवण का राज्य-काल माना है, भीमसेन का वश वाधोगढ से खतम हो गया और जैसा कि वहाँ वैश्रवण के लेखो से पता चलता है मघ वश का वाधोगढ और कौशावी पर अधिकार हो गया।

---

[१] ज० एन० एस० आई०, जून १९४६, पृ० १५–१६।

यहाँ हम राजघाट से मिली रुद्रमघ की एक मुद्रा का भी उल्लेख कर देना चाहते हैं। कुषाण लिपि में लेख है 'महासेनापतिस्य(ति) रुद्रमघस्य'। इस मुद्रा से यह पता चलता है कि रुद्रमघ का बनारस से संबंध था और ये अपने को महासेनापति कहते थे। मघ राजाओं की उपर्युक्त तालिका में रुद्रमघ का नाम नहीं आता। यह कहना कठिन है कि उनका मघ राजाओं के काल क्रम में क्या स्थान था और बनारस से उनका क्या संबंध था।

राजघाट बनारस से कुछ और मुद्राएँ मिली हैं जिनसे बनारस के द्वितीय और तृतीय शताब्दियों के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। पहिली मुद्रा हरिषेण की है और राजघाट से काफी संख्या में मिली हैं। मुद्राओं पर निम्नलिखित लक्षण हैं—ऊपर अधिज्यधनु, बीच में वेदिका से घिरा यूप, नीचे नंदीपद, श्रीवत्स और स्वस्तिक। इस मुद्रा में हरिषेण की राज्य पदवी न होने से यह तो दावे के साथ नहीं कहा जा सकता कि वह राजा था या नहीं पर इसकी मुद्राएँ इतनी संख्या में मिली हैं कि वह निश्चय ही राजा होगा। दूसरी मुद्राएँ कृष्णषेण की हैं, लिपि कुषाण काल के अंतिम युग की है। ऊपर अधिज्य धनु है और नीचे स्वस्तिक, त्रिशूल और श्रीवत्स है। इन दोनों मुद्राओं के लक्षणों में इतना मेल है कि यह कहना अत्युक्ति न होगी कि ये दोनों राजे एक ही वंश के थे। अब प्रश्न यह उठता है ये किस वंश के थे। यह कहना तो कठिन है क्योंकि अभी तक हरिषेण और कृष्णषेण के न तो कोई लेख मिले हैं न सिक्के। पर इनकी मुद्राएँ इतनी बड़ी संख्या में राजघाट से मिली हैं कि यह मान लेने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए कि दोनों बनारस में संभवतः द्वितीय शताब्दी के अंत या तीसरी शताब्दी में राज्य करते थे। यहाँ हम यह बात बता देना चाहते हैं कि इन मुद्राओं पर आया अधिज्य धनु शिवमघ और भीमसेन की भीटा वाली मुद्रा पर भी आता है। इस आधार पर यह तो नहीं कहा जा सकता कि ये दोनों राजे भीमसेन या मघ वंश के थे पर इससे यह तो जरूर पता लगता है कि इनका उनसे दूर या नजदीक का संबंध था।

इनके नामों में षेण आने से यह कहा जा सकता है कि शायद वे भीमसेन के वंशधर रहे हों। १२३-१६८ ईस्वी या उसके पहले तक तो हमें पता है कि भीमसेन और पोठिसिरी ने बाघोगढ़ पर राज्य किया। हमें यह भी पता है कि १५८ ईस्वी के पहले कौशांबी भद्रमघ के हाथ में थी। पोठसिरी के पुत्र भद्टदेव १६८ ईस्वी में बाघोगढ़ पर राज्य करते थे। १८५ ईस्वी के आस पास कोसम और बाघोगढ़ पर वैश्रवण का, जो मघ थे, राज्य था। इसका अर्थ यह हुआ कि भीमसेन का राज्य वंश १८५ ईस्वी के आस पास बाघोगढ़ से खतम हो गया। अगर हरिषेण और कृष्णषेण का उसके वंश से संबंध है तो उनका समय करीब १७० और १८५ ईस्वी के बीच होना चाहिए। यह भी संभव है कि भीमसेन के वंश की एक शाखा बनारस आ गयी हो और उसमें हरिषेण और कृष्णषेण रहे हों।

राजा नव की राजघाट से मिली मुद्रा पर 'राज्ञो नवस्य' लेख, दो लक्षणों, यथा बायीं ओर गड़ा हुआ भाला, और दाहिनी ओर वेदिका के अंदर यूप, के बीच में है। इस राजा के सिक्कों का बहुत दिनों से पता है। श्री स्मिथ इसे पहले देवस पढ़ते थे पर डा० जाय-

सवाल्ने इसे नवम पढा और श्री एलन ने इसे नहीं मान लिया।[1] डाक्टर अग्रवाल के अनुसार वहुत-से सिक्कों के आधार पर यह पता चलता है कि राजा का शायद ठीक नाम नेव था। नव और नेव दोनों ही संस्कृत के नव्य के प्राकृत रूपांतर हैं जिसका अर्थ प्रशंसनीय होना है। डा० आल्तेकर ने राजा नव के बारे में छानबीन की है। उनका कहना है कि नव के सिक्के पूर्वी उत्तरप्रदेश और विशेष कर कौशाबी से मिले हैं। इन सिक्कों के चित ओर वेदिका से घिरा वृक्ष और पट ओर वृषभ मिलने से यह अनुमान होता है कि ये कौशाबी के थे क्योंकि ये दोनों लक्षण कौशाबी से प्राप्त अनेक सिक्कों पर मिलते हैं। इसलिए राजा नव संभवतः कौशाबी के राजा थे जो मघों के बाद २७५ ईस्वी के करीब कौशाम्बी के शासक हुए।[2] पर डा० जायसवाल की इस राजा नव के बारे में दूसरी ही राय है। नव के सिक्कों का अध्ययन करके वे निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचे। (१) नव ने उत्तरप्रदेश में राज्य किया, (२) उनके सिक्के कौशाबी से निकले क्योंकि उन पर लक्षण कौशाबी के हैं, (३) इनके सिक्कों पर आये राज्य संवत्सरों से पता चलता है कि उसने २७ वर्ष तक राज्य किया, (४) उनके सिक्के पद्मावती, विदिशा और मथुरा के वीरसेन के सिक्कों से मिलते-जुलते हैं।[3] जायसवाल की राय में राजा नव पुराण के नवनाग वंश के स्थापक थे। उनके अनुसार १६५ से १७६ ईस्वी के बीच में नव ने नागशिव वंश की स्थापना की। उनकी इस स्थापना से यह प्रकट है कि इनके समकालीन मघवंश की सत्ता ही नहीं थी जो अनेक प्रमाणों द्वारा प्रायः सिद्ध हो चुकी है। इसीलिए हमें डा० आल्तेकर की यह राय मान्य है कि मघों के बाद ही कौशाबी पर राजा नव का अधिकार हुआ और उसके बाद कुछ राजा इस वंश में हुए होंगे। संभवतः गुप्त युग के आरम्भिक काल में राजा नव के वंशजों को हराकर शायद चन्द्रगुप्त प्रथम ने कौशाबी पर अपना अधिकार कर लिया। कम-से-कम भीटा की खुदाई से यह पता लगता है कि वहाँ के चौथे स्तर को, जिसका समय शायद तीसरी शताब्दी है, आरंभिक गुप्त युग में खाली करना पड़ा। जले हुए घर और गलियों में पड़े पत्थर के बड़े बड़े गुलेल लड़ाई की भीषणता के प्रतीक हैं।[4] डा० जायसवाल के अनुसार भीटा के दूसरी बार खाली किये जाने का कारण समुद्रगुप्त की चढ़ाई है।[5] परंतु कम-से-कम समुद्रगुप्त के इलाहाबाद वाले लेख में तो इसका उल्लेख नहीं है। संभवतः समुद्रगुप्त के पहले ही बनारस और कौशाबी पर गुप्तों का अधिकार हो चुका था। काशी के प्राक्-गुप्त युग के इतिहास के अध्ययन से एक बात का पता चलता है, जिससे उस सर्वमान्य मत को धक्का पहुँचता है, जिसके अनुसार पूर्वी उत्तर-प्रदेश से कुषाणों का राज्य १५० ईस्वी के बाद वासुदेव के राज्यकाल में लुप्त हो गया। हमें पता है कि दूसरी शताब्दी में काशी का गहरा संबंध कौशाबी से था पर इस युग में धनदेव, भीमसेन, शिवमघ और वैश्रवण इत्यादि का बराबर

---

[1] कायस ऑफ एंशेंट इंडिया, पृ० १५४

[2] भारत कौमुदी, भा० १, पृ० १३–१८

[3] जायसवाल, हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ० १८–१९

[4] ए० एस० आर०, १९११–१२, पृ० ३४

[5] जायसवाल, उल्लिखित, पृ० २२४–२५

अधिकार रहा। इन्हें इतनी स्वतंत्रता थी कि वे अपने सिक्के स्वतंत्र शैली में और कुषाणों के सिक्कों की बिना नकल किये भी चला सकते थे। इनमें से कुछ का संबंध कुषाणों से इतना ही जान पड़ता है कि वे अपने लेखों में शक संवत् व्यवहार में लाते हैं। अब यह प्रश्न स्वाभाविक ही है कि इस काल में जब पूर्वी उत्तरप्रदेश में कुषाण प्रबल माने जाते हैं क्या उस समय ये राजे भी प्रबल थे और इनका कुषाणों से क्या संबंध था। इनके सिक्कों और लेखों में तो कोई बात ऐसी नहीं है जिससे इनका कुषाणों से संबंध प्रकट हो। संभव है कि पूर्वी उत्तर प्रदेश में, कम-से-कम वासुदेव के समय में, कुषाणों का नाम मात्र का अधिकार रह गया था और कौशांबी के राजे इलाहाबाद के आसपास के प्रदेश और बनारस पर अंत तक स्वतंत्र रूप से बने रहे। ऐसा लगता है कि मघों ने कुषाणों की रही सही सत्ता भी कौशांबी से उखाड़ फेंकी। ● ●

सातवाँ अध्याय

सातवाहन, कुषाण और मघ काल में बनारस की कला, धर्म और व्यापार

१ धर्म

इस युग में ईस्वी पहली सदी से तीसरी सदी बनारस में बौद्ध धर्म का बोलबाला था। सारनाथ और राजघाट से मिली मूर्तियों से पता चलता है कि कनिष्क के समय से ही यहाँ बौद्ध धर्म की काफी उन्नति हुई। भिक्षु बल द्वारा सर्व प्रथम कनिष्क के राज्य के तीसरे वर्ष में अर्थात् ८१ ईस्वी में यहाँ बोधिसत्त्व की मूर्ति शायद मथुरा से लाकर स्थापित की गयी[1] और इस मूर्ति की स्थापना के बाद सारनाथ में बौद्ध धर्म को काफी प्रोत्साहन मिला होगा। जो भी हो, उक्त लेख से यह पता चलता है कि उस समय मथुरा और काशी में बौद्ध संघ काफी विकसित अवस्था में पहुँच चुका था और बौद्ध त्रिपिटक का खूब पठन पाठन होता था। भिक्षु बल स्वयं त्रिपिटिज्ञ थे और बुद्धमित्रा भिक्षुणी भी त्रिपिटज्ञा थी। सारनाथ के विहार में उपाध्याय, आचार्य और अंतेवासी बौद्ध धर्म के पठन पाठन में रत रहते थे। मथुरा और पेशावर की तरह सारनाथ में भी सर्वास्तिवादी भिक्षुओं का बोलबाला था। इस समय बुद्ध की सारनाथ में परिचर्या का अध्ययन होने लगा था क्योंकि भिक्षु बल ने चंक्रमण पथ पर एक पत्थर की छतरी लगवायी। हमें इसका तो पता नहीं है कि इस युग में बनारस में बौद्ध विहार कहाँ कहाँ थे। सारनाथ में विहार अवश्य रहे होंगे, ऐसा अनुमान है यद्यपि खुदाई में इनके अवशेष अभी नहीं मिले हैं। राजघाट से एक मुद्रा मिली है जिस पर 'भिसकविहारे थेरस—भिक्षुसघस,' भिषक् विहार के भिक्षु संघ के स्थविर की-ऐसा लेख कुषाण काल की लिपि में है। इस लेख से पता चलता है कि वाराणसी या शायद सारनाथ में बौद्धों के एक विहार का नाम भिषग् विहार था।

राजघाट, बनारस से मिली इस युग की कुछ मुद्राओं के द्वारा भी बौद्ध धर्म का प्रभाव स्पष्ट मालूम पडता है। एक मुद्रा पर 'भगवतो सितस' लेख है। असित शुद्धोदन के पुरोहित थे और इन्होंने ही सिद्धार्थ गौतम के बुद्ध होने की भविष्यवाणी की थी। दूसरी मुद्रा में कुषाण लिपि में 'बुद्धस्य' लेख दो लक्षणों के बीच में है। दाहिनी ओर चक्र शीर्षक वाला स्तंभ और बाईं ओर सिंह-व्याल शीर्षक वाला स्तंभ है। इस मुद्रा से पता चलता है कि सारनाथ में धर्मचक्र-प्रवर्तन की घटना लोगों को खूब याद थी और बुद्ध के आदरार्थ भक्त गण ऐसी मुद्राएँ वहाँ चढ़ाते थे।

कुषाण युग के कुछ नामों के आधार पर यह भी पता लगता है कि बनारस में बौद्ध धर्म का प्रचार था। राजघाट से सघचरित की मुद्रा मिली है जो किसी बौद्ध की है। नागार्जुन की मुद्रा भी प्रारंभिक कुषाण काल की है और उसके लक्षणों से विदित होता है बौद्ध और अबौद्ध एक से लक्षण प्रयुक्त करते थे। इस मुद्रा पर वृषभ और यूप सामने की ओर बने हैं और धर्मचक्र पीछे की ओर।

---

[1] एपि० इंडि०, ८।१७६

सारनाथ से एक पत्थर के छत्र के टुकडे पर भगवान् बुद्ध द्वारा धर्मचक्र प्रवर्तन के समय के उपदेश उत्कीर्ण हैं, इसमें बौद्ध धर्म के चारो आर्य सत्य आये है। लेख की लिपि अतिम कुषाण काल की है। स्टेन कोनो का कहना है कि उत्तर भारत से प्राप्त पालि का यह एकमात्र लेख है और इससे पता चलता है कि पालि त्रिपिटक का उस समय अस्तित्व था और बनारस में लोग उसे जानते और पढते थे।[1]

बौद्ध धर्म की काशी में इस उन्नति को देखकर यह न समझ लेना चाहिये कि जन साधारण के धर्म यज्ञ, पूजा इत्यादि काशी से लुप्त हो गये थे। भारत कला-भवन में कुषाण काल अथवा उसके पहले की बलराम अथवा किसी नाग की मूर्ति है जो राजघाट से मिली है। राजघाट से मिले एक स्तभ-शीर्षक पर—जो कुषाण युग का है, यक्ष बने हुए है। कुषाण युग के साहित्य से हमें पता है कि कम से कम द्वितीय शताब्दी में वाराणसी के क्षेत्रपाल महाकाल यक्ष थे।[2] मत्स्यपुराण (अ० १८०-१८३) से ज्ञात होता है कि बनारस में शैवधर्म के पुनरुत्थापन के पहले यहाँ यक्ष-पूजा का बोल बाला था और शैव धर्म में किस तरह यक्ष इत्यादि गण शिव के सेवक बना दिये गये।

बनारस शैवधर्म का प्राचीनतम अड्डा माना जाता है। पर कुषाण युग की राजघाट से मिली वस्तुओ से तो ऐसा मालूम पडता है कि बनारस में ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियो में शैवधर्म का कोई विशेष प्रचार नही था। पर इसके माने यह नही कि शैवधर्म बनारस में था ही नही। असल में बात यह है कि शैवधर्म तपस्या प्रधान है और लगता है आरभिक युग में न तो इसका कोई अपना मघ था और न कला द्वारा इसे मूर्त देने का किसी ने प्रयत्न किया। शायद इसीलिए बनारस में शैवधर्म के बहुत प्राचीन अवशेष कम मिलते है।

काशी में शैवधर्म के इतिहास पर शायद राजघाट के चौथे स्तर से प्रकाश पडता है। इस चौथे स्तर में आठ इमारतो के एक चक में श्री कृष्णदेव को पूर्व से पश्चिम तक ६५ फुट लबी और ५४ फुट चौडी एक इमारत की नीव मिली। इसमें एक खुला चौक और बीच में खभो वाली इमारत है तथा इसके चारो तरफ से दालानें घेरे है। अठारह फुट गहरी इसकी नीव से पता चलता है कि इसके ऊपर कभी एक ऊँची इमारत रही होगी। यह इमारत श्री कृष्णदेव की राय में एक मदिर था। क्योकि इसके चारो ओर जो गली है वह प्रदक्षिणा-पथ हो सकती है। मदिर का गर्भ-गृह कुछ ऊँची कुरसी पर उत्तर की ओर है तथा बाकी ओर की दालानो में या तो दूसरे देवताओ की प्रतिमाएँ स्थापित थी अथवा उनमें मदिर के पुजारी रहते थे। मदिर के दक्षिण-पश्चिम किनारे पर चहबच्चा है जिसमें शायद मदिर का गदा पानी और कूडा इकट्ठा होता था।

मदिर के स्तर पर अन्य इमारतो में एक मडप में पाँच पक्के कुएँ है। एक घर में चूने का पलस्तरदार नहाने का चौखूटा कुड है, एक तीसरे घर में १७ फुट नीचे एक लबा चौडा चौक है, जिसमें कृष्णदेव को मिट्टी के कलश के नक्काशीदार टुकडे, जिन पर कमल,

[1] केटलाग आफ दि म्यूजियम ऑफ आर्कियोलाजी सारनाथ, पृ० २३०

[2] महामायूरी, जर्नल यू० पी० हि० सो०, १५, २७ श्लो १२

चदा, पत्तियाँ और उड़ते हुए हंसो की नक्काशियाँ हैं, तथा धनदेव की और यूनानी मुद्राएँ मिली। श्री कृष्णदेव के मत से यह स्तर एक से तीसरी सदी ईस्वी तक का है।[१]

मदिर के समय के बारे में धनदेव की मुद्राओ से कुछ सहायता मिल सकती है। धनदेव दूसरी सदी के आरभ में कौशावी के राजा थे और इनके अधिकार में बनारस भी था। अगर धनदेव के धर्म का पता चल सकता तो हम शायद यह कह सकते कि जिस मन्दिर में उनकी इतनी मुद्राएँ मिली है उसमें शायद उनके इष्टदेव की प्रतिमा रही हो। पर अभाग्यवश हम यह कहने में असमर्थ है कि वे हिन्दू थे अथवा बौद्ध, पर उनकी मुद्राओ पर यूप, वृषभ और चैत्य अथवा पहाडी है जिनसे उनका वैदिक धर्म से निकट सबध मालूम पडता है। अगर ऐसा है तो हमें इस मदिर को शिव-मदिर मान लेने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए। कम-से-कम महामायूरी से, जो इसी युग की धार्मिक और भौगोलिक अवस्था का वर्णन करती है, विदित होता है कि बनारस के क्षेत्रपाल महाकाल यक्ष थे। यह बतलाने की आवश्यकता नही कि महाकाल शिव का भी नाम है। पर इस बारे में हम तभी ठीक ठीक राय दे सकते है जब कुछ और प्रमाण उपलब्ध हो।

अगर भारशिवो का काशी से सबध था और सभव है कि उनका सबध यहाँ से राजा नव के बाद रहा हो, तो उनके सपर्क से काशी में शैवधर्म को अवश्य प्रोत्साहन मिला होगा। भारशिवो के बारे में एक वाकाटक लेख से हमें निम्नलिखित वृत्तात मालूम पडता है[२]—"असभारसनिवेशित-शिव-लिंगोद्वहन-सुपरितुष्ट-समुत्पादित-राजवशाना पराक्रमाधिगत-भागीरथ्यमलजलमूर्धाभिषिक्ताना दशाश्वमेधावभृतस्नानाना भारशिवानाम्, उन भारशिवो का जिनके राजवश का उद्भव शिव की उस प्रसन्नता से, जो उनको उनके कन्धो पर लिंगोद्वहन द्वारा हुई, जो भागीरथी के उस अमल जल से मूर्धाभिषिक्त हुए, जिसे उन्होंने अपने पुरुषार्थ से पाया—वे भारशिव जिन्होंने दश अश्वमेध यज्ञ करके अवभृत स्नान किया।" डा० जाय-सवाल का मत है कि दश अश्वमेध यज्ञ करने के बाद उन्होंने गगा में जिस घाट पर स्नान किया उसी से बनारस के दशाश्वमेध घाट का नाम पडा। जो भी हो, मेरी समझ में तो दशाश्वमेध का नाम, जहाँ तक घाट का सबध है, बहुत बाद में आया और यहाँ उससे केवल यही तात्पर्य है कि गगा में यहाँ नहाने से दस अश्वमेध यज्ञो का पुण्य मिलता है। हमें तो अभी तक एक वाकाटक लेख के सिवा ऐसा दूसरा प्रमाण नही मिलता है कि भारशिवो ने अनेक अश्वमेध किये। हाँ उनके पक्के शैव होने में कोई सदेह की गुजाइश नही है। जिस शैव धर्म का गुप्तकाल में बनारस में इतना उत्कर्ष हुआ, उस पौराणिक शैवधर्म की जड राजा नव के समय से बनारस में जमी हो तो कोई आश्चर्य की बात नही है। यहाँ हम पाठको का ध्यान बनारस से मिली, भारत कला-भवन सग्रह की एक अद्भुत मूर्ति की ओर आकृष्ट करना चाहते है, जिसका भारशिवो से सबध हो सकता है। इस मूर्ति का केवल सिर वाला भाग और दोनो हाथो का कुछ भाग बच गया है। इस आकृति के सिर पर एक थाले में शिवलिंग है जिसे मूर्ति दोनों हाथों से पकडे है। शैली की दृष्टि से यह मूर्ति गुप्त युग के कुछ पहले की है। इस मूर्ति को देखकर फौरन हमारा ध्यान उस

---

[१] बिबलियोग्राफी ऑफ इडियन हिस्ट्री, १९४०, पृ० ४१-५१।

[२] फ्लीट, गुप्त इसक्रिप्शस, पृ० २४५–२४६

वाकाटकै लेख की ओर जाता है जिसमें भारशिवो को कन्धो पर शिवलिंग उद्वहन करते बतलाया गया है।

२. कला

जैसा हम एक दूसरे अध्याय में कह आये है, मौर्य और शुग युग में काशी की कला का सबध तत्कालीन भरहुत, साँची और बोधगया की कला से था। हम यह तो ठीक-ठीक कह नही सकते कि इस युग की मूर्तियाँ, स्तभ इत्यादि काशी के कारीगरो की कृतियाँ है अथवा नही, पर इसमें शक नही कि इसमें बनारस के कारीगरो का काफी हाथ रहा होगा, क्योकि हमें जातको से पता है कि महा-जनपद युग में भी बनारस में काठ का काम बहुत सुन्दर बनता था और वहाँ पत्थर का काम करने वाले भी थे।

कुषाण युग में बनारस की कला को विशेष प्रोत्साहन मिला और इस प्रोत्साहन का स्रोत मथुरा की कला रही होगी। मौर्य, शुग और आध्र काल मे अर्थात् ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से पहली शताब्दी तक भारतीय कला मे हम बुद्ध का मूर्त रूप नही पाते। बुद्ध को सबसे पहले किसने मूर्त रूप दिया, यह प्रश्न विवादास्पद है। कुछ विद्वानो का मत है कि बुद्ध-मूर्ति गधार के यूनानी-बाह्लीक कारीगरो की कृति थी और यह पेशावर से होती हुई मथुरा पहुँची और बाद में गगा के मैदान के और केन्द्रो में भी इसका प्रसार हुआ। डा० कुमारस्वामी का मत है कि बुद्ध-मूर्ति की भावना भारतीय है और बुद्ध को मूर्त-रूप देने का विचार शायद प्राचीन यक्ष मूर्तियों को देखकर हुआ होगा और यही बात अधिक सभव मालूम पडती है। जो कुछ भी हो, इस बात में अधिक सदेह नही है कि बुद्ध-मूर्ति का प्रसार मथुरा से मध्यदेश के दूसरे केन्द्रो में हुआ। इसका प्रमाण हमें सारनाथ से मिली कुषाण युग की कई मूर्तियो से मिलता है।

१९०५ में श्री ओएरटेल को सारनाथ से बुद्ध की एक विशाल मूर्ति मिली। इसके पादपीठ के एक लेख से पता चलता है कि मूर्ति बोधिसत्त्व अर्थात् अर्हत् होने के पहले शाक्य मुनि की है। पैरो के बीच में एक सिंह की मूर्ति से शायद बुद्ध की एक पदवी शाक्य सिंह की ओर सकेत है। यह मूर्ति कनिष्क के राज्यकाल के तीसरे वर्ष में अर्थात् ८१ ईसा पूर्व में बनी। डा० फोगेल की राय में दो बातें ऐसी है जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह मूर्ति मथुरा में, जो कुषाण काल में मूर्ति-कला का एक बहुत बडा केन्द्र था, बनी—यथा, यह मूर्ति चुनारी पत्थर की न होकर, जिसमें सारनाथ की और मूर्तियाँ बनी है, मथुरा के लाल पत्थर की है तथा मूर्ति के दाता भिक्षु बल का पता हमें खास मथुरा से मिली एक मूर्ति से भी लगता है। इसलिए यह मान लेने की काफी गुजाइश है कि बुद्ध मूर्ति कुषाण युग में मथुरा से काशी आयी।[१]

अब यदि हम भिक्षु बल वाली बुद्ध की मूर्ति से, चुनारी पत्थर की बनी एक दूसरी मूर्ति की तुलना करें तो हमें पता लगेगा कि किस तरह बनारसी कारीगर शाक्य मुनि की इस नयी मूर्ति की नकल करने की कोशिश कर रहे थे। पहले इन दोनो मूर्तियो का थोडा-सा विवरण दे देना उचित है। भिक्षु बल वाली बुद्ध प्रतिमा की ऊँचाई ८½ फुट और कधो पर चौडाई १ फुट १० इच है। टूटा हुआ दाहिना हाथ अभय मुद्रा

[१] केट० ऑफ दि म्यू० आफ० आर्कि० सारनाथ, पृ० १८

में था। इसकी हथेली पर चक्र और अंगुलियों पर स्वस्तिक बने हैं। मुट्ठी बँधा बायाँ हाथ कमर पर है। वस्त्रों में अन्तरवासक, उत्तरासंग और मेखला है। सिर टूट फूट गया है और मुड़ा हुआ है। ऊर्णा नहीं है। जान पड़ता है सिर पर कभी उष्णीष था। एक समय चेहरे के चारों ओर प्रभामण्डल था। पैरों के बीच में एक सिंह है। मूर्ति की रक्षा के लिए उसके ऊपर एक छत्र था, इसके आठ टुकड़े मिले हैं। इस छत्र का व्यास १० फुट है। इसके बीच का भाग उत्फुल्ल कमल के आकार का है, उसके चारों ओर पट्टीनुमा चौकोर स्थानों में अलौकिक पशु और चढ़े हैं। दूसरी पट्टी में अष्ट मांगलिक लक्षण, त्रिरत्न, मत्स्ययुगल, श्रीवत्स, पूर्णघट, शंख, स्वस्तिक, मोदकभरा कटोरा और दोनों में माला, बीच बीच में पंचांगुलकों से अलग किये गये हैं। सबसे बाहरी पट्टी में कमल की पंखड़ियाँ हैं और यह पट्टी उपर्युक्त पट्टियों द्वारा दोहरी मालाओं से, जिनके बीच बीच में फुल्ले हैं, अलग की गयी है। बोधिसत्त्व की एक दूसरी कोर की हुई मूर्ति ६ फुट ऊँची है। उसका दाहिना हाथ जो अभय मुद्रा में था टूट गया है और सिर का भी पता नहीं है। बाएँ हाथ की कमर पर मुट्ठी बँधी है। कपड़ों का अंकन भिक्षु बल वाली मूर्ति से मिलता है। इससे डा० फोगेल का अनुमान है कि इस मूर्ति को बनारस के किसी कारीगर ने भिक्षु बल वाली मूर्ति का आधार लेकर बनाया।

सिर-विहीन एक बोधिसत्त्व की ७ फुट ६॥ इंच ऊँची मूर्ति में शैली और भूषा तो बी (ए) नं० २ की मूर्ति की ही तरह है, लेकिन कपड़े की सिलवटें जो पहली मूर्ति में टूटी फूटी रेखाओं में परिणत हो गयी थीं इस मूर्ति में नहीं हैं। इससे डा० फोगेल का अनुमान है कि यह मूर्ति कुषाण से गुप्त युग के संक्रमण काल की है क्योंकि गुप्तकाल में सिलवटें समाप्त हो जाती हैं।

भिक्षु बल वाली बोधिसत्त्व की मूर्ति और चुनारी पत्थर की बनी एक दूसरी मूर्ति का मिलान करने पर हमें पता चलता है कि किस तरह से बनारस के मूर्तिकार मथुरा से आयी नयी मूर्ति की नकल करने का प्रयत्न कर रहे थे। पर नमूना और उसकी नकल का कला की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है। इन मूर्तियों की बनावट में एक चर्बीपन है तथा उनमें लावण्य योजना और भाव की भी कमी है। पर मूर्तिकला की यह कमजोरी हम छत्र में बने अलंकारों में नहीं पाते। संभवतः बनारस के कारीगर नक्काशी के काम में बहुत प्रवीण थे। भिक्षु बल वाली बुद्ध मूर्ति और दूसरी कुषाण कालीन बुद्ध मूर्तियों पर भी सारनाथ में पत्थर की छतरियों के होने से डा० फ़ोगेल का अनुमान है कि उन दिनों मंदिरों की प्रथा नहीं थी और शायद इस प्रथा का गुप्तकाल में आरम्भ हुआ। पर जैसा पहले कह आये हैं बनारस में इसी काल में एक मंदिर का भग्नावशेष मिला है और इसलिए यह कहना ठीक न होगा कि उस समय मंदिर थे ही नहीं। तत्कालीन बौद्ध और जैन साहित्य में यक्षों और नागों के तो अनेक मंदिरों या चैत्यों के उल्लेख आये हैं।

बनारस में कुषाण युग में यक्षों और नागों की मूर्तियाँ भी बनती थीं और ऐसी दो मूर्तियाँ कला-भवन में हैं, पर कला की दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व नहीं है। राजघाट से कुषाण युग की मिट्टी की बहुत-सी मूर्तियाँ भी मिली हैं। इनमें से एक में पूजा के लिए मिट्टी का तालाब बना है जिसमें मनुष्यों, चिड़ियों, सर्पों की भद्दी शकलें और सीढ़ियाँ बनी

चित्र न ४ स्फटिक में कटा हुआ स्त्री शीर्ष
शुग युग, ईमा पूर्व दूमरी मदी, राजघाट, काशी से प्राप्त
(भारत कला भवन) पृष्ठ ६५

चित्र न ५ शृगार
शुग युग, ईसा पूव दूसरी सदी, राजघाट, काशी से प्राप्त
(प्रिस ऑफ वेल्स म्यूजियम, बबई) पृष्ठ ८१

है। सम्भवत ऐसे तालावो का सबध किसी प्रचलित धार्मिक विश्वास से था। अब भी बनारस में जन्माष्टमी से दो दिन पहले ललही छट का त्योहार मनाया जाता है, जिसकी पूजा में कुछ ऐसी ही शकलें और तालाव बनाया जाता है। राजघाट के कुषाण स्तर से तरह तरह के मिट्टी के सुघर खिलौनो के साथ साथ कुछ भद्दे प्राचीन शैली के भी खिलौने मिले है, इनमें कुछ में तो शरीर की रेखा मात्र देख पडती है, कुछ के वदन चपटे हैं उनकी नाक चोंच की तरह है और हाथ पैर कीलो की तरह।[1]

कुषाण युग में बनारस के व्यापार की क्या अवस्था थी इसका विशेष विवरण तो हमें तत्कालीन साहित्य में नही मिलता, पर जो कुछ भी विवरण हमें दिव्यावदान तथा ललितविस्तर इत्यादि और राजघाट से मिली कुषाण मुद्राओ से मिलता है उससे पता चलता है कि इस युग में भी बनारस अच्छा खासा व्यापारिक केन्द्र था।

३ व्यापार

कुषाण युग में भी बनारस में अच्छे-से-अच्छे कपडे बनते थे और इसके लिये काशिक-वस्त्र[2] काशी[3] तथा काशिकासु[4] शब्दो का व्यवहार हुआ है। भैषज्यगुरु सूत्र[5] में एक जगह कहा गया है कि काशिकवस्त्र बहुत महीन होते थे (सूक्ष्माणि जालानि च सहितानि)। काशिक वस्त्र से पहनने के बहुत अच्छे कपडे बनने का (काशिकवस्त्रवराम्वरान्) भी उल्लेख है।[6] पेरिप्लस में इस बात का उल्लेख है कि पहली शताब्दी में भारत की सबसे अच्छी मलमल को 'गेंजेटिक' कहते थे अर्थात् वह गगा पर बनती थी। शॉफ के अनुसार शायद यह मलमल ढाका के पास बनती होगी।[7] लेकिन, जैसा हम ऊपर कह आये हैं, काशी में भी उस समय अच्छी से अच्छी मलमल बनती थी और इसलिए सभव है कि 'गेंजेटिक' से काशी की मलमल का उद्देश्य रहा हो।[8] एक उल्लेख से पता चलता है कि काशी से बहुत कपडा बाहर जाता था। भरुकच्छ में तो एक ऐसी दूकान का उल्लेख है जहाँ बनारस के कपडे ही बिकते थे। इस दूकान को काशिकवस्त्रावारि कहा गया है।

राजघाट से मिली एक चौखूंटी मुद्रा पर कुषाण ब्राह्मी में 'निगमस्य' लेख है जिससे पता चलता है कि बनारस में आज के कुछ दिनो पहले की तरह सराफा था जिसमें लेनदेन का काम होता था।

जान पडता है उस समय के व्यवसाय श्रेणियो में बँटे थे। उस समय बनारस में कितनी श्रेणियाँ थी इसका तो पता नही है पर राजघाट से मिली एक मुद्रा पर कुषाण काल के अक्षरो में 'गव्याक सेनिये' अर्थात गव्याक श्रेणि लेख है। इससे पता चलता है कि

---

[1] कृष्णदेव, एन० वि० ऑफ० इ० हि०, १९४०, पृ ४१-५१।
[2] दिव्यावदान, पृ० ३९१ प० २६
[3] वही, पृ० ३२८ प० १७
[4] वही, पृ० ३१६ प० २३–२७
[5] गिलगिट टेक्स्टस्, भा० १, पृ० १२५–२६
[6] ललितविस्तर, पृ० २६२, प० ९
[7] शॉफ, पेरिप्लस आफ दि इरेथ्रियन सी, पृ० ४७
[8] दिव्यावदान, पृ० २१, प० ४–५

बनारस में उस समय ग्वालों की एक श्रेणी थी। लगता है रूढ़िगत अट्ठारह श्रेणियों में, जिसका बौद्ध-साहित्य में बार-बार उल्लेख आया है, इसकी भी गिनती थी। इन अट्ठारह श्रेणियों का नाम जातकों में तो नहीं गिनाया गया है पर जैनों के जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति की टीका में इनके नाम आये है और इनमें गुआर अर्थात् ग्वाले भी हैं।[1]

बनारस का राज्य-प्रबंध क्या था इसका तो पता नहीं चलता, पर कुषाणकालीन एक मुद्रा पर 'कोष्ठागारिकाणाम्,' लेख आया है जिससे पता चलता है कि बनारस में राज्य से नियुक्त किये गये कोठारी होते थे।

राजघाट से कुषाण युग के बनारस के बहुत-से सभ्रान्त पुरुषों की मुद्राएँ मिली हैं। इनमें से अधिकतर व्यापारी रहे होंगे या उनका समाज में विशेष स्थान रहा होगा क्योंकि ऐरे गैरे तो अपनी मुद्राएँ रख नहीं सकते थे। इनमें से कुछ के नाम हैं—(१) जय, (२) जयपति, (३) विजय, (४) हलुमेन, (५) घोषक, (६) कन, (७) भगसिरि, (८) गरक, (९) गग, (१०) धेनुक, (११) धनल, (१२) कनभट्ट, (१३) शूरिक्य, (१४) नागदत्त, (१५) नयपल्कि, (१६) यमक, (१७) चित्रक, (१८) शिवपत्क, (१९) ओखरिका।

इन नामों में जय, विजय, जयपाल, घोषक, शूरिक्य तो गुण-वाचक हैं और जय की कामना प्रकट करते हैं। गग, कन, कनभट्ट, नागदत्त, शिवपत्क के नाम गंगा, नागपूजा शिवपूजा और शायद प्रसिद्ध वीर कर्ण से संबंध रखते हैं। धनल बनिये की धन कामना का द्योतक है, और धेनुक शायद पशुपालक की ओर संकेत करता है। भाग्यश्री तो स्त्रियों के भाग्यवती होने की ओर इशारा करता है। नयपलिक के दो अर्थ हो सकते हैं, नय का पालन करने वाला अथवा नेपाल देश का। यमक के भी दो अर्थ हो सकते हैं, अपने ऊपर नियंत्रण करने वाला अथवा जोड़वाँ। पर पहला ही अर्थ ठीक मालूम पड़ता है। चित्रक से शायद चित्रकार से अर्थ हो। गरक से शायद विष पीने वाले अथवा विषवैद्य की तरफ इशारा हो। ओखरिका, जैसा लूडर्स बतलाते हैं, शायद ग्रीक नाम हो (लूडर्स लिस्ट, नं० ७८) पर ओखली शब्द पूर्वी उत्तर प्रदेश में तो घर घर में प्रचलित है क्योंकि इसमें धान कूटा जाता है। मेरा तो अनुमान है कि बनारस की ओखरिका बिचारी ग्रीक न होकर एक प्यार के नाम देने का उद्बोधक है जिसने कितने चिथरू चमारुओं को नाम दिया है।

● ●

[1] जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति, ३, ४३, पृ० १९३

आठवाँ अध्याय

गुप्त युग में बनारस का इतिहास

हम देख आये है कि करीव करीव २७५ ईस्वी के वनारस में शायद कौशावी के अधिपति राजा नव का शासन था और शायद इनके और इनके वशधरो के समय में वनारस मे शैव धर्म का विकास हुआ। अव प्रश्न यह उठता है कि वनारस पर गुप्त वश का कव और कैसे अधिकार हुआ। गुप्तो के प्रारम्भिक इतिहास का हमें वहुत कम पता है और इसलिए ठीक तौर से तो कहना सभव नही है कि कौशावी और वनारस गुप्त साम्राज्य की अधीनता में कव आये, पर एक वात तो निश्चित है कि समुद्रगुप्त के राज्य में वनारस सम्मिलित था क्योकि राजघाट से उनकी मुद्राएँ मिली है, जिनके वारे मे हम वाद में कहेंगे। डा० जायसवाल का यह विचार कि कौशावी जीतकर समुद्रगुप्त ने अपनी विजय-यात्रा आरम्भ की, ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सही नही मालूम पडता, क्योकि समुद्रगुप्त के इलाहावाद वाले लेख में कौशावी और वनारस की विजय का कही उल्लेख नही है, जिससे यही पता चलता है कि समुद्रगुप्त के पहले शायद चन्द्रगुप्त प्रथम के राज्य काल में ही कौशावी और वनारस गुप्त साम्राज्य में आ चुके थे। इसका प्रमाण वायुपुराण (९९।३८३) के निम्नलिखित श्लोक से भी मिलता है जिसमें आरम्भिक गुप्त युग की राजसीमा का उल्लेख है—

अनुगगाप्रयाग च साकेत मगधस्तथा
एताञ्जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवशजा

उपर्युक्त श्लोक मे पता लगता है कि शायद चन्द्रगुप्त प्रथम गगा की घाटी में प्रयाग से लेकर पाटलिपुत्र तक राज्य करते थे और साकेत अथवा अवध का प्रदेश भी उनके राज्य में शामिल था। अर्थात् गुप्त राज्य में, चन्द्रगुप्त प्रथम के काल में ही वनारस शामिल हो चुका था। लेकिन डा० जायसवाल इस श्लोक से यह तथ्य निकालते है कि आरभिक गुप्तो की सत्ता प्रयाग में गगा की ओर अर्थात् अवध-वनारस की तरफ थी, जमुना की तरफ नही।[1] उनके इस कथन में केवल इस वात की ओर इशारा है कि कौशावी, जो जमुना की तरफ है, पर इस काल में भारशिवो का राज्य था। पर ऐसा मान लेने के लिए प्रमाण का अभाव है।

चन्द्रगुप्त प्रथम (करीव ३०५–३२५ ईस्वी) ने अपने पुत्रो में से समुद्रगुप्त (करीव ३३०–२७० ईस्वी) को अपना उत्तराधिकारी चुना। इनके इलाहावाद के लेख से हमें इनके विजय पराक्रम का पता चलता है। ये स्वय काव्य-प्रेमी और सगीतज्ञ थे। हो सकता है कि दक्षिण और मध्यप्रान्त की लडाइयो में वनारस रसद पहुँचाने का अड्डा रहा हो, पर इसका कोई प्रमाण नही है।

समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी कौन हुआ इस सवध में विद्वानो में मतभेद है। साधारणत तो यह माना जाता है कि समुद्रगुप्त के वाद चन्द्रगुप्त द्वितीय सिंहासन पर आये, पर कुछ

---

[1] जायसवाल, उल्लिखित, पृ० १२३

विद्वानो का मत है कि समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त के बीच में रामगुप्त ने राज्य किया। इन विद्वानो ने इस सम्बन्ध की बहुत-सी ऐतिहासिक अनुश्रुतियाँ खोज निकाली है जिनके अनुसार रामगुप्त समुद्रगुप्त के बाद राजगद्दी पर आया। उसके समकालीन शक राजा ने उस पर आक्रमण किया, और रामगुप्त को हार खानी पडी। सन्धि की एक शर्त के अनुसार लाचार होकर रामगुप्त ने अपनी पत्नी ध्रुवदेवी को शकराज को देने का वचन दिया। इसके बाद चन्द्रगुप्त ध्रुवदेवी का वेष बनाकर शको के पास पहुँचे और उन्होने शकपति को मार डाला। इस घटना के बाद शायद चन्द्रगुप्त के प्रोत्साहन से रामगुप्त की हत्या हुई और चन्द्रगुप्त सिंहासन पर बैठा।

यहाँ यह कह देना आवश्यक मालूम पडता है कि सिवा कुछ अनुश्रुतियो के, राम-गुप्त की वास्तविकता के सम्बन्ध में कोई ऐतिहासिक प्रमाण नही। कुछ विद्वानो ने समुद्रगुप्त के सिक्को पर काच को राम पढने की चेष्टा की है पर वह युक्तिसगत नही है। अब हमें देखना है कि क्या कोई ऐसा प्रमाण है जिससे यह ज्ञात होता हो कि आरम्भिक गुप्त युग में पूर्वी उत्तरप्रदेश में शक अथवा किसी ऐसी ही जाति के आक्रमण का हमे पता चलता हो। यहा हम विद्वानो का ध्यान बनारस जिले की चन्दौली तहसील के महाइच परगने के पहलादपुर से मिले एक स्तम्भोत्कीर्ण लेख की ओर दिलाना चाहते है। लेख केवल एक पक्ति में है और इसके अक्षर आरम्भिक गुप्त काल के है। इसमें शिशुपाल नाम के राजा के विजय पराक्रम का वर्णन है। लेख में कहा गया है कि वह विपुल विजय कीर्ति पालक, क्षात्रवर्म का रक्षक, राजाओ का सतत रजक और पार्थिवो की सेना का पालक था।[१] डा० फ्लीट के मतानुसार यहाँ पार्थिवो से पहलवो का तात्पर्य है। और अगर यह बात ठीक है तो इस बात की पुष्टि होती है कि चौथी शताब्दी में शायद विदेशी पहलवो ने, जो उत्तर भारत में कही बसे थ, पूर्वी उत्तरप्रदेश पर चढाई की थी और बनारस तक पहुँच गये थे। शिशुपाल के इस लेख से रामगुप्त की कहानी का क्या सबध है यह तो नही कहा जा सकता, पर इतना तो जरूर है कि उस युग में शायद कोई ऐसी घटना घटी हो जिसमें समुद्रगुप्त के बाद भारतवर्ष में बसे किसी विदेशी राजा की इतनी हिम्मत हुई कि वह बनारस तक चढ आया। विद्वानो का विचार है कि रामगुप्त ने ३७६ से ३७८ ईस्वी तक राज्य किया। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (करीब ३८०–४१२ ईस्वी) ने पश्चिम भारत से शको का उन्मूलन किया और उज्जयिनी को अपनी द्वितीय राजधानी बनाया। इनका दक्षिण के वाकाटको से शान्तिपूर्ण सम्बन्ध था। चन्द्रगुप्त द्वितीय वैष्णव धर्मा-नुयायी थे पर उनके राज्यकाल में और धर्मो को भी पूरी स्वतन्त्रता थी। इस देश के सबसे बडे कवि कालिदास इसी युग में हुए। इनके राज्यकाल में बनारस का किसी राजनीतिक घटना से तो सम्बन्ध नही मालूम पडता, पर सारनाथ की मूर्तियो और राजघाट से मिली मुद्राओ से यह पता चलता है कि बौद्ध और शैव धर्म इस युग में बहुत तेजी के साथ आगे बढ रहे थे। इनका विवरण हम आगे चल कर देंगे।

कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य (४१३–४५५ ईस्वी) के राज्यकाल का प्रथम भाग तो शात और सुव्यवस्थित मालूम पडता है, लेकिन भितरी के स्कन्दगुप्त के लेख से पता लगता है कि

---

[१] फ्लीट, गुप्त इन्सक्रिप्शन्स, पृ० २५०–५१।

उसके राज्य के अन्तिम भाग में काफी गडबडी रही और जब उसकी मृत्यु हुई तब ऐसा ज्ञान पड़ा कि हूण गुप्त साम्राज्य को ध्वस्त कर देंगे। साम्राज्य की रक्षा केवल स्कन्दगुप्त की अपूर्व वीरता से ही हो सकी। कुमारगुप्त स्वामि कार्तिकेय के परम भक्त थे और उनकी मुद्राओ पर नर्तित-मयूर स्वामि कार्तिकेय के लक्षण स्वरूप है। राजघाट से इनकी कुछ मुद्राएँ मिली है।

स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (४५५–४६७ ईस्वी) का कम-से-कम बनारस जिले से काफी सम्बन्ध मालूम पडता है क्योकि उनके राज्य काल का सबसे महत्त्वपूर्ण लेख हमें गाजीपुर जिले के भितरी नामक स्थान से मिला है। गुप्तकाल में शायद यह जिला बनारस में ही शामिल था। इस लेख से हमें पता चलता है कि स्कन्दगुप्त ने भितरी में एक विष्णु की प्रतिमा स्थापित की और इसका खर्च चलाने के लिए एक गाँव दान कर दिया।[1] इस लेख से यह भी पता लगता है कि कुमारगुप्त के अन्तिम दिनो में गुप्त साम्राज्य को बडी कठिनाइयो का सामना करना पडा जिसका बडा ही सुन्दर वर्णन भितरी के इस लेख में है—

पितरि दिवमुपेते विप्लुता वशलक्ष्मीं, भुजबलविजितारिर्य प्रतिष्ठाप्यभूय।
जितमिव परितोषान्मातर सास्रनेत्रा हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेत ॥६॥

पिता के दिवगत होने पर उसने शत्रुओ को अपने भुजबल से जीतकर पुन अपनी विप्लुत कुललक्ष्मी की स्थापना की, पुन यह कहते हुए कि मेरी विजय हुई वह हर्ष से साश्रुनेत्रा अपनी माता के पास गया, जैसे कृष्ण अपने शत्रुओ को मार कर देवकी के पास गये।

पर स्कदगुप्त को विजय यो ही नही मिली, इसके लिये उन्हें अनेक कष्ट उठाने पडे। इसकी ओर भी लेख में इशारा किया गया है—

विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन, क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा।
समुदितबलकोशान् पुष्पमित्राश्च जित्वा क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपाद ॥४॥

विचलित कुल लक्ष्मी को रोकने के लिये उद्यत जिसे एक रात जमीन पर सोकर काटनी पडी, बल-कोश से सवर्धित पुष्यमित्रो को जीतकर उसने उनके राजा को पाद पीठ बनाकर उस पर अपना बायाँ पैर रख दिया। हूणो से युद्ध की ओर भी इस लेख में सकेत है—

हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता, भीमावर्तकरस्य श्रोत्रेषु गगाध्वनि

हूणो के साथ युद्ध में उसके दोनो बाहुओ के भीमावर्त से पृथ्वी काँपने लगी—(और शायद स्कदगुप्त की सेना का कलकल) शत्रुओ के कानो में गगाध्वनि की तरह लगने लगा।

हूणो को स्कदगुप्त ने कब पराजित किया यह ठीक तो नही कहा जा सकता पर शायद यह घटना ४५६ ईस्वी के आस पास घटी हो। यह भी पता नही है कि यह युद्ध

[1] फ्लीट, गुप्त इन्सक्रिप्शन्स, पृ० ५२-५४।

कहाँ हुआ पर श्रीवेपु गगाध्वनि के उल्लेख मे शायद यह गगा की घाटी में हुआ हो। हमें यह पता नही है कि गगा की घाटी में यह स्थान कहाँ था। क्या यह बनारस के आप पास का इलाका था? इस प्रश्न का उत्तर तो पुरातात्विक खोज के सिवाय नही मिल सकता। सारनाथ के गुप्तकालीन मूलगधकुटी विहार के बहुत टूट फूट जाने के बाद पुनर्निर्माण की सूचना तो सारनाथ की खुदाइयो मे मिलती है। पर इसका सबब हूणो की चढाई मे था अथवा नही यह कहना कठिन है। जो भी हो, राजघाट मे मिली मुद्राओं से तो यह प्रकट है कि स्कदगुप्त के समय में भी बनारस गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत था।

स्कन्दगुप्त के बाद गुप्त साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया फिर भी वह कुछ दिनो तक चलता रहा। ४६७ ईस्वी के बाद पुरुगुप्त जो स्कदगुप्त के सहोदर थे, वृद्धावस्था में गद्दी पर आये और ४६७ से ४७२ ईस्वी तक राज्य करते रहे। शायद पुरुगुप्त बौद्ध थे।

पुरुगुप्त के पुत्र नरसिंहगुप्त ने बालादित्य की पदवी धारण की। नरसिंहगुप्त के समय का कोई लेख नही मिला है पर इनका नाम कुमारगुप्त द्वितीय की भितरी मे मिली मुद्राओं में आया है। नरसिंहगुप्त ने भी थोडे समय तक शासन किया क्योंकि कुमारगुप्त द्वितीय के गुप्त सवत् १५४ के लेख मे यह पता चलता है कि वे ४७३ ईस्वी में राज्य करते थे इसीलिए नरसिंहगुप्त का समय ४७३ ईस्वी के कुछ ही पहले बैठता है।

कुमारगुप्त द्वितीय नरसिंहगुप्त के पुत्र थे। इनके दो लेख मिले है एक तो भितरी की मुद्रा और दूसरा सारनाथ का १५४ सवत् का लेख। इन दोनो लेखो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बनारस और इसके आसपास के जिलो पर ४७३ ईस्वी तक गुप्तो का अधिकार था। कुमारगुप्त द्वितीय का शासन काल ४७३ और ४७७ ईस्वी के बीच में समाप्त हुआ जान पडता है क्योकि ४७७ ईस्वी में हमें बुधगुप्त का सारनाथ वाला लेख मिलता है। कुमारगुप्त द्वितीय परम भागवत थे।

बुधगुप्त का, जिनका कुमारगुप्त के बाद गुप्तवश की गद्दी पर अधिकार हुआ, सारनाथ से पहला लेख गुप्त सवत् १५७ (४७७ ईस्वी) का मिलता है।[१] इस लेख मे और राजघाट मे मिले १५७ गुप्त सवत् के एक दूसरे स्तभोत्कीर्ण लेख[२] पर महाराजाधिराज बुधगुप्त का नाम आने से यह निश्चित् है कि बनारस तब तक गुप्तवश में ही था। इनके राज्यकाल का अतिम वर्ष चाँदी के सिक्को के आधार पर गुप्त सवत् १५७ (ईस्वी ४९५) तक ठहरता है। बुधगुप्त का राज्य शिलालेखो के आधार पर बगाल से लेकर मध्यप्रदेश तक फैला हुआ था। बुधगुप्त बौद्ध थे और युवान च्वाङ के अनुसार उन्होंने नालदा के बौद्ध विहार में अभिवृद्धि की थी।

बुधगुप्त के बाद वैन्यगुप्त का नाम मिलता है। इनका काल शायद ५०० के कुछ पूर्व से लेकर ५०८ ईस्वी तक था। वैन्यगुप्त को सिक्को में द्वादशादित्य की पदवी दी गयी है। गुनैघर लेख से पता लगता है कि वैन्यगुप्त शैव थे।

---

[१] ए० एस० आर०, १९१४–१८ भा० २, पृ० १२५

[२] दि जर्नल ऑफ गगानाथ झा रिसर्च इन्स्टिट्यूट, ३ (१९४५), १-५

कंन्यगुप्त के वाद भानुगुप्त हुए। इनका सबध वन्यगुप्त से क्या था इसका पता नही है। लेखो॰ के आवार पर यह कहा जा सकता है कि भानुगुप्त ने करीब ५१० मे ५४४ ईस्वी तक राज्य किया। इनके समय भी शायद मध्यप्रात से लेकर बगाल तंक गुप्तो का राज्य था और काशी भी उसमें आ जाती थी। भानुगुप्त के युग की एक विशेष घटना हूणो का आक्रमण और विजय है। बाद में भानुगुप्त ने करीब ५३० ईस्वी में हूणो पर विजय पायी। गुप्तयुग का अतिम राजा वज्र था और इसी के साथ गुप्त साम्राज्य समाप्त हो गया। ● ●

नौवाँ अध्याय

राजघाट से मिली गुप्तकालीन मुद्राओं से बनारस के शासन और व्यापार पर प्रकाश

१. व्यापारिक और शासनिक मुद्राएँ

हमने दसवें अध्याय में गुप्त साम्राज्य के इतिहास की एक रूपरेखा देकर यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि काशी और बनारस छठी शताब्दी के आरम्भ तक गुप्त राज्य में थे। सम्प्रति हम केवल लेखों के आधार पर गुप्त साम्राज्य और बनारस के सम्बन्ध की थोडी बहुत विवेचना कर सके है। अगर सच पूछा जाय तो हमें राजघाट की खुदाई के पहले बनारस के इतिहास के सम्बन्ध में बहुत ही थोडी बातें मालूम थी, पर राजघाट की खुदाई से बनारस के गुप्तकालीन इतिहास पर काफी प्रकाश पडा है। काशी के गुप्तकालीन धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक इतिहास का स्रोत मुख्यत मन्दिरो, व्यापारियो और नागरिकों की मुद्राएँ है। बनारस के गुप्तकालीन राजकर्मचारियो की भी मुद्राएँ मिली है और आयात निर्यात सम्बन्धी मुद्राओं से पता चलता है कि स्कन्दगुप्त के समय तक तो बनारस में गुप्तो का अक्षुण्ण प्रभाव बना रहा। लेकिन इन मुद्राओं के सम्बन्ध में कुछ और कहने के पहले हम यह बतला देना चाहते है कि इनका क्या प्रयोजन था और ये कैसे लगायी जाती थीं।

संस्कृत साहित्य से पता चलता है कि भारतीय राजे, महाराजे, मन्त्रि-गण, राज्य के उच्च कर्मचारी और व्यापारी अपनी मुहरें रखते थे जिन्हें नाम-मुद्रा कहा गया है। अर्थशास्त्र में शुल्काध्यक्ष के प्रकरण में व्यापार में इन मुद्राओं का किस तरह प्रयोग होता था इस पर प्रकाश डाला गया है।[1] चार पाच शुल्क वसूल करने वाले सार्थ के शुल्कशाला के पास आने पर वणिकों के पास जाकर व्यापारियों से उनके आने का पता, माल की तायदाद और उनका दाम पूछकर यह भी पूछते थे कि माल पर सबसे पहले अभिज्ञान मुद्रा कहाँ लगी थी। जो व्यापारी मुद्रा नहीं लगवाते थे, उन्हें शुल्क का दुगुना दण्ड देना पडता था। जाली मुहर (कूटमुद्रा) लगाने पर दण्ड शुल्क का आठ गुना होता था। मुद्राओं के टूटने पर या मिट जाने पर व्यापारी को एक दिन तक शुल्कशाला के घटिका स्थान या हवालात में बन्द रहना पडता था। नामकृत राजमुद्रा बदल देने से व्यापारी को प्रति बोझ सवा पण दण्ड देना होता था। उपर्युक्त विवरण से पता चलता है कि माल पर राजमुद्रा भी लगती थी। चिट्ठियो और दूसरे कागजो पर भी मुद्राएँ लगती थी।[2] मुद्राराक्षस (अक ५) में कहा गया है कि चाणक्य के लिखे पत्र पर राक्षस की मुद्रा लगी

---

[1] अर्थशास्त्र, २।२०।२९

[2] धम्मपद अट्ठकथा (१, १५८) में मिट्टी लगा कर राजा द्वारा अपने शासनपत्रो पर मुद्राकन का उल्लेख है।

थी (राक्षसस्य मुद्रा लाछित) और उसकी पेटी पर भी उसकी मुद्रा थी (तस्यैवमुद्रा लाछिता इय आभरण-पेटिका)। शकुन्तला को दुष्यन्त ने जो अँगूठी दी थी उस पर भी उसका नाम (नामाक्षराणि) खुदा था। एक बिलकुल दूसरी तरह की भी मुद्रा होती थी जिसका व्यवहार पासपोर्ट की तरह होता था। इसका वर्णन कौटिल्य ने मुद्राध्यक्ष विवीताध्यक्ष प्रकरण में किया है।[1] इससे पता लगता है कि मुद्राध्यक्ष प्रति मुद्रा के लिए एक पण की फीस लेता था। जिनके पास मुद्राएँ होती थी वे समुद्र यात्रा कर सकते थे या जनपदो में आ जा सकते थे। विना मुद्रा के देश के अन्दर घुसने वालो को १२ पण दण्ड देना पडता था। कूटमुद्रा रखने वाले को भी दण्ड मिलता था। विदेशियो को विना मुद्रा देश-प्रवेश करने पर गहरी सजा मिलती थी। मुद्राओ को जाँचने का भार चरा-हगाहो के अध्यक्ष (विवीताध्यक्ष) पर था। लडाई के समय भी राजमुद्रा की वहुत आवश्यकता पडती थी। मुद्राराक्षस में कहा गया है कि सिद्धार्थ को इसलिए गिरफ्तार कर लिया गया, क्योकि भागुरायण से, जिसपर मलयकेतु ने पडाव का भार दे रक्खा था, उसने मुद्रा नही ली थी। महाभारत आरण्यक पर्व (१५।१८) से पता लगता है कि शाल्वो ने जव द्वारका पर चढाई की तव विना मुद्रा के नगरी के अन्दर कोई आ जा नही सकता था (न चामुद्राभिनिर्याति नचामुद्र प्रवेश्यते)।

उपर्युक्त अवतरणो से यह पता चलता है कि यात्रा करने के लिये मुद्राओ की वडी आवश्यकता पडती थी और इसके लिए फीस भी देनी पडती थी। मुगल काल में भी दस्तक के विना कोई यात्रा नही कर सकता था।

राजघाट से मिली अधिकतर मुद्राएँ चार प्रकार की है—(१) पासपोर्ट, (२) राज-कर्मचारियो की मुद्राएँ, (३) व्यापारियो अथवा नागरिको की मुद्राएँ, (४) देव-मदिरो की मुद्राएँ। इनमें से हम देव-मदिरो की मुद्राओ का वर्णन वाद में करेंगे।

राजघाट की मुद्राओं की जाँच से पता लगता है कि उनके पृष्ठभाग पर चौडी पनारी का कारण यह है कि जिन वस्तुओ पर वे लगायी जाती थी उनके ढालुएँ स्तर थे। इन मुद्राओ पर जो पतले कटाव दीख पडते है वे उनमें लगी रस्सियो के निशान है। जान पडता है, साधारणत मुद्रित वस्तुओ पर दो वार रस्सी लपेटकर उसमें गाँठ दे दी जाती थी। इस गाँठ पर एक गीली मिट्टी की तह जमाकर मुहर लगा दी जाती थी। वस्तुओ पर डोरी लपेटकर उसपर मिट्टी लपेट दी जाती थी और उसके ऊपर एक गीली मिट्टी की तह मुहर मारने के लिए लगा दी जाती थी। इसका पता ऐसे चलता है कि कुछ मुद्राओ में एक या दो सूराख हैं। ये सूराख आर पार इसलिए होते थ कि उनमें पिरोये गये डोरे मुद्राएँ हटाते समय काट दिये जाते थे। मुद्रा लगाने की ठीक ऐसी ही विधि वसाढ[2] और भीटा[3] से मिली हुई मुद्राओ से भी ज्ञात होती है। साथ ही पासपोर्ट के लिए जो मुद्राएँ होती थी, उनकी पीठ पर डोरी के निशान नही मिलते और ये आँवें में पकी हुई भी होती है।

---

[1] अर्थशास्त्र, २।३३।५२–५३

[2] ए० एस० आर०, १९०३-०४

[3] ए० एस० आर०, १९११–१२, पृ० ४५–४६

राजघाट से पासपोर्ट सबधी जो मुद्राएँ मिली है उनका अध्ययन श्री कृष्णदेव ने किया है।[१] इन पकी हुई मुद्राओ पर महान् गुप्त सम्राटो के सिक्को के चित ओर वाले लक्षण मिलते है। एक मुद्रा पर समुद्रगुप्त के वीणावादक भाँति के सिक्को के चित ओर का लक्षण मिलता है।[२] इसमें राजा भद्रासन में बैठे दिखलाये गये है। सामने में एक और लक्षण है जिसका अभिप्राय शायद बायी ओर बढते हुए हाथी से है।[३]

दूसरी मुद्रा में चन्द्रगुप्त द्वितीय के धनुर्धारी सिक्को के चित ओर वाली लक्ष्मी की आकृति अकित है।[४] प्रकाशादित्य के सिक्को को छोडकर यह लक्ष्मी और सब गुप्त राजाओ के सिक्को पर मिलती है। श्री कृष्णदेव के अनुसार शायद यह मुद्रा कुमारगुप्त की हो। इस पर तीन और मुहरें है और पट पर वृषभ सहित एक और मुहर है।

राजघाट से मिली कुछ और मुहरो पर भी चन्द्रगुप्त द्वितीय और कुमारगुप्त प्रथम के सिह-पराक्रम वाले सिक्को के चित और पट ओर वाले लक्षण मिले है। एक जगह शायद चन्द्रगुप्त सिह को तीर मार रहे है।[५] लेकिन दूसरी जगह कुमारगुप्त प्रथम के सिह-पराक्रम सिक्के के पट ओर वाली आकृति अर्थात् सिहवाहिनी देवी आयी है।[६]

मुद्राओ पर चाँदी और ताँबे के सिक्को पर आने वाले लक्षण भी लिये गये है। एक मुद्रा पर चन्द्रगुप्त द्वितीय की तीन चौथाई शबीह है।[७] एक दूसरी मुद्रा पर एक छाप में एक भद्दी-सी दाहिने रुख वाली एक चश्मी शबीह है और उसके दोनो तरफ मोर छपे हुए है।[८] इस मोर छाप का आरम्भ कुमारगुप्त ने किया और बाद में स्कन्दगुप्त तथा भानुगुप्त के सिक्को में भी मोर आता रहा।

कुछ मुहरो पर वेदियाँ भी आती है, जिनकी तुलना स्कन्दगुप्त के पश्चिमी प्रान्तो के चाँदी के सिक्को पर आयी वेदी से की जा सकती है।

इन मुद्राओ पर के लक्षणों की जाँच-पडताल से एसा पता लगता है कि इनमें समुद्रगुप्त से लेकर स्कदगुप्त तक की मुहरें है। फिर भी इनमें चन्द्रगुप्त द्वितीय और कुमारगुप्त द्वितीय की मुहरें अधिक है। इन मुद्राओ के आधार पर श्री कृष्णदेव निम्न-लिखित निष्कर्षों पर पहुँचते है—(१) ये मुद्राएँ सर्वसाधारण की न होकर गुप्त राजाओ की है क्योकि कोई नागरिक राजलक्षणो की स्वप्न में भी नकल नही कर सकता था।

---

[१] जे० एन० एस० आई०, ३ (दिसम्बर १९४१), भा० २, पृ० ७४–७७।

[२] वही, प्ले० ५, १,

[३] वही, पृ० ७३

[४] वही, प्ले० ५, २

[५] वही, प्ले० ५, ४

[६] वही, प्ले० ५, ५

[७] वही, प्ले० ५, ६

[८] वही, प्ले० ५, ७

(२) ये मुहरें सिक्को के साँचो से निकाली गयी हैं जिससे यह पता लगता है कि बनारस में गुप्तो की टकसाल थी। (३) इनके पीछे पनालियाँ न होने तथा इनके आवें में अच्छी तरह पकी होने से यह पता लगता है कि इनका व्यवहार पासपोर्ट या हुलिया के लिए होता था। (४) इनमें एक मुद्रा (न० १०) ऐसी है जो शायद किसी पत्र या दस्तावेज पर लगी थी।[1]

राजघाट से मिली दूसरी तरह की अन्य गुप्तकालीन मुद्राओ का अध्ययन डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने किया है। उनके निष्कर्षों का विवरण हम नीचे देते हैं—

राजघाट से अमात्य जनार्दन की मुद्राएँ बडी सख्या में मिली है। लेख के अक्षर आरभिक गुप्तयुग के है इसलिएँ यह कहा जा सकता है कि शायद समुद्रगुप्त के समय अमात्य जनार्दन बनारस का कारबार देखते थे। राजघाट से अमात्य हस्तिक की भी मुहर मिली है जिस पर प्राकृत में आरभिक गुप्ताक्षरो में 'अमच हस्तिकस' लेख है। इन दोनो की मुद्राओ पर वृषभ बने है जिनसे काशी का शैवधर्म से सबध ज्ञात होता है।

राजघाट से कुमारामात्याधिकरण की कई मुहरें मिली है। इन मुहरो मे ऊपर कमल पर आश्रित गजलक्ष्मी है और नीचे 'कुमारामात्याधिकरणस्य' लेख। मुहरो से पता चलता है कि बनारस में कुमारामात्य का दफ्तर था। गुप्तकाल में कुमारामात्य सधिविग्रहिक, महादडनायक, मत्री, सामत और विपयपति होते थे। वे राजपुत्रो और उपरिकर महाराजा (प्रातीयगवर्नर) के नीचे भी काम करते थे।[2] कुमारामात्य शब्द में कुमार अँग्रेजी 'केडेट' शब्द का प्रतीक है। पर अभी तक ठीक-ठीक पता नही चलता कि उसका काम क्या था और उसका उपरिकर महाराज और केन्द्र से क्या सबध था। बनारस का कुमारामात्य तो शायद वहाँ का विपयपति रहा हो। अगर बनारस का कुमारामात्य विपयपति था तो अमात्य शायद उसका सलाहकार रहा हो।

राजघाट से काफी सख्या में 'वाराणस्याधिष्ठानाधिकरण' लेख वाली मुहरें भी मिली है। यहाँ अधिष्ठान से मतलब है कि विपय का मुख्य नगर जिसे हम आज डिस्ट्रिक्ट टाउन कहते हैं और अधिकरण के माने दफ्तर। अगर अधिकरण का यह अर्थ ठीक है, तो इसका अर्थ हुआ नगर का सरकारी दफ्तर लेकिन इसके साथ ही साथ कुमारामात्याधिकरण का भी अर्थ शायद विपयपति का दफ्तर है। इन दोनो दफ्तरो में कौन-से काम होते थे और उन दोनो में क्या भेद था, इसका तो ठीक-ठीक पता नही है, लेकिन अगर हम अधिकरण का अर्थ अदालत ले लें तो शायद यह बनारस की प्रधान अदालत की मुहर हो।

राजघाट से दो तरह की मुद्राएँ और मिली है जिनके बारे कुछ और अधिक जानने की आवश्यकता है। एक मुद्रा में एक तरफ निगम की छाप है और दूसरी तरफ जनपद की। निगम के ऊपर एक गुम्बददार इमारत है। एक दूसरी मुद्रा की एक छाप मे

---

[1] वही, पृ० ७६।

[2] एडवान्सड हिस्ट्री आफ इडिया, पृ० १९३, लडन १९४६

हरिदास का नाम है और दूसरी छाप निगम की है। एक तीसरी छाप में केवल 'जनपदस्य' लेख है। इन मुद्राओ से बनारस की तत्कालीन दो सस्थाओ पर प्रकाश पडता है, यथा निगम और जनपद। एक ही मुद्रा पर निगम और जनपद दोनो की छापें लगी रहने से यह भी कहा जा सकता है कि इन दोनो में कुछ सपर्क भी था। अब हमें विचार करना चाहिए कि ये दोनो सस्थाएँ क्या थी।

डा० मजूमदार ने निगम सम्बन्धी उद्धरणो की जाँच पडताल की है।[१] सहजाति निगम, जिसका उल्लेख भीटा से मिली मौर्यकालीन मुद्रा में हुआ है, भट्टिप्रोलु के मजूषा वाले लेख (ईसा पूर्व तीसरी सदी) जिसमें नेगमा आया है, उषवदात का नासिक वाला लेख जिसमें निगम सभा का उल्लेख है, अमरावती स्तूप का एक लेख जिसमें धनकटक निगम का उल्लेख है तथा भीटा से मिली चार कुषाण कालीन मुद्राओ पर निगम के उल्लेखो को जाँचकर डा० मजूमदार का कहना है कि यह सामूहिक सभा सारे शहर के लिये थी। सस्कृति और पालि साहित्यो में तो निगम की सुचारु व्याख्या नही है पर जैन बृहत्कल्पसूत्र मे एक जगह तरह तरह को बस्तियो की बहुत ही प्राचीन तालिकाएँ आयी है जिनमें निगम को एक तरह की वस्ती माना है। बृहद्कल्पसूत्र भाष्य (श्लोक, १०९१) मे, जिसका समय छठी शताब्दी का है, निगम शब्द की व्याख्या है—'निगम नेगम वग्गो' अर्थात् निगम वस्ती में रहने वालो को नेगम कहते थे। टीकाकार मलयगिरि ने इस भाष्य की निम्नलिखित टीका की है—**निगम नाम यत्रनैगमा वाणिजकविशेषास्तेषा वर्ग समूहो वसति, अतएव निगमे भवा नैगमा इति व्यपदिष्यते,** अर्थात् निगम में विशेष वाणिज्य करने वालो का समूह रहता है, अतएव निगम में रहने वालो को नैगम कहते है। इसी बृहद्कल्पसूत्र भाष्य में एक दूसरी जगह (श्लोक १११०) यह कहा गया है कि निगम दो तरह के होते थे साग्रहिक और असाग्रहिक। मलयगिरि ने अपनी टीका में लिखा है कि साग्रहिक निगम उसे कहते थे जो सग्रह यानी रेहन-वट्टे का काम और व्यवहार अर्थात् लेन-देन का काम करता था। असाग्रहिक नैगम शायद साग्रहिक नैगमो का काम तो नही करते थे पर अपनी कोई अलग सस्था न बनाकर उसी में पडे रहते थे—**साग्रहिकयोरेव नैगममोर्यथासख्यमन्तर्भावनीयाविति न पृथक् प्रपच्यते।** बृहद्कल्पसूत्र भाष्य के इन उल्लेखो से यह साफ हो जाता है कि निगम उस शहर को कहते थे जहाँ लेन-देन और व्याज-वट्टे का काम करने वाले व्यापारी रहते थे।

बनारस बहुत प्राचीन काल से शायद निगम था, क्योकि महाजनपदयुग में और उसके बाद भी उसकी ख्याति व्यापार पर अवलबित थी। जैसा हम देख चुके है वाराणसी में कुषाण काल से गुप्तकाल तक निगम की मुद्राएँ मिली है। मेरी समझ में इस प्राचीन निगम का रूप बनारस के सर्राफे में, जो अब मर चुका है, बच गया था। सर्राफे की पचायत में कुल इक्यावन-बावन सदस्य होते थे और बिना सर्व सम्मति के उसका कोई नया सदस्य नही चुना जा सकता था। इसमें वही व्यापारी शामिल होते थे जो लेन-देन हुडी-पुर्जे और बीमे का रोजगार करते थे। सर्राफे के सदस्यो के व्याज की बँधी दर होती थी जो बाजार दर से काफी नीची होती थी और जरूरत पडने पर सर्राफे के किसी

[१] मजूमदार, कार्पोरेट लाइफ इन ऐशेंट इडिया, पृ० १४४, इत्यादि, कलकत्ता १९२२

सदस्य भी रुपया उसी निर्धारित सूद की दर पर ले सकते थे। नगर-सेठ उस सर्राफे का चौधरी होता था और उसका सरकार में तथा सारे शहर में काफी मान होता था।

राजघाट की मुद्राओ में जो जनपद शब्द आया है उसके सबध में कुछ कहा नही जा सकता, पर इतना तो निश्चित् है कि इस सस्था का नगर के जीवन से काफी सबध था और जैसा एक मुद्रा से पता चलता है जनपद और निगम से भी सबध था। हो सकता है कि यह म्युनिसिपैलिटी अथवा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड जैसी कोई सस्था रही हो।

२ वेश्याएँ इत्यादि

चतुर्भाणी के पादताडितकम् में, जिसका समय पाँचवी सदी का आरभ माना गया है, वाराणसी के मौजी जीवन पर प्रकाश पडता है। एक जगह उज्जयिनी में आयी हुई पराक्रमिका नामक काशी की मुख्य वेश्या और उसके नखरो का वर्णन है। विट ने उसे खिडकी पर पिछोला बजाते हुए देखा। उसके कुच वैकक्ष्य से कसे थे, उसने अर्वोरुक ऐसे पहन रक्खा था कि उसके नितब उघडे-से लग रहे थे।[1]

विट ने एक दूसरी जगह उस युग के काशी, कोसल, भर्ग और निषाद के फटीचर कवियो पर गहरा व्यग्य किया है जो प्यालो के मोल पर अपनी कविता बेचते थे।[2]

३. गुप्त युग में बनारस की धार्मिक अवस्था

यह बात निर्विवाद है कि गुप्त युग में शैव और वैष्णव धर्म अपने चरम विकास को पहुँचे। बौद्ध धर्म के प्रति जिस प्रतिक्रिया का आरभ हम कुषाण काल ही से पाने लगते है, उसका पूर्ण विकास गुप्त काल में हुआ और इसके फलस्वरूप शैव और भागवत धर्म दोनो ही खिल उठे। इस धार्मिक पुनर्जीवन ने धीरे-धीरे वैदिक धर्म के प्रतीक यज्ञादि को भी गुप्तयुग के बाद समाप्त कर दिया पर इसका यह अर्थ नही है कि भागवत और शैवधर्म बौद्धो को दबाकर आगे बढे। ऐसा सोचना गुप्त काल की उस महान् धार्मिक उदारता के प्रति गहरा अन्याय करना होगा। प्राचीन लेखो, मूर्तियो और मदिरो इन सब के आधार पर यह कहा जा सकता है कि गुप्तो के समय में उत्तर भारत में पूर्ण धार्मिक स्वतत्रता थी। परम भागवत होते हुए भी गुप्त सम्राट् बौद्ध धर्म और जैन धर्म को बडे आदर से देखते थे। सारनाथ और मथुरा की बौद्ध कला इसी युग की देन है। कभी कभी तो हम धार्मिक कट्टरता छोडकर हिंदुओ को बहुधा बौद्ध और जैन मदिरो की स्थापना और चलाने में मदद करते पाते हैं। अब हम यह देखेंगे कि इतिहास गुप्तकाल के धार्मिक विकास पर क्या प्रकाश डालता है।

हम पहले कह आये है कि मत्स्य पुराण मे हरिकेश की कहानी मे हम सर्वसाधारण में प्रचलित यक्ष धर्म और शैव धर्म में कशमकश की छाया पाते हैं। इस कथा के अत में शैवधर्म की विजय होती है और तमाम यक्षो और भूतो को अपने मे समेटकर

---

[1] वी० एस० अग्रवाल और मोतीचन्द्र, चतुर्भाणी, पृ० १८७-८८

[2] वही, पृ० २५१

शैव धर्म ने उनको अपना कर शिव के गण, पार्षद इत्यादि बना देता है। गिनायक, गजतुड, जयत, मदोत्कट, सिंह और व्याघ्रमुख वाले तथा कुब्ज और वामन यक्ष, महाकाल, चडघट, महेश्वर, दण्डचडेश्वर, घण्टाकर्ण और भी बहुत-से गण और गणेश्वर जिनके बडे-बडे पेट और विशाल शरीर थे शिव के भक्त बनकर अविमुक्त क्षेत्र वाराणसी के रक्षक बने और शूलपाणि और मुद्गरपाणि यक्ष द्वार द्वार पर शिव के गण बनकर जम गये (मत्स्य०, १८३।६३-६६)। वाराणसी में यहाँ तक शिव का प्रताप बढा कि विचारे यक्षराज कुबेर भी वाराणसी नगरी में अपनी चाल-चलन छोडकर गणेशत्व को प्राप्त हो गये (मत्स्य०, १८०।६२)। यह कशमकश किस काल से शुरू हुई यह तो नहीं कहा जा सकता पर इसका आरभ काफी प्राचीन काल में हुआ होगा इसमें सदेह नही, क्योंकि हरिकेश की कहानी में यह भी सकेत है कि हजार वर्ष काशी में तप करने के बाद शकर ने उन्हें वर देकर काशी का क्षेत्रपाल बनाया। पौराणिक आधारो से एक दूसरी बात का भी पता लगता है कि शैवधर्म ने न तो बौद्धो से टक्कर ली न उसने शुद्ध वैदिक धर्म से ही वैर मोल लिया। उसने तो अपना प्रचार केवल उस जनसमूह तक सीमित रक्खा जो यक्षो और नागो के फेर में सदियो से फँसा था और जिस लोकधर्म के साथ बौद्धो को भी, किसी-न-किसी प्रकार का समझौता करना पडा। जान पडता है कम-से-कम ईसा की प्रथम शताब्दी में, जैसा कि कुषाणो के कुछ सिक्को से पता लगता है, शैवधर्म विकसित हो चला था पर उसकी गति इतनी तेज नही थी। सभवत पूर्वी उत्तर प्रदेश में भारशिवो के समय वह और भी तेजी से आगे बढा और गुप्तकाल में तो यह मध्यदेश में छा गया।

पुराणो के अध्ययन से पता चलता है कि शैवधर्म के इस उत्कर्ष में बनारस का बहुत बडा हाथ था। पुरातत्त्व सबधी सूत्रो के आधार पर तो यही जान पडता है कि वाराणसी का अविमुक्त-क्षेत्र नाम गुप्त युग मे पडा, पर पुराण इस नामकरण की घटना दिवोदास के युग तक ले जाते हैं। वायुपुराण के अनुसार (३०।५८) शिव ने बनारस के नष्ट हो जाने पर भी यहाँ से कभी न हटने का विचार पार्वती से प्रकट किया इसीलिए इसका नाम अविमुक्त क्षेत्र पड गया। अग्नि पुराण (३५।१६) भी कहता है कि इस क्षेत्र को शिव के कभी न छोडने से ही इसका नाम अविमुक्त क्षेत्र पडा। गुप्त युग में शैव धर्म का काशी में पुनरुत्थान होते ही अनेक शिवलिंगो की स्थापनाएँ होने लगी। मत्स्यपुराण (१२१।२८-२९) में कहा गया है गुप्तयुग में काशी के निम्नलिखित प्रसिद्ध आठ शिवलिंग थे—(१) हरिश्चन्द्र, (२) आम्रातकेश्वर, (३) जालेश्वर, (४) श्रीपर्वत, (५) महालय, (६) कृमिचण्डेश्वर, (७) केदारेश्वर, और (८) अविमुक्तेश्वर। हम आगे चलकर देखेंगे कि मत्स्य पुराण के इस कथन में काफी सत्य है।

पुराणो से यह भी पता लगता है कि गुप्तकाल में बनारस की पवित्रता का विश्वास दृढ हो चुका था। अग्नि पुराण (३५२१) मे यहाँ स्नान, जप, होम, मरण, देवपूजन, श्राद्ध, दान और निवास मुक्तिदायक माने गये हैं। देवदेव अविमुक्त का शिवालय, महाश्मशान, तीर्थ और तपोवन पवित्रता की वस्तु माने गये (मत्स्य०, १८४।९)। ब्रह्मचारी, सिद्ध, वेदान्तकोविद इत्यादि मरने के दिन तक वही बसने लगे (मत्स्य०, १८२।८)। अधविश्वास यहाँ तक बढा कि लोग मानने लगे कि काशी में विधानपूर्वक आग में जल मरने से मृतात्मा

स्वय शिव के मुख में प्रवेश करता है, और जो कृतनिश्चय होकर उपवास करते थे उनकी पुनरावृत्ति असभव थी (मत्स्य०, १८३।७७–७८)। आजदिन बनारस के बारे में कहावत प्रसिद्ध है 'चना चबैनी गगजल जो पुरवै करतार, काशी कवहुँ न छाँडिए विश्वनाथ दरवार' पर इसका प्रारम्भ गुप्तयुग में ही हो चुकी थी, मत्स्यपुराण (१८४।५१) में कहा है, **'देवो देवी नदी गगा मिष्टमन्न शुभागति', वाराणस्या विशालाक्षि वास कस्य न रोचते।'** हे विशालाक्षि, जहाँ देव है, देवी है, गगा नदी है, मिठाइयाँ है और शुभगति है, ऐसी वाराणसी किसको न रुचेगी। विचारे मुगल कालीन बनारसियो को चना चबैना पर ही टरकना पडा। इतना ही नही, बनारस के अजीव दृश्यो में वहाँ के अकर्मण्य साधुओ के जमघट भी है। जान पडता है गुप्तयुग में भी बनारस में ये पूरी तरह से जम चुके थे। मत्स्यपुराण (१८३।३१–३२) का कहना है कि घास-पात खाकर जीने वाले, केवल किरण पीकर जीने वाले, केवल दात से ऊखल का काम लेने वाले, अश्मकुट्ट, महीने महीने केवल कुशाग्र से जल पीने वाले, वृक्षमूल में बसने वाले, और पत्थर पर सोने वाले साधु नगरी की शोभा बढा रहे थे। जैसे-जैसे समय वीतता जाता था वैसे-वैसे बनारस में तीर्थों की बाढ आती जाती थी। दशकुमार चरित में जब अर्थपाल अपने मित्रो सहित बनारस पहुँचे तब उनका व्यवहार विलकुल श्रद्धालु यात्रियो की तरह था।[1] मणिशलाकावत् निर्मल जल वाले मणिकर्णिका कुड में नहाकर भगवान् अन्धकमथन अविमुक्तेश्वर को नमस्कार करके उन लोगो ने मदिर की प्रदक्षिणा की। इस मणिकर्णिका कुड का अग्नि और मत्स्य पुराणो में कही पता नही है। जान पडता है इसकी कल्पना छठी शताब्दी में आरम्भ में हुई होगी।

राजघाट की खुदाई के पहले बनारस से शैवधर्म के सबध के प्रमाण केवल पुराण थे, पर खुदाई से मिली मुद्राओ से बनारस के अनेक शिवलिंगो का पता चला है और इनसे मत्स्यपुराणादि में दी गयी शिवलिंगो की तालिकाओ की ऐतिहासिकता प्रमाणित होती है। जैसा हम पहले बता चुके है गुप्तयुग के काशी के प्रधान शिवलिंग आठ, अर्थात् हरिश्चन्द्रेश्वर आम्रातकेश्वर, जालेश्वर, श्रीपर्वतेश्वर, महालयेश्वर, कृमिचडेश्वर, केदारेश्वर थे तथा इन सब में प्रधान अविमुक्तेश्वर थे। काशी खड (अ० १०) में भी इनमें से अधिकतर नाम आते है, पर इस युग में अविमुक्तेश्वर की इतनी महिमा नही रह गयी थी और इनकी जगह विश्वेश्वर ने ले ली थी। मत्स्य पुराण की तालिका के शिवलिंगो में से दो की मुद्राएँ अभी यथा आम्रातकेश्वर और अविमुक्तेश्वर की अब तक मिली है। आशा है कि राजघाट की और अधिक खुदाई होने पर अन्य महादेवो की मुद्राएँ भी वहाँ से मिलेगी। आम्रातकेश्वर की मुद्रा बनारस में तो नही, पर वैशाली से मिली है, सभवत किसी भक्त के हाथ वह वहाँ पहुँच गयी होगी। अविमुक्तेश्वर की सब की सब मुद्राएँ बनारस से मिली है।

राजघाट से अविमुक्तेश्वर की निम्नलिखित भाँति की मुद्राएँ मिली है—(१) गुप्त-कालीन अक्षरो में अविमुक्तेश्वर भ(ट्टारक), त्रिशूल, परशु और वृषभ, (२) गुप्तकालीन अक्षरो में अविमुक्तेश्वर, वृषभ और गगा, (३) आठवी सदी के अक्षरो में श्री अविमुक्तेश्वर, (४) आठवी-नवी सदी के अक्षरो में नाममुद्रा पर अविमुक्तेश्वर भट्टारक लेख। इन

[1] दशकुमारचरित, पृ० १६६, वम्बई १९३६

[2] ए० एस० आर०, १९०३–०४, पृ० ११०

लेखो मे पता चलता है कि गुप्तकाल मे लेकर नवी शताब्दी तक अविमुक्तेश्वर की पूजा बनारस में प्रचलित रही। अविमुक्तेश्वर भट्टारक वाले लेख मे मालूम पडता है कि अविमुक्तेश्वर मन्दिर के कोई महत भी थे और यह महती गुप्त युग मे आरम्भ होकर नवी सदी तक चलती रही। मुद्राओं मे यह भी पता चलता है कि अविमुक्तेश्वर के लक्षण' त्रिशूल, परशु, और वृषभ थे और शायद अविमुक्तेश्वर का मन्दिर गगा के किनारे अथवा उसके पास में था।

अविमुक्तेश्वर के कुछ पौराणिक आधारो के बारे में हम ऊपर कह चुके है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या अविमुक्तेश्वर के और भी कई नाम थे। पुराणो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उसके कम-से-कम दो नाम और थे, अर्थात् देवदेव[१] और विश्वेश्वरदेव (मत्स्य, १८२।१७)। महाभारत में (आरण्यक पर्व, ८४।७८) अविमुक्त क्षेत्र में स्नान करने और देवदेव के दर्शन मे ब्रह्महत्या के पातक मे मुक्ति मानी गयी है। लेकिन भाडारकर इन्स्टिट्यूट द्वारा सपादित महाभारत में (आरण्यक पर्व, १, पृ० २९२) इस श्लोक को प्रक्षिप्त माना गया है। इस प्रकार महाभारत में अविमुक्त तीर्थ वाला भाग गुप्त युग में, जब काशी में अविमुक्त को प्रधान लिंग मानकर अनेक शिवलिंगो की कल्पना की गयी, जोडा गया। जैसा कि भाडारकर इन्स्टिट्यूट वाले महाभारत (३।८२।६९-७०) के सस्करण में कहा गया है, सभवत गुप्तयुग के पहले भी बनारस में कुछ शिवलिंग थे और एकाध तीर्थ स्थानो की ओर भी सकेत मिलता है। यहां तो यही कहा गया है कि बनारस में कपिलह्रद में स्नान तथा वृषभध्वज और मार्कंडेय के दर्शन पवित्र है।

अविमुक्तेश्वर के देवदेव नाम की कल्पना के कुछ पौराणिक आधारो का हम ऊपर उल्लेख कर आये है। सौभाग्यवश राजघाट से एक मुद्रा भी मिल गयी है जिसपर आरभिक गुप्तयुग के अक्षरो में श्री देवदेवस्वामिन् लेख है। इस मुद्रा का सबध बनारस के सबसे बडे शैव मदिर अविमुक्तेश्वर मे रहा होगा जैसा हम आगे देखेंगे। चीनी यात्री युवान च्वाङ ने भी बनारस में देवदेव की पूजा का उल्लेख किया है।

ऊपर हम कह आये है कि देवदेव और विश्वेश्वर देव अविमुक्तेश्वर के ही नाम थे। कालान्तर में अविमुक्तेश्वर का नाम तो समाप्त हो गया और उसकी जगह विश्वेश्वर का नाम प्रचलित हो गया। शायद यह बात बारहवी सदी के बाद हुई। तब से बिचारे अविमुक्तेश्वर तो विश्वनाथ मदिर के कोने में रह गये, पर इस युग में भी उनका नाम अविमुक्त क्षेत्र में बच गया।

राजघाट से मिली मुद्राओ मे गुप्तकालीन या उसके थोडे बाद के निम्नलिखित मदिरो का पता चलता है —

१—श्रीसारस्वत—दो मुद्राओ मे स्कद पुराणोक्त इस शिवलिंग का गुप्तयुग में पता चलता है।

२—योगेश्वर—(काशीकाड, अ० ९७)। इस मुद्रा पर निम्नलिखित लक्षण मिलते है। अर्धचन्द्र, अक्षसूत्र, त्रिशूल-परशु, कमडलु और कुबडी।

---

[१] मत्स्य०, १८१।८, १८४।१९, १५५।५२

३—**भृगेश्वर**—इसकी मुद्रा पर भृगार, अक्षसूत्र, अर्धचन्द्र और त्रिशूल-परशु मिलते है।

४—**प्रीतिकेश्वर स्वामिन्**—काशी खड (९१) में इस शिवलिंग का नाम आता है और विश्वनाथ के पास ही साक्षी विनायक पर इनका मन्दिर है। इनकी दो तरह की मुद्राएँ मिली है एक छोटी और दूसरी वडी। वडी मुद्रा पर वृषभ और परशु भी वने है।

५—**भोगकेश्वर**—काशीखड (९७)। मुद्रा पर वृषभ वना है।

६—**प्राज्ञेश्वर**—मुद्रा पर वृषभ लाछन है।

७—**हस्तीश्वर**—मुद्रा पर वृषभ लाछन है।

८—**गगेश्वर**—डा० अग्रवाल के अनुसार यह मुद्रा गगेश्वर अथवा गर्गेश्वर की है।

९—**गभस्तीश्वर**—मुद्रा पर लेख के अक्षर सातवी सदी के है। गभस्तीश्वर का नाम काशीखड में ३३ और ९१ अध्यायो में आता है। मङ्गलागौरी के पास आज भी गभस्तीश्वर का एक मन्दिर है।

प्राय उपर्युक्त सभी नामो को जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, वारहवी सदी में लक्ष्मीधर ने अपने तीर्थ विवेचन खड में दिया है।

४ मुद्राओं के आधार पर काशी की गुप्तकालीन शिक्षा-संस्थाओं पर प्रकाश

गुप्त युग में काशी शिक्षा का एक वहुत वडा केन्द्र था। पर यहाँ मौर्य युग से गुप्त युग के पहले तक शिक्षा की क्या व्यवस्था थी इसका हमें वहुत कम पता है। भाग्यवश राजघाट से कुछ मुद्राएँ मिली है जिनके आधार पर हम गुप्तयुग में वनारस की शिक्षा की व्यवस्था पर प्रकाश डाल सकते है। चातुर्विद्य वाली गुप्तकालीन मुद्रा से पता चलता है कि उस काल में वनारस में चारो वेद पढाने के लिये कोई पाठशाला थी। यह भी सम्भव है कि इस पाठशाला में चार विद्याएँ आन्वीक्षिकी, त्रयी वार्ता, दडनीति और शाश्वती पढाई जाती रही हो। वह्वृच्चरण के लेख वाली दो मुद्राएँ मिली है जिनसे पता लगता है कि गुप्तयुग में बनारस में ऋग्वेद के अध्यापन के लिए एक पाठशाला थी। इन मुद्राओ पर पाठशाला का सुन्दर चिह्न भी दिया हुआ है। इनमें वने एक आश्रम में एक जटाजूटधारी अध्यापक और दोनो तरफ एक एक दण्डधारी शिष्य खडे दिखलाये गये है। अध्यापक के वाए हाथ में करवा है जिससे वे वायी ओर एक वृक्ष पर पानी डाल रहे है। आश्रम दो घने पेडो के वीच है। ऐसा मालूम पडता है कि बनारस में प्रत्येक मन्दिर के साथ पाठशाला होती थी।

वनारस में ऐसा जान पडता है कि गुप्तयुग में सामवेद पढाने के लिए कोई विशेष पाठशाला थी। इस पाठशाला की गुप्तयुग की मुद्राओ पर छादोग्य लेख आता है। शायद इस पाठशाला का लाछन वृषभ था। एलाहावाद म्यूज़ियम की ऐसी तीन मुद्राओ के पट ओर भी छापे है। एक के पट छाप पर छादोग्य की पुनरुक्ति है, दूसरे पर 'पालसेन' का नाम है। तीसरी मुद्रा में पट ओर दो छापे है। एक में चक्र और दो छोटे शख है और दूसरे में छरहरे कद का एक लवा मनुष्य अकित है। कला-भवन, वनारस की छान्दोग्य वाली तीन

मुद्राओ के पट ओर योगेश्वर स्वामी का लेख है और अर्धचन्द्र, अक्षसूत्र, अमृतघट तथा दड बने है। इस मुद्राओ के आधार पर हम निम्नलिखित नतीजो पर पहुँच सकते है— (१) बनारस में योगेश्वर के मदिर के साथ सामवेद की एक पाठशाला थी, (२) कुछ वैष्णव लक्षणो के आने से यह कहा जा सकता है कि शायद इस पाठशाला के कुछ अध्यापक वैष्णव भी होते हो।

श्री सर्वत्रैविद्यस्य लेख वाली राजघाट से मिली गुप्तकालीन मुद्रा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बनारस में शायद त्रैविद्य नाम के किसी शिवमदिर के साथ पाठशाला में तीनो वेदो के पढाने का प्रबध था।

राजघाट से काफी सख्या में जनसाधारण के नामो की मुद्राएँ मिली है। इन मुद्राओ पर मिले नामो से भी बनारस के तत्कालीन धार्मिक विश्वासो पर प्रकाश पडता है।

५. शैव नामों वाली मुद्राएँ

कर्दमरुद्र—यह नामाकित मुद्रा हड्डी की है और इस पर दो नागों के बीच एक तीर वाला लक्षण है। लगता है कर्दमक रुद्र जैसे कोई गहरे शैवाचार्य रहे हो।

रुद्रगुप्त—चित ओर वृषभ, पट ओर श्रीवत्स और रुद्रगुप्त का नाम।

भवरुध—इस मुद्रा पर सर्प और अक्षमाला वाली भी एक छाप है।

शिवदत्त—इसके ऊपर अर्धचन्द्र और नीचे खिला हुआ कमल है।

कला-भवन की मुद्राओ में रुद्रशर्मा, शिवमित्र और कर्पटदास भी शैवधर्म के ही द्योतक है।

नदी, वरद, नागशर्मा, भृगुशर्मा, चन्द्र, चन्द्रदत्त, वेष्टन, भृगु, मित्रक, मगलक, धारिनदी, विपक, देव, ईश्वरदत्त, महादेव, नागदत्त, भवसेन, नाथदत्त, महेश्वर इत्यादि नाम बनारस के गुप्तकाल में शैवधर्म के प्रसार के द्योतक है।

जान पडता है कुमारगुप्त के समय से बनारस कार्तिकेय की पूजा का भी एक प्रधान केन्द्र बन गया। बहुधा राजघाट से मिली कार्त्तिकेय के भक्तो की मुद्राओ पर नाचता हुआ मोर दीख पडता है। शतिक की मुहर पर एक नाचता मोर बना है। एक मुहर पर श्री महेन्द्र लेख है और बाँयी ओर नाचता मोर है। यह स्कदगुप्त की मुहर मालूम पडती है क्योकि उनका एक विरुद श्री महेन्द्र था। इस मुहर पर एक चन्द्र नाम के किसी व्यक्ति की भी मुहर है, लगता है श्री महेन्द्र का यह कोई कर्मचारी रहा होगा। एक मुहर पर षष्ठिमित्र, दूसरी पर सुविशाखदत्त, और तीसरी पर विशाखदत्त और चौथी पर गुहादित्य नाम आया है। इन सब नामो से पता लगता है कि कार्त्तिकेय की पूजा बनारस में खूब चलती थी। षष्ठि कार्तिकेय की देवी कही गयी है। गुप्त युग में इनकी बडी पूजा होती थी और इनके मदिर भी स्थापित किये जाते थे। अब भी पुत्रजन्म के बाद षष्ठी के दिन बनारस में इस देवी की पूजा होती है। कला-भवन बनारस में गुप्तकालीन कार्तिकेय की एक बडी ही सुन्दर मूर्ति है, शायद इसकी पूजा किसी गुप्तकालीन मदिर में होती रही हो।

६ वैष्णव धर्म

गुप्त नरेश अपने सिक्को और लेखो मे परम भागवत कहे गये है। यह मानने का पर्याप्त कारण है कि गुप्तयुग के बनारस में भी वैष्णव धर्म का प्रसार हो चुका था। खास विष्णु की गुप्तकालीन प्रतिमाएँ तो अभी तक बनारस से नही मिली है, पर गोवर्धन-धारी कृष्ण की बकरिया कुड से मिली हुई गुप्तकालीन मूर्ति इस बात की साक्षी है कि बकरिया कुड के पास गुप्तकाल में कृष्ण का एक बडा मदिर रहा होगा जिसका अब कोई पता नही है। राजघाट से मिली अनेक मुद्राओ पर आये नामो और लक्षणो से भी यह पता चलता है कि वैष्णवधर्म की यहाँ काफी उन्नति हो चुकी थी। कृष्णषेण, हरिषेण, भागवत, हरिदास, माधव, दिवपुत्र, केशवशर्मा, देवरक्षित, हरिभट्ट, वल्लभ, विष्णुमित्र, इत्यादि नाम गुप्तकालीन भागवत धर्म के प्रतीक है। एक मुद्रा पर तो गुप्तकालीन बनारस के विष्णु मदिर का चित्र है। मदिर में एक पर एक चक्र और दो शख दिखलाये गये है। पुष्पसर नामाकित भी कुछ मुद्राएँ मिली है जिन पर विष्णुचरण की छाप है। लगता है पुष्पसर पर विष्णु का कोई मदिर था।

७ बौद्ध धर्म का विस्तार

मृगदाव यानी सारनाथ कम-से-कम अशोक के समय से बौद्धो का पवित्र तीर्थ रहा है और इस बात का काफी प्रमाण है कि मौर्य युग से ही यहाँ बौद्ध भिक्षु रहते थे। हमें इस बात का पता है कि गुप्तकाल में मूलगध कुटी विहार बन चुका था क्योकि इस सबध में चौथी या पाँचवी शताब्दी का एक लेख एक दीवट पर मिला है।[१] छठी या सातवी शताब्दी की सारनाथ से मिली मुद्राओ पर भी मूलगधकुटी का नाम आता है। जान पडता है गुप्तयुग में सद्धर्म-चक्र-विहार का यह प्रधान मदिर था।

गुप्तयुग के आरभ में (करीब ३२० ईस्वी) सारनाथ में सर्वास्तिवादियो का जोर था क्योकि इनके तीन लेख सारनाथ की खुदाइयो से मिले है। यह विचित्र बात है कि सर्वास्तिवादियो का एक लेख किसी प्राचीन लेख को, जिसमें किसी दूसरे निकाय का नाम आया था, मिटाकर लिखा गया। सर्वास्तिवाद स्थविरवाद की एक शाखा है और कुषाण युग मे जैसा कि पेशावर, मथुरा और बनारस में मिले लेखो से पता चलता है, इसका उत्तर भारत में काफी जोर था।

अशोक स्तभ पर हमें सम्मितियो का एक लेख मिलता है। सम्मितिय वात्सीपुत्रो की एक शाखा थे और सर्वास्तिवादियो की तरह हीनयान से सबधित थे। यह लेख चौथी शताब्दी का है और सर्वास्तिवादियों के लेखो के थोडे ही बाद का मालूम पडता है। जैसा हम आगे देखेंगे, सातवी सदी में सद्धर्मचक्र विहार पूरी तौर से सम्मितिवादियो के कब्जे में था।

गुप्तयुग में सारनाथ से मिली बौद्ध मूर्तियो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बोधिसत्वो की पूजा यहाँ बढ रही थी। कुषाण युग मे महायान ने अपने सम्प्रदाय में तमाम

---

[१] केटलाग, पृ० ३

हिंदू देवी देवताओ को लेकर अपने को पुष्ट बनाने का प्रयत्न किया। मैत्रेय और अवलोकितेश्वर की इस युग की अनेक मूर्तियाँ सारनाथ मे मिली है। पद्मपाणि, तारा, प्रज्ञापारमिता और दूसरे महायानी देवी-देवताओ की पूजा भी इस युग में बढी, पर आरंभिक गुप्तयुग में सारनाथ में हीनयान का ही अधिक प्रभाव रहा।

सारनाथ में जिस तरह बौद्ध धर्म का केन्द्र बन रहा था, उसे देखते हुए बनारस शहर में बौद्ध धर्म का उतना अधिक प्रचार नही था। राजघाट मे मिली मुद्राओ के आधार पर तो यह कहा जा सकता है कि बनारस शहर में बौद्ध धर्म का बहुत कम प्रचार था। धर्मस्वामी और बुद्ध की मुद्राओ से पता चलता है कि बनारस मे बौद्ध भी थे पर इसमें सशय नही कि शहर में गुप्तकाल में प्रधान धर्म शैव था और उसके बाद वैष्णव।

८. जैन धर्म

गुप्त युग में धार्मिक स्वतत्रता के अनुरूप जैन धर्म का भी प्रसार हुआ। जान पडता है कुमारगुप्त के काल में जैन धर्म की काफी उन्नति हुई क्योकि गुप्त युग के जितने जैन लेख मिले है वे प्राय कुमारगुप्त के युग के है।[१] बनारस में गुप्तयुग में जैन धर्म की क्या स्थिति थी इसका तो ठीक ठीक पता नही है, पर राजघाट से मिली ऋषभदेव नाम के एक व्यक्ति की मुद्रा से यह पता चलता है कि बनारस में उस काल में भी जैन थे। बनारस के जैनो के बारे में हमें थोडा-सा वृत्तान्त पहाडपुर मे मिले गुप्त सवत् १५८ (४७९ ईस्वी) के एक ताम्रपत्र से मिलता है।[२] इस लेख में पुड्रवर्धन के अधिकरण अधिष्ठान के पास एक ब्राह्मण और उसकी पत्नी द्वारा तीन दीनारो के जमा किये जाने का उल्लेख है, जिसके द्वारा कुछ जमीन खरीदकर उसकी आमदनी से वट गोहाली विहार की जैन प्रतिमाओ का पूजन हो सके। इस विहार का प्रबंध आचार्य गुहनदिन् के शिष्य-प्रशिष्य करते थे। उपर्युक्त गुहनदी काशी के थे और पचस्तूपान्वयी थे, अर्थात् काशी में भी मथुरा के पचस्तूपान्वय की शाखा पाँचवी शताब्दी में थी।[३]

९. गुप्त युग में जन-साधारण के गुणवाचक नाम

ऊपर हमने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि काशी मे अधिकतर मुद्राओ पर आये हुए नामो मे नगर की गुप्तयुग में धार्मिक अवस्था पर क्या प्रकाश पडता है, पर इससे यह न समझ लेना चाहिए कि काशी के सब नाम केवल धर्मवाचक थे। बहुत-से नाम राजघाट से ऐसे भी मिले है जो गुणवाचक है, जैसे रसिक, नलश्री, सुविमल, वेदमित्र, धृतिशर्मा, सक्षणक, सुमति, धनमित्र, शौर्यवर्मा, वीरदेव, वलक, पालक, बोटिल (जवान या धर्मात्मा), महाशिर, पटिन्, शूरगुप्त, सिंहदत्त इत्यादि।

राजघाट से मिली दो मुद्राओ में दो स्थानवाची नाम भी मिले है यथा शिखडवासी

---

[१] फ्लीट, गुप्त इस० न० ६१, ६२, एपि० इ०, २, पृ० २१०

[२] एपि० इडि०, २०।५९ से

[३] प० नाथूराम प्रेमी अभिनदन ग्रथ, पृ० २४६–४८।

और युगधर। शिखड का तो पता नही कहाँ था, पर सभवत युगधर तो जगाधरी (पूर्वी पजाब) का इलाका है।

१०. बनारस से मिली बिना नाम की मुद्राएँ

राजघाट में एक तरह की मुद्राएँ मिली है जिन पर केवल लक्षण अथवा अभिप्राय ही आते है जैसे बैठा हुआ नदी और त्रिशूल, भागता हुआ सिंह, नदी पर सवार शिव-पार्वती, अपने खागो पर स्त्रीरूप पृथ्वी धारण किये हुए वराह, खिला हुआ फूल, एक खभे और माला के बीच में डैना फैलाए हुए पजो में सर्प पकडे हुए गरुड, तथा नृत्य करता हुआ मोर। एक गुप्त मुद्रा पर एक तुदिल देवता हाथ में गदा लिये हुए एक मोढे पर बैठे दिखलाये गये है। ये दडपाणि या मुद्गरपाणि हो सकते है। ● ●

दसवाँ अध्याय

ईस्वी ५५० से करीब ७०० तक काशी का इतिहास

छठी शताब्दी के मध्य में गुप्त साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया तथा उसके उत्तराधिकारी अनेक स्वतत्र राजवश उत्तरी भारत में शासन करने लगे। इसी युग में बनारस का राज मौखरियो के हाथ में चला गया। गुप्तो का राज्य मगध तक ही सीमित रह गया। इस गुप्तवश का और प्राचीन गुप्तवश के सबध का हमें पता नही है पर इस वश को हम मागध-गुप्त कह सकते है। ऐतिहासिक आधारो से यह पता चलता है कि मागध-गुप्तो और मौखरियो में शत्रुता थी और दोनो में बहुधा युद्ध हुआ करता था। मागध-गुप्तो में जीवितगुप्त प्रथम के पुत्र कुमारगुप्त का नाम विशेष उल्लेखनीय है। अफसड शिलालेख[1] से पता चलता है कि मौखरि ईशानवर्मा की सेना को इसने परास्त किया। ईशानवर्मा के हडहा वाले लेख से (ईस्वी ५५४) यह कहा जा सकता है कि कुमारगुप्त ईस्वी ५६० के आसपास राज करता था। ईशानवर्मा को हराकर सभवत कुमारगुप्त ने बनारस सहित प्रयाग को मौखरियो से छीन लिया था क्योकि अफसड के लेख के अनुसार कुमारगुप्त की मृत्यु प्रयाग में हुई। पर मागध-गुप्तो की पूर्वी उत्तर प्रदेश में यह विजय क्षणिक ही रही। कुमारगुप्त के पुत्र दामोदरगुप्त को ईशानवर्मा के पुत्र सर्ववर्मा ने युद्ध में मार कर, जैसा देवबरनाक के लेख से पता चलता है, बिहार के शाहाबाद के इलाके तक अपना अधिकार कर लिया।[2] अर्थात् पुन पूर्वी प्रदेश अर्थात् बनारस और इलाहाबाद मौखरियो के अधिकार में चले आये। पर यहाँ से ही किस्सा खतम नही होता। सभवत दामोदर गुप्त के पुत्र महासेन गुप्त ने मौखरि अवतिवर्मा को हराकर अपना राज्य मालवा तक विस्तृत किया। ग्रहवर्मा को, जो अतिम मौखरि राजा थे और जिन्हें थाणेश्वर के राजा प्रभाकरवर्धन की पुत्री अर्थात् श्री हर्ष की बहन व्याही थी, मालवा के राजा देवगुप्त ने युद्ध में मार डाला, पर हर्ष ने देवगुप्त को हरा दिया और मौखरियो का राज्य हर्षवर्धन के साम्राज्य में आ मिला।

श्री हर्ष की मृत्यु (६४७ ईस्वी) के बाद थाणेश्वर के साम्राज्य में बगावत फैल गयी और सभवत इस गडबडी से लाभ उठाकर मागध-गुप्त राजा आदित्यसेन ने अपना राज्य पुन बढाया। इस बात का कोई उल्लेख तो नही है कि इसका पूर्वी उत्तर-प्रदेश पर अधिकार था पर शिलालेखो में इस राजा के विक्रम के वर्णन से और इसके अश्वमेध यज्ञ करने से पता चलता है कि इसने शायद थानेसर के वर्धनो के राज्य का बहुत अधिक भाग अपने कब्जे में कर लिया था। मागध-गुप्तो में केवल आदित्यसेन ही ऐसा राजा था जो वैष्णव धर्म का अनुयायी था। आदित्यसेन ने शायद ६४८ से ६७३ ईस्वी तक राज्य किया।

---

[1] फ्लीट, गुप्त इसक्रिप्शन्स, न० ४२

[2] वही, न० ४६

आदित्यसेन के बाद देवगुप्त द्वितीय और विष्णुगुप्त के समय में भी शायद बनारस मागध-गुप्तो के अधीन था। जीवितगुप्त द्वितीय के देववरनाक लेख से मालूम पडता है कि जीवितगुप्त ने गोमती तट पर अपना विजय स्कधावार स्थापित किया था। इससे पता चलता है कि बिहार से लेकर पूर्वी उत्तर-प्रदेश तक जीवितगुप्त का शासन था और इस शासन में बनारस भी शायद रहा होगा। लगता है मागध-गुप्तो का राज्य आठवी सदी के आरभ मे समाप्त हो गया।

श्री हर्ष (६०६-६४८ ईस्वी) के युग का बनारस

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, ग्रहवर्मा की मृत्यु के बाद मौखरियो का कन्नौज से लेकर बनारस तक का राज्य हर्ष के अधिकार में आ गया। हर्ष के राज्यकाल में प्रसिद्ध चीनी यात्री युवान च्वाङ ने भारत-यात्रा की और इस प्रसग में उन्होने बनारस भी देखा। सातवी सदी के आरभ में बनारस की धार्मिक और सामाजिक स्थिति पर युवान च्वाङ के वर्णन से काफी प्रकाश पडता है। युवान च्वाङ कुशीनारा से ५०० ली (१०० मील) चलकर वाराणसी जनपद पहुँचे।[१] वाराणसी का अर्थ यहाँ देश बोधक है राजधानी बोधक नही। जान पडता है, गुप्तयुग में बनारस शहर और जनपद दोनो का बोध वाराणसी से होता था। आज दिन भी बनारस शब्द का व्यवहार शहर और जिला दोनो ही के लिए होता है। अब युवान च्वाङ के शब्दो में ही तत्कालीन बनारस की दशा सुनिए।

इस चीनी यात्री के अनुसार बनारस जिला ४००० ली (८०० मील) के गिर्द में था। इसकी राजधानी का पश्चिम किनारा गगा तक पहुँचता था। शहर ११ ली (३३/५ मील) लबा और ६ ली (११/५ मील) चौडा था। शहर के मुहल्ले सटे हुए थे। बनारस की आबादी घनी थी, लोग बहुत धनवान् थे और उनके घर बहुमूल्य वस्तुओं से भरे रहते थे। बनारस के नागरिक बहुत शिष्ट थे और शिक्षा के प्रति उनका अनुराग था। उनमें से अधिकतर दूसरे मतो के मानने वाले थे और बहुत थोडे-से बौद्ध धर्मानुयायी थे। बनारस की जलवायु सुखकर थी और फसल बहुत अच्छी होती थीं। फलो के और दूसरे वृक्ष खूब घने होते थे और जमीन पर हरियाली छायी रहती थी। बनारस जिले में करीब तीस बौद्ध विहार थे जिसमें सम्मिति निकाय के तीन हजार से अधिक भिक्षु रहते थे। शहर मे देवमदिर सौ के ऊपर थे और इनके धर्मो के अनुयायियो की सख्या दस हजार के ऊपर थी। इनमे अधिकतर शैव थे। इनमें से कुछ अपने बाल कटवा डालते थे, कुछ जटाजूट बाँधते थे, कुछ नगे फिरते थे और कुछ भस्म रमाते थे। घोर तपश्चर्या में निरत होकर ये भव-बाधा से मुक्ति पाने के लिये सतत प्रयत्नशील रहते थे। खास बनारस में बीस देव-मदिर थे और इन मदिरो के खड और छज्जे नक्काशीदार पत्थर और लकडी के बने होते थे। मदिरो में पेडो के झुरमुट चारो ओर छाया करते थे और वहाँ साफ पानी के सोते होते थे। एक मदिर में देव की काँसे की बनी सौ फुट ऊँची मूर्ति थी जो अपनी सजीवता और भयोत्पादक काति से लोगो को प्रभावित करती थी। यात्रा-विवरण के मूल को इकट्ठा करने वाले फाङ-चि का कहना है कि इस देव-मदिर में १०० फुट ऊँचे शिवलिंग की पूजा होती थी।

---

[१] वाटर्स, युवान च्वाङ, भा० २, पृ० ४६-४७।

बनारस शहर के वर्णन के बाद युवान च्वाङ सारनाथ का वर्णन करता है। 'राजधानी के उत्तर-पूर्व में और वरना नदी के पश्चिम में अशोक निर्मित १०० फुट ऊँचा स्तूप था। इसके सामने हरे पत्थर का एक पालिसदार स्तभ था। वरना नदी के १० ली (२ मील) उत्तर-पूर्व में मृगदाव विहार था। इसमें आठ भाग थे और वह एक ऊँची दीवार से घिरा हुआ था। इस विहार में सम्मितिय निकाय के १५०० भिक्षु रहते थे। दीवार के अदर २०० फुट ऊँचा, स्वर्णमडित आमलक मे अलकृत एक मदिर था जिसकी कुरसी और सीढियाँ पत्थर की थीं और जिसके ईंटो के बने भाग में निपीदिकाओ की पक्तियाँ थी और हर निपीदिका में बुद्ध की सुवर्णमडित प्रतिमा थी। मदिर के अदर कांसे की बनी धर्मचक्र-प्रवर्तन मुद्रा में बुद्ध की एक कद्दे आदम मूर्ति थी।'[1]

बौद्ध मदिर के दक्षिण-पश्चिम भाग में अशोक निर्मित पत्थर का स्तूप था। इसका जमीन के ऊपर का सौ फुट हिस्सा तब भी बचा हुआ था। इसके सामने उस जगह, जहाँ बुद्ध ने धर्मचक्र-प्रवर्तन किया था, एक तीस फुट ऊँचा खभा था।

इस लाट के आस पास एक स्तूप आज्ञात कौंडिन्य और उसके चार शिष्यो के उस जगह तपस्या के उपलक्ष में बना था जब वे बुद्ध को तपस्या छोडने पर छोडकर इसिपतन चले आये थे। यह स्तूप उसी जगह पर था जहाँ ५०० प्रत्येक बुद्धो को एक ही समय में निर्वाण मिला। वहाँ तीन विगत बुद्धो के बैठने और घूमने की जगहो पर भी तीन स्तूप थ।

युवान च्वाङ पुन उस स्तूप का वर्णन करते है जहाँ बुद्ध ने मैत्रेय के भविष्य में बुद्ध होने की भविष्यद्वाणी की थी।

मैत्रेय सबधी भविष्यद्वाणी वाले स्तूप के पश्चिम में एक स्तूप था जहाँ शाक्य बुद्ध ने ज्योतिपाल बुद्ध की तरह कश्यप बुद्ध से अपने को शाक्य बुद्ध के नाम से बोधि मिलने की भविष्यद्वाणी सुनी। इस स्तूप के पास नीले पत्थरो का सात फुट ऊँचा और पचास कदम लबा चबूतरा था जहाँ भूतकाल के चार बुद्ध टहलते थे। इस चबूतरे पर बुद्ध की एक भव्य मूर्ति थी जिसके सिर पर बडे बालो का एक जूट था।

युवान च्वाङ तीन तालाबो की भी बात करते हैं, इनमें एक तो विहार वाली दीवार के पश्चिम में था, दूसरा उसके और पश्चिम में और तीसरा दूसरे के उत्तर में। ये तालाब बौद्धो द्वारा पवित्र माने जाते थे और उनका विश्वास था कि इन पर नागो का कडा पहरा रहता था। इन तालाबो के पास पड्दत जो एक छह दाँतो वाला हाथी था और जिसने स्वेच्छा से अपने दाँत एक शिकारी को दे दिए, के आदर में एक स्तूप था।

इस स्तूप के पास एक दूसरा स्तूप बोधिसत्त्व के उस कर्म की याद दिलाता था जब उन्होंने एक पक्षी का रूप ग्रहण किया और एक बदर और एक सफेद हाथी से बात की जिसके फलस्वरूप पुन नैतिकता का राज वापस आया।

---

[1] वही, पृ० ४८

इसके पास ही महावन में एक दूसरा स्तूप था जो उस घटना की याद मे बनाया गया था जिसमें हिरणो की योनि मे बुद्ध और देवदत्त ने अपना मामला चुकाया था।

कहानी के अनुसार दोनो ने अपने अपने यूथो से एक-एक हिरन अपनी पारी से राजा को देना स्वीकार किया। एक दिन देवदत्त के यूथ से एक गर्भवती हिरनी की राजा के पास जाने की पारी थी। बोधिसत्त्व को उसके ऊपर दया आ गयी और उसकी जगह उन्होने अपने को भेंट देना चाहा। राजा पर इस बात का बडा प्रभाव पडा और उन्होंने अपने मन से सब हिरनो को मृत्युभय से मुक्त करके मृगदाव का वन हिरनो के लिए निर्भय कर दिया।

युवान च्वाङ्ग पुन मृगदाव के बौद्ध विहार के दक्खिन-पश्चिम दो या तीन ली पर एक स्तूप की चर्चा करते है। यह स्तूप ३०० फुट ऊँचा था और इसकी चौडी और ऊँची कुरसी बहुमूल्य वस्तुओ से सजी थी। इस स्तूप में निषीदिकाओ के खड थे और गुबज के ऊपर शिखर था पर उसमें गोल घटियाँ नही लगी थी। इस स्तूप के पास ही एक दूसरा स्तूप उस घटना की याद दिलाता था जब आज्ञात कौंडिन्य और उसके चार शिष्यो ने बुद्ध का अनादर करने का अपना पूर्व निश्चय छोड दिया, और उनके महान् व्यक्तित्व के अनुरूप उनके स्वागत का निश्चय किया। मृगदाव से पूर्व में दो या तीन ली पर एक सूखे तालाब के किनारे एक स्तूप था। तालाब के दो नाम यथा 'वीर' और 'प्राणरक्षक' थे।

इसी वीर तालाब मे पश्चिम में तीन पशुओ का स्तूप था जो खरगोश के रूप में बोधिसत्त्व को अपने को भून डालने की घटना की याद दिलाता था। कहानी के अनुसार एक वृद्ध मनुष्य के रूप में इन्द्र ने एक लोमडी, एक बदर और एक खरगोश से भोजन मांगा। पहले दोनो ने फल और मछलियाँ दिये, पर बोधिसत्त्व ने वृद्ध को खाना देने के लिए स्वय अपने को भून डाला।

ऊपर के वर्णन से सातवी सदी के सारनाथ का पूरा खाका खिच जाता है। पर युवान च्वाङ्ग के समय से लेकर आज तक सारनाथ के नक्शे में इतना परिवर्तन हो गया है कि हम उसके द्वारा वर्णित स्तूपो को पहचान नही सकते। अशोक स्तूप के सामने के स्तभ से शायद अशोक स्तभ से मतलब है।

युवान च्वाङ्ग ने यह भी बतलाया है कि बनारस में देवमदिर बडी सख्या में थे और उनमें अधिकतर शैव थे। श्री हर्ष के बाद प्रकटादित्य नामक एक राजा ने जो शायद बनारस में प्रादेशिक राजा रहे हो, अपने एक लेख में जो बहुत टूट-फूट गया है, बनारस में मुरद्विष् नाम से विष्णु का मदिर बनाने का उल्लेख किया है।[1] इस लेख में मध्यदेश का भी नाम आया है, जो गुप्तकाल मे समूचे उत्तर प्रदेश के लिए व्यवहार में आता था।

● ●

---

[1] फ्लीट, उल्लिखत, पृ० २८४ से।

ग्यारहवाँ अध्याय

आठवीं सदी से गाहडवालों के पहले तक का काशी का इतिहास

मागध गुप्त जीवितगुप्त द्वितीय के राज्यकाल में शायद आठवीं सदी के आरंभ में कन्नौज के राजा यशोवर्मा ने (करीब ७२५–७५२ ईस्वी) मागध-गुप्तों को हराया। अपनी विजय-यात्रा में, जिसका वर्णन प्राकृत काव्य गोडवहो में आता है, पहले यशोवर्मा विन्ध्य-वासिनी (आधुनिक मिर्जापुर के पास) पहुँचा। वहाँ से आगे बढ़कर उसने जीवितगुप्त को हराया और गौड को अधिकृत किया।[1] उसके विंध्यवासिनी पहुँचने से यह अंदाज लगाया जा सकता है कि बनारस उसके अधिकार में आ गया। विद्वानों का अनुमान है कि मागध-गुप्तों का अंतिम राजा जीवितगुप्त द्वितीय यशोवर्मा के हाथों मारा गया। इस सम्बन्ध में हम शैलवंशोद्भव जयवर्धन द्वितीय (८ वीं सदी का मध्य) के रघोली ताम्रपत्र की ओर ध्यान दिला देना चाहते हैं।[2] इस लेख से यह पता चलता है कि जयवर्धन द्वितीय के दादा ने काशी के अत्याचारी और अभिमानी राजा को मारकर शहर पर दखल कर लिया। डा० आल्तेकर का अनुमान है (देखो, हिस्ट्री आफ बनारस) कि जयवर्धन के सगे और चचेरे दादा यशोवर्मा की सेना में सम्मिलित होकर उसकी पूरब की लडाइयों में लड़े थे क्योंकि जयवर्धन के लेख में ये दोनों काशी और पुड्र पर अधिकार करने वाले बतलाये गये हैं। जयवर्धन का समय आठवीं सदी का मध्य है इसलिए इनके दोनों दादा यशोवर्मा के समकालीन थे। यहाँ हम जयवर्धन के दादा द्वारा काशी नरेश के वध की बात का भी उल्लेख पाते हैं। संभव है कि इन्हीं के हाथों जीवितगुप्त की मृत्यु हुई हो।

लेकिन यशोवर्मा की पूर्व-भारत की यह विजय क्षणिक ही थी क्योंकि आठवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में उसे काश्मीर के राजा ललितादित्य के हाथों बुरी तरह से हार खानी पड़ी। बनारस के श्री मुरारीलाल केडिया को राजघाट से ललितादित्य के सिक्कों का एक काफी बड़ा संग्रह मिला है जिससे पता चलता है कि उसकी फौज बनारस तक घुस गयी थी। इस संबंध में राजतरंगिणी (४।१४५) का यह कथन कि ललितादित्य की विजय यमुना के किनारे तक ही सीमित थी ठीक नहीं मालूम पड़ता।

धर्मपाल, जो ७५२ और ७९४ ईस्वी के बीच सिंहासनाधिरूढ हुआ और जिसने कम से कम बत्तीस वर्ष राज्य किया, अपने समय का उत्तर भारत का सबसे प्रतापी राजा था। उसने पाटलिपुत्र के प्राचीन महत्त्व के पुनरुत्थान में कोई कसर बाकी नहीं रखी। इन्द्रराज तथा अपने अन्य शत्रुओं को हराकर उसने कन्नौज पर अपना अधिकार जमाया और अपने पडोसी राज्यों की अनुमति से उसने अपने आज्ञाकारी गुर्जर प्रतिहार चक्रायुध को कन्नौज की गद्दी पर बैठाया। बनारस भी धर्मपाल के राज्य में था पर गंगा के दोआब में इसकी

---

[1] आर० एस० त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, पृ० १९७–१९८, बनारस १९३७

[2] एपि० इंडि०, ९।४१–४७

विजय क्षणिक थी। मध्य-देश के लिए धर्मपाल, राजस्थान के वत्सराज और राष्ट्रकूट ध्रुव में खीचातानी चलने लगी। इस कशमकश के बीच भी बनारस धर्मपाल के हाथ में रहा। डा० आल्तेकर का अनुमान है कि गगा-जमुना के दोआबो में लडाइयाँ होने से शायद बनारस धर्मपाल की सेना का प्रधान अड्डा रहा होगा। राष्ट्रकूट लेखो के अनुसार उन्होंने ७७२ और ७९४ ईस्वी के बीच धर्मपाल को गगा-जमुना के इलाके से निकाल बाहर किया।[1] गुर्जर प्रतिहार राजा नागभट द्वितीय ने चक्रायुध को कन्नौज से मार भगाया। इस तरह राष्ट्रकूटो और प्रतिहारो ने शायद ८३३ ईस्वी के पहले मध्य देश के अधिकाश भाग पर अपना अधिकार जमा लिया।

धर्मपाल की मृत्यु ७९४ और ८३२ ईस्वी के बीच हुई। धर्मपाल का पुत्र देवपाल भी बडा प्रभावशाली राजा था और उसका राज्य मालवा तक बढ गया था। शायद बनारस भी इसके अधिकार में था। बनारस पर पालो का अधिकार बहुत दिनो तक टिक न सका। प्रतिहारो के बढते हुए विजय-पराक्रम के आगे पाटलिपुत्र पराभूत हुआ और बनारस भी ८५० ईस्वी के करीब प्रतिहारो के अधीनता मे आ गया क्योंकि काहल के लेख से पता चलता है कि गोरखपुर का एक स्थानीय शासक प्रतिहार राजा भोज का, जो ८३६ ईस्वी के पहले कभी गद्दी पर आया, करद था।[2] इससे यह पता चल जाता है कि कम-से-कम बनारस के आसपास वाले क्षेत्र में तो प्रतिहारो की राज्यसत्ता जम चुकी थी।

जैसा हम ऊपर देख आये है ८३६ ईस्वी में प्रतिहारो ने कन्नौज पर अपना अधिकार जमा लिया। नवी शताब्दी के अन्त होते होते प्रतिहारो ने अपनी राज्यसत्ता चारो ओर बढा ली और उनका शासन पजाब मे पिहोवा से लेकर मध्य प्रदेश में देवगढ तक और काठियावाड में ऊना से लेकर उत्तर बगाल में पहाडपुर तक हो गया। ९१६ ईस्वी के करीब राष्ट्रकूट इन्द्र तृतीय द्वारा कन्नौज की लूट के बाद प्रतिहारो की सत्ता ढीली पड गयी पर दसवीं सदी के अत तक बनारस उनके राज्य में बना रहा। त्रिलोचनपाल के एक लेख से पता चलता है कि इलाहाबाद पर उसका अधिकार १०२७ ईस्वी तक रहा।[3]

बगाल एशियाटिक सोसाइटी के सग्रह के एक ताम्रपत्र से, जिसका समय ९३१ ईस्वी का है, यह पता चलता है कि गुर्जर प्रतिहार राजा विनायकपाल देव ने महोदय स्थित अपने स्कधावार से तिक्करिका नामक एक ग्राम का दान दिया था। यह ग्राम प्रतिष्ठान भुक्ति में अवस्थित था और इसका लगाव वाराणसी विषय के काशीवार पथक से था।[4] इस उद्धरण से यह बात साफ हो जाती है कि ९३१ ईस्वी तक बनारस गुर्जर-प्रतिहारो के हाथ में था।

दसवी शताब्दी के अत में प्रतिहारो का बल कम पडने लगा और उनका बनारस पर अधिकार काफी शिथिल पड गया था। शायद जेजाकभुक्ति के धग (करीब ९५०–१००० ईस्वी) ने काशी पर अपना अधिकार जमा लिया। डा० त्रिपाठी का

---

[1] एपि० इडि०, १८।२२५

[2] एपि० इडि०, ७।८९

[3] एपि० डि०, १८।३८

[4] इडियन एटिक्वेरी, १५।१४०

कहना है[1] कि अपने राज्य के अन्त में धंग की अपनी सत्ता बनारस तक पहुँच गयी, क्योंकि एक ताम्र-पत्र में[2] इस बात का उल्लेख है कि एक गाँव उसने काशी के भट्ट यशोधर को प्रदान किया। पर काशी के एक ब्राह्मण को एक गाँव दे देने ही से यह नहीं माना जा सकता कि काशी पर उसका अधिकार था।

जो भी हो, यह तो निश्चित है कि ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में काशी पर गांगेयदेव कलचुरी का अधिकार हो गया। गांगेयदेव ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। इसने अपने राज्य को बढ़ाने का भी प्रयत्न किया पर उसे भोज परमार (करीब, १०००–१०५० ईस्वी) से हार खानी पड़ी। हाल ही में अलाउद्दीन के टकाध्यक्ष ठक्कुर फेरू द्वारा लिखित मध्यकालीन सिक्कों पर एक पुस्तक मिली है जिसमें गांगेयदेव की सुवर्ण-मुद्राओं को 'वाराणसी पद्माकिन द्रम्म' कहा गया है। इससे पता चलता है कि बनारस से ही उसने अपनी पद्माकिन मुहरें चलाई थी। गांगेयदेव के राज्य की मुख्य घटना अहमद नियाल्तिगिन द्वारा १०३३ ईस्वी में बनारस की लूट थी। इस घटना का वर्णन बैहाकी ने अपने *तारीखुस्सुबुक्तगिन*[3] *में इस तरह किया है* "उसने (*नियाल्तिगिन*) अपने योद्धाओं और सेना के साथ १०३३ ईस्वी में लाहौर से निकलकर ठाकुरों से जबर्दस्ती खूब रकम वसूली। बाद में वह गंगा पार करके उसके बाएँ किनारे से नीचे की ओर चल पड़ा। यकायक वह बनारस नाम के शहर में, जो गंग नाम के राजा के राज्य में था, आ पहुँचा। इसके पहले कोई भी मुस्लिम सेना वहाँ तक नहीं पहुँची थी। नगर दो फर्सग मुरब्बे में था और उसमें काफी पानी था। सेना वहाँ सबेरे से दोपहर के नमाज तक ठहरी क्योंकि ज्यादा ठहरने में खतरा था। बजाजा तथा गंधियों और जौहरियों की बाजारें लूट ली गयीं, लेकिन इससे कुछ अधिक करना नामुमकिन था। सेना के सिपाही भी इसलिए अधीर हो गये क्योंकि वे अपने साथ लूट का सोना, चाँदी, अतर और जवाहरात लेकर सही सलामती वापिस लौट जाना चाहते थे।"

बनारस की इस लूट के वर्णन से पता चलता है कि गांगेयदेव का राज्य-प्रबंध काफी शिथिल था, नहीं तो इस तरह तुर्कों का बनारस लूटकर सही सलामत लाहौर वापस लौट जाना आसान नहीं था। पश्चिम उत्तर-प्रदेश में तो महमूद गजनवी की लूटपाट से पूर्ण अराजकता फैल चुकी थी और अहमद नियाल्तिगिन के रास्ते को रोकने वाला कोई नहीं था। गांगेयदेव की मृत्यु प्रयाग में १०३८ से १०४१ ईस्वी के बीच हुई।

गांगेयदेव के बाद उनके पुत्र कर्ण गद्दी पर बैठे और इनका राज्य करीब १०४१ से १०७२ ईस्वी तक रहा। कर्ण प्रभावशाली राजा था। उसने गुजरात के राजा भीम (करीब, १०४१–१०६४ ईस्वी) की मदद से भोज को हरा दिया और कन्नौज पर भी धावे किये। कम-से-कम सारनाथ के एक लेख से पता चलता है कि बनारस कर्ण के राज्य में बराबर था।[4] १०५८ ईस्वी से तो बनारस पर कर्ण का अधिकार था

---

[1] त्रिपाठी, उल्लिखित, पृ० २७८ [2] इंडियन एंटिक्वेरी, १६।२०३–०६

[3] ईलियट और डाउसन, भा०२, पृ० १२३–२४

[4] ए० एस० आर०, १९०६–७, पृ० १००–१०१

ही। जुबलपुर के एक ताम्रपट्ट से, जिसका समय १०६५ ईस्वी है, यह पता चलता है कि काशी में कर्ण ने कर्णमेरु नाम का एक मदिर वनवाया था।[1] इस कर्णमेरु मदिर का उल्लेख प्रवध-चितामणि में भी है। विक्रमाकदेव चरित मे (१८।९३-९६) विल्हण वाराणसी के वर्णन के ठीक वाद कर्ण की तारीफ करता है जिससे शायद हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि विल्हण की कर्ण से भेंट वनारस में हुई। प्रवध चिंतामणि में भी कर्ण को वाराणसी का अधिपति कहा गया है।

आठवीं सदी से ग्यारहवीं सदी तक काशी की धार्मिक अवस्था

आठवी सदी से ग्यारहवी सदी तक वनारस की धार्मिक और समाजिक अवस्था में कुछ विशेष परिवर्तन नही हुआ। पहले की ही तरह शैवधर्म वनारस वालो का प्रधान धर्म रहा। जान पडता है, जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, इस युग में देवियो की पूजा का भी माहात्म्य वढा। भागवत धर्म भी पहले ही की तरह चलता रहा। वौद्ध धर्म भी सारनाथ में ज्यो-का-त्यो रहा, पर अव वह विलकुल वज्रयानी हो गया था और उसमें अनेक तात्रिक देवी-देवताओ का प्रवेश हो गया था।

इस युग की धार्मिक स्थिति को ठीक-ठीक तरह से समझने के लिए कुछ प्राचीन लेख हमारी वडी सहायता करते हैं, इनमें वनारस से मिले पथ का आठवी सदी का लेख,[2] महिपाल के समय का १०२७ ईस्वी का लेख[3] तथा कर्ण के १०५६ ईस्वी[4] और १०६५[5] के लेखो से वडी मदद मिलती है।

पथ के आठवी सदी के लेख से वनारस के धार्मिक जीवन पर प्रकाश पडता है। पथ ने अपने लेख में वनारस की वडी तारीफ की है। लेख की पहिली पक्ति में वतलाया गया है कि वाराणसी ने त्रिभुवन को अपने में समेट रक्खा था। दूर-दूर से आये विरक्त जन्म-मरण से मोक्ष पाने के लिये यहाँ तप करते थे। दूसरी पक्ति में यहाँ अपने गणो सहित देव की विमुक्ति की वात है। इस उल्लेख से यह पता लगता है कि अविमुक्त क्षेत्र वाराणसी की पौराणिक कल्पना, जिसके अनुसार शिव ने काशी कभी न छोडने की प्रतिज्ञा की थी, आठवी सदी में पूरी तरह से चल पडी थी। काशी की इस युग में इतनी पवित्रता मानी जाती थी कि ब्रह्महत्या का भी पातकी कलिकलुष से च्युत होकर शुद्ध भावो को प्राप्त करता था।

दूसरे श्लोक से वाराणसी के चन्द्रकिरणो से धौत उत्तुग शृग और जनपदस्त्रियो अर्थात् वारवनिताओ के विलास से अभिराम लवी चौडी सडको का वर्णन है। यहाँ विद्या, वेदार्थ तत्त्व, व्रत, जप, नियम में व्यग्र चन्द्रमा की तपस्या का भी वर्णन है। काशीखड (अ० १४) में इस वात का उल्लेख है कि वनारस में चन्द्रमा ने तपस्या की थी और इसके फलस्वरूप वहाँ चन्द्रेश्वर की स्थापना हुई।

---

[1] एपि० इडि०, २।१ से [2] एपि० इडि०, ९।५९ से

[3] ए० एस० आर०, १९०३-०४, पृ० २२३-२४

[4] ए० एस० आर०, १९०६-०७, पृ० १७०-१७१ [5] एपि० इडि०, २।१ से

तीसरे श्लोक में पथ की तारीफ की गयी है। ये बचपन ही से विनय व्याप्त भद्रमूर्ति, त्यागी, धीर, कृतज्ञ, तथा थोड़ी-सी आमदनी में सतोष मानने वाले थे और नित्य शिव की पूजा करते थे।

चौथे श्लोक में बताया गया है कि पथ ने काफी द्रव्य लगाकर और अनेक धार्मिक कृत्यों के बाद चंडी की एक मूर्ति स्थापित की। भवानी की यह मूर्ति अत्यन्त भीषण थी और उसके गले में नरमुंड की माला थी उसके गले से रेंगते हुए सर्प लटके हुए थे और परशु में सूखा मास लगा हुआ था। वह लीलाभाव से नृत्य कर रही थी और उसके नेत्र घूम रहे थे।

पाँचवें श्लोक में कहा गया है कि केवल चंडी की मूर्ति ही बनवाकर पथ सतुष्ट नहीं हुए। उन्होंने भवानी का मंदिर भी बनवाया जो सुश्लिष्ट सधिबंधन से जुड़ा था, घटा निनाद से वह सर्वदा मुखरित रहता था और उस पर ध्वजाएँ और चमर लहराते रहते थे।

पथ के उपर्युक्त लेख से कई बातों पर प्रकाश पड़ता है। सबसे पहली बात तो यह है कि काशी सबंधी कुछ पौराणिक कल्पनाओं का, जिनके उल्लेख मत्स्य पुराण, अग्नि-पुराण और काशी खंड में हैं, आठवीं सदी में प्रचार हो चुका था। काशी को अविमुक्त तीर्थ मानने का हेतु और काशी में चन्द्र की तपस्या, इन दोनों के उल्लेख काशी खंड में हैं। यह तो ठीक पता नहीं लगता कि चंडी का यह मंदिर कहाँ था क्योंकि बनारस के जिस क्षेत्र में पथ का लेख मिला, वहाँ इसका कुछ भी चिह्न नहीं बचा है, पर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इस लेख में भीष्मचंडी जिसे आज भीमचंडी के कहते हैं, निर्माण की ओर सकेत है। आधुनिक भीमचंडी के आस-पास खोज करने पर इस सबंध की और बातों का पता चल सकता है।

बनारस की आठवीं सदी में इतनी महिमा थी कि शंकराचार्य को भी बनारस जाकर अपने मत की विद्वानों द्वारा पुष्टि करानी पड़ी (शंकरदिग्विजय, ६।८१–८८) और शायद उन्होंने ब्रह्मसूत्र (७।१) की रचना बनारस में गंगा के किनारे की।

आठवीं सदी में सारनाथ में वज्रयानियों का बहुत जोर बढ़ा और इसके फलस्वरूप वहाँ अनेक बोधिसत्त्वों और देवियों की पूजा बढ़ी। जान पड़ता है, धीरे धीरे शैवों, शाक्तों और वज्रयानियों का भेदभाव कम होने लगा और अक्सर बौद्ध भी शैव और शाक्त प्रतिमाएँ स्थापित कराने लगे। इस सबंध में सारनाथ से मिले स्थिरपाल और वसन्तपाल का १०२६ ईस्वी का लेख उल्लेखनीय है।[1] लेख एक मूर्ति के पादपीठ पर है। इसमें कहा गया है कि गौडाधिप महीपाल की आज्ञा से स्थिरपाल और उसके छोटे भाई वसतपाल ने काशी में ईशान चित्रघंटा के तथा और भी सैकड़ों मन्दिर स्थापित कराये। ऐसी आज्ञा महीपाल ने अपने गुरु श्री वामराशि की पादवंदना करने के बाद दी। स्थिरपाल और वसतपाल ने धर्मराजिक स्तूप और धर्मचक्र विहार की मरम्मत करवायी और अष्ट-महास्थान-गध कुटी नाम के एक नये मंदिर की स्थापना की।

इस लेख से यह पता चलता है कि महीपाल बौद्ध होने पर भी हिंदू धर्म को आदर

---

[1] ए० एस० आर० १९०३–०४, पृ० २२१ से

की दृष्टि से देखते थे और उन्होने काशी में ईशान और चित्रघटा के मदिर वनवाये। काशी की नवदुर्गाओ में अब भी चित्रघटा की पूजा होती है।

उपर्युक्त लेख से सारनाथ के धर्मचक्रप्रवर्तन विहार के इतिहास मर भी कुछ प्रकाश पडता है। अपने करीव १५०० वर्षों के इतिहास में धर्मचक्रप्रवर्तन विहार की स्थिति में अनेक परिवर्तन हुए। कनिंघम द्वारा सारनाथ की खुदाई से पता चलता है कि छठी सदी के आरम्भ में हूणो के आक्रमण से सारनाथ को वहुत क्षति पहुँची। पर उस क्षति की पूर्ति वहुत जल्दी हो गयी और सारनाथ पुन वौद्ध विहारो और सघारामो से भरा पूरा हो गया। सारनाथ पर कई वार ऐसी ही मुसीवत गुजरी पर वह वार-वार ज्यो का त्यो वन गया।

इसी तरह के एक पुर्ननिमाण का उल्लेख स्थिरपाल-वसतमाल के लेख में आया है। इसमें कहा गया है कि उन्होने धर्मराजिका और धर्मचक्र नाम की दो इमारतो का पुनरुद्धार कराया और अष्ट-महास्थान-शैल-गध-कुटी विहार नाम से एक नयी इमारत खडी की। हमे इस वात का पता है कि धर्मचक्र मृगदाव का नाम था लेकिन इस लेख के आधार पर हम यह नही कह सकते कि इसमें धर्मचक्र से विहार अथवा सघाराम, किससे तात्पर्य है। इसी तरह यह भी ठीक ठीक नही कहा जा सकता कि धर्मराजिका से किस स्तूप का मतलव है, पर शायद इसका उद्देश्य जगतसिंह स्तूप से हो सकता है। स्थिरपाल द्वारा वनायी गयी अष्ट-महास्थान-शैलगधकुटी सारनाथ में कहाँ स्थित थी इसका भी ठीक ठीक पता नही है। डा० फोगेल का ऐसा अनुमान है कि स्थिरपाल-वसतपाल की वनवायी गधकुटी में कोई ऐसा अर्धचित्र था जिसमें वुद्ध के जीवन की आठ महान् घटनाओ का चित्रण था।[1]

कलचूरि कर्ण देव के सारनाथ से मिले १०५८ ईस्वी के एक टूटे फूटे लेख से पता चलता है कि कम-से-कम १०५८ ईस्वी तक सारनाथ में सद्धर्मचक्रप्रवर्तनविहार नाम का एक विहार था।[2] लेख से यह भी पता चलता है कि इसमें आये भक्तगण महायानी थे क्योकि इसमें महायानियो के धार्मिक ग्रथ अष्ट-साहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता के नकल करने की वात आयी है। इस लेख और सारनाथ से मिली अनेक मूर्तियो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस समय वनारस में महायानियो का पूरा जोर था।

इस युग में भी वनारस शैवधर्म का केन्द्र था। इस काल में शिव के कौन कौन-से नये मदिर वने इसका तो ठीक पता नही चलता पर कलचूरि कर्ण के जवलपुर के एक लेख से पता लगता है कि १०६५ ईस्वी के पहले वनारस में कर्ण ने कर्णमेरु नाम का मदिर वनवाया।[4] सभवत इसी मदिर का उल्लेख प्रवध-चितामणि (टॉनी का अनुवाद, पृ० ७३ से) में है। शायद यह मदिर पचास हाथ ऊँचा था। वृहत् सहिता (५६।२८) के अनुसार मेरु भाँति का षट्कोण मदिर वारह खड का होता था और इसमें विचित्र खिडकियाँ और द्वार होते थे। ● ●

---

[1] केटलाग, पृ० ६–७

[2] ए० एस० आर०, १९०६–०७, पृ० १००–१०१ [4] एपि० इडि०, २।१ से

बारहवाँ अध्याय

करीब ३०० ईस्वी से ११वीं सदी के अंत तक बनारस की कला

हम बनारस की कुषाण कला के प्रसग में कह आये है कि बनारस में सर्व प्रथम कनिष्क के तीसरे वर्ष में बुद्ध की प्रतिमा आयी और किस तरह से बनारस के कारीगरो ने दूसरी और तीसरी शताब्दियो में स्थानीय कला के अनुरूप एक नयी कला का सृजन आरभ किया। बनारस की इस नयी कला ने करीब छह सौ वर्षो के अनवरत परिश्रम के बाद गुप्त युग (३००–६०० ईस्वी) में एक अपूर्व रूप ग्रहण किया। इस कला में अध्यात्मिकता और लावण्य-व्यजना का एक ऐसा आकर्षक सम्मिश्रण है जैसा और किसी युग की कला में नही दीख पडता। गुप्त युग में रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्य और सादृश्य तो कला के गुण है ही, पर इन सब के ऊपर इस कला में उस अपूर्व अध्यात्मिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है जो योग द्वारा ही अनुभूत हो सकती है। अगर हम यो कहे कि भारतीय कला के इतिहास की अनेक धाराओ का गुप्त कला में अपूर्व सम्मिश्रण है तो ठीक ही होगा। इस कला ने भरहुत और साँची से अलकार प्रेम, मथुरा की कुषाण कला से गुरु-गभीरता और बाह्य सौंदर्य की ओर अनुरक्ति और अमरावती से अपूर्व सचरणशीलता ग्रहण की और फिर इसमें से कुछ कुछ लेकर अपने ढग पर कला को एक नया रूप दिया। इस कला का दायरा किसी क्षेत्र-विशेष तक सकुचित नही रहा। मथुरा, सारनाथ, देवगढ मालवा इत्यादि में वह फली फूली अवश्य, पर उसका विस्तार सारे देश में ही क्या बृहत्तर भारत में भी हुआ।

गुप्त युग की कला से पता चलता है कि उस युग में कला का क्षेत्र कुछ सौंदर्योपासको तक ही सीमित नही रह गया था, अगर ऐसा होता तो गुप्त कला फलफूल नही सकती थी। ऐसा जान पडता है कि इस युग में आम जनता की सौंदर्य-भावना काफी विकसित हो चुकी थी। गुप्त युग के गहने कपडे, सज्जा के सामान यहाँ तक कि मामूली मिट्टी के बरतन और खिलौनो में भी उस युग की उस अपूर्व परिष्कृत रुचि का पता लगता है जिसका मूल कला-प्रेम और सौंदर्योपासना था। बनारस के नागरिक बहुत प्राचीन काल से बडे ही सुरुचि सपन्न रहे है और कला के प्रति इनका सर्वदा से प्रेम रहा है। पर प्रेममात्र से कुछ नही होता, बडे बडे मदिरो के बनवाने और सुदर मूर्तियो के गढ़वाने में पैसे की आवश्यकता पडती है और वह भी बनारस में व्यापार की वजह से काफी था। इस प्रकार हम देख सकते है कि सारनाथ और राजघाट से मिली कलात्मक वस्तुओ का मूल कारण गुप्तयुग के बनारस में नागरिको का कला-प्रेम, धर्म के प्रति दृढ़ आस्था और भर पूर आर्थिक उन्नति का अपूर्व सम्मिश्रण था।

सारनाथ से मिली बुद्ध मूर्तियो का मूल तो भिक्षु बल वाली कुषाण मूर्ति ही है लेकिन गुप्तकालीन और कुषाणकालीन प्रतिमाओ का कोई मुकाबला नही किया जा

चित्र न ७ अवलोकितेश्वर
गुप्त युग, सारनाथ (इंडियन म्यूजियम, कलकत्ता)
पृष्ठ न ११३

चित्र न ८ कार्तिकेय
पाँचवी सदी ईस्वी (भारत कला भवन, काशी)
पृष्ठ न ११४

चित्र न ९ प्रेंखोत्सव (मृण्मूर्ति)
छठी सदी ईस्वी, राजघाट, काशी (भारत कला भवन, काशी)
पृष्ठ ११४

चित्र न १० वादक (मृण्मूर्ति)
छठी सदी ईस्वी, राजघाट, काशी, (भारत कला भवन, काशी
पृष्ठ ११५

मकता ।* गुप्तकालीन प्रतिमाओ मे कुषाण युग की प्रतिमाओ की गुरुता, भद्दे‌पन और कमजोर बनावट का सर्वथा अभाव है और इनकी जगह एक अपूर्व कोमलता, अध्यात्मिकता, और आनदातिरेक जनित मद स्मित का हम दर्शन करते है। कुषाण मूर्तियो की तरह सारनाथ की गुप्तकालीन मूर्तियो में हम वस्त्रो का अकन नही देखते, इसकी जगह वस्त्रो की प्रात-रेखाओ से ही काम निकाल लिया जाता है। लेकिन गुप्त प्रतिमाओ में कुषाण-कालीन सादे प्रभा मडलो की जगह हम पुष्प-पत्रालकृत प्रभामडल पाते है।

सारनाथ से मिली गुप्तकालीन मूर्तियो में सबसे सुन्दर बुद्ध की एक मूर्ति है। सिंहासन पर पद्मासनस्थ बुद्ध धर्मचक्रप्रवर्तन मुद्रा में बैठे है, पीछे प्रभामडल है। नीचे पीठ पर दो हिरनो के बीच में एक चक्र है और उसके दोनो ओर पचवर्गीय भिक्षु और शायद एक दाता अकित है। मूर्ति में एक अपूर्व आध्यात्मिक सौंदर्य की झलक मिलती है और गढन में तो यह अपूर्व है ही।

गुप्तयुग में बुद्ध मूर्ति का प्रभाव बढ जाने के फलस्वरूप पहले जो बुद्ध जीवन से सबध रखने वाले अर्धचित्र बुद्ध प्रतिमा के साथ होते थे, वे क्रमश छोटे होने लगे और उनका प्रयोग केवल यह बताने के लिए होने लगा कि किसी विशेष घटना से मूर्ति का क्या सबध था।

गुप्तयुग में सारनाथ में बोधिसत्त्व-पूजा की बहुत चलन थी और इसके फलस्वरूप मैत्रेय और अवलोकितेश्वर की सुदर प्रतिमाएँ मिलती है। अवलोकितेश्वर की एक बडी ही सुदर मूर्ति के मुकुट में अमिताभ के दर्शन होते है। कभी कभी उनके फैले हुए हाथ के नीचे सूचीमुख प्रेत होता है जो अवलोकितेश्वर की अँगुलियो से झरती हुई अमृत की बूँदें ग्रहण करता है। इस मूर्ति पर गुप्ताक्षरो में एक लेख है जिससे पता लगता है कि मूर्ति किसी विषयपति ने बनवायी थी।[1] गुप्तयुग की तारा की भी एक बहुत सुदर मूर्ति सारनाथ से मिली है।

सारनाथ से गुप्तकालीन बहुत-से बौद्ध अर्धचित्र भी मिले है। एक ऊर्ध्वपट पर जिसमें चार खाने है बुद्ध के जीवन की चार मुख्य घटनाओ के यथा जन्म, बोधि, धर्मचक्र प्रवर्तन और महापरिनिर्वाण के दृश्य अकित है। इस पर एक लेख के अक्षरो से पता चलता है कि इसका समय पाँचवी सदी है। एक दूसरे ऊर्ध्वपट पर तीन खड है। पहले खड में मायादेवी का स्वप्न, बुद्ध जन्म और सद्य जात शिशु बुद्ध की नाग नन्द और उपनन्द तथा इद्र और ब्रह्मा द्वारा अभ्यर्थना है, दूसरे खड में महाभिनिष्क्रमण और गया में बुद्ध के तप के दृश्य है, तीसरे खड में मारविजय और महाभिनिष्क्रमण के दृश्य है।

सारनाथ से बुद्ध के जीवन की और भी घटनाओ का भी चित्रण मिला है। श्रावस्ती का चमत्कार जिसमें बुद्ध ने प्रसेनजित् के सामने विधर्मियो को छकाने के लिए अपना चमत्कार दिखलाया तथा त्रयस्त्रिंश स्वर्ग से अपनी माता को उपदेश देन के लिये बुद्ध का उतरना वैसे ही दृश्य है। सारनाथ में जातक के अकन बहुत कम आये है लेकिन क्षान्तिवादिन् जातक

[1] केटलाग, पृ० १४८-४९।

का गुप्त कालीन अंकन बहुत ही सुन्दर बन पडा है इसमें बोधिसत्त्व के द्वारा कलाबु की नर्तकियों को उपदेश देने पर, उन पर कलाबु का अत्याचार दिखलाया गया है।

गुप्त सम्राट परम वैष्णव थे। राजघाट से मिली मुद्राओं मे भी पता चलता है कि गुप्त काल में बनारस शहर में विष्णु-पूजा का चलन था। अभाग्यवश गुप्त काल की कोई विष्णु की मूर्ति अभी बनारस से नहीं मिली है। पर जान पडता है कृष्ण की भी पूजा बनारस में प्रचलित हो गयी थी। बनारस में बकरिया कुड मे गोवर्धनधारी कृष्ण की एक बहुत ही सुन्दर गुप्तकालीन मूर्ति भारत कला-भवन में है। मूर्ति के खडित होने पर भी उसमें एक अपूर्व ओज है।

गुप्त सम्राट कुमारगुप्त कार्त्तिकेय के उपासक थे। राजघाट मे मिली कुछ मुद्राओ मे पता चलता है कि गुप्तकाल में यहाँ कार्तिकेय की पूजा होती थी। भारत-कला भवन में गुप्तकालीन कार्त्तिकेय की एक बडी ही सुन्दर प्रतिमा है। इसमें कार्त्तिकेय का बाल्य सुलभ रूप का बडा ही चित्ताकर्षक अकन है। कुमारस्वामी की राय में यह मूर्ति गुप्तकला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरणो में एक है।

राजघाट की खुदाई मे गुप्तकालीन स्त्रियो के मिट्टी के शीर्ष सैकडो की सख्या में और दूसरी मूर्तियाँ करीब दो हजार की सख्या में मिली है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इन मृण्मूर्तियो का सागोपाग अध्ययन किया है। साँचो में ढली ये मूर्तियाँ गुप्तकाल की सर्वोत्कृष्ट कारीगरी और शैली की द्योतक हैं। इन सिरो का दो बातो मे महत्त्व है, (१) इनमें अनेक तरह के सुन्दर केश-विन्यास मिलते है और (२) इनमें कुछ पर प्राचीन रगाई के अवशेष मिलते है। सामूहिक रूप मे ये मृण्मूर्तियाँ कला की उस ताजगी और गहराई को प्रकट करती है जिनका पता अब तक हमें गुप्तकालीन मृण्मूर्तियो मे नहीं मिला था। इनके चेहरो में अगो की लुनाई के साथ हम अनेक केशविन्यास पाते है जिन्हें गुप्तकाल का कलापारखी जगत् पसद करता था।

डा० वासुदेवशरण ने इन सिरो पर से निम्नलिखित केशविन्यास ढूढ निकाले हैं जिनसे पता चलता है कि गुप्त युग में स्त्री पुरुष कितने चाव से अपना केश विन्यास करते थे।

अलक में केश वीथि के दोनो ओर घुँघराली लटें होती थी, बर्हभार में लटें मोर-पखनुमा होती थीं। मधुमक्खी के छत्तेनुमा केशवेश, एक अथवा त्रिशिखडक केशवेश, एक तरफ पाडी हुई घुँघराली अलकावली भी केशविन्यास के प्रकार थे।

राजघाट से देवी-देवताओ की मृण्मूर्तियाँ कम मिली है पर जो थोडी बहुत मिली है, उनमें त्रिनेत्र और अर्धचन्द्र से मडित शकर का सिर अतीव सुन्दर है। इस सिर की तुलना भूमरा और खोह की शिव मूर्तियो से की जा सकती है। विष्णु की भी एक टूटी मृण्मूर्ति राजघाट मे मिली है।

राजघाट से मिली सबसे सुन्दर मृण्मूर्ति में अशोक प्रेंखिका का पट है। इसमें खूब फूले एक अशोक वृक्ष पर झूला पडा है और उस पर एक स्त्री झूल रही है। इस मृण्मूर्ति में एक अजीब गति और सौन्दर्य है।

एक गोल पट्ट में किन्नर युगल दिखलाये गये हैं। एक दूसरे पट में एक हिरन को घास खिलाता हुआ लुब्धक अंकित है। उसने एक भारी कोट पहन रक्खा है, पर वास्तव में वह नंगा है। उसके दाहिने कंधे पर शायद मोर पंखो का एक भार है।

राजघाट से बादको की भी कुछ छोटी-छोटी बहुत ही सुन्दर मूर्तियाँ मिली हैं। ये मूर्तियाँ यह बतलाती हैं कि बहुत ही कम विस्तार में भी गुप्तयुग के कलाकार कितना कमाल दिखला सकते थे।

राजघाट से मिली हुई गुप्तकालीन करकाओ की डोटियो का भी एक सुन्दर संग्रह कला-भवन में है। ये डोटियाँ मकर या दूसरे पशु-पक्षियो के आकार में होती थी और इनकी कलात्मकता से यह पता लगता है कि बनारस के कुम्हार भी बडे ही कारीगर होते थे और कला की तरफ उनकी पूर्ण अभिरुचि थी।

सारनाथ से मिली हुई मूर्तियो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मध्य युग में सारनाथ में तन्त्रयान का काफी जोर था। इस युग में हमे सारनाथ से मंजुश्री, अवलोकितेश्वर, मैत्रेय, यमारि, अमोघसिद्धि इत्यादि की मूर्तियाँ मिलती है। देवियो में तारा, वसुन्धरा और मारीचि की मूर्तियाँ मिली हैं।

मध्य युग में बौद्ध धर्म ने जो रास्ता पकडा, इसके इतिहास का हमे सारनाथ से मिली बहुत-सी मूर्तियो से पता चलता है। इसमें कोई शक नही कि इन देवी-देवताओ की पूजा बहुत प्राचीन काल से सर्व-साधारण में प्रचलित थी। हम देख आये है कि किस तरह शैव धर्म ने भी इन प्राचीन देवताओ को धीरे धीरे अपना लिया। बौद्ध धर्म मे भी ये लोक-देवता बहुत दिनो तक बाहर नही रह सके और महायान और बाद में वज्रयान ने इन्हें बुद्ध और बोधिसत्त्वो के आस पास ही स्थान दिये। ऐसा ज्ञात होता है कि समन्वय की यह भावना गुप्तकाल में प्रारम्भ हुई और शैवो और वज्रयानियो ने इस प्रवृत्ति को समान रूप से ग्रहण किया। इन देवताओ के बौद्ध धर्म में प्रवेश करते ही उसमें अनेक विकराल मूर्तियो का आविर्भाव हुआ। ये मूर्तियाँ शांत और योगनिरत बौद्ध मूर्तियो के बिलकुल विपरीत हैं। इन का महायान में प्रवेश बौद्ध धर्म के उस पतन का द्योतक है जो तिब्बत के लामा धर्म में जाकर पूर्ण विकसित हो जाता है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि सारनाथ से मिली ऐसी विकराल मूर्तियाँ प्राय मध्यकालीन हैं। इनके बहुत से हाथ, कभी कभी अनेक मुख हैं जिनमें कुछ पशुओ के भी हैं। जंभल या वैश्रवण की उस समय पूजा होती थी और इनकी मूर्तियाँ संघारामो में भी होती थी। जंभल के साथ वसुधरा की भी मूर्ति मिलती है। बाहर निकलती आखें और दाँतवाला, तुंदिल तथा नंगे बदनवाला जंभल जमीन पर पडी मूर्ति को कुचलता हुआ दिखलाया गया है। इसकी देवी वसुधरा जरा कम बदशकल होती है। इस समय की सबसे प्रचलित देवी तारा थी उसका दायाँ हाथ वरद मुद्रा में होता है और बाएँ हाथ मे नीलोत्पल दिखलाया जाता है। तारा की कल्पना एक सुभूषित भारतीय नारी के रूप में होती थी।

वज्रवाराही मारीचि की मूर्ति के तीन सिर होते है जिनमें एक सिर वराह का होता है। इसके हाथो में भिन्न भिन्न आयुध होते है। एक धनुर्धारी की मुद्रा में यह देवी सप्त

वराह वाले रथ पर सवार दिखलायी जाती है। शायद ये वराह सप्ताह के सात दिनो के द्योतक हैं। तिब्बत में आज दिन तक वज्रवाराही की पूजा होती है।

जैसे जैसे इन देवी देवताओं की संख्या बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे बुद्ध की प्रतिमा कम होती जाती है और उसी सारनाथ मे जहाँ बुद्ध ने धर्मचक्रप्रवर्तन किया, हम ११ वी शताब्दी में तन्त्रयान का बोल-वाला पाते हैं। मुहम्मद गोरी के एक ही झटके मे यह जीर्ण-शीर्ण धर्म सर्वदा के लिये जमीनदोज हो गया इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। ● ●

तेरहवाँ अध्याय

काशी पर गाहडवालों का राज्य

काशी और कन्नौज पर गाहडवालो की सत्ता स्थापित होने के पूर्व की मध्य देश की राजनीतिक अवस्था समझ लेना आवश्यक है। इससे हमें पता चल जायगा कि गाहडवालो ने किस तरह भयकर अराजकता से उत्तर प्रदेश की रक्षा कर, करीव सौ वरस तक उसे भारतवर्ष का अग्रणी राज्य कायम रक्खा। १०१८ ईस्वी में महमूद गजनवी ने गुर्जर प्रतिहार राज्यपाल की सत्ता कन्नौज से उखाड फेंकी। इस झटके से त्रस्त होकर राज्यपाल के वशधर पूर्वी उत्तर प्रदेश की ओर खिसक आये। त्रिलोचनपाल के झूँसी के लेख और यश पाल के कडा के लेख से पता चलता है कि करीव १०२७ और १०३७ के बीच इलाहावाद जिले का एक भाग इनके अधिकार में रहा, कन्नौज के आसपास का इलाका शायद चदेल राजा विद्याधर (करीव १०१९ ईस्वी) के अधिकार में चला गया। विद्याधर के वाद मध्यदेश में कलचूरियो का इतिहास शुरू होता है और इस वात के काफी प्रमाण है कि इलाहावाद और वनारस गागेयदेव (करीव १०३०-१०४१ ईस्वी) और उसके पुत्र कर्ण (करीव १०४१-१०७० ईस्वी) के अधिकार में रहे लेकिन कन्नौज की हुकूमत दूसरो के हाथ में थी।

सल्लक्षणदेव के लेख से कन्नौज के इन नये शासकों की ओर सकेत मिलता है लेकिन विद्याधर के सहेठ-महेठ वाले (१०१९-२० ईस्वी) लेख[1] और राष्ट्रकूट लखनपाल के वदायूँ के लेख[2] से यह वात पक्की हो जाती है। पहले लेख में गोपाल के पुत्र मदनपाल को गाधिपुर का शासक कहा गया है। वदायूँ वाले लेख के मदनपाल और गोपाल तथा सहेठ-महेठ वाले लेख के मदनपाल-गोपाल एक ही है। इनका वश शायद ११वीं सदी के दूसरे भाग में आरभ हुआ और ये राष्ट्रकूट वश के स्थानिक राजा थे। शायद इस वश को लक्ष्मीकर्ण के आगे झुकना पडा। कर्ण की मृत्यु के बीस वरस के अदर ही गगा-जमुना के दोआव में एक नयी राज्यशक्ति का उदय हुआ जिसने १०९० ईस्वी के करीव वनारस से लेकर कन्नौज तक अपना अधिकार जमा लिया था।[3] ये वनारस के गाहडवाल थे।

यहा हम कह देना चाहते है कि गागेयदेव और कर्ण के शासन काल में भी मध्यदेश में महमूद के हमलो से जो अराजकता उत्पन्न हुई उसका पूरी तरह से शमन नही हो सका था। इसका सवूत यह है कि १०३३ ईस्वी में नियाल तिगिन ने पूरा पश्चिमी उत्तर प्रदेश पार करके वनारस लूट लिया। वह किसी भय के विना वापस भी चला गया और किसी

---

[1] ए० जे० ए० एस० वी०, ६१, भा० १, एक्स्ट्रा न० पृ० ५७-६४

[2] एपि० इडि०, १।६०-६१

[3] एपि० इडि०, ९।३०२-०५

का कुछ किया धरा न हो सका। देश में ऐसी स्थिति पूर्ण अराजकता की द्योतक है। ऐसा होना अवश्यभावी भी था क्योंकि महमूद गजनवी के धावो ने उत्तरी भारत की राजनीतिक और सांस्कृतिक भित्तियो को जड मे हिला दिया था। उस के इन हमलो के प्रभाव का वर्णन करते हुए अलबेरुनी लिखता है—महमूद ने देश की विभूति पूर्णरूप मे नष्ट कर दी। वहा उसने वीरता के ऐसे कारनामे दिखलाये कि हिंदू धूल के कणो की तरह चारो ओर बिखर गये और एक प्राचीन कथा की तरह केवल लोगो की जुबानो पर ही बच गये। उनमें से बचे बचाये लोग निश्चय ही मुसलमानो को बडी ही घृणा के भाव से देखते है। यही कारण है कि हिन्दू ज्ञान-विज्ञान हमारे विजित इलाको मे बहुत दूर हटकर उन जगहो में जैसे कश्मीर, बनारस इत्यादि में पहुच गये, है, जहाँ हमारा हाथ अभी तक नही पहुँच सका है। और वहा उसके और विदेशियो के बीच की शत्रुता को राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्रो से और अधिक प्रोत्साहन मिलता है।[१]

अलबेरुनी के उपर्युक्त वक्तव्य मे हमें इस बात का पता चलता है कि महमूद के आक्रमणो से हिंदू राष्ट्रो को कितनी गहरी राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षति उठानी पडी पर साथ ही साथ अलबेरुनी से यह भी ज्ञात होता है कि इस आकस्मिक आपत्ति से भागे शरणार्थी हिंदुओ में अपने विजेताओ के प्रति एक घृणा भाव पैदा हो गया और इस भाव को बढ़ाने में राजनीति और धर्म दोनो ने ही सहारा दिया। अलबेरुनी के इस वक्तव्य के प्रकाश मे अगर हम गाहडवालो के लेखो में आये तुरुष्कदड, और हम्मीर को हराने की बातें देखें तो हमें समझ में आयेगा कि प्रताडित हिन्दू किस तरह बदला लेने का प्रयत्न कर रहे थे।

जब चारो ओर अराजकता फैल रही थी और हिंदू क्षुभित होने पर भी सार्वभौम राज्यसत्ता के बिना अपने ऊपर होने वाले अत्याचारो का प्रतिकार करने में असमर्थ थे, उसी समय मध्यदेश में गाहडवाल वश में चन्द्रदेव नामक एक वीर उत्पन्न हुआ जिसने अपनी वीरता और प्रताप मे, जैसा उसका एक लेख कहता है, प्रजोपद्रव को शात कर दिया—**येनोदारतरप्रतापशमिताशेषप्रजोपद्रवा।**[२] उन्होने बनारस को अपनी राजधानी बनायी और इस तरह १७०० वर्षों के बाद काशिराष्ट्र पुन चमक उठा।

गाहडवालो के उद्गम के बारे मे ठीक-ठीक पता नही चलता। लेखो में वे अपने को सूर्यवशी अथवा चन्द्रवशी उद्घोषित न करके केवल क्षत्रिय कहते हैं। गाहडवालो के आधुनिक वशज गहरवार हैं और मिर्जापुर में कतित रियासत के राजा इसी जाति के हैं। इस वश के भाटो की कल्पना मे तो गाहडवाल राजा दिवोदास के वशधर हैं और शनि की दशा रोकने मे इनका नाम ग्रहवर पडा जो बाद में बिगड कर गाहडवाल हो गया। पर यह निरी कपोल-कल्पना है। सभव है कि ये किसी आदिम जाति के रहे हो जो राज्यसत्ता पाने पर और ब्राह्मणो को दान देने से क्षत्रियत्व को प्राप्त हो गये। शायद उनके नाम से गह्वर अथवा गुफा की ध्वनि निकलती है जो उनके आदिम-वासी होन का प्रमाण है। महामहोपाध्याय प० विश्वेश्वरनाथ रेऊ का विचार है कि

---

[१] अलबेरुनीज इडिया, सचाउ का अनुवाद, भाग १, पृ० २२, लडन १९१०

[२] इडियन एटिक्वेरी, भा० १८, पृ० १६।१८ प० ४

गाहड का अर्थ पराक्रमी है। श्री सी० वी० वैद्य के अनुसार दक्खिन में गाहड नामक स्थान से आने से ही इनका नाम गाहडवाल पडा। कुछ विद्वानो की राय में गाहडवाल राष्ट्रकूटो की एक शाखा थी। रेऊजी अपने विचार की पुष्टि में निम्नलिखित प्रमाण पेश करते हैं (१) अनुश्रुतियो के आधार पर मारवाड के राठोड सीहाजी के वशधर हैं और सीहाजी कन्नौज के राजा जयचन्द्र के पोते थे। (२) रासो मे गाहडवालो को ३६ राजपूत जातियो में स्थान न मिलने से शायद वे राष्ट्रकूटो के अतरगत मान लिये गये हो। (३) लोगों का विश्वास है कि जयचन्द्र राठोड थे और रासो में इसका उल्लेख भी है। (४) इस बात का भी लेखो से पता चलता है कि गाहडवालो के पहले भी उत्तरप्रदेश में राठोडो की सत्ता थी। डा० त्रिपाठी इन सब प्रमाणो की जाँच कर इस नतीजे पर पहुँचे कि उनमें कुछ तथ्य हो सकता है पर उनकी सचाई मे सन्देह है। उन्होंने उपर्युक्त प्रमाणो के विरुद्ध निम्नाकित तर्क पेश किये हैं (१) गाहडवाल अपने को कभी राठोड नही कहते, वे राठोडो में शादी ब्याह भी करते है और राठोडो से उनके गोत्र भी भिन्न है। राष्ट्रकूट काश्यप हैं और गाहडवाल गौतम। (२) सीहाजी वाली अनुश्रुति १९४३ ईस्वी में उनके मृत्यु होने के बाद आरम्भ होने से, जयचद्र से काफी दूर पडती है। इसके सिवाय हथौंडी के ९९७ ईस्वी के लेख से यह साफ पता चल जाता है कि राष्ट्रकूटो का मारवाड पर अधिकार गाहडवालो के वहाँ तथाकथित जाने के बहुत पहले हो चुका था। जान पडता है सीहाजी वाली अनुश्रुति बाद में गढी गयी। (३) चद बरदाई के गाहडवालो का क्षत्रियों में न रखने से यह नही माना जा सकता कि वे राष्ट्रकूट थे। (४) ११ वी शताब्दी के दूसरे भाग मे कन्नौज में राष्ट्रकूटो के होने से यह नहीं माना जा सकता कि वे गाहडवालो के सगोत्री थे। कालक्रम के अनुसार भी हम बदाऊँ लेख के चद्र और गाहडवाल चन्द्र को एक नही मान सकते।[1]

गाहडवाल वशावलियो में गाहडवाल कुल का प्रारम्भ यशोविग्रह से होता है।[2] इनके बाद महीचन्द्र हुए। हमें इस बात का पता नही है कि इन दोनो का राज्य कहाँ था। यशोविग्रह एक साधारण जन थे पर महीचन्द्र के अधिकार में कुछ सैन्यबल था जिसकी मदद से शायद उन्होंने एक छोटा-सा राज्य कायम कर लिया होगा। गाहडवाल वश के असल सस्थापक महीचन्द्र के पुत्र चद्रादित्य[3] अथवा नरपति चन्द्र थे[4]। शायद बदायूँ वाले लेख के गोपाल से इनका युद्ध हुआ और उसे उन्होंने जमुना के किनारे हराया। गोविंदचन्द्र के बसही के लेख[5] से पता चलता है कि भोज और कर्ण के बाद उन्होंने पृथ्वी की रक्षा करते हुए कान्यकुब्ज को अपनी राजधानी बनायी। यह घटना १०८० से १०८५ ईस्वी के बीच घटी। लेकिन जैसा डा० राय का अनुमान है[6] चन्द्र द्वारा कन्नौज

---

[1] त्रिपाठी, उल्लिखत, पृ० २९८–३००

[2] इडियन एटिक्वेरी, १८।११, प० १

[3] एपि० इडि०, १४।१९४, प० १४

[4] एपि० इडि०, ९।३२४ श्लो १४

[5] इडियन एटि० १८।८५, पृ० १०२–७३

[6] डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इडिया, पृ० ५०७

दखल करने की बात ठीक नहीं जँचती क्योंकि सहेठ-महेठ के १११९–२० ईस्वी के लेख से पता लगता है कि वहाँ राष्ट्रकूट मदनपाल का अधिकार था। ऐसा हो सकता है कि अपनी राजनीतिक महत्ता के कारण कन्नौज गाहडवालों की एक राजधानी मान ली गयी हो लेकिन असल में गाहडवाल नरेशों की राजधानी बनारस थी। ऐसा मानने के कई कारण है, एक तो गाहडवालों के अधिकतर ताम्रपत्र काशी में मिले है, दूसरे मुस्लिम इतिहासकार[1] भी गाहडवालो को बनारस का राजा कहते है, तीसरे चन्देल लेखो में भी उन्हें काशी का राजा कहा गया है। आगे चल के हम देखेंगे कि लक्ष्मीधर ने अपनी प्रशस्ति में भी गोविन्दचन्द्र को काशी का राजा कहा है। बनारस को राजधानी बनाने में सामरिक दृष्टि से भी सुविधा थी क्योंकि कन्नौज का रास्ता मुसलमान देख चुके थे और उधर यदा कदा उनके हमले भी हो जाते थे। चन्द्रदेव अपने को काशी, कुशिक, उत्तर कोशल और इन्द्रस्थान यानी बनारस, कन्नौज और इन्द्रप्रस्थ का रक्षक कहते है।[2] इस प्रकार चन्द्रदेव प्राय आधुनिक उत्तरप्रदेश के शासक थे। जान पडता है पूर्वी उत्तरप्रदेश में चन्द्रदेव का बढाव कलचूरि यश कर्ण (करीब १०७३ से ११२५ ईस्वी) को हराकर हुआ होगा।

मदनपाल

चन्द्रदेव की मृत्यु के बाद मदनपाल ११०० से ११०८ ईस्वी के बीच गद्दी पर बैठे। लेखों में इन्हें मदनदेव[3] और मदनचन्द्र[4] भी कहा गया है। इनके लेख ११०४ से ११०९ ईस्वी तक के मिलते है। इनका राज्य ११२४ ईस्वी के पहले समाप्त हो चुका होगा क्योंकि इसी साल का गोविन्दचन्द्र का पहला लेख[5] मिलता है। यह आश्चर्य की बात है कि मदनपाल का केवल एक ही लेख मिलता है। राज्य का सब कारबार गोविन्दचन्द्र करते थे और अपनी माताओं (राल्हदेवी और पृथ्वीश्री) के नाम पर दानपत्र निकाला करते थे। इसका कारण डा० राय के अनुसार शायद गोविन्दचन्द्र का गुरु-गभीर व्यक्तित्व रहा हो। पर इसका कारण मदनपाल की बीमारी भी हो सकती है। अगर यह सही है तो शायद अपनी बीमारी में उन्होंने चिकित्सा शास्त्र का अध्ययन किया हो और मदन-विनोद निघटु, जिसका रचयिता काशी का मदन नाम का राजा कहा जाता है, मदनपाल द्वारा किया हुआ सकलन हो। इस युग की लडाइयो को जीतने का श्रेय गोविन्दचन्द्र को ही दिया गया है। राहन के ताम्रपट्ट में गौडो की गजघटा और हम्मीर पर विजय का श्रेय उनको ही दिया गया है।[6] गौडो की सेना शायद रामपाल (करीब १०८४–११२६ ईस्वी) की थी। इस लेख में जिस हम्मीर का उल्लेख आया है, उसका सबध लाहौर की यामिनी सल्तनत के किसी धावे से मालूम पडता है। सभवत

---

[1] ईलियट एड डाउसन, भा० २, पृ० २५०

[2] इडियन एटि०, १८।१३

[3] वही, १८।१२, प० २३

[4] एपि० इडि०, ९।३२४ श्लो० १४

[5] एपि० इडि०, ४।१०१–१०४ [6] इडियन एटी०, १८।१६, प० ८–१०

महमूद ग़ज़नवी के बाद भी उसके वंशजो ने लूट पाट के लिए समय समय पर सेनाएँ भेजी। एक ऐसे ही धावे का उल्लेख तबकात नसीरी ने महमूद तीसरे के राज्य में किया है।[1] उसके अनुसार हाजी तुग-तिगिन ने गगा पार करके हिन्दोस्तान में जिहाद बोल दिया और उस जगह तक घुस गया जहाँ महमूद की सेना के सिवा और कोई नही पहुँच पाया था। इस धावे की कुछ बातो का उल्लेख शायद मासूद के एक दरबारी कवि मासूद इब्न साद इब्न सलमान की एक कविता में आया है। सलमान कन्नौज को हिन्दोस्तान की राजधानी, शमियो का काबा और काफिरो का किब्ला कहता है। इसका राजा मल्हीर प्रतापी और पराक्रमी था, लेकिन उसके धनी और पराक्रमी होने पर भी मासूद तृतीय ने उसे हराया और गहरी रकम वसूल कर उसे छोडा।[2] भ्रष्ट पाठ होने से कन्नौज के राजा का ठीक ठीक नाम पढा नही जा सकता, लेकिन यहाँ राष्ट्रकूट मदनपाल से उद्देश्य हो सकता है। उसके बदायूँ के लेख में कहा गया है कि उसकी वीरता की वजह से देव नदी गगा के किनारे तक हम्मीर के आने की बात ही नही उठती थी।[3] डा० त्रिपाठी का खयाल है कि हम्मीर के साथ इस युग में शायद राष्ट्रकूट मदनपाल गोविन्दचन्द्र की मदद पर था। यह घटना १११४ ईस्वी के पहले घटी।

गोविन्दचन्द्र

गोविन्दचन्द्र मदनपाल की गद्दी पर ११०९ और १११४ ईस्वी के बीच में बैठे। इनका नाम एक लेख में गोविन्दपाल भी आता है।[4] इनकी माता का नाम राल्हदेवी था। गोविन्दचन्द्र के आजतक पचास से अधिक लेख मिले है जिनका समय १११४ से ११५४ ईस्वी तक है। इनके राज्यकाल की प्रधान घटनाओ में मुसलमानो का एक धावा है। इनकी रानी कुमारदेवी के सारनाथ वाले लेख में 'यवनो से गोविन्दचन्द्र द्वारा बनारस की रक्षा का उल्लेख है।[5] गोविन्दचन्द्र के महासधिविग्राहक भट्ट लक्ष्मीधर ने भी गोविन्दचन्द्र की प्रशस्ति में कहा है **"असमसमरसपल्लपट शौर्यभाजामवधिरवधि-युद्धे येन हम्मीरवीर"** अर्थात् उसने जिसने युद्ध में उस वीर हम्मीर को, जो शूरता का भाजन था, और जो असम समर में जीत का इच्छुक था, मार डाला।[6] भट्ट लक्ष्मीधर की प्रशस्ति से साफ मालूम पडता है कि गोविन्दचन्द्र से हम्मीर से लडाई हुई और इस युद्ध में हम्मीर मारा गया।

अब प्रश्न यह उठता है कि मुसलमानो के किस धावे की ओर कुमारदेवी का सारनाथ वाला लेख और लक्ष्मीधर की प्रशस्ति इगित करते है। डा० राय का अनुमान है कि इसमें परवर्ती यामिनियो द्वारा गोविन्दचन्द्र के राज्य पर धावा करने का उल्लेख है

---

[1] रेवर्टी, तबक़ात नसीरी, भा० १, पृ० १०७

[2] राय, उल्लिखित, भा० १, पृ० ५१४

[3] एपि० इडि०, १।६२, ६४, प० ४ [4] एपि० इडि०, ९।३२४

[5] एपि० इडि०, ९।३२४-२५ श्लो० १६

[6] कृत्यकल्पतरु, पृ० ४८-४९, गायकवाड ओरियटल सीरीज़

जिसका मुसलमानी इतिहास मे कोई पता नही चलता ।[१] डा० त्रिपाठी इसे सलमान द्वारा उल्लिखित मासूद तृतीय के राज्यकाल का धावा मानते हैं। पर डा० राय की राय ठीक मालूम पडती है। इसके कई कारण है, पहला कारण तो यह है कि पहली लडाई तो मदनपाल के समय युवराज गोविन्दचन्द्र ने लडी और शायद कन्नौज के आस पास मुसलमानो को हराया। पर जिस युद्ध की ओर कुमारदेवी का सारनाथ वाला लेख और लक्ष्मीधर की प्रशस्ति इगित करते हैं, उससे तो जान पडता है मुसलमानी फौज यहाँ तक आगे बढ आयी थी कि बनारस खतरे में पड गया था। मार्के की दूसरी बात, जिसका हमें भट्ट लक्ष्मीधर की प्रशस्ति से पता चलता है, यह है कि हम्मीर इस युद्ध में केवल हारा ही नही उसे अपनी जान भी देनी पडी। अब हमें देखना चाहिए कि क्या मुसलमानी इतिहास भी इस युद्ध पर प्रकाश डालता है। इस सबध में हमारा ध्यान शेख सालार मासूद गाजी की ओर, जिनको अब भी पूर्वी उत्तर प्रदेश में लोग गाजी मियाँ के नाम से जानते है, बरबस जाता है। अब हमें देखना चाहिए कि इनकी कहानी से और गोविन्दचन्द्र के साथ हम्मीर के युद्ध का क्या सबध है।

मासूद सालार गाजी का मजार बहराइच में है। मशहूर है कि वे सुल्तान महमूद गजनवी के भाजे थे। इनके सबध में बहुत से किस्से मशहूर है। एक किस्सा यह भी है कि उन्होने राजा बनार अर्थात् बनारस के राजा को हराया। अब्दुल रहीम चिश्ती नाम के एक जहागीर कालीन लेखक ने अपने मीरात-ए-मासूदी नाम के इतिहास में इनके सबध की अनुश्रुतियो और गप्पो का सग्रह दिया है और उनके मृत्यु का समय ४२४ हिजरी दिया है। अबुल फजल तो शख सालार मासूद को महमूद गजनवी मानते है। फ़रिश्ता कहता है कि वे सुल्तान महमूद की औलादो में किसी के समय में हिन्दोस्तान आये थे और इनका समय ५५७ हिजरी था। श्री मुहम्मद हसन[२] फरिश्ता से सहमत है पर फ़रिश्ता द्वारा दी हुई तिथि उनकी राय में ग़लत है, क्योकि ५५७ हिजरी में गजनी के बादशाह में इतनी ताकत नही बच गयी थी कि वे हिन्दोस्तान पर धावा बोलते। जो भी हो, गाजी मियाँ शहीद माने जाते है और जेठ के महीने के पहले इतवार को इनका मेला लगता है, सालार गाजी के झडे और अलम चलते है और इनकी मजार पर बहुत से हिंदू-मुसलमानो का मेला लगता है।

अब हमें देखना है कि क्या १२वी सदी में गजनी के यामिनियो के हिंदुस्तान पर धावे का कोई और उल्लेख मिलता है। इस सबध में हम पाठको का ध्यान बयाना के किले की फतह की ओर दिलाना चाहते है। इस किले की फतह के बारे में बयाना मे एक दोहा मशहूर है—अग्यारह सौ तिहत्तरा फाग तीज रविवार, विजैमदिर गढ़ लूटा अबू बकर कधार। अर्थात् ११७३ सवत्, फागुन त्रितीया रविवार को अबू बक्र कवारी ने विजयमदिरगढ लूट लिया। यह जमाना हिजरी ५१२ का होता है। जो बहराम बिन मासूद गजनवी (१११८–११५२ ईस्वी) के काल में पडता है। बहराम के राज्यकाल के

[१] राय, उल्लिखित, पृ० ५३०

[२] शेख इब्न बतूता का सफरनामा, पृ० १८३–१८४, लाहौर १८९८

आरभ में गजनी की लश्कर फतह के लिये हिंदुस्तान में आयी। श्री मुहम्मद हसन के अनुसार रोजतुस्सफा में इसका जिक्र है। इनकी राय में सलार मासूद शायद इसी लश्कर के सरदार रहे हो।[१]

उपर्युक्त उल्लेखो से यह पता चलता है कि सालार मासूद ने ११९८ ईस्वी के आसपास गोविन्दचन्द्र के राज्य पर चढाई की। उसकी लश्कर बयाना जीत कर आगे बढी और गोविन्दचन्द्र की राजधानी बनारस के इतने पास पहुच गयी कि शहर को उससे खतरा हो गया। गोविन्दचन्द्र ने इस मुसलमानी फौज का डट कर मुकाबला किया और शायद सालार मासूद इस युद्ध में मारे गये। यामिनियो का यही अतिम प्रयत्न था और इसके बाद बहुत वर्षों तक मध्यदेश को मुसलमानो से कोई खतरा नही रह गया।

गोविन्दचन्द्र की इस विजय के सबध में एक और मार्के की बात आती है और वह है गाहडवाल लेखो में तुरुष्कदड का उल्लेख। महमूद के अत्याचारो से भारतीय प्रजा क्षुब्ध हो गयी थी और प्रतिकार की भावना उसमें हिलोरें मार रही थी। सभवत इसी भावना से प्रेरित होकर गोविन्दचन्द्र ने महमूद के साथी उन बचे खुचे मुसलमानो पर जो उत्तरप्रदेश में बस गये थे, जजिया की तरह कर लगाया जिसे तुरुष्कदड कहते थे। कामिलउत्तवारीख[२] से पता चलता है कि गाहडवालो के राज्य में पहले से ही कुछ मुसलमान बसे थे। बनारस शहर में अनुश्रुति है कि गाहडवालो के समय भी मुसलमान बनारस में रहते थे तथा गोविन्दचन्द्र के राज्य में बनारस के एक मुहल्ले गोविन्दपुरा कलाँ को दलेल खाँ ने बसाया। दलेल खाँ के पुत्र हुसैन खाँ ने विजयचन्द्र के राज्य में हुसैनपुरा बसाया, और सैयद तालिब अली ने जयचन्द्र के राज्य मे गढवासी टोला मुहल्ला बसाया।[3] इस तुरुष्कदड का अर्थ कुछ विद्वानो ने तुरुष्क अर्थात् एक सुगधित द्रव्य विशेष पर कर, जजिया इत्यादि लगाया है[४], पर इन सब प्रमाणो को जाँचते हुए यह कहना ठीक होगा कि यह कर मुसलमानो पर लगता था और जजिया का हिंदू प्रत्युत्तर था। यह भी समव है कि तुरुष्को से लडने के लिए किसी विशेष कर की ओर यहाँ सकेत हो।

बनारस के पूर्व में शायद रामपाल (करीब १०८४–१०२६) के मामा की लडकी कुमारदेवी से गोविन्दचन्द्र का विवाह होने से पालो और गाहडवालो में क्षणिक विराम सधि हो गयी हो। पर राहन ताम्रपट्ट से पता चलता है कि गोविन्दचन्द्र का गौडो से युद्ध हुआ और शायद मगध की भूमि पर भी उसका थोडा बहुत अधिकार हुआ।[५] पालो के ऊपर गोविन्दचन्द्र का आक्रमण पाल राज्य की अवनति की उस दशा में हुआ होगा जब विजयसेन उसे तग कर रहे थे। ११२६ ईस्वी के पटना जिले के पश्चिमी भाग से मिले

---

[१] वही, पृ० २३९

[२] ईलियट एड डाउसन, भा० २, पृ० २५१

[3] बनारस गजेटियर, पृ० १९०

[४] जे० ए० एस० बी०, ५६, भा० १, पृ० ११३

[५] इडि० एटि०, १८, पृ० १६, १८, प० ९

एक ताम्रपत्र से यह पता चलता है कि ११२५ ईस्वी के करीब गोविन्दचन्द्र का मगध तक प्रवेश हो चुका था।[१] इसमें सदेह नही कि मगध में उन्होंने अपनी विजय और आगे बढायी क्योकि मुद्‌गगिरि (आधुनिक मुगेर) से उन्होंने ११४६ ईस्वी में एक ब्राह्मण को दानपत्र दिया।[२]

लक्ष्मीधर ने गोविन्दचन्द्र की प्रशस्ति में लिखा है कि उनके द्वारा हँसी खेल में डराये जाकर गौडो को भय हो गया।[3] जान पडता है, पालो और गाडहवालो की शत्रुता सेनो ने भी विरासत में पायी। शायद विजयसेन (करीब १०९७–११५९) द्वारा नाव-नवारो से गगा के पश्चिम भाग में घूमने का सबध गाहडवालो के साथ उसकी शत्रुता हो सकती है।[४]

गोविन्दचन्द्र ने कलचूरियो को भी हराकर दक्षिण में अपना विक्रम बढाया। ११२० ईस्वी के एक ताम्रपत्र से पता चलता है कि यश कर्ण द्वारा दिये गये एक गाँव को उन्होने पुन ठक्कुर वसिष्ठ नाम के एक दूसरे ब्राह्मण को दिया[५], लेकिन जाजल्लदेव के १११४ ईस्वी के एक लेख[६] से ऐसा भासित होता है कि अपने राज्यकाल के आरभ में कलचूरियो से उनकी मित्रता थी। सभवत कलचूरियो को हराकर उन्होने अश्वपति, गजपति इत्यादि जो कलचूरियो के विरुद थे, ग्रहण किये।

गोविन्दचन्द्र, जैसा कि सल्लक्षणवर्मन् के लेख से मालूम पडता है[७], चदेलो के भी ससर्ग में आये। पता चलता है कि कश्मीर के राजा से भी गोविन्दचन्द्र की मित्रता थी (राजतरगिणी, ८।२४५३)। श्रीकठचरित (२५।१०२) में इस बात का उल्लेख है कि गोविन्दचन्द्र ने सुहल नामक एक विद्वान् को अलकार द्वारा आमन्त्रित कश्मीरी पडितो और राजकर्मचारियो की एक सभा में भेजा। इस तरह के सास्कृतिक आदान प्रदान से कश्मीर और बनारस की मित्रता अवश्य बढी होगी। सिद्धराज जयसिंह से भी उनका राजनीतिक सबध था। प्रबन्ध-चिन्तामणि के एक उल्लेख[८] से पता चलता है कि पाटण के सिद्धराज जयसिंह ने काशिराज के पास अपना एक दूत भेजा था। यह काशिराज गोविन्दचन्द्र ही थे। जो भी हो, गुजरात के कथा साहित्य में गोविन्दचन्द्र का नाम विख्यात है। कवि आनन्दधर ने अपने माधवानलाख्यान में पुष्पावती अर्थात् बनारस के राजा

---

[१] जे० बी० ओ० आर० एस०, १९१६, पृ० ४४१–४४७

[२] एपि० इडि०, ७।९८–९९

[3] कृत्य-कल्पतरु, पृ० ४८–४९ श्लोक ४

[४] राय, उल्लिखित, पृ० ५२९

[५] जे० ए० एस० बी०, ३१, पृ० १२४

[६] एपि० इडि०, १।३५, ३८, श्लोक २१

[७] एपि० इडि०, १।२०१–२०६ श्लोक ३८

[८] जिनविजय जी द्वारा सपादित, १११,१२१ पृ० ७४

गोविन्दचन्द्र का उल्लेख किया है।[1] तिरुचिरपल्ली जिले के गगइकोण्ड चोलपुरम् से ११११०-११११ ईस्वी के कुलोत्तुग के एक लेख से पता चलता है कि चोलो और गाहडवालो में भी सबध था।[2]

गोविन्दचन्द्र की कम से कम चार रानियाँ यथा नयनकेलिदेवी, गोसलदेवी, कुमारदेवी और वसतदेवी थी। लेखो से इनके तीन पुत्रो के नाम यथा महाराजपुत्र आस्फोटचन्द्र, राज्यपालदेव, और विजयचन्द्र मिलते हैं।

गोविन्दचन्द्र १२ वी सदी के सब से पराक्रमी राजा थे। अपनी वीरता से उन्होने उत्तर प्रदेश में धावा बोलने वाली मुसलमानी सेनाओ को दो बार (१११४-१११८ ईस्वी के बीच) मात दी और इस तरह अपने साम्राज्य की रक्षा की। इतना ही नही उन्होने मुसलमानो पर तुरुष्कदड लगा कर यह भी दिखला दिया कि हिन्दू भी ईंट का जवाब पत्थर से दे सकते थे। अपने विजय पराक्रम से उन्होने पालो और गौडो को हराया और इस तरह अपने राज्य का विस्तार किया। वे परम ब्राह्मण भक्त और कट्टर हिन्दू थे। भट्ट लक्ष्मीधर की प्रशस्ति में उन्हें आत्मजित्, शमभृत्, विजयी इत्यादि विशेषणो से विभूषित किया गया है। लक्ष्मीधर अपनी अलकारिक भाषा में कहते हैं—असम समर के समारभ में भेरी की झकार से द्रवित कर्णज्वर से मानो जिनकी आखें नाच रही हो, जिस भेरी की टकार दुर्गों पर्वतो से टकराकर पुरो में गूज रही हो, उसे सुनकर शात्रवेश अपने खजानो को अपने घरो में, करि तुरगो को रास्ते में और में अपने बाँधवो को आधे रास्ते में छोड देते थे। लेकिन जैसा लक्ष्मीधर का कहना है गोविन्दचन्द्र केवल पराक्रमी ही नही थे, वे तो ज्ञान और पराक्रम दोनो के घर थे (एष ज्ञानपराक्रमैकवसति)। माया और अवनीश दोनो से मुक्त होकर वे कुछ दिनो में ही अद्वैत हो गये।[3] प्रशस्ति में हो सकता है गोविन्दचद्र के ज्ञान और पराक्रम की बढा चढाकर चर्चा की गयी हो, पर इतिहास को देखते हुए यह तो मानना ही पडेगा कि गोविन्दचन्द्र पराक्रमी राजा थे और उनके राज्य में गो ब्राह्मणो का प्रतिपालन हुआ।

उक्तिव्यक्ति-प्रकरण के लेखक दामोदर भी गोविन्दचन्द्र की लम्बी चौडी प्रशस्ति देते हैं।[4] प्रशस्ति में कहा गया है कि उन्होने शौर्य से कीर्ति अर्जित की। वे धनवान प्रतापी और बुद्धिमान थे।

भट्ट लक्ष्मीधर

गोविन्दचन्द्र के सधिविग्रहिक भट्टलक्ष्मीधर थे। कम से कम कृत्यकल्पत से तो यही पता चलता है कि अपने समय के राजनीतिज्ञो में वे बडे पडित और कुशल व्यक्ति थे।

---

[1] माधवानल कामकदला प्रबध, श्री एम० आर० मजूमदार द्वारा सपादित, पृ० ३४१, वडोदा १९४१

[2] ए० एस० आर० १९०७-०८, पृ० २२८

[3] लक्ष्मीधर विरचित कृत्य-कल्पतरु, दडखड, रगस्वामी आयगार द्वारा सपादित वडोदा १९४१, पृ० ९-१५

[4] भट्ट दामोदर, उक्तिव्यक्ति प्रकरण, पृ० २५, बबई १९५३

इनके पिता भट्ट हृदय भी सधिविग्रहिक थे। कृत्यकल्पतरु के प्रत्येक खड के आरभिक श्लोको में वे इस ग्रन्थ को लिखने में अपनी अगाध विद्वत्ता को ही आधार मानते हैं। अपनी ब्रह्मचर्यावस्था में इन्होंने कर्मकाड का अध्ययन किया। वे नित्य प्रति स्नान, यज्ञ और श्राद्ध करते थे। लोकोपकारी कार्यों में इन्होंने तालाब खुदवाये, पेड लगवाये और ब्राह्मणो को भेंट में दिये गावो की नीव रक्खी। उनके द्वारा यात्रा पथो पर निर्मित धर्मशालाओ में थके हुए यात्रियो को आराम मिलता था। भट्ट लक्ष्मीधर का तो यहा तक दावा है कि उनकी अच्छी सलाह से ही गोविन्दचन्द्र सत्यमार्ग पर चले और उन्होंने दूसरे राजाओ पर अपना सिक्का जमाया। अपने पाडित्य से वे स्मृतियो की विवेचना में पूर्ण समर्थ थे और इसीलिए सब लोग उनको आदर की दृष्टि से देखते थे। जब सधिविग्रहिक पद से उन्होंने विश्वपालन यज्ञ किया तो प्रजा की बढती हुई और उसे शाति भी मिली। दर्शन और शास्त्रो के अपार ज्ञान से उन्हें शास्त्रो की विवेचना करने की अपूर्व क्षमता मिली। इस तरह माया का नाश करके उन्हें आनद और मोक्ष का मार्ग मिला।

ऊपर के वर्णन से अलकारिता हटा कर भी इतना तो अवश्य कह सकते हैं कि लक्ष्मीधर शायद काशी में एक उच्चकोटि के श्रोत्रिय ब्राह्मण थे और उनके परिवार का भट्ट उपाह्वय था। वे गोविन्दचन्द्र के सधिविग्रहिक थे और उस पद पर वे अपने पिता की जगह आये। सधिविग्रहिक अथवा इनके पहले मुख्य न्यायाधीश के पद पर लक्ष्मीधर को शासन कार्यो में सफलता मिली। उन्होंने शास्त्रविहित अनेक दान दिये थे। उनके अनेक शास्त्रो के पढने की बात कृत्यकल्पतरु से सिद्ध होती है। इस सग्रह ग्रथ से यह भी पता चलता है कि उनका अधिकार केवल पुराणो और स्मृतियो ही पर नही था, वे वेदो में गहरी गति रखने वाले बहुत बडे मीमासक भी थे।

लक्ष्मीधर के सरक्षक गोविन्दचन्द्र थे। कृत्यकल्पतरु के आरभिक श्लोक में गोविन्दचन्द्र की मुसलमानों पर विजय का उल्लेख है। राजधर्म खड के एक आरभिक श्लोक में लक्ष्मीधर ने राजधर्म बतलाने में अपनी क्षमता इसलिए मानी है कि गोविन्दचन्द्र का सुखकर राज्य और विजय उनके ही सलाह के फल थे (तत्सर्वं खलु यस्य मत्रमहिमाश्चार्यं सलक्ष्मी-धर)। कल्पतरु के आरभिक श्लोकों में यह भी कहा गया है कि उन्होंने समुद्र-वसना पृथ्वी पर गोविन्दचन्द्र का राज्य स्थापित करवाया (पृथ्वीमाधयत समुद्रवसना) और उनकी मत्रणा से शत्रुओ का नाश हुआ। राजा पर प्रभाव के बिना वे ऐसी बाते नही लिख सकते थे, क्योंकि कल्पतरु को शायद गोविन्दचन्द्र ने भी देखा होगा। अपने बारे में उन्होंने जो कुछ कहा है उससे पता चलता है कि भट्ट लक्ष्मीधर प्रकाड पडित ही नहीं थे, वे साथ-साथ एक कुशल सैनिक, शासक और राजनीतिज्ञ भी थे।

विजयचन्द्र

गोविन्दचन्द्र का राज्यकाल ११५४ ईस्वी में समाप्त हो गया और उनके पुत्र विजयचन्द्र, जिन्हें विजयपाल और मल्लदेव भी कहा गया है, गद्दी पर बैठे। विजयचन्द्र का मगध के कुछ भाग पर अधिकार का पता सासाराम से प्राप्त ११६९ ईस्वी के लेख से चलता है।[1]

---

[1] त्रिपाठी, उल्लिखित, पृ० ३१८।

सभवत इनको किसी मुसलमानी हमले का सामना करना पडा।[1] हो सकता है कि आखीरी यामिनी वादशाह खुसरो मलिक ताजुद्दौला (करीव ११६०–८६ ईस्वी) से उनकी मुठभेड हुई हो।[2] शाकभरी के चाहमान राजा विग्रहराज से भी विजयचन्द्र की लडाई हुई। फ़ीरोजशाह कोटला के दिल्ली-शिवालिक स्तभ के ११६४ ईस्वी के एक लेख से पता चलता है कि विग्रहराज ने विंध्य और हिमालय की भूमि जीत ली थी।[3] विजोहा (मेवाड) के एक दूसरे लेख से पता चलता है कि उसने दिल्ली भी जीत ली।[4] डा० त्रिपाठी का विचार है कि दिल्ली चन्द्रदेव के राज्य में होने से शायद वह विजयचन्द्र के राज्य में भी थी और उस पर विग्रहराज का दखल होने से विजयचन्द्र और विग्रहपाल की लडाई की ओर सकेत है।

जयचन्द्र

विजयचन्द्र के वाद उनके पुत्र जयचन्द्र गद्दी पर आये। उन्हें अपने पिता द्वारा १६ जून, ११६८ ईस्वी को युवराज पद दिया गया[5] और उनका राज्याभिषेक २१ जून, ११७० को हुआ।[6] जयचन्द्र के लेख ११७० से ११८९ ईस्वी तक के वीच के मिलते हैं। उनके पिता के ताराचडी लेख (११६९ ईस्वी) और उनके निज के वनारस के लेख (११७५ ईस्वी) से पता चलता है कि ११७५ ईस्वी तक तो उसका शासन पटना, गया और शाहावाद जिलो पर था। पृथिवीराज रासो में कहा गया है कि जयचन्द्र की चदेलो से दोस्ती थी और उसने चदेल राजा परमर्दि (करीव ११६७–१२०२ ई०) को पृथ्वीराज द्वितीय (करीव ११७७–११९२ ई०) के विरुद्ध युद्ध मे सहायता दी।

पर जयचन्द्र-प्रवध से[7] तो यह पता चलता है कि परमारो की कभी न कभी जयचन्द्र से अनवन थी। प्रवधकार का कहना है कि जयचन्द्र ने परमारो के 'कोप कालाग्निरुद्र' 'अवध्यकोप्रसाद' इत्यादि विरुदो को सुनकर उनके अनजाने एक सेना उनकी राजधानी कल्याण या कल्याणकटक को भेज दिया। सेना नगर को करीव एक साल घेरे पडी रही। वाद में परमर्दि ने अपने मत्री मल्लदेव की राय से उमापतिधर को दूत वनाकर जयचन्द्र के पास भेजा। वहाँ मत्री विद्याधर की मदद से दोनो में सुलह हुई।

रासो में पृथ्वीराज और सयोगिता की प्रेम कहानी आती है, पर ये सव कहानियाँ अधिकतर कपोलकथा है। केवल उनके आधार पर हम यह अवश्य कह सकते हैं कि वारहवी सदी के चौथे चरण में चदेल, गाहडवाल और चाहमान आपस में टुच्ची लडाइयाँ

[1] इडि० एटि०, १५, पृ० ७, ८९ प० ९, १८, पृ० १३०–१३१

[2] कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इडिया, भा० ३, ३७, ६८८

[3] इडि० एटि०, १९।२१९

[4] जे० ए० एस० वी०, ५५, १, पृ० ४२, श्लोक २२

[5] एपि० इडि०, ४।११८–११९

[6] एपि० इडि०, ४।१२०–२१

[7] प्राचीन-प्रवध सग्रह, पृ० ९०, कलकत्ता १९३६

लड रहे थे। उन्हें क्या पता था कि इन सब का अंत शीघ्र ही मुहम्मद गोरी के हाथों होने वाला था।

जयचन्द्र-प्रबंध में[1] इस बात का भी उल्लेख है कि एक बार यह सुन कर कि लक्ष्मणसेन की राजधानी लक्ष्मणावती अभेद्य थी उन्होंने उसे दखल करने का निश्चय किया। लक्ष्मणसेन को हराकर जयचन्द्र ने उन्हें मुक्त करके उनका देश वापस दे दिया।

शहाबुद्दीन ग़ोरी ने हिंदुस्तान में अपना पैर जमाने के लिये पृथ्वीराज के साथ दो लडाइयाँ लडी। पहली लडाई में तो वह हार गया लेकिन दूसरी बार वह ११९२ ईस्वी में पुन लौटा। जयचन्द्र ने पृथ्वीराज की कोई मदद नही की और ग़ोरी ने पृथ्वीराज को हराकर ११९३ ईस्वी में दिल्ली दखल कर ली। ११९४ ईस्वी में एक बडी भारी फौज के साथ वह जयचन्द्र के विरुद्ध बढा और इटावा के पास चदावर में जयचन्द्र हारकर मारे गये। शहाबुद्दीन ने यहाँ से आगे बढकर असनी फतह किया और वहाँ से बनारस पर धावा बोल कर नगर को उनके मंदिरो सहित मटियामेट कर दिया।

मुस्लिम इतिहासकारो ने इस लडाई के कई वर्णन दिये है। ताज उलमासिर के लेखक हसन निजामी[2] कहते है कि ५९० हिजरी यानी ११९४ ईस्वी में जमुना नदी पार करके क़ुतुबुद्दीन ने कोल (आधुनिक अलीगढ़) और बनारस पर चढाई कर दी। कोल का किला जीतने पर उसमें से बहुत सा माल मुस्लिम सेना के हाथ लगा। यहाँ मुहम्मद ग़ोरी कुतुबुद्दीन की सेना से आ मिला और बनारस पर चढाई करने की तैयारी की गयी। फौज के इकट्ठा होने पर पता चला कि उसमें पचास हजार बख्तरबंद सिपाही थ। इस फौज के साथ वे बनारस के राजा के साथ लडाई के लिये निकल पडे। बाद में शाह के हुक्म के मुताबिक कुतुबुद्दीन एक हजार घुडसवारो के हरौल दस्ते को लेकर आगे बढा और हिन्दुओ पर छापा मार कर उन्हें पूरी तरह से हरा दिया। सिपाहियो के लौटने पर उन्हें खिल्लतें दी गयी।

बनारस के राजा जयचन्द्र शहाबुद्दीन की फौज को आगे बढता देखकर उससे लडने के लिये आगे बढे। जयचन्द्र को, जिन्हें अपनी सेना और हाथियो का बडा गर्व था लडाई में एक तीर लगा और वे अपनी ऊँची जगह से जमीन पर गिर पडे। बाद में उनका सिर भाले की नोक पर रख के मुस्लिम सेनापति के पास ले आया गया। मिनहाज उस् सिराज के तबकात-ए नसीरी[3] के अनुसार चदावर की लडाई में जयचन्द्र की सेना में ३०० हाथी थे। इस लडाई के एक सेनापति इज्जुद्दीन खरमील थे।[4]

इस लडाई के बाद मुस्लिम सेना को अपार धन और सौ हाथी मिले और ग़ोरी की फौज ने असनी का किला, जिसमें जयचन्द्र का खजाना था, दखल कर लिया।

---

[1] वही, पृ० ८८

[2] ईलियट एड डाउसन, भाग २, पृ० २२२-२२४

[3] ईलियट एड डाउसन, भा० २, पृ० २९७

[4] ईलियट, भा० २, पृ० ३००

इब्न असीर के अनुसार[1] जयचन्द्र और ग़ोरी के युद्ध का बयान इस प्रकार है। जब जयचन्द्र ने सुना कि ग़ोरी की फौज ११९४ में उसके राज्य में घुस आयी है तो उसकी फौजे आगे बढ़ीं और दोनो की सेनाएँ यमुना पर भिड गयी। जयचन्द्र की सेना में ७०० हाथी और दस लाख आदमी थे। इस युद्ध में भयकर मारकाट मची और सिवाय औरतो और बच्चो को छोडकर और दूसरा कोई नहीं छोडा गया। राजा जयचन्द्र मार दिये गये। उनकी लाश का भी पता नही चलता था, लेकिन उनके दाँतो में सोने के तार लगे रहने के कारण, लाश की पहचान हो गयी।

असनी से बादशाही फौज बनारस की तरफ बढी। हसन निज़ामी बनारस को भारत का केन्द्र कहते है। इनब्असीर अपने कामिलुत्तवारीख में कहते है कि बनारस का राजा हिंदुस्तान में सबसे बडा था और इसके राज्य की सीमा चीन की सीमा से मालवा तक और चौडाई में समुद्र से लेकर करीब लाहौर से दस दिन के रास्ते तक फैली थी। हसन निजामी के अनुसार बनारस के हज़ार मदिर जमीनदोज कर दिये गये, उनकी कुर्सियो पर मस्जिदें उठा दी गयी तथा शरायत के कानून जारी कर दिये गये। शहर में दीन की पक्की नीव डाल दी गयी और दीनार और दिरहमो पर बादशाहो के नाम और खुतबे लिखे जाने लगे। हिंदुस्तान के राजे और सरदार अपनी वफादारी का इज़हार करने लगे। बनारस का शासन एक आला अमीर के सपुर्द कर दिया गया जिससे वह बुतपरस्ती का दमन करके अपने न्याय से लोगो को सतुष्ट कर सके। इब्न असीर का कहना है कि बनारस की फतह के बाद हिंदुओ के भाग जाने पर शहाबुद्दीन नगर में घुसा और बनारस की लूट का माल १४०० ऊटो पर लाद कर गज़नी रवाना कर दिया। इस युद्ध में जो हाथी मुसलमानो के हाथ लगे उनमें एक सफेद हाथी भी था। जब शहाबुद्दीन के सामने ये हाथी लाये गये और उन्हें बादशाह को सलाम करने का हुक्म हुआ तो सफेद हाथी के सिवा और सब हाथियो ने सलाम किया। जयचन्द्र को उनकी प्रजा भूल गयी थी पर उनका प्यारा हाथी उनको नही भूला था।

यहाँ हम उस अनुश्रुति के बारे में भी कुछ कह देना चाहते है जिसका उल्लेख रासो में हुआ है। इसके अनुसार पृथ्वीराज और जयचन्द्र में सयोगिता हरण के कारण घोर शत्रुता उत्पन्न हो गयी थी और उसी के फलस्वरूप जयचन्द्र ने इस देश में मुसलमानो को बुलाया। यह साबित हो चुका है कि रासो की कथाओ में ऐतिहासिक सत्य नगण्य सा है और उन कथाओ से तत्कालीन इतिहास पर बहुत कम प्रकाश पडता है। फिर भी इतना तो मानना ही पडेगा कि १२ वी सदी के अत में गाहडवालो, चदेलो और चाहमानो में आपसी वैमनस्य था। लेकिन जयचन्द्र द्वारा मुसलमानो को पृथ्वीराज पर आक्रमण करने के लिए उसकाने का ऐतिहासिक प्रमाण अभी नही मिला है। मुस्लिम इतिहासकार इसके बारे में एक शब्द भी नही कहते। पर मुसलमानो के प्रति जयचन्द्र की कुछ सहानुभूति का इशारा उसके लेखो से मिलता है, जिनमें तुरुष्कदड का उल्लेख नही मिलता जो उनके मुसलमानो के प्रति सहानुभूति का द्योतक है। डा० डी० आर० भाडारकर[2] का अनुमान है कि

[1] ईलियट, भा० २, पृ० २५०

[2] एनाल्स ऑफ दि भाडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, ११,२(१९३०),१३९

जयचन्द्र की मुसलमानो के प्रति सहानुभूति का कारण संयोगिता-हरण है जिससे चौहानो और गाहडवालो में जानी दुश्मनी पैदा हो गयी। उसी समय चाहमानो और मुसलमानो में भी शत्रुता बढी और शायद जयचन्द्र ने चाहमानो के सर्वनाश के लिए शहाबुद्दीन से मित्रता करने की कोशिश की होगी। इस मत की इस बात से और भी पुष्टि होती है कि जब शहाबुद्दीन ने भारत पर चढाई की तो जयचन्द्र के अतिरिक्त उत्तर भारत के बहुत से राजाओं ने पृथ्वीराज का साथ दिया। इस बात से हम यही निष्कर्ष निकाल सकते है कि जयचन्द्र ने मुसलमानो द्वारा चाहमानो का पूर्ण पराभव देखने का निश्चय कर लिया था।

मुसलमानो से जयचन्द्र की मित्रता का उल्लेख जयचन्द्र-प्रबन्ध मे भी मिलता है।[1] कहानी इस प्रकार है। काशी के राजा जयचन्द्र की कर्पूरदेवी नामक एक प्यारी रानी थी और शाल्पति की पुत्री सुहागदेवी राजा की रक्षिता। सुहागदेवी देवी के कहने पर जयचन्द्र ने विद्याधर नामक एक काने ज्योतिषी को अपना सर्वमुद्राधिकारी नियुक्त किया। एक समय सुहागदेवी ने राजा से उनके उत्तराधिकारी के बारे में पूछा और अपने पुत्र को राज्य का उत्तराधिकारी बनवाना चाहा। राजा ने उससे कहा कि कर्पूरदेवी का पुत्र ही उनका कानूनी उत्तराधिकारी हो सकता था और रक्षिता के पुत्र को तो वह स्थान कभी नही मिल सकता था। इस बात से क्रुद्ध होकर सुहागदेवी ने शहाबुद्दीन को बुलावा भेजा और उसने पृथ्वीराज को योगिनीपुर में हराया। इसके बाद पुन सोहागदेवी ने शहाबुद्दीन से आगे बढने को कहा।

प्रबन्ध में आगे चल कर कहा गया है कि पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद जयचन्द्र बहुत प्रसन्न हुआ और उसने नगर में आनन्दोत्सव मनाने की आज्ञा दी। इस अवसर पर जयचन्द्र का मत्री तीन दिनो तक राज दरबार नही गया। चौथे दिन उसने राजदरबार में उपस्थित होकर राजा से आनन्दोत्सव का कारण पूछा। जब उसे कारण का पता चला तो उसने कहा कि पृथ्वीराज की मृत्यु पर मातम मनाने का अवसर था, खुशियाँ मनाने का नहीं। जयचन्द्र ने मत्री के इस विचार का कारण पूछा तब उसने कहा—"एक दरवाजा है जिसके किवाड और ब्योंडे लोहे के है, ब्योडेके टूट जाने पर किवाड जबर्दस्ती खुलने को बाध्य हो जाते है, उसके बाद किले का क्या होगा ? राजन्, पृथ्वीराज दरवाजे के ब्योडे के समान थे, और उनके पतन पर यह खुशियाँ मनाना ठीक नही है। आज पृथ्वीराज पर जो विपत्ति पडी है वह शायद कल आप पर भी आ सकती है।" इसके बाद मत्री ने सुल्तान के पास एक दूत भेजा पर सुहागदेवी ने एक दूसरा दूत भेजकर सुल्तान जहाँ था वही ठहरने की प्रार्थना की और राजा से कहा कि सुल्तान अपने देश लौट गया और उसके पास दूत भेजना हास्यास्पद है।

राजा और उसकी रक्षिता के व्यवहार से तग आकर मत्री जगल में चले गये। दो वर्ष बाद सुल्तान लौटा पर उसे जयचन्द्र की सेना से हार खानी पडी। सुल्तान की मलका ने जब उससे दुखी होने का कारण पूछा तो उसने स्त्रियो की दगाबाजी का रोना रोया। इस पर मलका ने विजय के लिए मुहम्मद के पुत्र अहमद को सेनापति नियुक्त करने की

---

[1] पुरातन प्रबध सग्रह, जिनविजय जी द्वारा सपादित पृ० ८८–९०, कलकत्ता १९३६

सिफारिश की। अहमद बाँयी आँख का काना था। उसने एक बडी सेना एकत्र की। जयचन्द्र ने भी सुहागदेवी की दगाबाज़ी का समाचार सुना पर वह कर ही क्या सकता था। युद्ध में अपनी हार देखकर राजा ने अपना हाथी यमुना में घुसा दिया और इस तरह उनकी मृत्यु हुई। उनके बडे पुत्र भी इस युद्ध मे मारे गये। सवत् १२४८ चैत्रसुदी १० को सुल्तानी सेना बनारस में घुसी। कर्पूरदेवी की तो मृत्यु हो चुकी थी लेकिन सुहागदेवी ने अपने वालक पुत्र के साथ बनारस शहर के फाटक पर खडी होकर सुल्तान का स्वागत किया और उसे अपना परिचय दिया, पर सुल्तान ने इसकी परवाह न करते हुए उसे कारागार में ठूस दिया और उसके पुत्र को मुसलमान बना दिया।

जयचन्द्र-प्रबध मे कोई बात भी ऐसी नही है जो उस युग के लिये अस्वाभाविक हो। रासो की तरह इसमें केवल दिमागी उडान से काम नही लिया गया है। प्रबध से साफ साफ पता चलता है कि पृथ्वीराज और जयचन्द्र से शत्रुता थी पर इस शत्रुता का कारण क्या था इसका अभाग्यवश कोई उल्लेख नही है। रासो की तरह यह प्रबध यह भी नही लिखता कि पृथ्वीराज को शहाबुद्दीन अधा बनाकर गज़नी ले गया और वहा उन्होने अपनी बाण-सधान परीक्षा देते हुए शहाबुद्दीन को मार डाला। प्रबधकार तो यही लिखता है कि शहाबुद्दीन के साथ युद्ध करते हुए पृथ्वीराज मारे गये। प्रबधकार का यह कथन कि जयचन्द्र ने एक बार ग़ोरी की सेना को हराया था इतिहास की दृष्टि से ठीक नही मालूम पडता। शायद ग़ोरी की यह हार जो पृथ्वीराज द्वारा हुई हमारे प्रबधकार ने जयचन्द्र के माथे लगा दी है। बनारस में मुसलमानी सेना के प्रवेश का भी ठीक सवत् मिती के साथ प्रबधकार ने दिया है पर उसके अनुसार बनारस में मुसलमानी सेना का प्रवेश ११९१ ई० में हुआ जो ठीक नही मालूम पडता क्योकि मुसलमानी इतिहासकारो ने एक स्वर से बनारस विजय का समय ११९४ ईस्वी दिया है। ऐसी भूल क्यो हुई इसका ठीक ठीक पता तो नही है पर अको के हेरफेर से ऐसा होना सभव है। प्रबधकार को यह भी पता था कि जयचन्द्र और मुसलमानो की लडाई जमुना पर हुई। हमें मुसलमान ऐतिहासिको से मालूम है कि लडाई आगरा और इटावा के बीच यमुना पर स्थित चदावर (आधुनिक फिरोजाबाद) में हुई। प्रबध से हमें एक ऐसी बात भी मालूम होती है जिससे कुतबुद्दीन की ऐबक उपाधि पर प्रकाश पडता है। प्रबध में कहा गया है कि जयचन्द्र के विरुद्ध मुसलमानी सेना का प्रधान सेनापति अहमद बिन मुहम्मद था जो शायद कुतुबुद्दीन का पहला नाम था। प्रबध के अनुसार अहमद काना था। ऐबक के अर्थ चन्द्रमुख भी किये जाते है, पर वास्तव में उसका सीधा अर्थ है ऐबी अर्थात् जिसके अग में कोई ऐब हो। उसे शल यानी ऐबी भी पुकारते थे।[1]

प्रबध में मुसलमानो को दिल्ली पर आक्रमण करने के लिए उकसाने का दोष सोहागदेवी के मत्थे मढा गया है पर इसमे सत्य कितना है यह नही कहा जा सकता। हो सकता है प्रबध में आकर्षण बढाने के लिए यह कहानी गढ ली गयी हो। पर जैसा कि जयचन्द्र के मत्री के वन-गमन से पता लगता है मुसलमानो को उभारने में जयचन्द्र और उसकी रक्षिता का हाथ अवश्य था। मत्री का पृथ्वीराज के हारने और मृत्यु के बाद

[1] कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इडिया, भा० ३, पृ० ४१

जयचन्द्र को सदेश, भारतीय ऐतिहासिक साहित्य की अमूल्य निधि है। उससे पता चलता है कि उस समय भी ऐसे मत्री थे जो इस बात को देख रहे थे कि किस तरह उत्तरी भारत का दरवाजा विदेशियो के लिये प्रशस्त होता जा रहा था। उन्होने इसके रोकने का भी प्रयत्न किया, पर शायद समय और तत्कालीन राजनीतिक अवस्था उनके विरुद्ध थी।

बनारस का साम्राज्य तो ११९४ ईस्वी में ही चकनाचूर हो गया पर उसके ऐश्वर्य की थोडी सी झलक कुछ बरसो तक बची रही। जयचन्द्र के पुत्र हरिश्चन्द्र के ११९७ ईस्वी जौनपुर के पास मछली शहर[1] के लेख से पता चलता है कि ११९४ ईस्वी के बाद भी उनका राज बनारस के आस-पास बना रहा।

राणक विजयकर्ण के मिर्जापुर के लेख से ऐसा भास होता है[2] कि गाहडवालो का साम्राज्य हरिश्चन्द्र के बाद तक कायम था, गोकि उसमें शासक का नाम न होने के शायद नयी राजनीतिक स्थिति की ओर सकेत है। जान पडता है, बनारस से मुईजुद्दीन के चले जाने पर ऐबक राजपूतो से कोल की रक्षा करने के लिए बनारस से लौट गये। बाद में उसे चौहानो और चालुक्यो से मोरचा लेना पडा। इस बीच में बनारस पुन स्वतत्र हो गया। इन सब लडाइयो से फुरसत पाकर, ११९७ ईस्वी में कुतबुद्दीन ऐबक ने अपना ध्यान गगा दोआब के ऊपरी हिस्सो की तरफ, जिसमें बहुत से गाहडवाल अब भी बच गये थे, दिया।

फखू मुदीर के अनुसार उसने दूसरी बार बनारस पर कब्जा किया।[3] इससे यह पता चलता है कि मुईजुद्दीन के बनारस से चले जाने के बाद जयचन्द्र के पुत्र हरिश्चन्द्रदेव ने पुन नगर पर कब्जा कर लिया। पर बनारस के अतिम पतन में अब देर न थी। ११९७ ईस्वी में जान पडता है गाहडवालो का, कुतुबुद्दीन द्वारा दूसरी बार बनारस जीतने पर, अत हो गया। बनारस की दूसरी जीत के बाद बनारस और अवध के फौजदार मलिक हुसामुद्दीन बना दिये गये। इन्ही के मातहत एक सेनानायक इख्तियारउद्दीन मुहम्मद बख्तियार ने बिहार और बगाल फतह किया। फारसी लेखको के अनुसार १२०६ ईस्वी में सिंध के किनारे खाखरो द्वारा मुईजुद्दीन मारा गया। कुतुबुद्दीन ऐबक ने दिल्ली के सिंहासन पर बैठकर १२०६ से १२१० ईस्वी तक राज्य किया और सभवत तब तक शायद बनारस उसी के राज्य में था। १२१० ईस्वी में दिल्ली के तख्त पर इल्तुतमिश आया जिसने १२३६ ईस्वी तक राज्य किया। गगा की घाटी में उस समय हिंदू अपनी स्वतत्रता स्थापित करने को जी जान से लड रहे थे और सभवत इसी झगडे में बनारस पुन स्वतत्र हो गया था क्योकि मिनहाज उस्सिराज के अनुसार इल्तुतमिश को इसे पुन ११२६ ईस्वी में जीतना पडा।[4] नसीरुद्दीन महमूद को अवध के सूबेदार की हैसियत से पूर्वी उत्तर प्रदेश के हिंदू बागियो से, जिन्होने डेढ लाख मुसलमानो को तलवार की धार उतार दिया था, काफी लडाई लडनी पडी तब कही बनारस के इलाके में शाति आयी।

●●

[1] एपि० इडि०, १०।९३-९८

[2] जे० ए० एस० बी० (न्यू सीरीज), भा० ७, पृ० ७५७

[3] ए० बी० एम० हबीबुल्ला, फाउन्डेशन्स ऑफ मुस्लिम रूल इन इडिया, पृ० ६७, लाहौर १९४५ [4] वही, पृ० ६८–६९ [5] वही, पृ० १०२

चौदहवाँ अध्याय

गाहडवाल युग में बनारस का शासन प्रबंध तथा सामाजिक और धार्मिक अवस्था

१ शासन पद्धति

जान पडता है गाहडवाल युग में बनारस की शासन-पद्धति दसवी शताब्दी अथवा उसके पहले की तरह ही बनी रही। गाहडवालो के लेखो से सहकारी कर्मचारियो के नाम की तालिकाएँ तो मिल जाती है पर इन कर्मचारियो के कार्य-कलाप पर विशेष प्रकाश नही पडता। फिर भी इन लेखो से जो कुछ विवरण मिलता है वह नीचे दिया जाता है।

राजा—इनका राज्य पर असीम अधिकार होता था। इनके सलाहकार अथवा मत्री भी होते थे जो अपने विषय के पडित होते थे। हम देख चुके है कि गोविन्दचन्द्र के सधिविग्रहिक भट्ट लक्ष्मीधर कितने बडे पडित, योद्धा और राजनीतिज्ञ थे और उनकी सलाह से गोविन्दचन्द्र को कितना फायदा पहुँचा। लेखो में राजा को महाराजाधिराज, परमभट्टारक परमेश्वर इत्यादि नामो से सबोधन किया गया है। सभव है कलचुरियो को हरा लेने के बाद गाहडवालो ने अश्वपति, गजपति, नरपति, राजत्रयाधिपति और विविधविद्या-विचार वाचस्पति का विरुद धारण किया। राजा के बाद अग्र या पट्टमहिषी और युवराज अथवा महाराजपुत्र का पद था। गाहडवाल लेखो से पता चलता है कि ये स्वय अपने नाम से दानपत्र दे सकते थे।

राजा के अधिकार में अनेक सामत भी होते थे जिनको राजा की ओर पचमहाशब्द[1] और राजपट्ट[2] या पगडी उपहार में मिलती थी। लेखो में इनके लिए महासामन्ताधिपति, समधिगतशेष महाशब्द, और महाप्रतिहार शब्दो के प्रयोग मिलते है।[3]

ग्रामो में गामगामिक अथवा गाँव का मुखिया और उसके सलाहकार महत्तम और महत्तर, जिन्हें आज दिन भी महतो कहते है, होते थे।[4]

गाहडवालो के चन्द्रावती इत्यादि के दानपत्रो[5] में निम्नलिखित पदाधिकारियो के नाम आये है

(१) मत्री—राजा के सलाहकार होते थे।

---

[1] एपि० इडि०, ९।१ से

[2] एपि० इडि०, ४।१३०

[3] एपि० इडि०, १।१६९,१७३

[4] एपि० इडि०, ३।२६६

[5] एपि० इडि०, १४।१९२ से

(२) सेनापति—राज-सेना के प्रधान सचालक होते थे ।

(३) महापुरोहित या पुरोहित—य राजा के धार्मिक कृत्यों के प्रधान अधिकारी होते थे और इनको गहरी दान-दक्षिणा मिलती थी । गोविन्दचन्द्र के कमौली वाले १११४ ईस्वी के दानपत्र[१] में राजा द्वारा पुरोहित जागुशर्मन् को वृहद् वराइच मउअ नाम के गाँव का दान देने का उल्लेख है । ये जागुशर्मन् वील्ह के पुत्र और दीक्षित पुराम् के पौत्र थे । उनका गोत्र वघुल था और उनके प्रवर वधुल, अघमर्षण और विश्वामित्र थे । वे वाजसनेयी शाखा को मानने वाले थे । जागुशर्मन् को घूस का गाँव १११६ ईस्वी में[२], मुणाही ? का गाँव १११७ ईस्वी में[३], अछौली का गाँव १११८–९ ईस्वी में,[४] दरवली का गाँव १११९ ईस्वी में[५] और ११४१ ईस्वी में एक गाँव[६] मिले ।

(४) प्रतीहार—यह राजद्वार के प्रधान रक्षक होते थे ।

(५) अक्षपटलिक—दफ्तरखाने के प्रधान अफसर होते थे ।

(६) भिषक्-राजवैद्य—जान पडता है गोविन्दचन्द्र के समय प्राणाचार्य भट्ट पडित व्रोणशर्मन् प्रधान वैद्य थे । इनका पाराशर गोत्र था और उनके प्रवर कांकायण, कौशिक और धौम्य । ये शाखायन वह्वृच शाखा (ऋग्वेद) के विद्यार्थी थे ।[७]

(७) भाडागारिक—राजा के कोष्ठागारों के अध्यक्ष ।

(८) नैमित्तिक—राज-ज्योतिषी राजा के मागलिक कार्यो के लिये शकुन विचारते थे और सायत निश्चित करते थे ।

(९) अत पुरिक—राजमहलों के अध्यक्ष ।

(१०) दूत—राजा के पत्रादि को दूसरे राजाओं के पास ले जाने का काम करने वाले कर्मचारी ।

(११) कार्याधिकार पुरुष—हाथी खाने के प्रधान दारोगा ।

(१२) तुरगाधिकार पुरुष—अस्तवल के दारोगा ।

(१३) पत्तनाधिकार पुरुष—शहर के कोतवाल या कोई दूसरे वडे अधिकारी ।

(१४) आकराधिकार पुरुष—खानों के महकमें के अध्यक्ष ।

(१५) स्थानाधिकार पुरुष—थानेदार । जान पडता है शहर बहुत से थानों में बँटा था ।

(१६) गोकुलाधिकार पुरुष—चरागाहों के अध्यक्ष ।

---

[१] एपि० इडि०, ४।१०१–१०३
[२] एपि० इडि०, ४।१०३–०४
[३] एपि० इडि०, ८।१०४–०६
[४] एपि० इडि०, ४।१०५–०७
[५] एपि० इडि०, ४।१०७–०९
[६] एपि० इडि०, ४।११४
[७] एपि० इडि०, ८।१५३ से

(१७) कायस्थ—प्रधान लेखक। इनका काम ताम्रपत्र इत्यादि के मस्विदे बनाने का भी था।

(१८) कोट्टपाल—कोतवाल।[1]

(१९) धुरोधिकारी—सीमाओ को ठीक रखने के प्रधान अधिकारी।[2]

(२०) व्यवहारी—दानपत्रो का प्रवन्ध करने वाले प्रधान राजकर्मचारी।[3]

(२१) सर्वमुद्राध्यक्ष—प्राचीन-प्रवध सग्रह (८८,९०) में जयचद्र द्वारा विद्याधर के सर्वमुद्राध्यक्ष बनाने का उल्लेख है। जान पडता है इस कर्मचारी के पास राजा की सब मुद्राएँ रहती थी।

गाहड़वालो के लेखो से पता चलता है कि बनारस में ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी में गिम्नलिखित कर चलते थे[4]—

२ कर

(१) भाग—खेत की उपज में राजा का निश्चित भाग।

(२) भोग—जमीन बजर पडने पर जमींदारो के कुछ अधिकार। यह भी हो सकता है कि इसके माने जमींदारी की लगान हो।

(३) कर—लगान रुपये में अथवा अन्न में अदा की जाती थी।

(४) तुरुष्कदड—यह शायद जजिया का हिंदू प्रत्युत्तर था। इसके बारे में हम पहले काफी कह आये है। यह भी सभव है कि तुरुष्को के विरुद्ध सेना रखने के लिए शायद यह कोई कर-विशेप हो।

(५) विषयदान—जान पडता है जिले का यह कोई खास कर होता था। इसके अलावा अश्व, नौका, नदी उतराई और सवारियो के आने जाने पर भी कर लगता था।

(६) प्रपथिकर—गाँवो में अधिक आदमियो के आने को निरुत्साहित करने के लिए एक विशेप तरह का कर या शायद यह कर सडको की मरम्मत के लिये लगता था।[5]

(७) हिरण्य—जान पडता है यह कर तैयार माल पर लगता था।[6]

(८) जलकर—जलयात्रा पर एक तरह का विशेष कर।

(९) गोकर—मवेशियो पर चराई के लिये एक खास कर।

(१०) निधिनिक्षेप—गडे हुए धन का स्वामी राजा होता था।

---

[1] त्रिपाठी, उल्लिखित, पृ० ३४०

[2] एपि० इडि०, ११५६, १५७, १५९, १६०, त्रिपाठी, वही, पृ० ३४०

[3] एपि० इडि०, ११६–१७

[4] एपि० इडि०, १४।१९५ से

[5] एपि० इडि०, ४।१०१, १०३

[6] एपि० इडि०, ८।१५३

(११) आकर—जान पडता है खानो पर कोई खास कर था।

उपर्युक्त करो को देखते हुए यह कहना पडेगा कि मध्ययुग में वनारस की प्रजा पर कर का काफी भार था। एक किसान को ही अपने खेत और चौपायो पर इतना कर देना पडता था कि शायद ही उसके पास खाने पीने के वाद कुछ वचता हो। इस भयकर कर भार का कारण शायद मध्यकालीन राजाओ की विलास-प्रियता और व्यर्थ की लडाइयाँ हो सकती है।

२ व्यापार

दसवी से वारहवी शताव्दी तक के वनारस के व्यापार के वारे में हमें वहुत कम विवरण मिलता है। फिर भी यह विश्वास करने का कारण है कि उस युग में भी वनारस एक वडा व्यापारी शहर था। हमें तारीखुस्सुवुकतिगिन[1] से पता चलता है कि १०३३ ईस्वी में वनारस का वजाजा, जौहरी वाजार और गधी वाजार वहुत ही समृद्ध थे और इन सवको लूट कर अहमद नियाल तिगिन को वहुत धन मिला। नौका इत्यादि पर कर लगने से भी हम अदाज कर सकते है कि उस समय व्यापार की काफी उन्नति थी। नदी के वास्ते व्यापार होने के सिवाय सडक भी खूव चलती थी। अलवेरुनी के अनुसार[2] वारी से गगा के पूर्वी किनारे पर होती हुई एक सडक अयोध्या (२५ फरसग), वनारस (२० फरसग), गोरखपुर, पटना और मुगेर होती हुई गगासागर चली जाती थी। रशीदुद्दीन के जामिउत्तवारीख में इस सडक का कुछ और वर्णन आया है।[3] उसके अनुसार गगा पर स्थित वारी से चल कर सडक पूर्व होते हुए अयोध्या पहुँचती थी और फिर वहाँ से वनारस जाती थी। वहाँ से दक्षिण पूर्व ३० फरसग पर सरजू पार (गोरखपुर) पडता था। वहाँ से पाटलिपुत्र १० फरसग था और वहाँ से मुगेर १५ फरसग और चपा (भागलपुर) ३० फरसग। चपा से दमकपुर ५० फरसग और गगासागर वहाँ से ३० फरसग। यह रास्ता वरावर तुर्क सुल्तानो के समय में भी चलता था और इस पर होकर अक्सर दिल्ली के सुल्तान वगाल या विहार जाया करते थे। यही वही प्राचीन जनपथ है जिसका उपयोग ताम्रलिप्ति तक जाने में होता था।

३. वनारस की स्थिति

गाहडवाल लेखो के आधार पर हम वनारस जिले का ग्यारहवी-वारहवी सदी का एक नक्शा खीच सकते है। इन लेखो में वनारस जिले के वहुत से परगनो और गाँवो के नाम आये है। इनम से कुछ गाँवो और परगनो की तो अव भी पहचान हो सकती है, वाकी के शायद नाम वदल गये है। जो भी हो ऐसा लगता है कि वनारस जिले का आधुनिक नक्शा वारहवी सदी में प्राय वैसा ही था जैसा अव है।

---

[1] इलियट ऐंड डाउसन, भा० २, पृ० १२३–१२४

[2] सचाउ, वही, भा० १, पृ० २२

[3] ईलियट, भा० १, पृ० ५६

बनारस शहर के बारे मे अभाग्यवश हमे सस्कृत साहित्य और लेखो में कुछ घाटो और मंदिरो के नामो को छोडकर बहुत कम विवरण मिलता है। पर जो कुछ भी अलबेरुनी इत्यादि से हमें बनारस का विवरण मिलता है उससे पता चलता है कि बनारस उस समय सास्कृतिक दृष्टिकोण से भारत का सबसे बडा नगर था। महमूद गजनवी के आक्रमणो के बाद तो बनारस की महत्ता इसलिए और बढ गयी कि सारे उत्तर भारत से प्राचीन भारतीय सस्कृति के रक्षक और परिवर्धक पडित भाग भाग कर बनारस मे बस गये। अलबेरुनी ने इस ओर इशारा भी किया है।[1] बनारस के बारे में अलबेरुनी का कहना है कि स्मार्त धर्म के लिये नगर प्रसिद्ध था। सारे भारत से साधु-सन्यासी घूमते हुए इस शहर में पहुँचकर मोक्ष के लिए उसी तरह सदा के लिए बस जाते थे जैसे काबा के रहने वाले मक्का में। उस समय यह कहावत थी कि हत्यारे को भी बनारस पहुँचने पर मृत्युदड नही लगता था।[2] जान पडता है, इसी धर्मांधता से बारहवी सदी में बनारस ठगो का घर बन गया था। हेमचन्द्र ने अपने कुमारपाल चरित (३।५९) में ठग पर टीका करते हुए उस युग की कहावत यथा, "वाराणसी ठकाना स्थान," अर्थात् बनारस ठगो का घर है उल्लेख किया है। बनारस का इस कहावत से अब भी पिंड नही छूटा है। वास्तव में मध्यकालीन हिंदूधर्म और ठगी का चोलीदामन का सा साथ हो गया था। बनारस में यात्रियो का काम था पूजना और ब्राह्मणो का पुजाना। बस ठगो को तो ऐसे ही अन्धविश्वासी श्रद्धालु चाहिएँ। फिर भी अन्धविश्वास और ठगहारी के रहते हुए भी बनारस सुखी था ऐसा पता चलता है। आनन्दधर ने अपने माधवानलाख्यान में[3] गोविन्द-चन्द्र की पुष्पवती नगरी अर्थात् काशी के रहने वालो के बारे में कहा है—**"निरामयानिरातक सतुष्टा परमायुषा, वसति यत्र पुरुषा कालाऽज्ञाता इव प्रजा"** इस नगरी में काल जिनको भूल गया हो जैसे निरामय, निरातक, सतुष्ट, परमायुष, पुरुष रहते थे। अब भी बनारस का काफी अध पतन होते हुए भी बनारसियो के चरित्र की ये प्राचीन विशेषताएँ बाकी बच गयी है।

गणपति ने १५२८ ईस्वी में माधवानल कामकदला नामक ग्रथ लिखा। इस ग्रथ मे भी राजा गोविन्दचन्द्र के समय की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाओ का सुन्दर खाका है। पुस्तक गोविन्दचन्द्र से चार सौ बरस बाद लिखी गयी, पर इसका मसाला काफी प्राचीन ग्रथो से लिया गया है और इस दृष्टि से हम इसका उपयोग गोविन्दचन्द्र के राज्य-काल के लिये कर सकते है। इसमें राजा की न्याय निष्ठा का जो अपने अपने पुत्रो और दूसरो को, बूढो और बालको को एक दृष्टि से देखती थी वर्णन किया गया है।[4] उसके अनुसार काशी में चारो वर्ण अहर्निश अपना धर्म पालते थे। कोई झूठ नही बोलता था। लोग खेलकूद में मग्न रहते थे। मित्र अपनी मित्रता भरपूर निवाहते थे। कोई कभी कान

[1] सचाऊ, अलबेरुनीज इडिया भा० १, पृ० २२
[2] सचाऊ, वही, भा० २, पृ० १४६-१४७
[3] मजूमदार, माधवानल कामकदला, पृ० ३४१
[4] वही, ३।२

मे भी कलह की बात नही सुनता था, और लोग बडो को आदर की दृष्टि मे देखते थे।[1] स्त्रियाँ पतिव्रता होती थीं और कुटुंबियों में स्नेह भाव होता था।[2] यहाँ व्यवसायी दगाबाज नही होते थे और कठोर वचनो के बिना व्यापार करते थे।[3] नगर में नित्य विवाह बधावे और अनेक तरह के उत्सव होते थे।[4] राजा प्रजा का पालन करते थे। प्रदेश में खूब अन्न होता था कि एक बार बोने से ग्यारह बार काटा जा सकता था।[5] अवश्य ही बनारस की ऐसी स्थिति अतिरंजित है, पर उससे पता चलता है कि देश के सर्व साधारण लोगो में बनारस के प्रति अनुराग था।

४. लेखों मे बनारस जिले के कुछ भौगोलिक आधार

गाहडवाल लेखों मे पता चलता है कि बनारस जिला आज की तरह परगनो में जिनको पत्तला कहते थे बसा था और हर परगने में बहुत से गाँव होते थे। लेखों में बनारस के निम्नलिखित परगनो के नाम आते हैं।

१—कटेहुली[6]—इसकी पहचान आधुनिक कटेहर परगने मे की जाती है। लेख में इसकी प्राचीन सीमाएँ कोल्लक, नदिवार, गोमती और भागीरथी बतलाया गया है। कटेहर परगना बनारस तहसील के उत्तर-पूर्व में है। इसके पश्चिम में कोल असला (लेख का कोल्लक), पूर्व में बरह जिसका प्राचीन नाम शायद गोमती की एक सहायक नदी नद के नाम पर नदिवार था, और गगा है। उत्तर में परगना सुल्तानीपुर और गोमती नदी जो बनारस जिले को गाजीपुर और जौनपुर से अलग करती है और दक्खिन में इसकी प्राचीन सीमा पर बरना थी।

२—कोल्लक[7]—यहाँ बनारस के उत्तर पश्चिम में बनारस के परगना कोल असला का आशय है। इसकी प्राचीन सीमाओं का उल्लेख नहीं मिलता। इस परगने की आधुनिक सीमाएँ निम्नलिखित है —इसके पूर्व में कटेहर, दक्षिण में अठगाँवाँ, पश्चिम में पनरह और उत्तर में जौनपुर की केराकत तहसील है।

३—नदिवार[8]—शायद इसका तात्पर्य परगना बरह्न से है। इसकी प्राचीन सीमाएँ नहीं मिलती। चदौली तहसील का यह ठेठ उत्तरी परगना है। इसके पश्चिम और उत्तर में गगा है। पश्चिम में गगा इसे कटेहर से अलग करती है, और दक्षिण में सैदपुर भितरी से। पूर्व में चदौली का महाइच परगना है और दक्षिण में मझुआरी और बढवल।

---

[1] वही, ३।२-५
[2] वही, ३।६-८
[3] वही, ३।९
[4] वही, ३।११
[5] वही, ३।१२-१३
[6] एपि० इडि०, १४।१९३
[7] एपि० इडि०, १४।१९३ से
[8] एपि० इडि०, १४।१९३ से

४—बृहद्‌टहेवकाण[१]—इस परगने की भी सीमाएँ नही दी गयी है पर शायद यह चदौली तहसील के मध्य भाग में स्थित परगना वढवल हो। इसके पश्चिम में महुआरी और धूम परगने हैं, और पूर्व में नरवन, दक्षिण मे मझवार और उत्तर में महाइच परगने हैं।

५—वकाणइ[२]—इस पत्तला का ठीक पता नही चलता शायद यह कटेहर का प्राचीन काल में कोई भाग रहा हो।

६—बृहद्‌टवेवरठ पत्तला[३]—इस पत्तला की भी पहचान ठीक ठीक नही हो सकती।

७—काटी पत्तला[४]—इसकी पहचान नही हो सकती।

८—बृहद्‌गृहेवरठ पत्तला[५]—इसका भी ठीक पता नही है पर इस पत्तला में धूस ग्राम का नाम आने से हम कह सकते हैं आधुनिक धूस परगने का नाम शायद बृहदगृहेवरठ पत्तला था। इसके पूर्व मे मझवार, पश्चिम में राल्हूपुर और मवई, उत्तर में महुआरी और वढवल और दक्षिण में मिर्जापुर का भुइली परगना है।

९—उघटेरहोतर पत्तला[६]—इसका भी ठीक ठीक पता नही लगता।

१०—कोठोतकोटिआवर पत्तला[७]—इस पत्तला की भी पहचान नही हो सकी।

११—नेउलसतार्विसिका पत्तला[८]—इसका भी पता नही है।

१२—कच्छोह पत्तला[९]—इसकी पहचान मिर्जापुर के कछवा मझवा से की जा सकती है।

१३—जबुकी पत्तलिका[१०]—इसकी पहचान जमुई से की जा सकती है और इसी पत्तला में सारनाथ था। कुमारदेवी के लेख में कहा गया है कि जमुई के लोगो ने कुमारदेवी से धर्मचक्र जिन की मरम्मत के लिये अर्जी दी थी और उसे स्वीकार करके कुमारदेवी ने सारनाथ के मदिरो की मरम्मत करवा दी।

१४—जियावइ पत्तला[११]—इसका भी पता नही लगता।

१५—उनवीस पत्तला[१२]—इसका भी पता नही है।

१६—वजयनिहाच्छासाठ पत्तला[१३]—इसका पता नही।

---

[१] एपि॰ इडि॰, १४।१२३ से

[२] एपि॰ इडि॰, १४।१९७–२००

[३] वही

[४] एपि इडि॰, ४।१०१–१०३

[५] एपि॰ इडि॰ ४।१०३–१०४

[६] एपि॰ इडि॰, ४।१०६–०६

[७] एपि॰ इडि॰, ४।१०७–०९

[८] एपि॰ इडि॰, ४।१०९–१११

[९] एपि॰ इडि॰, ४।११६–१७

[१०] एपि॰ इडि॰, ९।३१९–२८

[११] एपि॰ इडि॰, ४।११७–१२०

[१२] एपि॰ इडि॰, ४।१२३–१२४

[१३] एपि॰ इडि॰, ४।१२४–१२६

१७—तेमिष पचोत्तर पत्तला—इसका पता नहीं।

१८—अमवली पत्तला—इसका पता नहीं।

उपर्युक्त लेखों में बनारस जिले के ग्यारहवीं और बारहवीं सदी के गाँवों के नाम मिलते हैं इनमें से कुछ गावों के नामों का पता मिल जाता है और कुछ का नहीं।

इन दान दिये ग्रामों में देवद्विजविकर ग्राम और देवग्राम होते थे। इसका यह अर्थ है कि कुछ गावों में ब्राह्मणों और देवताओं का साझा होता था, ये गाँव माफी होते थे। देवग्राम केवल मंदिरों और देवताओं पर चढ़े होते थे जिन्हें हम आज देवोत्तर संपत्ति कहते हैं।

५ गाहड़वाल युग में बनारस शिक्षा का केन्द्र

गुप्तयुग के बाद भी, जान पड़ता है, बनारस वैदिक शिक्षा का शायद सबसे बड़ा केन्द्र था। अभाग्यवश हमें संस्कृत साहित्य और लेखों से बनारस की पाठशालाओं और गुरुओं के शिक्षा क्रम पर बहुत कम प्रकाश पड़ता है। गाहड़वाल लेखों में तो पाठशालाओं या विद्यार्थियों का कहीं उल्लेख नहीं आया है पर ऐसा जान पड़ता है कि ब्राह्मणों को बहुत से गाँव दान देने में गाहड़वाल राजाओं का उद्देश्य शिक्षा को प्रोत्साहन देना था। बनारस के उपाध्याय न केवल छात्रों को पढ़ाते थे, उन्हें उनके रहने और खाने का भी प्रबन्ध करना पड़ता था और यह तभी संभव था जब उनके पास किसी तरह का आर्थिक संबल हो। संभवतः गाँवों की आमदनी से और दान दक्षिणा से प्राप्त द्रव्य से ये अपना और अपने छात्रों का काम चलाते थे। चन्द्रदेव के एक लेख से[1] पता चलता है कि गाव दान पाने वाले ब्राह्मणों में बहुधा विद्वान ब्राह्मण होते थे। इस लेख में जाट (न० २) नामक एक ब्राह्मण को श्री ऋग्वेदचरणे चतुर्वेदिन् कहा गया है, वील्ह् (न० १२६) को श्री यजुर्वेदचरणे चतुर्वेदिन् कहा गया है, छीहिल (न० २७२) अथर्ववेदचरणे द्विवेदिन् थे, तथा देदिग नाम के ब्राह्मण को श्री छान्दोगचरणे त्रिपाठिन् कहा गया है। इससे पता चलता है कि बनारस में चारों वेदों को पढ़ने पढ़ाने वाले पंडित थे। विधिकरणि गगाधर (न० ८६८) के नाम से पता लगता है कि वैदिक कर्मकांड के पढ़ने पढ़ाने का भी काशी में प्रचार था।

अलबेरुनी के अनुसार बनारस और काश्मीर ग्यारहवीं सदी में संस्कृत ज्ञान विज्ञान और शिक्षा के केन्द्र थे।[2] बनारस की पाठशालाओं और पंडितों में सिद्धमातृका अक्षर चलते थे। कुछ दिन पहले तक बनारस में संस्कृत ओनामासीधम् कह के आरंभ करते थे। यह ओनामासीधम् ओम् नमः सिद्धम् की दुर्गति है।

सौभाग्यवश मुनि श्री जिनविजय जी को उक्तिव्यक्ति प्रकरण[3] अथवा प्रयोग प्रकाश नाम का एक ग्रंथ मिल गया है जिसमें बनारस और उसके आस पास के प्रदेशों की

---

[1] एपि० इंडि०, १४।१९७–२००

[2] सचाऊ, वही, भा० १, पृ० १७३

[3] दामोदर, उक्तिव्यक्ति प्रकरण (जिनविजय द्वारा संपादित), बम्बई १९५३

बोली के नमूने सगृहीत हैं जिसे डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने प्राचीन कोशली का नाम दिया है। अपने समय में और अपने देश में प्रचलित लोक व्यवहृत अपभ्रश भापा का सस्कृत व्याकरण पद्धति से क्या सबध है और किस प्रकार लोक भापा की लोकरूढ़ उक्तियो द्वारा सस्कृत व्याकरण का आधारभूत स्थूल ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है इसी बात का विचार दामोदर ने किया है। इस ग्रथ में उक्ति का प्रयोग बोली के अर्थ में है। प्रासगिक रूप से इस ग्रथ में बहुत सी ऐसी बातें आ गयी हैं जिनसे बनारस की शिक्षा, धर्म और सामाजिक व्यवस्था पर काफी प्रकाश पडता है। पुस्तक के अत साक्ष्य से यह प्रकट हो जाता है कि पुस्तक के लेखक दामोदर का गोविन्दचन्द्र से निकट सबध था। दामोदर द्वारा गोविन्दचन्द्र की प्रशस्ति का उल्लेख पहले हो चुका है। एक दूसरी जगह (२१।१४–२०) कहा गया है "कवण ए छाती तडें राकर सागर ओड्ह पास खणावन्त आच्छ' कौन यह छतरी ताने ओडको से राकर सागर (आधुनिक चन्दौली का रायल ताल) खुदवा रहा है ? जवाब था सूरपाल नामक राजपुरुप। वही कोई धनपाल नामक व्यक्ति एक मंदिर बनवा रहा था। बनारस में ब्राह्मणो को बसाने का श्रेय गोविन्दचन्द्र को दिया गया है। इसी प्रसग में प्रश्न आता है 'कौन ऐसा है जो कर्णमेरु जैसा मदिर बनारस में बनवायेगा' उत्तर था कोई राजा ही ऐसा कर सकता था। भाव यह है कि चेदि राज कर्ण द्वारा निर्मित कर्णमेरु जैसा शिव मदिर गोविन्दचन्द्र देव जैसे राजा ही बनवा सकते थे।

उक्ति-व्यक्ति प्रकरण के लेखक पडित दामोदर के बारे में इसके सिवा कि वे गोविन्दचन्द्र के समकालीन थे और कुछ नही पता चलता। सौभाग्यवश गोविन्दचन्द्र के समय के तीन ताम्रपत्रो से पता चलता है कि पडित दामोदर शर्मा की विद्वत्ता से प्रभावित हो कर गोविन्दचन्द्र और उनके दो पुत्रों ने उन्हें कम से कम तीन चार गाँव भेंट किये। बहुत सभव है कि ताम्रपत्रो के पडित दामोदर शर्मा और उक्ति-व्यक्ति प्रकरण के पडित दामोदर एक ही व्यक्ति हो।

इन ताम्रपत्रो में सबसे पुराने ताम्रपत्र में जो ११३४ ईस्वी का है इस बात का उल्लेख है कि महाराज पुत्र आस्फोटचन्द्र देव ने अपने पिता की अनुमति से अक्षय तृतीया के दिन गगा-स्नान करके नदिनी पत्तला का कनौट ग्राम गुणपाल के प्रपौत्र, लोकपाल के पौत्र तथा मदनपाल के पुत्र पडित दामोदर शर्मा को दान में दिया। इनका गोत्र कश्यप तथा प्रवर काश्यप, आवत्सर और नैध्रुव थे। वे यजुर्वेद की वाजसनेयी शाखा को मानने वाले, सूर्य भक्त और ज्योतिष के पच सिद्धान्तो के पडित थे।[१] ११४६ ईस्वी के एक दूसरे ताम्रपत्र में[२] उल्लेख है कि गोविन्दचन्द्र की अनुमति से महाराज पुत्र राज्यपाल देव ने उत्तरायण मकर सक्रान्ति के दिन राज्यपालपुर (शायद रजवाडी) में गगा स्नान करके हरिचन्दपाली और दो या तीन पाटको के सहित चमरवामी ग्राम पडित दामोदर को दान दिया। ११५० ईस्वी के एक तीसरे लेख मे[३] स्वय गोविन्दचन्द्र द्वारा उत्तरायण सक्रान्ति

---

[१] एपि० इडि०, ८।१५५–१५६

[२] एपि० इडि०, ८।१५६–५७

[३] एपि० इडि०, ८।१५८–५९

को वाराणसी में कोटितीर्थ पर स्नान करके उवगल पत्तला में लोरिपु पाडा अथवा लोलिक पाडा का दामोदर शर्मा को दान का उल्लेख है।

आस्फोटचन्द्र और राज्यपाल के दानपत्रों से ऐसी ध्वनि निकलती है कि शायद ये राजकुमार दामोदर के शिष्य रहे हों। उनके दान से उनकी गुरुभक्ति प्रकट होती है। जो कुछ भी हो उक्ति-व्यक्ति प्रकरण से तो इस बात में कोई सदेह नहीं रह जाता कि दामोदर शर्मा बारहवी सदी के एक अच्छे शिक्षाशास्त्री थे।

गाहडवाल युग में बनारस की शिक्षा का उद्देश्य था 'वेद पढब, स्मृति अभ्यसबि, पुराण देखब, धर्म करब' (उ० व्य०, १२।१६-१८) अर्थात् हमें वेद पढना चाहिए, स्मृतियो का अभ्यास करना चाहिए, पुराणों को देखना चाहिए और धर्म करना चाहिए। उपर्युक्त उदाहरण से पता चलता है कि बनारस में उस समय वेदों, स्मृतियों और पुराणों के पठन-पाठन पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

उपाध्याय जिन्हें ओझा कहा गया है लडकों को पढाते थे—'पढाव छात्रहि शास्त्र ओझा' (१३।२८)। विद्यार्थियों को अपना ज्ञान संवर्धन उपाध्याय द्वारा ही करना पड़ता था—'ओझा पासे बीदाले' (१८।१६)। जान पडता है छात्र अक्सर अपने गाँवों को जाते थे—'छात्रु गाउँ या' (१६।१२)। गाँव जाने के लिए ये छात्र अपने को मँजोते थे—'गाँउँ चला मँजब' (३९।३०)। मँजोना क्या था 'नगा नहाय क्या और निचोडे क्या' की कहावत के अनुसार ये छात्र गाँव जाते वक्त अपनी पोटली मँजोते थे—'गाँउँ जात पोटलि मँजब' (४१।२८)। इस तरह पोटली लेके गगा पार जाने को तैयार हो जाते थे—'पोटल लै जाण पार' (३८।२७)।

उक्ति-व्यक्ति प्रकरण में कुछ प्रश्नोत्तरियाँ दी हुई है जिनसे काशी के विद्यार्थियों की अवस्था पर प्रकाश पडता है। 'ईहाँ को पढइ?' यहाँ कौन पढता है? उत्तर था—'ब्राह्मण पुत्र' (२१।८)। 'ईहाँ को पढनहार आछ' यहाँ कौन पढने वाला है? उत्तर—'छात्र' (२१।८-९)। उपाध्याय पूछते है—'अम्हापास केईं पढब' (२१।९-१०) हमारे यहाँ कौन पढेगा? उत्तर—'द्विज'। इससे ब्राह्मणों की उस प्राचीन सकीर्ण वृत्ति की ओर पता चलता है जिसमें शास्त्र पढने का ब्राह्मण ही अधिकारी था, और दूसरा कोई नहीं। आश्चर्य तो इस बात का है कि जैन सस्कृत पढ सकते थे, और बौद्धों का भी मध्यकाल में उस भाषा पर पूर्ण अधिकार था, पर हिंदुओं में तो खाली ब्राह्मणों को ही वेद-ज्ञान विहित था। यह सकीर्ण वृत्ति बराबर बनारस में बनी रही। सत्रहवीं सदी में यशोविजय नाम के प्रसिद्ध जैन विद्वान को बनारस में सस्कृत पढने की सूझी पर इसके लिए उन्हें अपना धर्म छिपा कर ब्राह्मण बनने का ढोंग रचना पडा। यह प्रवृत्ति काशी में अब तक पुराने पंडितों में है।

एक दूसरी प्रश्नोत्तरी में पढने के एक उद्देश्य पर प्रकाश पडता है। प्रश्न है—'राउरे पाहू राव को आच्छिह'—राजा के पास कौन जाएगा? गुरु जी जवाब देते है—'तूं'। विद्यार्थी पूछता है—'मोर छेम को करिहैं', मेरा क्षेम कौन करेगा? गुरु जी जवाब देते है, 'हौं'—मैं (२१।१०-१२)। इससे पता लगता है कि गुरु के पास पढ कर विद्यार्थी राजसेवा में भरती होने के लिए भी आतुर रहते थे।

प्राय विद्यार्थी उपाध्याय के घर जाकर पाठ पढते थे। प्रश्न है—'वेटा काहा ण'—वेटा कहाँ गया, उत्तर है—'ओझाउलु' (२२।१-२)। यह भी पता लगता है कि अधिकतर विद्यार्थी उपाध्याय के साथ ही उनके घर पर रहते थे (२४।२१-३१)। वहाँ रहकर गुरु शुश्रूषा करते हुए वे विद्याध्ययन करते थे (२७।४-१०)। यह भी पता चलता है कि प्राचीनकाल की तरह गाहडवाल युग में भी वनारस में आश्रम होते थे (२७।१७)। एक जगह इस वात का उल्लेख है कि मठो में भी पढाई होती थी। गाहडवाल युग में केदार मठ वनारस की प्रसिद्ध शिक्षा सस्थाओ में था (२९।७-२२)। यह भी पता चलता है कि वारहवी सदी में वनारस (३०।४), कान्यकुब्ज (३०।६) और प्रयागं (३०।१५) अपनी शिक्षा सस्थाओ के लिए प्रसिद्ध थे।

वनारस में यह वात उस समय प्रसिद्ध थी कि केवल घोखने से विद्या नही आती। उसके लिए वुद्धि की आवश्यकता होती है। कोई प्रश्न करता है—'छाटे हें काहें विद्या अवढ', झट से विद्या कैसे आ जाय ? उत्तर है—'प्रज्ञें', केवल वुद्धि से (२२।११)। जान पडता है व्याकरण इत्यादि को सरल वनाने के लिए और वालको में विद्या के प्रति प्रेम उत्पन्न करने के लिए पहेलियो या विवीक्षकाओ की भी मदद ली जाती थी। पहले प्रश्न पूछे जाते थे और अत में उनके उत्तर वता दिए जाते थे। इससे वालको में कुतूहल उत्पन्न होता था और विचार शक्ति और हाजिरजवावी वढती थी। कुछ ऐसी विवीक्षकाएँ उक्तिव्यक्ति प्रकरण में दी हुई हें (२२।१३-२१, २३।२५ से)—

'किससे सग्राम सकट में वीर दुर्जय हो जाता है ?' खड्ग से।

'साहसी धीर किससे नदी पार करते हैं ?' वाहुओ से।

'रात्रि में जगत क्षीर-समुद्र में किससे डूवा हुआ मालूम पडता है ?' शरद् की चाँदनी से।

'विना पैर के सहारे रास्ते में किसके सहारे जल्दी से चला जा सकता है ?' काठ की घोडी से।

'ग्रीष्म सतप्त भूपृष्ठ पर आदमी किसके सहारे चलते है ?' जूते के।

'किसके सहारे मेघ समय पर विश्व को नया कर देते है ?' वृष्टि से।

'किसके सहारे कुम्हार मृत्पिण्ड को पात्र वना देते हैं ?' चाक के।

'रात दिन होते हुए काम को किनके सहारे लोग देखते है ?' नेत्रो के।

'अपने दृढ़ व्रत के सहारे वालनृप के राज्य में कौन रहते है ?' पात्र।

'सेनापति अपने मालिक से कहता है नाथ, किसने शत्रुओ को जीता ?' तुमने।

'किसके द्वारा ये नित्य नयी नयी सपत्तियाँ पैदा होती है ?' मुझसे।

निम्नलिखित प्रश्नोत्तरी से भी वनारस के विद्यार्थी जीवन पर प्रकाश पडता है।

'सखे, तुमने वेद कहाँ पढ़ा ?'

देव शर्मा उपाध्याय से।

'इंधन जलाना कहाँ सीखा ?'

उपाध्याय-पत्नी से ।

'तुम्हें भोजन कहाँ से मिलता है ?'

द्विजवरों के घरों से । (२३।२०–२१)

उपर्युक्त प्रश्नोत्तरी से पता चलता है कि छात्रों को भोजन स्वयं बनाना पड़ता था और उन्हें अन्न द्विजातियों के घरों से मिल जाता था। बेचारे नये छोकड़े गावों से आते थे उन्हें भला भोजन बनाना क्या मालूम ? इसीलिए उपाध्याय पत्नी उन्हें ईंधन जलाने की क्रिया में दीक्षित करती थीं ।

जान पड़ता है बेचारे गुरुदेव अपने पुराने छात्रों से कुछ सहायता की भी आशा रखते थे ।

निम्नलिखित प्रश्नोत्तरी से इस संबंध पर कुछ प्रकाश पड़ता है। अपने विद्यार्थियों को बहुत दिनों के बाद देखकर गुरु जी उनसे प्रश्न करते हैं (२३।२१–२३)—

'पुत्रो, जानते हो तुमने वेद किससे पढ़ा है ?' आपसे ।

'किससे हमारी पत्नी और पुत्रों की इस वृद्धावस्था में गुजर होगी ?' हम से ।

इस प्रश्नोत्तरी से पता चलता है उपाध्याय अपने पूर्वकृत उपकारों का स्मरण कराके वृद्धावस्था में अपने विद्यार्थियों की सहायता चाहते थे ।

निम्नलिखित प्रश्नोत्तरी से भी बनारस के विद्यार्थी जीवन पर प्रकाश पड़ता है—

'यह कौन है ?' छात्र ।

'क्या काम करता है ?' पढ़ता है ।

'कहाँ पढ़ता है ?' यहीं ।

'क्या पढ़ता है ?' शास्त्र ।

'किससे ?' पुस्तक से ।

'कैसे पढ़ता है ?' अपने से ।

'कहाँ पढ़ता है ?' उपाध्याय से ।

'कहाँ रह कर पढ़ता है ?' घर में ।

'किसके घर में ?' उपाध्याय के । (२४।२३–३१)

यह प्रश्नोत्तरी भुजगप्रयात छंद में भी दी हुई है —

प्रश्न —सखे ब्रूहि कस्त्वं स्थिर किं च कुर्वन् लिखेत् क किमस्मेवृश केन कस्मै,
कुत कुत्र कस्येति लोकोक्तिरेषा यदेकत्र वाच्ये दशाना विवक्षा (३१।१८–२१) ।

उत्तर—अहं विप्रपुत्र पठन्नेव शास्त्रं लिखामि स्वयं पाणिनैवात्मने स्वात्
गुरो प्राप्य तिष्ठन् गृहेऽस्यैव रम्ये, प्रयोगप्रकाश जगत्स्वार्थहेतुम् (३१।२२–२५) ।

ज्ञान पडता है कि बनारस के विद्यार्थियो मे ये सवाल इतने लोग पूछते थे कि इसके लिये लोकोक्ति ही बन गयी।

विद्वानो से भी बहुधा ऐसे प्रश्न पूछे जाते थे। ऐसी प्रश्नोत्तरी भी एक श्लोक में दी गयी है —

> विद्वन् भवत कुत्र निवास ? वाराणस्या गगातीरे।
> कस्मिन् दानम्, कुत्र विवाह ? द्विजवरवशे नागरजातौ। (२४।१–२)

हे विद्वन् ? आपका निवास कहाँ है ? वाराणसी में गगा के तीर पर। किसके यहाँ आपकी शिक्षा हुई है ? आपका विवाह कहाँ हुआ है ? द्विजवर-वश में मेरी शिक्षा हुई और नागर जाति में मेरा विवाह।

उपर्युक्त श्लोक से यह पता चलता है कि काशी के विद्वान् गगा के तीर पर रहते थे तथा बारहवी शताब्दी में भी नागर ब्राह्मण गुजरात से काशी मे आ चुके थे।

हमें बारहवी सदी के काशी के विद्यार्थी की वेपभूषा का भी पता एक उदाहरण से मिलता है। उदाहरण है, 'कोए मुडें मुडे दीर्घी चूली धोती परिहे ?' (३१।२८–२९) उत्तर है —विद्यार्थी! इससे पता चलता है कि बारहवी सदी के विद्यार्थी सिर घुटाए रहते थे, लबी चुदी रखते थे और धोती पहनते थे। आज, आठ सौ बरस के बाद भी, काशी के सस्कृत विद्यार्थियो की वेपभूषा वैसी ही है।

जैसा हम ऊपर कह आए है गुरु जी केवल विद्यार्थियो को प्रेम के साथ शिक्षा ही नही देते थे, सभवत काम न करने पर गुरु जी उन्हें पीटते भी थे। एक उदाहरण में आया है—'गुरु सीसन्ह ताड' (३१।१२) अर्थात् गुरु शिष्यो को सजा देते थे। आज भी बनारस में कहावत है चमोटी लागे झमझम, विद्या आवे चमचम। पर शिष्य इसका कभी बुरा नही मानते थे। वे गुरु की पूरी इज्जत और पूजा करते थे। एक उदाहरण में कहा गया है—'यो गुरु आच मो पाप मुच' (४३।७–८) अर्थात् जो गुरु की सेवा करता है उसके पाप छूट जाते हैं।

६ गाहडवाल युग मे बनारस की धार्मिक अवस्था

अगर यह कहा जाय कि गाहडवाल युग में बनारस का आधुनिक हिंदू धर्म अपने चरम विकास को प्राप्त हो चुका था तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। तीर्थ विवेचन खड से पता चलता है कि शैव धर्म तो अविमुक्त क्षेत्र वाराणसी का मुख्य धर्म हो गया था। गाहडवाल युग में विश्वनाथ की स्थापना हुई। विश्वनाथ का सर्व प्रथम उल्लेख एक गाहडवाल लेख[1] में आता है पर काशी के प्रधान देव तो अविमुक्तेश्वर ही रहे। काशी में एक दो नहीं सैकडो की सख्या में शैव मदिर गाहडवाल युग में थे। बनारस में शैवो की प्रधानता होते हुए भी यहाँ वैष्णव धर्म का आदर था। सच बात तो यह

---

[1] जे० ए० एस० बी०, ३१, पृ० १२३

है कि इस युग के हिंदू धर्म में शैव और वैष्णव धर्म में कोई विशेष मत भेद नहीं देख पड़ता। गाहड़वालों के मत के बारे में भी हम यह नहीं कह सकते कि वे शैव थे या वैष्णव फिर भी उनका वैष्णव धर्म पर अधिक झुकाव मालूम पड़ता है। उनका वज्रयान से भी कोई विरोध नहीं था। गोविन्दचन्द्र की पत्नी कुमारदेवी वज्रयानी थी। जयचन्द्र को भी वज्रयान के प्रति श्रद्धा थी। इन सब बातों से यही पता चलता है कि गाहड़वाल युग में पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता थी और जहाँ तक राजाओं का संबंध था वे सब धर्मों को एक ही दृष्टि से देखते थे।

गाहड़वाल लेखों से यह पता चलता है कि आदिकेशव घाट पर आदिकेशव के मंदिर की बड़ी ख्याति थी। चन्द्रदेव के चन्द्रावती के एक ताम्रपत्र[1] से पता चलता है कि सन् ११०० ईस्वी में चन्द्रदेव ने वहाँ सोने चाँदी का तुलादान, हजार मुहरों के साथ किया और पाँच सौ ब्राह्मणों को सम्मिलित रूप से बत्तीस गाँव दिये। जयचन्द्र के कमौली वाले ताम्रपत्र से पता चलता है[2] कि ११६८ ईस्वी में अपने पिता विजयचन्द्र की अनुमति से आदिकेश्वर घाट पर नहा कर जयचन्द्र ने कृष्णभक्ति के सेवा की दीक्षा ली और इस अवसर पर एक गाँव प्रहराज शर्मा को दान में दिया। जयचन्द्र के दूसरे ताम्रपत्र[3] से भी पता चलता है कि वे आदिकेशव के भक्त थे।

गोविन्दचन्द्र के एक लेख से[4] गाहड़वाल युग के कुछ शैव और वैष्णव मंदिरों का भी पता चलता है। उन्होंने बनारस में गंगा नहा कर महत्तक दायिन् शर्मा को बनारस शहर में एक घर दान दिया।

इस घर की चौहद्दी बतलाते हुए निम्नलिखित मंदिरों के नाम आये हैं—अघोरेश्वर, पञ्चोंकार, लंडेश्वर और इन्द्रमाधव। इनमें पहले तीन तो शैव मंदिर हैं पर चौथा मंदिर विष्णु का है। जयचन्द्र के एक लेख से कृत्तिवासेश्वर के मंदिर का भी पता चलता है।[5] कृत्तिवासेश्वर का १७वीं सदी का मंदिर दारानगर के पास था जिसे तुड़वा कर औरंगजेब ने मस्जिद बनवा दिया।

लोलार्क—गोसल देवी[6] द्वारा लोलार्क के मंदिर के पास स्नान करके एक गाँव दान देने का उल्लेख है। लोलार्क कुंड अब भी अस्सी के पास विद्यमान है पर यहाँ अब किसी मंदिर का पता नहीं चलता। लोलार्क शायद सूर्य की प्रतिमा का नाम था।

गंगा-स्नान और गंगा के भिन्न भिन्न घाटों की महिमाओं का प्रारंभ भी गाहड़वाल युग में हो चुका था। इस युग में निम्नलिखित घाटों की विशेष महिमा थी।

---

[1] एपि० इंडि०, १४।१९७–२००

[2] एपि० इंडि०, ४।११७–१२०

[3] एपि० इंडि०, ४।१२३–१२४

[4] एपि० इंडि०, ८।१५२–५३

[5] एपि० इंडि०, ४।१२४–१२६

[6] एपि० इंडि०, ५।११६–११८

आदिकेशव घाट—इसका उल्लेख चन्द्रदेव, मदनपाल, गोविन्दचन्द्र और जयचन्द्र के लेखो में आया है। यह घाट वरना सगम के पास आज भी मौजूद है।[1]

वेदेश्वर घट्ट—यह घाट आदिकेशव घाट के पास ही में है।[2]

कपालमोचन घट्ट—१२वी सदी में कपालमोचन घाट गगा पर था।[3] लेकिन अब तो राजघाट के पास कपालमोचन नामक एक तालाब है।

कोटितीर्थ—शायद कपिलधारा को ही कोटि तीर्थ कहते थे।[4] इसके पास कोटवा गाँव में एक मदिर भी है।

त्रिलोचन घट्ट—गाय घाट के पास त्रिलोचन घाट अब भी है।[5]

स्वप्नेश्वर घट्ट—यह घाट केदार घाट के पास है।

गाहडवाल लेखो से यह भी पता चलता है कि अक्षय तृतीया बनारस का एक महान् पर्व था और चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण के अवसरो पर गाँव इत्यादि दान देने की प्रथा थी।

ब्राह्मणो को दान देना भी महान् पुण्य का कार्य समझा जाता था। उक्ति-व्यक्ति प्रकरण में महत्पर्वों के अवसर पर सद्विप्रो को, जिनके वृद्ध माता पिता हो, स्त्री और बच्चे हो, सजाति और दरिद्रो को दान देने की बात कही गयी है (२३।१–१०)। अब हमें यह देखना चाहिए कि गाहडवाल युग मे साधारण जनता की धर्म के प्रति कितनी अभिरुचि थी। उक्तिव्यक्ति प्रकरण में बहुत सी कहावतें और मुहावरे आये है जिनसे जनता की धर्म के प्रति आस्था प्रकट होती है। इन सब कहावतो और सदुक्तियो से पता चलता है कि पौराणिक हिंदू धर्म का बनारस की जनता पर पूरा प्रभाव था। ब्राह्मण पूज्य माने जाते थे। उनकी पूजा करना और उन्हें दान देना तथा गगास्नान धर्म के प्रधान अग माने जाते थे। लेकिन इन सब अधविश्वासो के अतिरिक्त, इन कहावतो से यह भी पता चलता है कि धर्म के मूलतत्त्वो के प्रति लोगो की अनुरक्ति थी। इन धर्म सबधी वाक्यो से जीवन का एक सच्चा आदर्श टपकता है जो पौराणिक गप्पो के बिलकुल विपरीत है। इनमें हम जनता का वह दर्शन कर सकते है जो मूढता से भिन्न है।

हमारे देहाती भाई आज दिन की तरह उस समय भी गगा माता को बडी आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। उनकी राय में 'गाग न्हाए धर्मु हो पाप जा' (५।२३–२४) अर्थात् गगा नहाने पुण्य होता है और पाप भागता है।

धर्म सारे कल्याण का साधन समझा जाता था। लोगो की राय में 'धर्में वाढत, पाप ओहट' (५।२४) अर्थात् धर्म के बढते ही पाप घटने लगता है। 'धर्में सब

---

[1] जे० आर० ए०एस०, १८९६, पृ० ७८७, जे० ए० एस० बी०, ५६, पृ० १०८, पक्ति १९

[2] एपि० इडि०, ४।११४

[3] एपि० इडि०, ४।११० प० १३

[4] एपि० इडि०, ८।५८–५९

[5] इडि० एटि०, १८।११ प० १२

व्यवहार पअट' (५।२५) अर्थात् धर्म ही सब व्यवहारो का स्रोत है। 'जस जस धर्मु वाढ, तस तस पापु घाट' (३३।७), जैसे जैसे धर्म बढता है पाप घटता है। ''जैमें जैमें धर्मु जाम तैंमें तैंमें पापु खाम' (३३।१२), 'जेइ जेइ धर्मु पसर, तेइ तेइ पापु ओसर', (३३।१४), 'यैहा यैहा धर्मु चट, तैंहा तैंहा पापु त्रस' (३३।१६), 'जाहा जाहा धर्मु नादं, ताहा ताहा पापु माद' (३३।१९), 'जा किहु धर्म कीज ता किहु पापु खीज' (३३।२१), 'जातौ धर्मु पाविअ, तानौ पापु सामिअ' (३३।२३), 'याकर धर्मु उसम ताकर पापु ओरूस' (३३।२५), इन सब कहावतो का एक ही तात्पर्य है कि धर्म करने से पाप भागता है।

कुछ प्राचीन कहावतो से यह भी पता चलता है कि धर्म के मूलतत्त्वो से भी लोग अवगत थे। 'सर्वहि भूत दया करु' (९।३०), 'परगई वथु डीव छाडु' दूसरे की वस्तु में लोभ न करो (९।३१), 'कोवु छाडि क्षमा भजु' (९।३१), 'ससारु अनित्यु देखउ' (१०।३), 'सर्वहि उपकारिआ होउ' (१०।४), 'ते गुणं जणि उपजति जे सर्वहि न उपकरति' (१०।९-१०), उन गुणो का उपजना ही वृथा है जो सब का उपकार न करें, 'परु जण करसि' (१०।११), 'सत्तमार्गु जणि छाटसि' (१०।११), 'जो फुट्टु बोल सो गाग न्हा' (२९।२७)- ऐसे वाक्य प्राचीन मध्यदेश की सस्कृति के अनमोल रत्न है। उनसे पता लगता है कि धार्मिक और राजनीतिक अनाचारो के बढते हुए भी जनता के हृदय की वाणी शुद्ध थी पर अभाग्यवश जनता की उस शुद्धता और पवित्रता का उस स्वार्थी युग में कोई उपयोग करने वाला नही था।

पिता के प्रति भी साधारण जन का पूर्ण विश्वास था। इस विश्वास की गूंज इस प्रश्नोत्तरी से मिलती है—'अहो पितर हो को तुम्ह तारिहु ?' 'तुहि', ''मोहितहिं के वढाविहनि ?' 'अम्हेइ'-पिता, तुम्हे कौन तारेगा, तुम, हमें कौन बढावेगा, हम, (२१।२०-२२)। लेकिन केवल मानसिक श्रद्धा से ही पितृ ऋण होने के नही थे, उन्हें तो हिंदू धर्म के अनुसार श्राद्ध और तर्पण की आवश्यकता थी। हमारे उस युग के भाई पितृ-ऋण चुकाने में इसमें भी पीछे हटने वाले नही थे। एक कहावत मे कहा गया है 'जव पूतु पाउ पखाल, तव पितरन्हु सर्गु देखाल' (३८।११) अर्थात् जहा लडके ने ब्राह्मणो का पैर धोया कि पितरो को स्वर्ग दिखने लगा। पितृ-ऋण चुकाने के लिए तर्पण की भी आवश्यकता थी इसमें भी लोग पीछे हटने वाले नही थे। 'पितर तर्प' (४२।८), 'नेइ देउ पितरु तर्प' (५१।२०), से इसका पता चलता है। लेकिन हिंदू धर्म में पितरो को सीधे स्वर्ग पहुँचाने के लिए केवल श्राद्ध तर्पण से ही काम नही चलता, इसके लिये गया श्राद्ध परमावश्यक है। गया में पिंडदान (२३।१२-१३) का भी उल्लेख है और हमें एक वाक्य से 'गअवाल तिथिआनिन्ह जुडे' (५१।२८), गयावाल पडे तीर्थ यात्रियो को जुटाते है, पता चलता है कि बारहवी शताब्दी में भी गयावाल तीर्थ यात्रियो को जोड बटोर कर पितरो को स्वर्ग का रास्ता दिखलाने के लिए गया ले जाते थे। शायद बनारस के गगापुत्र और प्रयाग के प्रयागवाल भी इस युग में पैदा हो गये हो।

जान पडता है बनारस में ब्राह्मणो की स्थापना करने में गोविन्दचन्द्र का बहुत बडा हाथ था। एक प्रश्नोत्तरी में कहा गया है, 'केइ हाए ब्राम्हण थापे ?' उत्तर है—

'गोविन्दचन्द्र देव' (२१।१७–१८)। ब्राह्मणो के प्रति हमारे जनसमाज की पूरी आस्था थी। एक उदाहरण से 'न्हाइ देउ पूजि, वम्हणन्ह दानुदेइ जेंव' (११।११–१२) पता चलता है कि पर्वो पर साधारण जन नहा कर देवपूजा कर के ब्राह्मणो को दान देकर भोजन करते थे। ब्राह्मणो को गोदान देने की प्रथा का 'ब्राह्मण गावि दे' (१४।१८–१९) जैसे उदाहरण से पता चलता है। ब्राह्मण भोजन-कराने की प्रथा भी खूब प्रचलित थी। 'पुनवन्तें करें भोज भूखें भूखें वाह्मण अघाति' (३६।३) वाली कहावत से पता चलता है कि पुण्यवानो द्वारा दिये गये भोज में भूखे ब्राह्मण अघा जाते थे। ब्राह्मण रूखे सूखे भोजन से सतुष्ट नही होने वाले थे। एक उदाहरण में कहा गया है 'वाह्मणहिं लाडु'प्रीतजण' (१४।१९) अर्थात् ब्राह्मणो को लड्डू प्रिय है। घर पर आने पर ब्राह्मणो का काफी आदर होता था। एक वाक्य में कहा गया है 'वाह्मणहिं पीढा वइसारि' (५०।२५) अर्थात् ब्राह्मणो को पीढा पर वैठाना चाहिए। आदर सत्कार पाकर, भोजन करके और दान दक्षिणा हथियाकर ब्राह्मण देवता प्रसन्न हो जाते थे और जजमान को असीसते थे—'वहु देवस जीवउ देवदत्त' (९।२६–२७), 'धन पुत्र सपुन हो' (९।२७–२८), जुग जुग जिओ देवदत्त, धन, पुत्र से सपूर्ण हो।

प्रायश्चित्त और छुआछूत का, जो हिंदूधर्म के प्रधान अग है, मध्यकालीन बनारस में काफी बडा गढ था। एक उदाहरण में कहा गया है, 'पचगवें पीए सूझ' (२।३०) अर्थात् पचगव्य (गोमूत्र, गोवर, दूध, दही और घृत) पीने से शुद्धि हो जाती है। आज दिन भी प्रायश्चित्त करने का यह साधारण तरीका है।

जन साधारण मे मत्रतत्र और भूतो पर भी विश्वास था। एक उदाहरण 'समाण वेताल कोड' (३४।२१)-श्मशान में वेताल क्रीडा करता है, से पता चलता है कि श्मशान में वेतालो के रहने का लोगो को विश्वास था। एक दूसरे उदाहरण 'मत्रें खील' (४५।३०) से ज्ञात होता है कि लोगो का मत्र की कीलन शक्ति पर भरोसा था। मत्र से शायद मृतको के जी उठने पर भी लोगो का विश्वास था (४६।२६)।

७ धार्मिक अनाचार

मध्य युग में वाराणसी मुसलमानो के प्रतिरोध का केन्द्र भले ही वन गया हो पर इसमें भी सन्देह नही कि हिन्दू धर्म और समाज की कमजोरियो का वह अड्डा भी वन गया था। क्षेमेन्द्र ने हिन्दू धर्म और समाज की जिन वुराइयो की निन्दा की है उन्ही वुराइयो का कृष्ण मिश्र ने प्रवोधचन्द्रोदय[1] मे खुल कर विरोध किया है। प्रवोधचन्द्रोदय और क्षेमेन्द्र रचित ग्रन्थो का तुलनात्मक अध्ययन करने से दो वातो का पता चलता है। पहिली वात तो यह है दोनो ने ही धार्मिक दुराचारो का भडाफोड करते हुए उनसे सावधान रहने को कहा है। दूसरी वात यह है कि कृष्ण मिश्र ने उन दुराचारो से वचने का एक मात्र उपाय विष्णु भक्ति माना है। क्षेमेन्द्र द्वारा, जो जन्मना शैव थे, वैष्णव धर्म स्वीकार किया जाना भी ग्यारहवी सदी में वैष्णव धर्म की श्रेष्ठता की ओर सकेत करता है।

---

[1] कृष्ण मिश्र, प्रवोधचन्द्रोदय, सावशिव शास्त्री द्वारा सपादित, त्रिवेन्द्रम् १९३६

प्रबोध-चन्द्रोदय की चरित्र-भूमि वाराणसी है। दूसरे अंक में महामोह ने दम्भ को सूचना दी कि तीर्थों में लोगों को सुधारने के लिए विवेक ने शमदम इत्यादि भेजा था। उनके इस प्रचार को रोकने के लिए दम्भ को मुक्ति क्षेत्र वाराणसी जाना आवश्यक था। वहाँ पहुँच कर दम्भ ने चतुराश्रमों के कर्तव्यों में गड़बड़ी मचा दी। वहाँ दिवासुन, सर्वज्ञ, दीक्षित, अग्निहोत्री, ब्रह्मज्ञ और तापस होने के बहाने से वेश्याओं के घरों में उनके आसव व गन्ध से भरे मुखों का तथा चाँदनी भरी रात में कामोत्सव का मजा उठा कर लोगों को ठगते थे। दम्भ ने वहाँ अभिमान से जलते हुए बाज़ार में भर्त्सना मानो करते हुए, अपनी प्रज्ञा से मानो हँसी उड़ाते हुए एक जन को देखा। उसे देखते ही दम्भ ने अनुमान किया कि दक्षिण राढ़ से आया हुआ वह अहंकार था। यहाँ बंगाल के पण्डितों पर स्पष्ट रूप से छींटाकशी है। उसने आते ही ललकारा—"न तो लोगों ने प्रभाकर पढ़ा न कौमारिल दर्शन का अभ्यास किया न तो प्रभाकर के शिष्य शालिक के तत्वज्ञान की चर्चा ही की, वाचस्पति की तो बात ही क्या। महोदधि के सूक्त ज्ञान से उन्हें मतलब नहीं, न उन्हें महाव्रत से ही सरोकार है। ऐसे नर-पशुओं के आधार पर सूक्ष्म विचार धारणा कैसे चली रह सकती है।" अहंकार ऐसे लोगों को वेद विदूषक कहता है—वे भिक्षा मात्र के लिए सिर मुँड़ाते हैं तथा पण्डिताई के अभिमान से वेदान्त छाँटते हैं। उनकी बात सुनने में भी पाप है। बिना न्याय ज्ञान के पाशुपत पूरे पशु हैं, उन्हें देखने में भी पाप है। ये त्रिदण्ड पर ही जीवित द्वैत और अद्वैत मार्ग से परिभ्रष्ट हैं। गंगा तीर शीतल शिला पर गद्दी पर बैठे कुशमण्डित महा दण्डकमण्डलु वाले, मालाओं से मनके गिनने वाले ये बेचारे धनियों को लूटते हैं (प्र० च० २।५)।

अहंकार द्वारा आश्रम दर्शन में क्षेमेन्द्र द्वारा कला-विलास में वर्णित दम्भ के रूप का खासा दर्शन हो जाता है। आश्रम के द्वार पर बाँसों पर कपड़े सूख रहे थे, कृष्णाजिन बिछे हुए थे, ओखली में समिधा कूटी जा रही थी तथा यज्ञधूम से आकाश भरा था। वहाँ अग्निहोत्री का दर्शन होता है। गंगा की मिट्टी के तिलक उसके ललाट, भुज, उदर, कण्ठ, ओष्ठ, चिबुक और जानु पर लगे थे तथा चूड़ाग्र, कान, कटि और हाथ में दर्भांकुर था (प्र० च० २।६)। अहंकार के अभ्यर्थना करने पर उसने केवल एक हुंकार भरी साथ ही साथ एक आश्रम बटु ने उसके पैर धोकर आश्रम में घुसने को कहा। इस पर अहंकार ने नाराज होकर कहा—"क्या मैं तुरुष्क देश में हूँ जहाँ गृहस्थ अतिथियों का आसन-पाद्य इत्यादि से स्वागत नहीं करते?" दम्भ ने यह सुनकर बटु को इशारा किया और वह बोल उठा—"आचार्यपाद कहते हैं कि दूर देश से आये हो, कुल-शील का हमें पता नहीं।" अहंकार ने जवाब दिया—"वाह क्या हमारे कुल-शीलादि की परीक्षा चाहिए। सुन, गौड़ राष्ट्र में निरुपम राढापुरी है वहीं भूरिश्रेष्ठि नायक मेरे पिता रहते हैं। उनके महाकुलीन पुत्रों को सब जानते हैं पर अपनी प्रज्ञा, शील, विवेक, धैर्य और विनयाचार से मैं उनमें सबसे उत्तम हूँ" (प्र० च० २।७)। दम्भ ने फिर बटु की ओर देखा और उसने ताँबे के घड़े से अहंकार को पैर धुलाने का आग्रह किया और उसे वैसा ही करना पड़ा। फिर दाँत भींच कर दम्भ ने बटु की ओर देखा और उसने अहंकार को इसलिए दूर खड़े रहने को कहा क्योंकि उसके पसीने की बूँदें हवा के झोंकों से फैल रही थीं। अहंकार ने

आनाकानी की पर वटु ने फटकार बतलायी और अहकार समझ गया कि दम्भ के सामने उसकी चलने की नही थी। जब उसने आसन पर बैठने की इच्छा प्रकट की तो वटु ने यह कहकर उसे रोक दिया कि पूजनीय दम्भ के सामने दूसरा कोई बैठने का अधिकारी नही था। इस पर अहकार अपने कुलीन राढ होने की बात कहकर गरज उठा। यह देखकर दम्भ ने अपना मौन तोडते हुए कहा—"यह ठीक है, पर आपको मेरी बात का पता नही। एक दिन मै ब्रह्मा के यहाँ पहुँचा। सभा में सारे ऋषि अपने आसन छोडकर खडे हो गये। ब्रह्मा ने तब मेरी खुशामद करके अपनी गोद को गोवर से लीप पोत कर मुझे उसमें बैठाया" (प्र० च० १।१०)। कला-विलास के प्रथम सर्ग में दम्भ द्वारा ब्रह्मा को भी पवित्रता का ढोग दिखलाने की कथा कुछ ऐसी ही है। यह सुन कर अहकार ने कहा—"अरे, इन्द्र और ब्रह्मा की बात मत कर, उनकी चाल सब जानते है। मेरे तपो-बल से सैकडो इन्द्र हाजिर हो सकते है और सैकडो ब्रह्मा और मुनि भस्म हो सकते है।" अब एक ने दूसरे को पहचाना। अहकार के यह पूछने पर कि मोह द्वारा वाराणसी घेरने का क्या कारण था दम्भ ने कहा—"विद्या और प्रबोध की जन्म-भूमि ब्रह्मपुरी वाराणसी उसके कुल का नाश कर देना चाहती है, उसी की रोक-थाम के लिए वह उसे लूट-पाट कर खतम कर देना चाहता है" (प्र० च० २।१२)।

इसके बाद महामोह का प्रवेश होता है और वह आते ही लोगो की बेवकूफी पर हँसता है। देह मे अतिरिक्त आत्मा की स्थिति, मृत्यु के बाद कर्मभोग, जो नही है उसकी कल्पना, नास्तिको की हँसी, इत्यादि सब बाते उसमें आ जाती है। इसके बाद वह लोकायत धर्म की तारीफ करता है जिसमें प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अर्थ और काम ही पुरुषार्थ है, परलोक नही है, इत्यादि। इतने में चार्वाक का एक शिष्य के साथ प्रवेश होता है और वह वेद, स्वर्ग, यज्ञ और श्राद्ध का खडन करता है। शिष्य के यह पूछने पर कि अगर खाने-पीने में ही पुरुषार्थ है तो तीर्थिक क्यो ससार सुखो को त्याग कर मासोपवास, एक सप्ताह का उपवास, तीन दिन के उपवास, तथा उपवास के बाद रात्रिभोजन से अपने शरीर को कष्ट देते है चार्वाक ने कहा कि यह धूर्तो द्वारा प्रणीत आगमो का फल था। शिष्य के यह पूछने पर कि तीर्थिक दु ख मिश्रित सासारिक सुखो को क्यो त्याज्य मानते है, चार्वाक ने उत्तर दिया कि विषय सुख जन्मजात होता है उसे दु ख मिश्रित मानकर छोडना मूर्खता है। इसके बाद चार्वाक ने कहा कि विष्णु-भक्ति नाम की महायोगिनी ने काली द्वारा रोक ली जाने पर भी उनके काम मे अडचन डाल दी थी। महामोह ने फौरन काम, क्रोध, लोभ, मद, मात्सर्य इत्यादि को विष्णु-भक्ति से मोर्चा लेने की आज्ञा दी। यह समाचार पाकर कि शाति धर्म को फुसला रही थी महामोह ने उसे और उसके साथियो को रोकने के लिए काम की सहायता चाही।

प्रबोध-चन्द्रोदय के तीसरे अक मे अनेक ऐसे पात्र आये है जिनका उल्लेख क्षेमेन्द्र ने भी किया है। अपनी माता श्रद्धा से विलग शाति को सात्वना देती हुई करुणा को एक दिगम्बर भिक्षु दीख पडा। उसका शरीर मल-पूर्ण था, केश लुचित थे तथा मोरपख की पिच्छिका उसके हाथ में थी। दिगम्बर-सिद्धान्त आकाश-भाषित से अपने मध्य-कालीन विकृत-सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है—"श्रावको, सारे जल से भी मलमय पुद्गल पिण्ड

कैसे शुद्ध हो सकता है। विमल स्वभाव आत्मा को जानने का साधन केवल ऋषि परिचरण है। भिक्षु को देखते ही उसे नमस्कार करके सत्कार करना चाहिए और मीठा भोजन कराना चाहिए। ऋषियों द्वारा स्त्रीगमन देखकर भी ईर्ष्या न करना चाहिए", (प्र० च० ३।५-६)। अपने अनुरूप श्रद्धा का आवाहन करके उसने हिदायत की—देख, श्रावकों को एक क्षण भी मत छोड़ना।

शांति और करुणा सौगतालय मे श्रद्धा की खोज में गयी। वहाँ पुस्तक हाथ में लिए भिक्षुक रूप बौद्धागम का प्रवेश होता है और वह विज्ञानवाद की मोटी-मोटी बातें यथा सर्व क्षणिक, सर्व दुःख, सर्व स्वलक्षण, और सर्व शून्य की बात कहता है [प्र० च० ३।८] तथा बौद्ध धर्म को सुख और मोक्ष का कारण मानता है। मनोहर लेणों में आवास, अभिप्राय के अनुकूल बनियों की स्त्रियाँ, ठीक समय पर बढ़िया भोजन, गद्दीदार पत्थर की सेज, श्रद्धा पूर्वक उपासिका युवतियों द्वारा अगदान तथा चाँदनी रात मे मौज, ये बातें बौद्ध भिक्षुओं को उपलब्ध हैं (प्र० च० ३।९)। बौद्ध भिक्षु ने पुस्तक पढ़ते हुए उपासकों को उपदेश दिया—"उपासको और भिक्षुओ, बुद्ध का वाक्यामृत सुनो। मैं दिव्यचक्षु से मनुष्यों की सुगति दुर्गति देखता हूँ, सब संस्कार क्षणिक हैं। आत्मा का अस्तित्व नहीं है इसलिए स्त्रियों से सम्बन्ध रखने वाले भिक्षुओं से ईर्ष्या नही करना चाहिए, ईर्ष्या चित्त का मल है।" उसके आवाहन पर तामसी श्रद्धा उपस्थित हो गयी तथा भिक्षुओं और उपासकों को भेंटा। इसके बाद बौद्ध भिक्षु तथा दिगम्बर में बहस छिड़ गयी। जिससे तत्कालीन शास्त्रार्थ पर प्रकाश पड़ता है। दिगम्बर ने पूछा—"क्षणिकवादी होने पर भी तू व्रत क्यों करता है।" उत्तर मिलने पर कि मोक्ष के लिए दिगम्बर ने कहा—"अरे निर्लज्ज, मोक्ष तो किसी मन्वन्तर में मिलेगा फिर इस क्षण के नष्ट होने में क्या फायदा। तुझे इस धर्म का किसने उपदेश दिया?" उत्तर मिलने पर कि बुद्ध ने, दिगम्बर बोल उठा—"अगर केवल आश्रम प्रमाण से ही बुद्ध सर्वज्ञ हैं तो मैं भी सब जानता हूँ। तेरे सात पुरखे मेरे दास थे।" भिक्षु के नाराज होने पर उसने कहा—"मैंने तो दृष्टान्त कहा। अब तू बुद्धानुशासन छोड़कर दिगम्बर बन जा।"

बौद्ध भिक्षु और दिगम्बर के इस बहस मुबाहिसे के बीच वहाँ श्मशानवासी नरास्थि की माला पहने, नर कपाल में भोजन करने वाला तथा योगाञ्जन से सब कुछ देखने वाला (प्र० च० ३।१२) कापालिक आ उपस्थित हुआ। दिगम्बर के यह पूछने पर कि मोक्ष का साधन क्या है, उसने कहा—"नर मांस से होम, ब्रह्म कपाल से सुरापान तथा गले की नस काट कर बहते हुए रक्त से महाभैरव की पूजा" (प्र० च० ३।१३)। यह सुनकर भिक्षु और दिगम्बर घबराये। दिगम्बर के यह कहने पर कि कापालिक धर्म पाप था कापालिक ने क्रोध से जलते हुए कहा—"मैं बड़े-बड़े देवताओं को बुला सकता हूँ।" उसकी शेखी को दिगम्बर द्वारा इन्द्रजाल कहे जाने पर कापालिक ने तलवार खींच ली। बेचारा दिगम्बर अहिंसा की दुहाई देने लगा और भिक्षु ने भी उसे मजाक की बात कह कर टाला। कापालिक का क्रोध शान्त होने पर दिगम्बर ने उससे मोक्ष की कल्पना के बारे में पूछा। जवाब मिला—"बिना विषय भोग के सुख नहीं, जीवन की स्थिति ही मुक्ति है।" बात बढ़ती देख कापालिक ने नरास्थि मंडित श्रद्धा का आवाहन किया तथा उसके

आलिंगन से बौद्ध भिक्षु और दिगम्बर सोम सिद्धान्त और महाभैरव के अनुयायी बन गये। इसके बाद श्रद्धा ने सुरा पात्र कापालिक को दिया और उसने जूठी शराब दिगम्बर और भिक्षु को दे दी। पहले वे दोनो शकित हुए, इस पर कापालिक ने जूठी शराब कपालवनिता को पिलाकर और यह कहकर कि स्त्री मुख तु सदा शुचि वही शराब उन दोनो को पिला दी। वे सुख की महिमा गाने लगे तथा कापालिक और कापालिनी को नाचते देख नाचने लगे। दिगम्बर कापालिक को कापालिक, आचार्यराज, कुशाचार्य कह कर सबोधन करने लगा। बाद में सब हाल चाल सुनकर कापालिक ने धर्म और श्रद्धा को पकडने के लिए महाभैरवी का आवाहन किया।

चौथे और पाँचवें अको में विष्णुभक्ति और उसके साथियो द्वारा महामोह की सेना के परास्त होने का वर्णन आता है। बौद्ध सिंधु, गधार, पारसीक, मगध, अग, वग, कलिंग में भागे तथा पाषड, दिगम्बर और कापालिक पचाल, मालव, आभीर, आनर्त और सागरानूप जैसे असस्कृत प्रदेशो में घुस गये।

कृष्ण मिश्र ने ग्यारहवी सदी के मध्य में उत्तर भारत की जैसी अवस्था देखी थी वैसी ही उन्होने वाराणसी को केन्द्र विंदु मान कर उसका वर्णन कर दिया। क्षेमेन्द्र काशी गये थे अथवा नही इसपर तो प्रकाश नही पडता पर कला-विकास की कथा का क्षेत्र उन्होने वाराणसी के पडोसी पाटलिपुत्र को माना है। जिन ठगहारियो, पाखण्डो और धार्मिक आचारो का वर्णन उन्होने कला-विलास में किया है उनसे प्रवोध चन्द्रोदय में वर्णित धार्मिक अवस्था का इतना मेल खाता है कि यह मानने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए कि क्षेमेन्द्र को उत्तर भारत की धार्मिक और सामाजिक गतिविधियो का पूरा ज्ञान था। इतना ही नही देश और विदेश के लोगो के चारित्रिक अवगुणो से भी वे परिचित थे। कला-विलास में एक ऐसा ही प्रकरण आया है। दम्भ की हँसी उडाते हुए कहा गया है कि ब्रह्मा का मानस पुत्र दम्भ स्वर्ग से मृत्युलोक में आकर चारो ओर विचरने लगा और अन्त में उसने गौड में अपनी विजय पताका फहरा दी। वाह्लीको के वचन में, प्राच्य और दाक्षिणात्यो के व्रत नियम में, कीर (कांगडा) के अधिकार में तथा गौडो की सब बातो में वह घुस गया (कला-विलास १।८६-८७)। वाराणसी के वारे में सीधे दो उल्लेख हैं। एक बूढी वेश्या कहती है—"मैं तो वाराणसी चली जाती पर उसमें एक बडी तकलीफ है कि वहाँ बिना प्याज के मैं जीऊँगी कैसे।" (देशोपदेश, ३।४५)। एक जगह मृत कायस्थ शिव से कहता है—"स्नान तथा जप में निरत तीर्थ में हवन करते हुए सब शास्त्रो का अध्ययन करके भागीरथी में अपना शरीर छोडकर मैं आपके पद को प्राप्त हो गया।" इस श्लोक मे काशी में शास्त्रो के अध्ययन व्रत इत्यादि तथा अन्त में भागीरथी में डूबकर प्राण देने की प्रथा का उल्लेख है (कला-विलास, ५।४०)। एक जगह उन धूर्तों का उल्लेख है जो पितरो के तारने के बहाने लोगो से पैसे वसूल कर केवल घूमने-फिरने के लिए काशी और गया की यात्रा करते थे (कला-विलास, ९।६६)।

८ गाहडवाल युग मे बनारस मे बौद्ध धर्म

गाहडवाल युग में, जैसा सारनाथ मे मिली बौद्ध प्रतिमाओ से पता चलता है, वज्रयान अतिम सीढी पर पहुँच चुका था और सच कहा जाय तो बुद्ध के उस धर्म से,

जिसका उन्होने मृगदाव में प्रचार किया था, वज्रयान के बौद्ध धर्म से कुछ सबध ही नहीं रह गया था। मद्य, मास, हठयोग और स्त्री इन चारो को ही वज्रयान ने मुख्य माना तथा निरर्थक मत्रो से ही लोगो को इस पथ ने भुलावे में डालने का प्रयत्न किया। इस वज्रयान में हजारो देवी-देवता सम्मिलित हुए, जो बहुधा बहुत ही वीभत्स और भीषण आकारवाले होते थे। इस सब के होते हुए भी उस युग की धार्मिक स्वतत्रता के अनुसार वज्रयानियो को भी गाहडवालो की ओर से सहायता मिली। गोविन्दचद्र की पत्नी कुमारदेवी वज्रयानी थी और उनके सारनाथ के लेख[१] से पता चलता है कि उन्होने सारनाथ में बौद्ध धर्म अथवा वज्रयान की कितनी सहायता की। लेख के २१ से २३वें श्लोको में कहा गया है कि जबुकीपत्तला वालो ने, जिसमें सारनाथ स्थित था, प्रार्थना की कि धर्माशोक द्वारा स्थापित धर्मचक्र जिन के फिर से बनवाने अथवा मरम्मत कराने की आवश्यकता थी। कुमारदेवी ने, जो बनारस के लिये नयी थी, उनकी प्रार्थना मान ली और बुद्ध से जबुकी वालो का सबध होने से उसे सब पत्तलिकाओ के आगे स्थान दिया। साथ ही साथ कुमारदेवी ने या तो जिन की मरम्मत करवायी अथवा एक नये जिन की स्थापना करके उसे वसुधारा के विहार में अथवा एक नये विहार में स्थान दिया।

सारनाथ में मिली एक मुद्रा से भी यह पता चलता है कि धर्मेक्षा स्तूप को, जिसको इस मुद्रा में धमाक कहा गया है, लोग बडी आदर की दृष्टि से देखते थे और इसकी पूजा करते थे।[२] बारहवी सदी में मित्रयोगी अथवा जगन्मित्रानन्द एक बहुत बडे वज्रयानी योगी हो गये हैं। इनके ग्रथो में 'चन्द्रराज लेख' मिलता है जिससे पता चलता है कि वह किसी राजा के लिये लिखा गया है और यह अनुमान है कि वह बारहवी सदी के अत में उत्तर प्रदेश अथवा विहार का कोई राजा रहा होगा। इस अनुमान की पुष्टि बोध गया के एक शिलालेख[३] से भी होती है जिसमें श्री मित्र को परमावधूत कहा गया है और यह भी बतलाया गया है कि वे काशीश्वर जयच्चन्द्र देव के दीक्षा-गुरु थे। वे अपने समय के बौद्ध-धर्म के कर्णाधार भी थे।[४] उपर्युक्त लेख से यह पता चलता है जयचन्द्र की वज्रयान के प्रति भी रुचि थी। पर हम ऊपर कह आये हैं कि जयचन्द्र अपने पिता की आज्ञा से आदिकेशव घाट पर स्नान करके भागवतधर्म में दीक्षित हुए थे, फिर उनका वज्रयान में दीक्षित होना कहाँ तक ठीक माना जा सकता है। पर मध्यकालीन हिन्दू और बौद्ध धर्मों में विशेष अतर नही था और हिन्दू नृपति बौद्ध धर्म को भी उतनी ही श्रद्धा से देखते थे, जितना अपने धर्म को। यह भी सभव है कि शासनाविरूद्ध होने पर जयचन्द्र ने मित्र योगी के ससर्ग में आकर वज्रयान की भी दीक्षा ग्रहण कर ली हो। जो भी हो यह तो निर्विवाद है कि गाहडवाल युग में बनारस में, विशेषकर सारनाथ में, वज्रयान का प्रचार था। कुमारदेवी के विहार में एक सुरग होना इस बात को साबित

---

[१] एपि० इडि०, ९।३१९–३२८

[२] दि जर्नल ऑव दि यू० पी० हिस्टो० सो०, भाग ११, २ दिसबर १९३८, पृ० २५–२६

[३] इडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, १९२९, पृ० १४–३०

[४] राहुल साकृत्यायन, पुरातत्त्व निबधावली, पृ० १५८–५९

करता है कि उस काल में विहारो में दुराचार काफी बढ गया था। श्री राखालदास बैनर्जी का तो अनुमान था कि इस मार्ग से गुप्त रूप से स्त्रियाँ विहार में दाखिल होती थी।

उक्तिव्यक्ति प्रकरण के उदाहरणो से बनारस या पूर्वी उत्तर प्रदेश में वज्रयान धर्म के बारे में बहुत कम पता चलता है और इसका स्पष्ट कारण यह है कि यह ग्रथ एक ब्राह्मण की कृति है। फिर भी एक उदाहरण, 'टीप उचाव', (४९।२५) स्तूप ऊँचा करने से पता चलता है कि इस युग तक बौद्ध स्तूप बनारस और उसके आस पास बनते रहे होगे।

हमें सारनाथ, बनारस और उसके आसपास मिली मध्यकालीन जैन मूर्तियो से भी पता चलता है कि गाहडवाल युग में बनारस में दिगबर जैनो का भी काफी प्रभाव था, पर इनके इतिहास के बारे में कुछ पता नही चलता। उक्तिव्यक्ति प्रकरण के 'नगायरि सूरेहि उतेज' उदाहरण (४०।१०) से पता चलता है कि नग्नाचार्य दिगबर साधु पूर्वी उत्तर प्रदेश में होते थे।

९ गाहडवाल युग में बनारस की सामाजिक अवस्था

गाहडवाल युग के लेखो से बनारस की तत्कालीन सामाजिक अवस्था और जीवन पर बहुत कम प्रकाश पडता है। भाग्यवश उक्तिव्यक्ति प्रकरण में कुछ ऐसे वाक्यो और कहावतो का सग्रह है जिससे बनारस के तात्कालिक जीवन पर प्रकाश पडता है, और हमें पता चलता है कि बनारस के आजकल के जीवन से बारहवी सदी के जीवन में कोई विशेष अतर नही था।

गाहडवाल युग में लोग शहरो में तो शायद अच्छे पक्के मकानो में रहते थे पर ग्रामीणो को तो कच्चे घरो ही का भरोसा था और उसे ठीक ठाक रखने में उन्हें काफी परिश्रम भी करना पडता था। एक उदाहरण 'वर्षाकाल भीतिं विसम' (३६।११) से पता चलता है कि बरसात में घरो की भीतो के गिरने का भय रहता था। एक दूसरे उदाहरण 'पुराण लेउ उकिल' (३७।१३) से पता चलता है कि पुराना पलस्तर गिर जाता था। इसे गृहस्थ को बराबर ठीक करते रहना पडता था। आज दिन भी बरसात के पहले घर छाना आवश्यक समझा जाता है। बारहवी सदी के भी गृहस्थ, जैसा दो उदाहरणो 'कुडुम्बि घरू छाअ' (३९।६) और 'घर छाअ' (४२।९) से पता चलता है, अपने घर छाते थे। अपने सादे घरो में सुन्दरता लाने के लिये वे द्वारो को सजाते थे, 'दुआर माड' (४०।२२), चौक पूरते थे, 'चौकु पूर' (४१।४) और उसकी दीवारो पर चित्र लिखते थे 'चित्रु रच' (४१।१३)।

घर गृहस्थी का सब काम खुद ही करना पडता था। इन नित्य के कामो में कुछ पर हमारा ध्यान उक्तिव्यक्ति प्रकरण ने दिलाया है। जैसे सूप से अन्न पछोरना 'सूपे पच्छोड' (३४।२०), खटिया बिछाना 'खाट डास' (४९।२७) इत्यादि। घर का सबसे मुख्य काम तो रसोई बनाना था। खुशहाल घरो में रसोइये इस काम को सभालते थे, साधारण घरो में घर की स्त्रियाँ खाना बनाती थी, और छुआछूत के झगडे के कारण विद्यार्थी और पडित भी खाना बनाना जानते थे।

'काठहू स्थालि ओदन सुआर पच' (१३।२१) से पता चलता है कि रसोइये को भात बनाते समय ईंधन और बटलोही की आवश्यकता पडती थी। एक प्रश्नोत्तरी में (२१।१६–१३,२२।१) उस युग के रसोइये का और उसके द्वारा बनाए गये खानो का अच्छा वर्णन है—'अहो काह ए सुआरे बेंटलि किए राव', अहो, सिर पर कपडा बाँधे रसोइया क्या खाना बना रहा है ? 'पुप' पूआ। फिर एक स्त्री को खाना बनाते देखकर प्रश्नकर्ता पूछता है, 'ए जोइ काह इहा राव ?', यह युवती यहा क्या भोजन बना रही है ? व्यजन। अब प्रश्नकर्ता की निगाह रसोई घर के कहार पर जाती है—'ए कहार कहा सपाडति' यह कहार क्या काम कर रहा है ? 'इवण पाणि'–वह ईंधन पानी का जोगाड कर रहा है। अब प्रश्नकर्ता का ध्यान भोजन करने वालो पर जाता है, 'काह जेंवित आच्छ ?' लोग क्या खा रहे है ? 'घिए साकरे. मेउ सातु ? कृस(श)रा वा, पायस वा,' घी शक्कर के साथ सत्तू, खिचडी अथवा खीर।

उक्तिव्यक्ति प्रकरण में भोजन बनाने के इतने उल्लेख आये है कि जिनसे पता चलता है कि लोगो का पाकशास्त्र पर पूरा ध्यान था। पर साथ ही साथ छुआछूत का बखेडा और ब्राह्मण भोजनो की अधिकता भी थी। एक उदाहरण में कहा गया है—'को ए राव ? यहाँ खाना किस लिए बना रहा है ? केइ ताहा जेंउब ?' यहाँ कौन जेंवेगा ? झट उत्तर मिलता है 'ब्राह्मण' (२१।४–७)।

तत्कालीन रसोई घर का सुदर वर्णन निम्नलिखित श्लोक में दिया गया है।

सूपकर्ता स्थित पीठे चुल्ल्या स्थाल्या महानसे
ज्वलद् वह्नौ तप्ततोये मध्याह्ने तण्डुलान् पचेत् (२४।३–४)

रसोइया रसोईघर में पीढे पर बैठकर चूल्हे में आग जलाकर तमली में गरम पानी करके दोपहर में भात बना रहा है।

आज की तरह उस समय भी लोगो का प्रधान खाद्य चावल था। पूडी पर भी लोगो की विशेष रुचि थी। एक उदाहरण में 'पोली पाच' (१६।६) अर्थात् पूडी बनाने की बात कही गयी है। एक दूसरे उदाहरण, 'पोलि उलट पलट' (४३।१९) मे पता चलता है कि कढाई में उलट पलट कर पूडी उतारी जाती थी। सतुआ भी लोगो का प्रिय खाद्य था। लोग घी शक्कर मिला कर उसे खाते थे। आज की तरह बारहवी सदी में भी लोग सतुआ सान कर उसका पिंड बना लेते थे (४०।३)। एक कहावत 'सातु सान त पुणि सान' (४५।१५) से पता चलता है कि अगर सत्तू एक बार ठीक से न सने तो उसे पुन सान लेते थे। लोग खिचडी और खीर भी विशेष रूप से पसद करते थे। चना चबैना भी लोगो का प्रिय खाद्य था। एक उदाहरण 'धहुरी भून' (४७।२५) से पता चलता है कि चबैना पर लोग गुजर कर सकते थे। पर लोगो को मिठाइयाँ प्रिय थी। एक उदाहरण 'मीठ जेंवण माग' (४२।२७) से पता चलता है कि खाने में अगर मिठाइयाँ मिल जाती थी तो फिर क्या कहना था। खूब डट कर भोजन करने के बाद, जैसा एक उदाहरण 'अनाजु जेंव, पाणि अचम' (४५।१७) में कहा गया है, लोग पानी कम पीते थे शायद इसलिये कि पानी पीने से पेट में कहीं अन्न के लिये जगह ही न रह जाय।

उक्तिव्यक्ति प्रकरण से यह पता चलता है कि बनारस के लोग केवल साग-पात ही पर गुजर नही करते थे मास का भी उन्हें शौक था। दो उदाहरणो में मास पकाने की विधि पर प्रकाश पडता है। 'जालें लागें पाली ढाका हाडी मासु चुड' (३८।५) अर्थात् 'आग लगने पर ढक्कन से हाडी ढांक देने पर मास चुरता है। 'चूकें मासु चुडाव' (३९।१) से पता लगता है कि चूक देकर मास पकाने की कोई विधि थी। 'भात मास लोण घिउ एतवर्तें केवलें भखागि गलगलाव' (४६।१५) अर्थात् भात, मास, नमक और घी इनके निवालो से भूख एक दम उद्दीप्त हो उठती है। सीख कवाब का भी लोगो को शौक था। एक उदाहरण 'सलाई मासु गुह' (४९।२०) से पता चलता है कि सलाई में मास के टुकडे गूथ कर सीख कवाब बनता था।

बनारस अथवा पूर्वी उत्तर प्रदेश के उपर्युक्त भोजन पदार्थों से यह न समझ लेना चाहिये कि बारहवी सदी में उनका भोजन बहुत सादा था। व्यजनो का अनेक बार उक्तिव्यक्ति प्रकरण में उल्लेख हुआ है। पर उन पकवानो और मिठाइयो के अभाग्य-वश नाम नहीं दिये गये है। लोग रोज का भोजन भी अदल-बदल कर के करते थे। एक कहावत 'एकै वथु नित खाजत उबिजा' (३७।३०) से पता चलता है कि एक ही चीज रोज खाने से तबीयत ऊब जाती है।

उक्तिव्यक्ति प्रकरण में आये हुए मुहावरो और कहावतो से तत्कालीन कृषि जीवन पर भी थोडा बहुत प्रकाश पडता है। खेत की जुताई (४६।१५) तथा फसल होने पर उसकी रखाई(४५।३०)आज की तरह बारहवी सदी में भी होती थी। 'हालि खेतु पाँस' (३९।१६) से पता लगता है कि हलवाहे खेत पाँसते थे। 'खेत हसिए ब्रीहिं लवित कमारें' (१३।२२) से पता चलता है कि मजदूर धान के खेत की हँसियो से लवनी करते थे। बैलो को दागने 'बलदहिं कट्टु आक' (४७।२२) की भी बात आती है। जैसा 'राड बलद जोड' (४०।६) से पता चलता है बैलो के रद्दे जोते जाते थे।

उस समय के किसान पानी के लिए कुएँ ओगारते थे—'कूउ गाल,' (४६।१४) और और पोखरियाँ खोदते थे (४९।२२)। इतनी कडी मिहनत और सुकाल होने पर खूब अन्न पैदा होता था 'सुकाल अन्नु निफज' (३५।२९)।

गाय पालने का लोगो को शौक था। आज कल की तरह बारहवी सदी में भी पूर्वी उत्तर प्रदेश में दूध दुहने और गाय पालने का काम ग्वाले बडी कुशलता पूर्वक करते थे (५।१४, १३।२७)। अहीर गायो को बागें भी लगाते थे, 'अहिर गोरू बाग मेलव' (३८।२०)। वे गायो को पेन्हाते थे—'गावि पन्हा' (५०।११)। गायें आज कल की तरह खेत भी चर जाती थी (४५।२२) और तब सब गौ सेवा को ताख पर रख कर लोग उन्हें दडे से हांकने में जरा भी आनाकानी नही करते थे (१६।२२)।

इस युग में नौकर रखने की प्रथा थी पर उनके साथ काफी कडाई का व्यवहार किया जाता था। उक्तिव्यक्ति प्रकरण (२२।३–७) की निम्नलिखित प्रश्नोत्तरी से स्वामी सेवक के सम्बन्ध पर कुछ प्रकाश पडता है 'पहरे को इहा धरि हृति राउल ?' तोहिं पहले यहां किसको राउल पकडेंगे, तुझको। 'राउल को धरब,—तुही', आपका पैर

कौन पकडेगा—तू। 'विआलि को हउ मागिहउ,' व्यालू मुझसे कौन माँगेगा—मैं। 'को मैं भोजन मागव", मैं किससे भोजन मागूँगा—मुझसे। उपर्युक्त प्रश्नोत्तरी से पता चलता है कि सेवक का कर्तव्य हर प्रकार से स्वामी की सेवा करना था और उसे इसके फलस्वरूप भोजन मिलता था। इतना सब करने पर भी 'गीव धरि पेल' (४६।७) से पता चलता है कि उन्हें अक्सर गरदनियाँ खानी पडती थी, और ताड (४८।७) सूत्र के अनुसार सेवक को दण्ड देना स्वामी का कर्तव्य माना जाता था।

दासियाँ घर का काम करती थी। इनमें मुख्य काम पानी भरना (४९।३१), बरतन माँजना (५०।१५) और बढनी से झार बटोर कर कूडा फेंकना—'वाढणि वाढ कतवार फेड' (३९।३१) इतना सब काम करने पर भी जब मालकिन नाराज होती थी तो 'चेडी झोंटे धरि काढ, (४४।२३) के अनुसार बेचारी की चोटी पकड कर निकाल बाहर करती थी।

लोग पुत्र जन्म के बडे इच्छुक होते थे। 'जणे हो सो भाजया, जुनु यावि' (१०।७)—वह भार्या किसी काम की नहीं जो पुत्र न जने वाली कहावत से बारहवीं सदी के लोगो की पुत्रोत्पादन की उत्कट अभिलाषा का पता चलता है। एक दूसरी जगह 'घने पूते पाए सबु को उलन' (३५।१) से पता चलता है कि धन और पुत्र पाने से सबको उल्लास होता था। 'पूतकरें बधावें नाच' (३६।२५) से पता चलता है कि पुत्र जन्म पर बधावे और नाच होते थे। 'जेंम जेंम मा पूतुहि दुलाल, तेम तेम दूजणकर हिअ जाल' (३८।१७) वाली कहावत से पता चलता है कि माता अपने पुत्र का बडा दुलार करती थी, पर दुष्टो का इससे दिल जलता था। पर इतना सब होते हुए भी एक कहावत 'सो पूते जणि जाम जो निर्गुणु हो' (१०।८,९) से पता चलता है कि निर्गुणी पुत्रो का पैदा होना लोगो को गवारा नहीं था। 'कुपूतु कुलु लाछ' (४३।११) और 'कुपूतु कुलु पास' (३९।१६) से भी यही ध्वनि व्यक्त होती है। शायद लडकियो का पैदा होना लोगो को रुचिकर नही था। एक वाक्य 'बहुतु पूत भए, दुइ बेटी भई' (१५।२८,२९) से ऐसी ध्वनि निकलती है। अगर बदकिस्मती से लडकी पैदा हो गयी तो लोग उसे प्यार से रखते थे और सयानी होने पर उसके विवाह की खोज करते थे। अपने पुरोहित जी से वे प्रश्न करते थे, 'ए बेटी काहि देवि' और पण्डित जी झट उत्तर देते थे "सजातीयाऽसगोत्राय योग्याय गुणिनेर्ऽयिने, माता पित्रो पचसप्तशाखान्तरितजन्मने" (२२।२७,३०)। वर को सजातीय, असगोत्र, योग्य, गुणी, रईस होना आवश्यक था और माता पिता से उसकी शाखा क्रमश पाँच और सात पीढी हटकर होनी चाहिये।

उक्तिव्यक्ति प्रकरण से १२वी शताब्दी के पूर्वी उत्तरप्रदेश के कुछ आमोद प्रमोदो पर भी प्रकाश पडता है। उस समय लोग कहानी कहने और सुनने के शौकीन थे (४१।५)। उस युग में बनारस में कहानी कहने के ढग का भी एक जगह (१०।१४,१८) रोचक उल्लेख आया है। कहानी इस तरह शुरू होती थी, 'बहुतु राजा एयु भुइं भय तेहू करि सभा बहुतु गुणिया भए सूवति।' 'तेन्हु मारा कालिदास माघ किरात प्रभृति केतो एक खाति गए।' इस पृथ्वी पर बहुत से राजा हुए। उनकी सभाओ में ऐसा

सुना जाता है कि बहुत से गुणी हुए उनमें कालिदास माघ, किरात प्रभृति अनेको को बडी ख्याति मिली। हिन्दी गद्य का यह सबसे पुराना उदाहरण है।

बनारस में आज दिन की तरह भी लोगो को कसरत कुश्ती का काफी शौक था। 'मूलाउञ्ञ मालु अफोड' (३४।१९) और 'मालु मालहिं मोड' (३९।२) से पता लगता है कि मल्लयुद्ध में खूब दाँव-पेंच चलते थे। उक्तिव्यक्ति प्रकरण के एक मुहावरे 'गुदुआ उलाल' (४४।२०) से पता चलता है कि लोग गेंद भी खेलते थे। बच्चो के खेल के बारे में उक्तिव्यक्ति से कुछ अधिक पता नही चलता पर उन्हें शायद मिट्टी के बतको वाले खिलौने विशेष पसंद थे (३४।२५)।

भाँड और नक्कालो की भी इस युग में कमी नही थी। एक कहावत 'भाडु भडा अवरहु भडाव' (४८।४) से पता चलता है कि भाड भडेरिये किसी की बात मानने वाले नही थे। वे कहने से और भी भडैती दिखलाते थे।

लोगो को तोतो के पालने का भी शौक था और ये तोते मनुष्यो की बातचीत की नकल करते थे। उदाहरण में कहा गया है 'सुआ मणु से जेउ बोल' (५०।२९)।

नचनिएँ-बजनियो की भी कोई कमी न थी। पर इन्हें लोग अच्छी नजर से नही देखते थे। एक कहावत में कहा गया है 'नटाव बेटी नचाव' (५१।६) अर्थात् नट अपनी बेटियो को नचाते है। इस कहावत में शायद बनारस के गवरवो की उस प्राचीन प्रथा की ओर सकेत है, जिसके अनुसार वे अपनी बेटियो से नचाने गाने का काम करवाते है, पर पतोहुओ के साथ उनका व्यवहार पूरा गृहस्थो की तरह होता है।

जान पडता है उन दिनो बनारस और पूर्वी उत्तरप्रदेश में कठपुतली का तमाशा भी लोगो के मनोरजन का एक साधन था। 'पुतली खेलाव' (५२।१७) से इसी ओर इशारा जान पडता है।

लोगो में जुआ खेलने का भी दुर्व्यसन था। 'जुवआरिहि सउजिण जुआरु' (४५।२४) से बनारस के जुआरियो की ओर सकेत है।

खास बनारस शहर के बारे में तो कुछ अधिक नही कहा गया है पर 'सडासी चूडा उनाड' (४९।५) से पता चलता है कि शहर के नलो की गंदगी आज जैसी ही थी।

उक्ति व्यक्ति प्रकरण में आयी कहावतो और मुहावरो से पता चलता है कि बनारस शहर और देहात में चोरो और लुच्चो की कमी कही थी। एक सूत्र मे सब तरह के चोरो की व्याख्या की गयी है—'वलिअ परा धनु जो (चो ?) चोड (र) गाठि छोड, काड अच्छोड, पहारी चोरहि लौंडें कूट' (२८।२८-३०) अर्थात् बलवान दूसरे का धन चोरी करता है। चोर लोगो की गाठ काटता है। प्रहरी चोर को लाठी से पीटता है। जान पडता है इन बदमाशो से लोगो की रक्षा करने के लिए पहरुए होते थे (२१।२४)। पकडे जाने पर चोरो को खूब मार पडती थी। एक कहावत में कहा गया है 'मारित चोरु निसता', अर्थात् पिटने पर चोर नि सत्त्व हो जाता है (३५।७)। चोर रात में चोरी करते थे—'अधारी राति चोरु ढूक' (३५।१३)। लुटेरे देश को लूटने के लिये सर्वदा

तैयार रहते थे—'देमु लूड ल्वड्' (८०।१८)। इतना ही नहीं वे लोगों को जान से मार कर उनकी लाशें गढों के नीचे दबा देते थे—'गाड घाति तोप' (४५।१)। धूर्त और लुच्चे देहातियों को तो विशेष तरह से अपना शिकार बनाते थे—'धूतु गमारहि अकल' (४१।८)। इन अनाचारियों का इतना उपद्रव था कि इनसे मूसे जाकर बिचारे दुखी जन कान्द उठते थे—'चोरें मूठ दुक्खिआ कान्द' (३४।२९)। पर कुछ सफेद-पोश चोर चोरी की रकम से प्रसन्न ही होते थे—'मोसें पाए मुखिआ तून' (३४।३०)। इन चोरों और ठगों की वजह से बनारस का नाम बारहवीं सदी में बदनाम हो चुका था और हेमचन्द्र को 'वाराणसी ठगाना स्थान' कहना पड़ा था।

बनारस के साधारण जन भी कुछ वैद्यक में दखल रखते थे। जान पड़ता है, नहरुए की बीमारी से अक्सर पीड़ित रहते थे—'नहरुए खोड' (३४।२७)। खाँसी और बलगम से भी लोग परेशान रहते थे—'सेफें गुहु गुहु कर' (३६।१)। लोगों को मालूम था कि पारा किसी से सिद्ध नहीं हो सकता था (३६।३१)। लोगों को कुछ घरेलू नुस्खे भी मालूम थे—'मृदकोठहि हरडहि विरेक, तेदू सो ताहि माटक' हूँ (८७।२०), कोमल कोठे वाले को हर्रे से विरेचन होता है उससे भी ज्यादे शका है। सम्भवतः बनारस में चीर-फाड करनेवाले भी थे—'सय वेद कान जोड' (४०।६) अर्थात् शल्य वैद्य कान जोड सकते थे।

१०. व्यवसाय

भारतीय इतिहास के और दूसरे कालों की तरह बारहवीं सदी में भी बनारस शहर में बनियों का बोलबाला था। पैसे की तो इनके पास कमी-कमी होती ही नहीं थी—'वणिए कर वणु घर' (१४।२०)। बनिया व्यापार में भी गहरी रकम पैदा करता था—'वणिजें धन अर्ज्जे' (४३।१६)। लोग कहते थे 'वणिए करे कवडा निखेव' (५१।८), बनिये के यहाँ कौडी की खोज कितनी मूर्खता है।

किराने के छोटे-छोटे व्यापारियों को 'केण' (क्रयाणक) कहते थे (३९।८) और सभवतः ये मसाला, गल्ला और फुटकर चीजें बेंचते थे—'केणे विकण' (४५।८)।

बनियें देनलेन का काफी खूब जोरों से काम करते थे। इसका एक सुन्दर चित्र हमें इस प्रश्नोत्तरी से मिलता है—'मीत काहा हुत एतें कालें? ववहरेकहिं काटी। कैसें तौ तो छूटेसि? मीत कर लइदेइ (२३।१६-१८)'—मित्र, अब तक तुम कहा थे? महाजन के यहा। तो तुम छूटे कैसे? मित्र से उधार लेकर देने पर। उपर्युक्त प्रश्नोत्तरी से पता चलता है कि लेनदेन में बनियें काफी सख्त होते थे।

गाहडवाल युग में चलने वाले साधारण सिक्के का नाम भी आया है इसे 'गद्याणक' अथवा 'गदिआण' कहते थे (२५।२९)। कौडियों की भी छोटे सिक्कों की जगह चलन थी (४१।७)।

बनारस के सुनार चूडियां बनाने में प्रसिद्ध थे—'उसाड चूडा सोनार' (३८।२४)। ये माणिक्य के जडाव का भी काम करते थे—'माणिक जड' (४३।२७)। ये बीज यानी यन्त्रों को भी सोने से मढते थे—'बीज सोने मढ' (४४।१२)।

कीमती चीज-वस्तुओ को सजोकर और हिफाजत से रखने वाले कर्मचारी को भडारी कहते थे। यह बेचारा अपनी पेटियो पर हमेशा ताला चढाए रखता था—'भडारी पेई ताल' (३९।१७), फिर भी बनारस के बदमाशो से यदा कदा भडार की लूट हो ही जाती थी—'भडारू लूस' (४४।११)।

कुछ और व्यवसायो के नाम भी उक्तिव्यक्ति प्रकरण में आये हैं। तेली सरसो का तेल निकालता था—'तैलि सरिसव पेल,' और कभी कभी फूल से बसी हुई तिल्ली से फुलेल भी तैयार करता था—'तिल सोधे वास' (४०।३१)। माली फूल की मालाएँ गूथते थे—'फूल गाथ' (४७।१८) और नाऊ बदन की मालिश करता था—'नाउ आग पीच' (३९।११)। अहेरी जानवरो को उखेडता था—'अहेडी साउज उखेड' (४३।२५)। शिकार के लिये जाते समय वंदन तोडना अशुभ माना जाता था—'अहेडें जात बखोड'। (४१।१०) अगर अच्छा शकुन हो गया तो क्या कहना था—'भल सगुनु भल सूच' (४१।९)। केवट नाव चलाने का काम करता था—'केवट नाव घटाव' (३९।७) और उसे पता था कि नाव के थाह में जाने से उसके फस जाने का डर था—'थाहे नाव उखल' (४६।११)।

बारहवी सदी बलवानो का जमाना था और जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली कहावत उस युग के लिए चरितार्थ होती थी। बलवान जबर्दस्ती गाव बाट लेते थे—'बलाहिर गाउ बाट' (४०।२१)। अगर लोगो ने बहुत जोर मारा तो खेत बट भी जाता था (४४।१०) और कोई सज्जन मध्यस्थ बनकर चीजो का भी बटवारा कर देते थे—'मधक वथु विभज' (४१।१६)।

हमें यह पता है कि बनारस बहुत प्राचीन काल से अपने कपडे के व्यवसाय के लिये प्रसिद्ध था। उक्तिव्यक्ति प्रकरण में आये हुए छिट-पुट उल्लेखो से इस बात की पुष्टि होती है। कपडा बेचने वाले यानी बजाज को 'कापडि' (५।१५) यानी कार्पटिक कहते थे। बनारस में पटुए भी होते थे (३९।८)। रुई बनारस में कातने के लिये पीजी और धुनी जाती थी—'रुअ विअहण' (४५।९)। 'कापड झुग' का शायद अर्थ है कपडा का ताना फैलाना (४०।१६)। सन की साटी का लोग व्यवहार करते थे (४३-२२)। नये कपडो पर माडी देने का भी उल्लेख है—'नवकापड गाजु' (४३।१४)। लोगो को घोडे-हाथियो का शौक था। युक्तिव्यक्ति प्रकरण में बहुत सी ऐसी कहावतो और मुहावरो का प्रयोग है जिनसे घोडो की चाल और सजावट पर प्रकाश पडता है। 'दिडरा घोड उफड' (३४।१७) से पता चलता है कि भागने वाला घोडा कभी कभी उखडता था और अच्छे घोडो की बाग धर का उन्हें सईस चलाते थे—'घोड बाग धरि चाल' (४८।१२)। जान पडता है, उत्सवो पर घोडे-हाथी सजाए भी जाते थे—'घोडे हाथि साज उसज' (४३।९)। हाथी तो खूब ही सजाये जाते थे—'हाथि माड' (४८।२)।

हमें बारहवी सदी के बनारसियो की वेष-भूषा के बारे में अधिक नही मालूम है पर इतना कहा जा सकता है कि वह सादी रही होगी। युक्तिव्यक्ति प्रकरण से पता चलता है कि स्त्रियाँ चूडियाँ और ताटक पहनती थी और पत्रच्छेद—'पाताछेद' (४१।१९)

से अपने को विभूषित करती थी। शायद घरों में गूगुल की धूप देने की भी चाल थी (४४।२७)।

११ गाहडवाल युग का स्थापत्य और साहित्य

इसमें संदेह नहीं है कि गाहडवाल युग में कला, स्थापत्य और साहित्य की काफी उन्नति हुई। उस युग में संस्कृत साहित्य की क्या प्रगति हुई इसका हमको इतने ही से पता चलता है कि नैषध के रचयिता श्री हर्ष इसी युग में हुए। जान पडता है, यह युग संकलन का युग था और इसमें नयी चीजें कम ही लिखी गयी। भट्ट लक्ष्मीधर के अगाध पांडित्य का प्रमाण उनके कृत्यकल्पतरु से मिलता है, पर इसका सब मसाला पुराणों और स्मृतियों से ही लिया गया है। इसी तरह कला के क्षेत्र में भी गाहडवाल युग ने कोई नयी चीज नहीं दी पर उसने प्राचीन आदर्शों को बनाये रखने की कोशिश की। इस युग की मुख्य देन है पूर्वी हिंदी का विकास और इसमें साहित्य-रचना। प्राचीन कोशली का गाहडवालयुग में क्या रूप था यह जानने का अभाग्यवश हमारे पास बहुत कम साधन हैं पर उक्तिव्यक्ति प्रकरण मिल जाने से इसके बारे में थोडा बहुत कहा जा सकता है।

जान पडता है, गोविन्दचन्द्र के राज्यकाल में बहुत सी इमारतें बनी होंगी और तालाब खुदे होंगे पर इसमें से अब किसी का पता नहीं है। गोविन्दचन्द्र द्वारा राजसागर तालाब खुदवाने का आँखों देखा वर्णन पंडित दामोदर ने अपने उक्तिव्यक्ति प्रकरण में किया है—'कवण ए छाती तडॅ राकर सागर ओडहू पास खणावन्त आच्छ ? सूरपालो नाम 'राजपुरुष' (२१।१४–१६)—कौन यह छतरी के नीचे खडा होकर ओडकों से राजसागर खुदवा रहा है ? सूरपाल नाम का राजपुरुष। बहुत संभव है कि यह राजसागर चन्दौली तहसील का रायल ताल हो।

गोविन्दचन्द्र देव के समय एक मन्दिर बनने का भी उल्लेख उक्तिव्यक्ति में आया है—'कँइ ए देउलु करावित्र ? धनपालेन'—कौन यह मंदिर बनवा रहा है ? धनपाल, (२१।१६–१७)। संभवत धनपाल बनारस का कोई मालदार सेठ रहा होगा। जब उपाध्याय अपने छात्रों के साथ सैर करते हुए अपने छात्रों को राजसागर का खुदना और धनपाल के मंदिर का बनना दिखला रहे थे, उनकी दृष्टि कलचूरि कर्ण द्वारा बनवाये प्रसिद्ध कर्णमेरु पर पडी। चेलों ने प्रश्न किया—'हों इह कोउ जो कनमेरुतूलु प्रासादु कराविह ? राजा जइ कोउ' (२१।१८–१९), क्या कोई ऐसा होगा जो कर्णमेरु के तुल्य प्रासाद बनवावे ? अगर कोई राजा हो। इन प्रश्नोत्तरों से पता लगता है कि कर्णमेरु के समान उस समय बनारस में और दूसरा कोई मंदिर नहीं था और लोगों को यह विश्वास था कि उसके समान दूसरा मंदिर बनवाना कठिन था।

गाहडवाल अथवा उसके पहले के सब मंदिर बनारस में खत्म हो चुके हैं, पर न मालूम कैसे बनारस शहर में कुछ ही दूर कँदवा का बारहवीं सदी का शिवमंदिर पूरी तरह से बच गया है। मंदिर कला की दृष्टि से बहुत सुन्दर है और इस पर पत्थर में कटी हुई देवताओं की मूर्तियाँ भी आकर्षक हैं।[१]

---

[१] जे० ए० एस० बी०, ३४, १–१३, ४२, १६३

अलईपुर मुहल्ले के बकरियाकुंड नामक स्थान पर भी गाहड़वाल युग और उसके बहुत पहले के मंदिरो के भग्नावशेष वर्तमान है, जिनमें से कुछ को तो मस्जिद का रूप दे दिया गया है। कुंड की उत्तरी ओर एक टीले पर कुछ प्राचीन मंदिरो के पत्थर के बने हुये साज और टूटी फूटी मूर्तियो के भग्नावशेष हैं। उसके पश्चिम में बड़े पत्थरो के एक पीठक पर एक के बाद तीन चबूतरे हैं। सबसे नीचे वाले चबूतरे पर एक मंजिल की बड़े खंभो वाली इमारत है। ऊपरी चबूतरो पर भी इमारतो की नीव दीख पड़ती है। लेकिन उनके नकशे का ठीक ठीक पता नही चलता।

गोविन्दचन्द्र की रानी कुमारदेवी द्वारा बनवाये गये धर्मचक्र-जिन-विहार के भी अवशेष सारनाथ से मिले है। इस विहार में एक खुले चौक के तीन ओर कोठरियाँ बनी हुई हैं। चौक के उत्तरी पश्चिमी हिस्से में एक कुआँ है। खुदाई में इस विहार से द्वार शाखा, उतरग, छज्जे और बहुत से नकाशीदार टुकड़े मिले हैं जो किसी समय विहार की इमारत में लगे रहे होगे। इस विहार में उपस्थानभूमि का भी अवशेष मिला है। विहार के अन्दर जाने के लिए चहारदीवारी में फाटक था। इसके कुछ दूर आगे चलकर एक दूसरा फाटक पड़ता था। इन फाटको पर द्वारपालो के रहने के स्थान भी बने है।

गाहड़वाल युग की कला में, जिसके भग्नावशेष से बनारस अब भी भरा पड़ा है, कोई विशेषता न थी। इस काल में निर्मित, शिव-पार्वती, सूर्य, विष्णु, देवी, नवग्रह, गणेश, इत्यादि की मूर्तियाँ हम सारनाथ और भारत कला भवन में देख सकते है। इन मूर्तियो को अध्ययन करने से पता चलता है कि कला का व्यावहारिक रूप किस प्रकार हो चला था अर्थात् कला का तात्पर्य केवल धार्मिक जनो के धार्मिक भावो का परितोष ही रह गया था। मंदिरो में देवताओ की स्थापना करके लोग केवल पुण्य लूटना चाहते थे। उन देवताओ में कौन सी आध्यात्मिक शक्तियाँ निहित थी इस पर विचार करने की उन्हें फुरसत नही थी। अपने पुरखो को तारना और लोगो में वाहवाही लूटना ही मंदिरो के बनवाने का उद्देश्य रह गया था। इस परिस्थिति में कला का विकास असभव था। उत्तर भारत में महमूद गजनवी के आक्रमणो से जो हलचल मची, उसका भी गाहड़वाल कला पर काफी असर पड़ा होगा। मुसलमानो के निरन्तर आक्रमणो के सामने बड़े बड़े मंदिर बनवाने की बात ही नही उठती थी। कलाकार भी राज्याश्रय न मिलने से अधिकतर मामूली कामो में लग गये और हजारो की सख्या में ऐसी सस्ती मूर्तियाँ बनाने लगे जिन्हें सभी खरीद सकें। इस प्रवृत्ति से धार्मिक जनो की थोथी धर्मलिप्सा को तो उत्तेजना अवश्य मिली पर कला सर्वदा के लिए नि शेष हो गयी।

१२ गाहड़वाल युग का पूर्वी हिन्दी का साहित्य

उक्तिव्यक्ति प्रकरण से पता चलता है कि प्राचीन कोशली का गाहड़वाल युग में रूप स्थिर हो चुका था पर जान पड़ता है बनारसी भोजपुरी अभी उससे अलग नही हुई थी। बनारस के इस प्राचीन लोक साहित्य के बारे में हमें कुछ भी पता नही है। भाग्यवश उक्तिव्यक्ति प्रकरण से हमें उस प्राचीन साहित्य की थोड़ी सी झलक मिल जाती है और यह भी पता चल जाता है कि प्राचीन बनारसी साहित्य में लोकोक्तियो का विशेष

स्थान था। ये लोकोक्तियाँ बडी सुन्दर स्वाभाविक और कवित्वमय है। कभी कभी प्राचीन कोसली की कविताओ की भी एकाध फुटकर पक्तियाँ आ जाती है। इन लोकोक्तियो और कविताओ की पक्तियो के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते है —

सरद ऋतु तडमु सोह नदी कर	शरदऋतु में नदी का तट शोभा पाता है।
यो परहि वाचु सो पापु माच	जो दूसरे को ठगता है वही सच्चा पापी है।
दयादु दयादहि झझाड	रिश्तेदार रिश्तेदार को ही झँझोरता है।
वलिअ दुवलेहि अरोड	वली दुर्बल को सताता है।
वोलत जेंवत जीभ खाड, जमाई आए चाउलु काड	खाते समय बोलने से भी जीभ कटती है। जमाई आने पर चावल कूटना।
मार्गे वर्ले वीर पर रहइ	वल भग होने पर वीर गिर जाता है।
छूट वाछा भमि भमि कूद	छूटा वछडा खूब कूदता है।
वडकरी डाल वडरोहि लाव	वड की डाल वडी लबी होती ही है।
पर्वतउ टलथि विमूठकि वल	वडे के वल से पर्वत भी टल जाता है।
शिष्ट आपणे वोलेँन चलइ	शिष्ट अपनी वात से हटता नहीं।
मीच्छे वोले काउन रोहइ	झूठ बोलने से कोई नहीं वढता।
जो फुड वोल सो गाग न्हा	साफ बोलना मानो गगा नहाना है।
जो पूछ सो आच्छ	जो पूछता है वही रहता है।
अवाण नीचु दर्प	नीच दर्प से अघाता है।
नीचु पर माचे	नीच दूसरे से घृणा करता है।
लोभी अणपावत क्लेसिअ, नित खीज	लोभी विना पाये क्लेश पाता है और खीजता है।
विसुठु न चाहा मिलइ	भला आदमी चाहने से नहीं मिलता।
सयाण सवहुति व्यापार	सयाने का सब जगह आदर होता है।
जेत जेत पण धनु चोराअ, तेत तेत आपण पूनु हराव	जैसे जैसे दूसरे का धन चोरी करता है वैसे वैसे अपना पुण्य खोता है।
जो पर केंहु बुरुअ चित सो आपुण केहु तैस मान्त (मन्त ?)	जो दूसरे को बुरा सोचता है वह अपने लिये बुरा सोचता है।
उपरहुन्ती काढें तल छड पेर्दें रह	ऊपर काढने से तलघट पेंदे में रह जाता है।
ओड घरा उवक	गरम घी उफान खाता है।
आगि लागें वास फूट	आग लगने से वाँस फूटता है।
मर्दें पिए विसें खाए ऊणिदे घून	मद पीने विप खाने अथवा निद्रा से उँघाई आती है।
हलुअ वथु पाणि तरग	हलकी वस्तु पानी पर तैरती है।
चडई पाखें ऊअ वाय उडा	चिडिया के पर से भी रुई उडती है।
ओदे कापड पाणि गल	गीले कपडे से पानी चूता है।
निदालुव जात भीति अभिड	निद्रालु चलते हुए भीत से भिड जाता है।

जो पूच्छ सो आच्छ	जो पूछता है वही अच्छा है।
घाम घाली उद सुखा	घाम से पानी सूख जाता है।
जोन्हे चकोरे तृप्त हो	चादनी से चकोर तृप्त होता है।
विचिकित कि मोहिअ	विदनेवाले को कौन मोह सकता है।
सतुंष्टेहिं थोडेहिं पूज	संतोषी थोडे में ही तृप्ति हो जाती है।
वारिस गोवरु ओकिरा	वर्षा से गोवर फैल जाता है।
काड कवडा उविड	कानी कौडी भी खलती है।
वेदह् खेलणि खेल	चतुर खिलाडी खेल खेलता है।
दूजणें संउ सवकाहु तूट	दुर्जन मे सब लोग टूट जाते हैं।
नाग लजा	नगे की लाज।
दुभिखु आधु घटाव, कुआरु नदी ओहटाव	दुर्भिक्ष में पैसा घटता है, कुवार में नदी घटती है।
हालि खेतु पास, कुपूत कुलु पास	खेतिहर खेत पांसता है और कुपूत कुल।
नइ् वाढी काच्छ वोल	नदी वढने से किनारा घिसकता है।
• गाउ चला सजव	ठाठ वाट से गाँव चल।
गुडे खरडि हथोली चाट	गुड लपेटी हथेली चाटता है।
निलज्जु अगाण वान	निर्लज्ज अपनी वडाई करता है।
आपण काज विशेश	अपना ही काम साधना।
पडिआर खाड माअ	म्यान में तलवार डालना।
दूजण सर्वाहि नीद	दुर्जन सवकी निन्दा करता है।
रहसगल कूअऊ लाघ	जल्दवाद कुआ भी लाँघ जाता है।
जिणवे किह सभ्यहि उकोउ	वाद में जीतने के लिए भलेमानस को गाली देना।
कोहावी लट लोच	क्रोधी वाल नोचता है।
गरुअ तडका कान तोड	भारी कनफूला कान तोड देता है।
रूठ पाहुण वहोड	रूठा पाहुन मनाना।
अथिआ समदउ लाघ	अर्थी समुद्र भी लाँघ जाता है।
गढा मीघ हुत माठ	तैयार भोजन मठना।
कलिहारि अकोस सवहि	कलिहारी जीभ सवको कोसती है।
याचक निकृष्टहि सकोच	याचक निकृष्ट से दूर भागता है।
गिहथहि भीख भिखारि याच	भिखारी गृहस्थ से ही भीख मागता है।
पइसत निकलत गोरु चोरु चिय	भीतर घुसते और वाहर आते गाय और चोर चूक जाते हैं।
परोटा ईसरहि सोहाव	पर्यस्तक रईस को ही शोभा देता है।
गोड धरि कूकुर भिति अभेड	गोड धर, कुत्ता भीत चढता है।
गोहारि घालि सूत जगा	चिल्लाकर सोते को जगाना।

• •

पन्द्रहवाँ अध्याय

गाहडवाल युग में तीर्थ क्षेत्र वाराणसी

भारतीय जीवन में तीर्थ यात्रा का एक विशेष महत्त्व है। भारतीय तत्वचिंतन का आधार-भूत सिद्धांत है मोक्ष, जिसके फलस्वरूप कर्मक्षय के बाद पुनर्जन्म न होना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए शास्त्र विधि के कठिन नियमो का पालन करना आवश्यक है। इनमें पूजा, प्रतिष्ठा और दान इत्यादि आ जाते है। पर भारतीय तत्त्वचिंतन और प्रकृति का घनिष्ठ सम्बन्ध बहुत प्राचीन काल से अविछिन्न रूप से चला आ रहा है, जिसके फलस्वरूप ऋषियों ने वन, पर्वत तथा नदियों में ईश्वर का रूप देखा। देवो और मनीषियो की सगति से प्रकृति के उन बाह्य स्वरूपो में एक अजीब आकर्षण आ गया जिससे ऐतिहासिक काल में वे तीर्थरूप में परिणत हो गये। उन स्थानो में मन्दिर बनने लगे, 'लोक विश्वास में नदियाँ देवियाँ मानी जाने लगी तथा उनके उद्गम दैवी प्रेरणा के द्योतक बन गये'। क्रमश जल न केवल भौतिक शरीर के मलों को ही साफ करने वाला माना गया, उसका सम्बन्ध मानसिक विकारो को दूर करने वाला बतलाया गया तथा नदियों में स्नान पुण्य-सचय तथा कर्मक्षय का प्रतीक बन गया। नदियो तथा ऋष्याश्रमो से निकली हुई ज्योति उनके निकट किये गये कर्मों यथा यज्ञ, श्राद्ध और पिंडदान इत्यादि के फलो को परिपुष्ट करने वाली मानी गयी। हिंदू विश्वास के अनुसार पवित्र नदियाँ ससार को पार करने के लिए घाट के समान है और इसीलिए उनका नाम तीर्थ पड़ा। क्रमश नदियो का यह फल तीर्थक्षेत्रो और नदियो के किनारे बने देवालयो में भी निहित हुआ तथा देव-दर्शन और नदी-स्नान का पुण्य यज्ञपुण्य के बराबर ही माना गया और वह भी कम खर्च में।

तीर्थयात्रा केवल इस देश में ही नहीं, प्राय सब देशों और कालो में विद्यमान थी। आधुनिक युग में तीर्थयात्रा का उद्देश्य केवल आध्यात्मिक न होकर ऐहिक-सा होता है। प्राचीन युग में भी कुछ ऐसा ही था और शायद ऐहिकता से मुक्त करने के लिए ही तीर्थ माहात्म्यो की रचना हुई। तीर्थ-यात्रा का फल यज्ञ फल से भी अधिक माना गया क्योंकि यज्ञ में सामग्री और दक्षिणा में काफी खर्च होता था, इसके विपरीत तीर्थयात्रा में कम तथा उसमें शूद्र, स्त्रियाँ, विधवाएँ, चारो आश्रम के लोग, अग्निहोत्री इत्यादि यहाँ तक कि सब धर्मो से बहिष्कृत चण्डाल तथा समाज के सब प्राणी समान भाव से भाग ले सकते थे।

कुछ तीर्थमाहात्म्यो में तो यहाँ तक कहा गया है कि तीर्थों में गम्यागम्य सम्बन्धी नियम दूर हो जाते है। प्राचीन काल में तीर्थ-यात्रियो से कोई कर वसूल नहीं किया जाता था तथा उनकी मदद के लिए लोग धर्मशालाएँ तथा घाट बनवाकर, रास्तो में वृक्षा-रोपण करके तथा अन्नसत्र चलाकर उनके पुण्य में भागी होते थे।

पुण्य-स्थल होने से पापी पुण्यात्मा सभी को समान रूप से तीर्थयात्रा विहित थी। इसके फलस्वरूप तीर्थयात्रा अपराधियो के अड्डे बन गये जैसा कि वाराणसी के इतिहास से

पता चलता है। तीर्थयात्रियो के वेष में गुप्तचर तीर्थों में इसलिए भेजे जाते थे कि वहाँ जाकर वे विद्रोहियो, शत्रुओ और चोरो का पता लगावें। सडको पर तीर्थयात्रियो की रक्षा में भी राज्य का काफी खर्च होता था पर उस खर्च का कुछ हिस्सा तीर्थों के व्यापारियो पर लगने वाले कर से वसूल हो जाता था। तीर्थयात्री ताम्र मुद्रा, ताम्र ककण तथा कषायवस्त्र से भूषित होते थे। पर यह वेष वहुधा ठग भी धारण कर लेते थे। वायु-पुराण के अनुसार अश्रद्धालु, पापी, नास्तिक, छिन्नसशय और हेतुनिष्ठ तीर्थफल के भागी हो सकते थे।

तीर्थफल का पुण्य यज्ञपुण्य के समान ही माना गया है पर यह पुण्य तीर्थों की महिमा के अनुसार कुछ कम अथवा कुछ अधिक होता था। एक मत से यज्ञकर्म ही इहलोक और परलोक को साधने वाला माना गया है पर दूसरे मत के अनुसार वह विना श्रद्धा के सभव नहीं था। उसी तरह तीर्थयात्रा भी विना श्रद्धा के फलदायक नही हो सकती, उसके लिये दृढ सकल्प की आवश्यकता थी तथा रास्ते की कठिनाइयाँ, जैसे पैदल यात्रा, उपवास इत्यादि केवल उस सकल्प की द्योतक थी। तीर्थस्नान इत्यादि तो तीर्थ यात्रा के वाह्य उपकरण मात्र थे। परमानन्द की प्राप्ति तो यात्रियो का आत्मचितन और निर्विकार भाव था। इसीलिए मन तथा सात्त्विक गुणो को भी तीर्थ माना गया है। विना मन शुद्धि के तीर्थ यात्रा वेकार है। हृदय से शुद्ध तथा ज्ञानपूत व्यक्ति को ही परमगति प्राप्त होती है। गोविन्दचन्द्र देव के मन्त्री लक्ष्मीधर ने कृत्य कल्पतरु के तीर्थ विवेचन खड[1] में तीर्थयात्रा सम्बन्धी इसी मत की सपुष्टि की है।

तीर्थयात्रा की फलश्रुतियो से तो ऐसा पता चलता है कि तीर्थ मानो ऐसे जादू है जिनसे मनुष्य तुरत भववन्धन से छूट जाता है, पर वात ऐसी नही है। इन्द्रिय-निग्रह, योग, तप, शुद्धाहार, ब्रह्मचर्य, व्रत-नियम इत्यादि पुराणो के अनुसार मुक्ति के साधन माने गये है तथा मन शुद्धि के लिए श्रवण, मनन और ध्यान। तीर्थयात्रा भी इन्ही नियमो के मानने से फलदायिनी हो सकती है। पुराणकारो का यह विश्वास था कि क्रियाओ में दृढ विश्वास ही ऐहिक और पारलौकिक सुखो की प्राप्ति का साधन है। तीर्थों में देवऋण पितृऋण और ऋषिऋण से मुक्ति मिलती है। वहाँ होम, पूजा, यज्ञ, ऋषितर्पण, पितृतर्पण, वेदोच्चार, पिडदान और श्राद्ध का विशेष महत्त्व शायद इसीलिए माना गया है कि ये कर्म तीर्थों में घर की अपेक्षा अधिक निश्चिन्तता पूर्वक और श्रद्धा पूर्वक किये जा सकते है। इसमें सन्देह नही कि लोक विश्वासो के फलस्वरूप तीर्थयात्रा की महिमा वास्तविकता छोडकर आकाश मे पहुँच गयी पर भट्ट लक्ष्मीधर के पौराणिक उद्धरणो से तो पता चलता है कि तीर्थफल उन्हें ही मिलता है जो नित्य भौम और मानसी तीर्थों में अवगाहन करते है। एक दूसरे उद्धरण से पता चलता है कि जो यात्री काम, क्रोध और लोभ को त्याग कर तीर्थयात्रा पूरी करता है, उसके लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं। जो तीर्थ अगम्य और विषम है वे ध्यान मात्र से उपलब्ध हो जाते है। तीर्थों में केवल शुद्धात्माओ को मुक्ति मिलती है, ढोगी और पापियो को नही।

---

[1] तीर्थ कल्पतरु, तीर्थ विवेचन खड, वडोदा, १९४२

भारतीय विचारधारा में तीर्थों की परम्परा काफी प्राचीन मालूम पडती है और इसका आरम्भ वैदिक काल से होता है, जिसमें जल को पवित्र और जीवनदायिनी शक्ति युक्त माना गया है। ऋग्वेद काल मे ही नदियाँ देवतुल्य मानी जाने लगी। एकात स्थान होने से उनके सान्निध्य में तप और ध्यान करने की सुगमता पर विशेष ध्यान देने पर जोर दिया गया। गौतम (१९।१५) ने नदियों के सम्बन्ध में तीर्थ शब्द का प्रयोग किया है तथा कुछ नदियों और ह्रदों के जल में पूतदायिनी शक्ति माना है (गौतम, २०।१०)। विष्णु स्मृति (३०।६) में तीर्थयात्रा का फल अश्वमेध यज्ञ के समान माना गया है तथा एक दूसरी जगह (विष्णु, ५।१३१) पुष्करादि तीर्थों में यज्ञ, तप, पिंड और श्राद्ध की महत्ता बतलायी गयी है तथा गगा जल (विष्णु, ५३।१७) की सर्वश्रेष्ठता स्वीकार की गयी है। गगा में अस्थि प्रवाह पुण्यदायक माना गया है। विष्णुस्मृति (१९।१०।१२) में गगा तथा कुरुक्षेत्र की यात्रा पुण्यदायिनी कही गयी है। वृहस्पति स्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति ने गया श्राद्ध के महत्त्व पर लोगो का ध्यान आकर्षित किया है। आश्वलायन (१२।६) और लाट्यायन (१०।१५ इत्यादि) श्रौतसूत्रो में सरस्वती के किनारे यजन-याजन का महत्त्व वतलाया गया है तथा कात्यायन श्रौतसूत्र (२४।१०) के अनुसार सत्र समाप्ति के वाद यमुना अथवा कारपचा में स्नान फलदायक वतलाया गया है।

रामायण तथा महाभारत में भी तीर्थयात्रा पर प्रकाश डाला गया है। रामायण में मध्यदेश की नदियों तथा जिन नदियों के किनारे राम पहुँचे, तथा सेतुबंध के तीर्थिक महत्त्व का उल्लेख है। महाभारत में वलराम, पाटव और अर्जुन तीर्थयात्रा करते है तथा पुलस्त्य, लोमश, धौम्य और अगिरस् तीर्थयात्रा-फल वर्णन करते हैं। वनपर्व (अध्याय, ७८-१५८) का नाम ही तीर्थ-यात्रा पर्व है।

पुराण और उपपुराण तो तीर्थस्थल और क्षेत्र माहात्म्यों से भरे पड़े हैं। यह ध्यान देने योग्य वात है कि लक्ष्मीधर अग्नि, भागवत, गरुड, कूर्म, नारदीय, शिव और सौर पुराणो का उल्लेख नही करते। वे अपने विचार अधिकतर आदित्य, देवी, कालिका और नारसिंह उपपुराणो के आधार पर प्रकट करते हैं। श्री आयगर[1] की राय में वे कुछ तीर्थों का वर्णन करते है और वाकी को छोड देते हैं। इनसे यह अनुमान होता है कि वे कुछ तीर्थों को अधिक पवित्र मानते थे और वाकी को नहीं। यह भी सभव है कि पुराणो के जो पाठ उनके सामने थे उनमें वह सामग्री नही थी जो अब मिलती है।

तीर्थ-प्रकरण में तो वाराणसी तीर्थयात्रा सम्बन्धी सामग्री भरी पडी है जिसकी जाँच-पडताल से यह पता चल जाता है कि पुराणो के आधुनिक सस्करणो में कौन-सी वात परवर्ती है। उदाहरण के लिए वनारस की पचक्रोशी का लक्ष्मीधर ने कही उल्लेख नही किया है पर स्कदपुराण के पिछले सौ वरस के कई सस्करणो में उसका उल्लेख मिलता है।

निवध के रूप में तीर्थयात्रा सम्बन्धी उल्लेखो का चयन सबसे पहले लक्ष्मीधर ने किया। ऐसा जान पडता है कि गाहडवाल युग में पौराणिक हिंदू-धर्म और अधिक मजबूत हो गया। गोविन्दचन्द्र की राज्य-सीमा में ही अधिकतर तीर्थ थे, इसलिए एक ऐसे

[1] कृत्यकल्पतरु, तीर्थ विवेचनखड, पृ० ४३

निवन्ध की आवश्यकता पडी जो उन तीर्थों के धार्मिक महत्व लोगो के सामने रख सके। हर एक तीर्थ में स्नान, सकल्प, प्रार्थना, दान, जप, पूजा तथा पिंडदान, तर्पण तथा श्राद्ध फलदायक माने गये। गगाजल और मृत्तिका में अलौकिक गुणो की कल्पना की गयी तथा काशी की गलियो में झाडू लगाना पुण्य-कर्म माना गया। गगाजल में अस्थि-प्रवाह मृत व्यक्ति के मोक्षका कारण बना। काशी मे आजन्म प्रवास मुक्ति दायक था। यह विश्वास यहाँ तक बढा कि पुराणो के अनुसार पत्थर से पैर तुडवाकर काशी में बस जाना चाहिए। पुराणो ने आत्मघात को महापातक माना है पर सती, प्रयाग में गगा-यमुना के सगम पर डूब मरना, रोगग्रस्त तथा वृद्ध शरीर का उपवास, डूबने, पर्वत और अग्निपात से आत्मघात, ये महापातक की श्रेणी में नही आते।

लक्ष्मीधर के निवन्ध में तीर्थो में काशी का स्थान प्रथम माना गया है इसका यही कारण नही है कि यह गाहडवालो की राजधानी थी क्योकि वारहवी सदी तक तो काशी भारत का प्रधान तीर्थ वन चुकी थी। अल् वेरुनी के अनुसार ग्यारहवी सदी के आरम्भ में भारत के सब भाग से यहाँ साधु इकट्ठा होते थे। कुट्टनीमत के अनुसार आठवी सदी में भी वाराणसी का वही रूप था जैसा कि वारहवी में। राजघाट से मिली गुप्तयुग की मृण्मुद्राएँ भी काशी के तीर्थरूप को प्रकट करती हैं। गाहडवाल सम्राट् अपने को काशी का अधिपति मानने मे गौरव मानते थे। वैष्णव होते हुए भी उनके अनेक दानपत्र शैव मन्दिरो से जैसे देवेश्वर, त्रिलोचनेश्वर, अघोरेश्वर, कृत्तिवासेश्वर, इन्द्रेश्वर, ओकारेश्वर इत्यादि सम्वन्धित हैं। दसवी सदी के दक्षिण भारतीय शिला लेखो से पता चलता है कि काशी में गो-ब्राह्मण वध से वढ कर कोई दूसरा पाप नही था।

काशी अथवा वाराणसी कव से पवित्र क्षेत्र मानी गयी इसका तो ठीक पता नही चलता क्योकि वौद्ध साहित्य में तो इसके राजनीतिक और व्यापारिक पहलुओं पर तथा काशी प्रदेश में प्रचलित यक्ष और नागपूजा के ही विशेष उल्लेख हैं। काशी की व्युत्पत्ति मनु के पौत्र पुरुरवा से सातवी पीढी में उत्पन्न काश से मानी जाती है। इसी वश में वैद्यक शास्त्र के अधिष्ठाता धन्वन्तरि हुए। कौशीतकी उपनिषद् में (एस० वी० ई०, १।३००-७ १५,१००-५) काशी के दार्शनिक राजा अजातशत्रु का उल्लेख है। हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र (२।७।१०।७) मे विष्णु, रुद्र, स्कन्द और ज्वर के साथ-साथ काशीश्वर की पूजा का भी उल्लेख है। इस उल्लेख के आधार पर शायद कहा जा सकता है कि ईस्वी पूर्व पाँचवी सदी में वनारस में शिवपूजा प्रारम्भ हो चुकी थी। ज्वर की पूजा से हमारा ध्यान अथर्ववेद (पैप्पलाद शाखा, ५।२२।१४) के उस उल्लेख की ओर आकृष्ट होता है, जिसमें काशी, मगध और गधार में मलेरिया के चले जाने की बात आयी है। लगता है उस युग में वे प्रदेश मलेरिया से पीडित रहते थे। मनु (२।२१) के अनुसार मध्यदेश प्रयाग ही तक सीमित था तथा काशी उस प्रदेश के बाहर पड जाती थी। महाभारत (वनपर्व, ८१) के एक ही श्लोक में काशी का उल्लेख आया है। इसके अनुसार यात्री कोटितीर्थ से वाराणसी पहुँचते थे और वहाँ शिवपूजा करके कपिलह्रद में स्नान करके अश्वमेघ का पुण्य लूटते थे। उसके वाद वे गगा-गोमती के सगम पर स्थित मार्कण्डेय तीर्थ की यात्रा करते थे।

पर इसमें सन्देह नहीं कि पौराणिक धर्म की अभिवृद्धि और शैव धर्म के प्रसार से काशी की महत्ता का प्रचार हुआ।

गाहड़वाल युग में वाराणसी राजधानी हो गयी, फलस्वरूप काशी की धार्मिक महत्ता और भी बढ़ी। लक्ष्मीधर ने अपने निबन्ध में इसी महत्ता को और बढ़ाचढ़ा कर दिखलाया है तथा बनारस के करीब तीन सौ चालीस मन्दिरों का उल्लेख किया है। जो मन्दिर बारहवीं सदी के बाद बने उनके उल्लेख नारायण भट्ट और मित्र मिश्र ने किये हैं। शिव की राजधानी में शिव परिवार का भी होना आवश्यक है, इसीलिए इसमें अनेक नामों वाली पार्वती, नन्दी, विनायक और भैरव आ गये हैं। लक्ष्मीधर जिस प्राचीन लिंगपुराण को उद्धृत करते हैं उसके अनुसार देवताओं, देवियों, नागों, असुरों और ऋषियों में काशी में शिव मन्दिर स्थापित करने की होड़-सी लगी थी। समयान्तर में उन मन्दिरों में स्थापकों की पूजा भी होने लगी।

लक्ष्मीधर द्वारा उद्धृत लिंगपुराण के विवरणों की बाद के पौराणिक विवरणों (काशी खंड, ब्रह्मवैवर्त) से तुलना करने पर यह बात साफ हो जाती है कि १६ वीं सदी के लेखकों ने किस तरह प्राचीन मन्दिरों के नये उद्देश्य दिखलाने के प्रयत्न किये। इसके दो कारण थे। पहला कारण यह है कि बनारस के प्रति ममता होने से तथा लोगों के सुदूर तीर्थों में जाने की अरुचि के कारण पुराणकारों ने बनारस में ही उन तीर्थों के पर्याय-वाची तीर्थ ढूंढ निकाले। उदाहरणार्थ असी संगम पर गाहड़वाल युग में लोलार्केश्वर शिव का मन्दिर था। काशीखण्ड ने इस कल्पना को प्रस्तारित करके काशी में द्वादश आदित्यों की कल्पना कर ली। उसी तरह जहाँ लिंगपुराण में पाँच विनायकों का उल्लेख है काशीखण्ड में उनकी संख्या छप्पन तक पहुँच गयी है। देवमन्दिरों की संख्या किस तरह बढ़ रही थी इसका पता इसी बात से चलता है कि लक्ष्मीधर के समय में इनकी संख्या तीन सौ पचास थी, प्रिंसेप के समय इनकी संख्या एक हजार हो गयी, और १८६८ ईस्वी में जब शेरिंग ने अपनी पुस्तक लिखी इनकी संख्या सोलह सौ चौवन तक पहुँच गयी।

लक्ष्मीधर के तीर्थविवेचन खण्ड और १५ वीं से १७ वीं सदी तक के तीर्थ माहात्म्यों के तुलनात्मक अध्ययन से कुछ विशिष्ट तथ्यों का पता चलता है। लक्ष्मीधर के उद्धरणों में काशी का नाम एक बार आया है और वह भी अविमुक्त और वाराणसी के संबंध में। काशीखण्ड इत्यादि में विश्वेश्वर को ही बनारस का प्रधान देव माना है। अविमुक्त की दो व्युत्पत्तियाँ दी गयी हैं। लिंगपुराण के अनुसार पाप (अवि) मुक्त होने से ही नगरी का नाम अविमुक्त क्षेत्र पड़ा। मत्स्य के अनुसार इस क्षेत्र से शिव के कभी अलग न होने से ही उसका नाम अविमुक्त पड़ा। आधुनिक मत्स्यों में आनन्दवन का नाम आता है पर लक्ष्मीधर ने इसका उल्लेख नहीं किया है। बनारस में आज दिन पंचतीर्थी की स्नान विधि है पर लक्ष्मीधर के समय में पंचतीर्थी की तस्वीर दूसरी ही थी।

प्राचीन साहित्य और अभिलेखों में काशी में अविमुक्तेश्वर शिव की ही प्रधानता थी पर मुगल युग और उसके कुछ पहले ही यह नाम बदल कर विश्वेश्वर हो गया। लक्ष्मीधर

(पृ० १२१–१२३) के समय में विश्वेश्वर का मदिर अवश्य था पर उसमें कोई विशेषता नही थी। उस समय प्रधानता तो अविमुक्तेश्वर के स्वयभू लिंग की थी (पृ० ४१)। विश्वेश्वर का दो वार उल्लेख हुआ है। एक जगह वह अविमुक्तेश्वर का विशेषण है (पृ० २०) और दूसरी जगह उसकी गणना साधारण लिंगो में की गयी है (पृ० ९३)। वाचस्पति मिश्र के समय (१५ वी सदी) विश्वेश्वर और अविमुक्तेश्वर का एकत्व मान लिया गया था। तीर्थ चितामणि (पृ० ३६०) में कहा गया है कि अविमुक्तेश्वर ही लोक में विश्वनाथ नाम से प्रसिद्ध हुए, पर नारायण भट्ट और मित्र मिश्र दोनो ही वाचस्पति के मत से सहमत नही। उनके अनुसार पद्म पुराण, ब्रह्मवैवर्त और काशीखड में दोनो लिंग पृथक् माने गये है, तथा अविमुक्तेश्वर को आदि लिंग माना गया है। नारायण भट्ट और मित्र मिश्र दोनो ही स्वयभू लिंग को विश्वेश्वर मानते है। दोनो ही के मत से मुसलमानो द्वारा काशीध्वस होने पर वह लिंग नष्ट हो गया। साधारणत स्वयभू लिंग के स्थान पर साधारण लिंग की पूजा विहित नही है, पर शिष्टो द्वारा नया लिंग गृहीत हो जाने पर वह पूजा जाने लगा। इसमें भी सदेह नही कि आज दिन जहाँ विश्वनाथ का मदिर है वहाँ कभी भी अविमुक्तेश्वर अथवा विश्वेश्वर का मदिर नहीं था क्योकि तीर्थ विवेचन के अनुसार अविमुक्त का स्थान वनारस के उत्तर में था।

लक्ष्मीधर ने मणिकर्णिका कुड का उल्लेख किया है पर उसमें स्नान आज कल की तरह किसी विशेष पवित्रता का द्योतक नही था। दशाश्वमेघ को तीर्थ और मदिर दोनो ही माना गया है। लक्ष्मीधर ने पचक्रोशी का कही उल्लेख नही किया है। लगता है वारहवी सदी के वहुत वाद इस कल्पना का उदय हुआ होगा। लक्ष्मीधर ने मुक्तिमडप, शृगारमडप, ऐश्वर्यमडप, ज्ञानमडप, ज्ञानवापी, मगलागौरी, भवानी, शूलटक तथा विदार, लक्ष्मीनरसिंह, गोपीगोविंद और किणोवराह के वैष्णव मदिरो का उल्लेख नही किया है। कालभैरव मठ का कही उल्लेख नही है पर भैरव चित्रपट की पूजा करके जल मरने की वात का उल्लेख है। विशालाक्षी को शिव की रानी कहा गया है तथा मुखप्रेक्षणी ललिता के एक मदिर का भी उल्लेख है।

लक्ष्मीधर द्वारा उद्धृत पुराणो में काशी में अनशन से, डूवकर तथा अग्निपात से आत्मघात की वात आयी है। पर इस क्षेत्र में इसकी कोई आवश्यकता नही मानी गयी है क्योकि पौराणिक विश्वास था कि अत समय स्वय शिव मुमूर्षु को तारक मत्र का ज्ञान देते हैं जिसके फलस्वरूप मुक्त होकर प्राणी पुनर्जन्म ग्रहण नही करता पर ऐसी मुक्ति केवल नगर के भीतर ही उपलब्ध है, उसके वाहर नही।

कृत्यकल्पतरु के तीर्थ विवेचन खड का आरभ मत्स्य पुराण के उद्धरणो (पृ० १२–३०) से होता है। शिव पार्वती से कहते है—वाराणसी मेरी प्रिय नगरी है। यहाँ पापी भी मोक्ष पाते है तथा सव प्राणियो को मुक्ति मिलती है। यहाँ सिद्ध, नाना तरह के सन्यासी और योगी रहते है। मेरे इस नगरी को न छोडने से ही इसे अविमुक्त कहा गया है। स्नानादि से जो मोक्ष नैमिषारण्य, कुरुक्षेत्र, हरिद्वार और पुष्कर में नही मिलता, वह यहाँ सुलभ है। यहाँ प्रयाग, महाकाल, कायावरोहण, तथा कालजर से भी मोक्ष कही अधिक सुकर है। मेरे भक्तो में कुवेर, मवर्त, व्यास, ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र इत्यादि यहाँ वसते

है। इस 'अन्तर्क की पुरी' में गृहस्थ और सन्यासी दोनो ही मुक्ति पाते है। अविमुक्त में आने वाले सब पूर्वसंचित पाप नष्ट हो जाते है। यहाँ अग्निपात श्रेयस्कर है। पत्थर से पैर तुडा कर भी यहाँ रहना पड़े तो अच्छा। यहाँ ब्रह्महत्या ऐसे पातक तथा ससार बधन से छुटकारा मिलता है। यहाँ देव सदा भक्तो पर दया करके उनकी मनोकामनाएँ पूरा करते है। यहाँ स्वय शिव अतकाल में कर्णजाप देते है जिससे सब पाप नष्ट हो जाते है। विघ्नो के होते हुए भी जो अविमुक्त क्षेत्र नहीं छोडता उसे जन्म, जरा और मृत्यु से छुटकारा मिलता है और उसे शिवसायुज्य मिलता है। जो यहाँ यज्ञ में दान करता है और शिव की पूजा करता है उसे स्वर्ग मिलता है तथा कठिन ज्वरो से उसे छुटकारा मिलता है। यहाँ शाकपर्णाशियो, एक दिन छोड कर खाने वालो, मरीचियो, दन्तोलूखलियो तथा अश्मकुट्ट व्रतधारियो, हर महीने कुशाग्र से जल ग्रहण करने वालो, वृक्षमूल में रहने वालो, शिला पर ही सोने वालो तथा और भी व्रत करने वालो को मुक्ति मिलती है। इस क्षेत्र में धर्म के मूर्तिमान स्थित रहने से चारो वर्गो को परम गति मिलती है। जो मनुष्य यहाँ सोने से मढी सीगो वाली, चाँदी से मढी खुरो वाली तथा गले में कपडे से मडित गाय का दान वेदपारग ब्राह्मण को करता है उनकी सात पीढियाँ तर जाती है। यहाँ ब्राह्मणो को सुवर्ण, रजत, वस्त्र और अन्नदान का महत्त्व है। यहाँ गगा स्नान से दस अश्वमेध यज्ञो का फल मिलता है। जो यहाँ उपवास करके ब्राह्मण भोजन कराता है उसे सौत्रामणि यज्ञ का फल मिलता है। जो यहाँ एकाहार से एक महीना बिताता है उसका जीवन भर का पाप एक ही महीने में नष्ट हो जाता है। यहाँ जो विधानपूर्वक अग्नि-प्रवेश करता है अथवा अनशन से प्राण देता है उसे पुनर्जन्म से छुटकारा मिलता है। धूप और गध के साथ अविमुक्त में जो दस सुवर्ण दान करता है उसे अग्निहोत्र का फल मिलता है। भूमि-दान, सम्मार्जन, अनुलेपन तथा माल्य दान का यहाँ विशेष महत्व है। यहाँ का श्मशान भद्र है। यहाँ शिवभक्त, विष्णुभक्त, सूर्यभक्त सभी शिवसायुज्य पाते है। यहाँ रहने वाले सन्यासियो को आठ महीने विहार तथा चार मास एक स्थान पर रहने की आवश्यकता नही। यहाँ पतिव्रता और भोगपरायणा कामचारिणी दोनो ही तरह की स्त्रियो को मुक्ति मिलती है। यहाँ शतरुद्री के पाठ का फल है।

ब्रह्मपुराण (पृ० ३०-३२) में अविमुक्त क्षेत्र के भौगोलिक वर्णन के बाद कपालमोचन तीर्थ में पिंडदान और श्राद्ध की महिमा बतलायी गयी है। वहा गगास्नान, पूजा, जप, होम, गोदान चान्द्रायण व्रत इत्यादि की महत्ता का उल्लेख है।

लक्ष्मीधर द्वारा उद्धृत लिंगपुराण (पृ० ३२ से) में वाराणसी के मदिरो की बहुत बडी तालिका दी हुई है तथा पौराणिक ढग से उसे मुक्तिदायक माना गया है। शुष्क नदी अर्थात असी पर लोलार्क की स्थिति मानी गयी है। वरणा पर केशव की तथा मत्स्योदरी पर सक्रान्ति की महिमा बतलायी गयी है। कहा गया है कि भक्तो के सिद्धदायक लिंगरूप में यहा सात करोड रुद्र बसते है। यहा हमें बनारसी कहावत, "काशी के ककड शिवशकर समान" की याद आ जाती है।

लक्ष्मीधर द्वारा उद्धृत स्कद पुराण में काशी के पर्वो का उल्लेख है। कृष्ण और शुक्लपक्ष की अष्टमी और चतुर्दशी, चन्द्र और सूर्यग्रहण विशेषकर कार्तिक में तथा सक्रान्तियो

में सब तीर्थ गगा पर आ जाते हैं। केदारलिंग, महालयलिंग, मध्यमेश्वर, पशुपतीश्वर, शकुकर्णेश्वर, गोकर्ण के दो लिंग, दुमिचडेश्वर, भद्रेश्वर, स्थानेश्वर, एकाम्रेश्वर, कामेश्वर, अजेश्वर, भैरवेश्वर, ईशानेश्वर (कायावरोहण तीर्थ पर) इत्यादि पुण्यतीर्थ भी पर्व दिनो में काशी में आ जाते हैं।

आगे चलकर लिंगपुराणोक्त लिंगो, ह्रदो, कूपो तथा सरोवरो के नाम उनके स्थापको के नाम के साथ दिये गये हैं। उनमें से अधिकतर की स्थापना देवो, सिद्धो और ऋषियो द्वारा करने का उल्लेख है। लिंग, कूप, कुड इत्यादि नगरी के किन भागो में अवस्थित थे इनका भी उल्लेख है।

अविमुक्तेश्वर—अविमुक्त क्षेत्र में सिद्धो और पाशुपतो के रहने का तथा उनकी शिवभक्तिपरायणता का उल्लेख है। अविमुक्तेश्वर का स्वयभू लिंग नगरी के पूर्वोत्तर भाग में स्थित था। उससे लगा हुआ महादेव कूप था जिसके स्पर्श मात्र से लोगो को वागीश्वरी गति मिलती थी। वही कूप के पश्चिम में वाराणसी देवी की मूर्ति थी जिनके प्रसाद से लोगो को घर मिलते थे।

गोप्रेक्ष—महादेव के पूर्व इस देव मदिर की स्थिति थी। इतके दर्शन से सब कल्मष नाश होते थे।

अनसूयेश्वर—अनसूया द्वारा स्थापित यह लिंग गोप्रेक्ष के उत्तर में था। इनके दर्शन से परागति मिलती थी।

गणेश्वर—अनसूयेश्वर के आगे यह मदिर पडता था।

हिरण्यकशिपु—यह लिंग गणेश्वर के पश्चिम में हिरण्यकशिपु द्वारा एक कूप के पास स्थापित किया गया था।

सिद्धेश्वर—हिरण्यकशिपु मदिर के पश्चिम में पडता था और वह सर्वसिद्धि प्रदायक माना जाता था।

वृषभेश्वर—इस लिंग की स्थिति सिद्धेश्वर के पूर्व तथा गोप्रेक्ष के दक्षिण पश्चिम में थी।

दधीचेश्वर—गोप्रेक्ष के दक्षिण में सर्वकामफलद यह लिंग था।

अत्रीश्वर—अत्रि द्वारा स्थापित यह लिंग दधीचेश्वर के पास दक्षिण में पडता था।

मधुकैटभेश्वर—मधुकैटभ द्वारा सस्थापित लिंग अत्रीश्वर के दक्षिण में पूर्वाभिमुख था। मदिर के पूर्व में कैटभ द्वारा स्थापित लिंग था।

बालकेश्वर—गोप्रेक्ष के पूर्व में स्थित था।

विज्वरेश्वर—वालकेश्वर के समीप। इसके दर्शन से ज्वर का तुरत नाश होता था।

देवेश्वर—विज्वरेश्वर के पूर्व मे स्थित शिव लिंग।

वेदेश्वर—देवेश्वर के ईशान में स्थित चतुर्मुख लिंग जिसके दर्शन से ब्राह्मण चतुर्वेदी हो जाते थे।

केशव—वेदेश्वर के उत्तर में स्वय केशव का मदिर था।

सगमेश्वर—इसकी स्थिति केशव के मदिर के पास ही थी तथा इनके दर्शन से शिष्टो से समागम होने का फल था। स्कदपुराण के अनुसार वरना और गगा के सगम पर स्थित सगमेश्वर की स्थापना ब्रह्मा ने की थी। सगम पर स्नान करके लोग लिंग का दर्शन करते थे।

प्रयागेश्वर—सगमेश्वर के पूर्व में ब्रह्मा द्वारा स्थापित लिंग जिसके दर्शन से ब्रह्मपद मिलता था।

शाकरीदेवी—प्रयागेश्वर के मदिर मे वटवृक्ष पर शाकरीदेवी का आवास था जो सब तीर्थवासियो को शाति प्रदान करती थी।

गगावरणासगम—श्रावण द्वादशी को यदि बुधवार पडे तो सगम पर स्नान तथा श्राद्ध वडा ही फलदायक तथा श्राद्ध करनेवाले को विष्णुलोक देने वाला था। मत्स्यपुराण ने वहा विधिपूर्वक अन्नदान को श्रेयस्कर माना है।

कुभीश्वर—वरणा के पूर्वी तट पर स्थित शिवलिंग।

कालेश्वर—कुभेश्वर के पूर्व में स्थित शिवलिंग।

कपिलह्रद—आधुनिक कपिलधारा। इसकी स्थिति कालेश्वर के उत्तर में थी। इसमें स्नान के वाद शिवदर्शन से राजसूय यज्ञ का पुण्य मिलता था, नरक में पडे पितरगण तर जाते थे तथा वहा श्राद्ध करना गया श्राद्ध से भी वढकर था।

स्कदेश्वर—महादेव के पश्चिम में स्कद द्वारा स्थापित लिंग। वही पर शाख, विशाख और नैगमीयो द्वारा स्थापित अनेक लिंग थे।

वलभद्रेश्वर—स्कदेश्वर के उत्तर मे वलभद्र द्वारा स्थापित लिंग।

नदीश्वर—स्कदेश्वर के दक्षिण मे नदी द्वारा स्थापित लिंग।

शिलाक्षेश्वर—नदीश्वर के पश्चिम मे नदी के पिता द्वारा स्थापित तथा वदित लिंग।

हिरण्याक्षेश्वर—शिलाक्षेश्वर के पास हिरण्याक्ष द्वारा स्थापित शिव लिंग। उसके पास ही देवो द्वारा स्थापित हजारो लिंग थे।

अट्टहास—हिरण्याक्षेश्वर के दक्षिण में अट्टहास का पश्चिमाभिमुख लिंग था जिसके दर्शन से ईशान लोक की प्राप्ति होती थी।

मित्रावरुणेश्वर—अट्टहास के पास ही पश्चिम में मित्रावरुण द्वारा स्थापित शिवलिंग के द्वार पर था।

वसिष्ठेश्वर—मित्रावरुणेश्वर के मदिर में ही स्थापित लिंग।

याज्ञवल्क्येश्वर—मित्रावरुणेश्वर के मदिर मे ही याज्ञवल्क्य द्वारा स्थापित चतुर्मुख लिंग।

मैत्रेय्येश्वर—याज्ञवल्क्येश्वर के पास ही मैत्रेयी द्वारा स्थापित शिवलिंग।

प्रह्लादेश्वर—याज्ञवल्क्येश्वर के पश्चिम में पश्चिमाभिमुख लिंग।

स्वर्लीनेश्वर—प्रह्लादेश्वर के आगे। ज्ञान विज्ञान में निष्ठ तथा परमानद के इच्छुकों को यह लिंग मुक्तिदायक था।

वैरोचनेश्वर—स्वर्लीनेश्वर के आगे वैरोचन द्वारा स्थापित लिंग।

बाणेश्वर—वैरोचनेश्वर के उत्तर में शिवभक्त वलि द्वारा स्थापित लिंग इसे वाणेश्वर भी कहते थे।

शालकटंकटेश्वर—वाणेश्वर के उत्तर में राक्षसी शालकटंकटा द्वारा स्थापित शिव लिंग।

हिरण्यगर्भ—शालकण्टकटेश्वर के मन्दिर में एक शिव लिंग।

मोक्षेश्वर—शालकण्टकटेश्वर के मन्दिर में ही एक शिव लिंग।

स्वर्गेश्वर—शालकण्टकटेश्वर के मन्दिर में ही एक शिवलिंग।

वासुकीश्वर—शालकण्टकटेश्वर के उत्तर चतुर्मुख लिंग। **वासुकी तीर्थ**—वासुकीश्वर के पूर्व खण्ड से एक तीर्थ जिसमें स्नान करने से मनुष्य रोग रहित हो जाता था।

चन्द्रेश्वर—वासुकी तीर्थ के पास चन्द्र द्वारा स्थापित शिवलिंग।

विद्येश्वर—चन्द्रेश्वर के पूर्व में। इसके दर्शन से विद्याधर लोक मिलता था।

वीरेश्वर—नगर के उत्तर में। इसकी स्थापना के सम्बन्ध में एक लम्बी कथा दी गयी है।

सगरेश्वर—वीरेश्वर के वायव्य भाग में सगर द्वारा स्थापित।

बालीश्वर—सगरेश्वर के आगे उसी जगह वालि द्वारा स्थापित चतुर्मुख लिंग।

सुग्रीवेश्वर—वालीश्वर के उत्तर मे सुग्रीव द्वारा स्थापित।

हनुमतेश्वर—सुग्रीवेश्वर के पास हनुमान द्वारा स्थापित लिंग।

अश्विनी कुमारो द्वारा स्थापित शिवलिंग सगरेश्वर के उत्तर में था।

भद्रदोहतीर्थ—अश्विनी मन्दिर के उत्तर पार्श्व में स्थित इस तीर्थ में पूर्वभाद्रपद पौर्णमासी को स्नान करने से हजार गोदान का पुण्य मिलता था।

भद्रेश्वर—भद्रदोह तीर्थ के पश्चिमी किनारे पर स्थित शिवलिंग।

उपशांतशिव—भद्रेश्वर के नैॠत्य में स्थित शिवलिंग।

चक्रेश्वर—उपशात के उत्तर में स्थित शिवलिंग। उसके आगे एक पश्चिमाभिमुख ह्रद था जिसमें स्नान करने से शिव लोक की प्राप्ति होती थी।

शूलेश्वर—चक्रेश्वर के पश्चिम में। यहाँ शिव के शूल से उत्पन्न ह्रद में स्नान करने से रुद्रलोक को प्राप्ति होती थी।

नारदेश्वर—शूलेश्वर के पूर्व मे नारद द्वारा स्थापित कुडाभिमुखी शिवलिंग।

धर्मेश्वर—नारदेश्वर के पूर्व में कुडाभिमुखी शिवलिंग।

विनायक कुण्ड—धर्मेश्वर के वायव्य दिशा में स्थित इस कुड में स्नान करके यात्री सब विघ्नों से विमुक्त होकर अविमुक्त क्षेत्र में बस सकता था।

अमरक ह्रद—विनायक से उत्तर की ओर सटा हुआ कुड।

अमरकेश्वर—अमरक के दक्षिण में स्थित शिव लिंग। इसके दर्शन से भूल से भी किये गये दुष्कर्म का फल नष्ट हो जाता था।

वरणेश्वर—अमरकेश्वर के उत्तर में थोडी ही दूर वरणा के तट पर पश्चिमाभिमुख शिवलिंग। कहा गया है कि पाशुपत सिद्ध अश्वपाद को यहाँ शाश्वत सिद्धि मिली। इसके दर्शन से गधर्वत्व मिलने की बात कही गयी है।

शैलेश्वर—वरणेश्वर के पश्चिम में स्थित शिवलिंग।

कोटीश्वर—शैलेश्वर के दक्षिण में स्थित शिवलिंग।

भीष्मचण्डिका—कोटीश्वर के पास ही भीष्मचण्डिका की श्मशानवासिनी मूर्ति होने से वीभत्स थी।

कोटीश्वर तीर्थ—इसमें स्नान करने से एक करोड गोदान का पुण्य मिलता था। ऋषिसघ द्वारा स्थापित शिवलिंग कोटीश्वर के उत्तर में था।

श्मशान स्तम्भ—कोटितीर्थ के दक्षिण पूर्व में स्थित इस स्तम्भ में स्वय शिव का निवास माना जाता था। उसकी पूजा करने से मनुष्यो की सब पापो से विनिर्मुक्ति होती थी।

कपालमोचन—स्नान करते समय शिव के अग से एक कपाल वहाँ गिर जाने से उसका नामकरण हुआ। यहाँ स्नान करने से ब्रह्महत्या जैसे पाप से छुटकारा मिलने की बात कही गयी है।

कपालेश्वर—कपाल मोचन पर स्थित शिवलिंग।

ऋणमोचनक तीर्थ—कपालेश्वर के उत्तर पार्श्व में स्थित एक तीर्थ जिसमें स्नान करने से तथा तीन शिवलिंगो के दर्शन से त्रिविध ऋण का परिशोध हो जाता था।

अगारेश्वर (मगलेश्वर)—ऋणमोचन तीर्थ के दक्षिण मे कुड के सामने पश्चिमाभिमुख शिवलिंग। चतुर्थी या अष्टमी को यदि मगलवार पडे तो वहाँ स्नान और दर्शन से रोग विनिर्मुक्ति होती थी।

विश्वकर्मेश्वर—अगारेश्वर के पास ही पश्चिमाभिमुख शिवलिंग।

बुधेश्वर—विश्वकर्मेश्वर के पास ही स्थित शिवलिंग।

महामुण्डेश्वर—बुधेश्वर के दक्षिण में महामुण्डेश्वर का शिवलिंग था। उसके सामने ही एक कूप था जिसमें स्नान करते समय शिव की मुण्डमाला उसमें गिर जाने से लिंग का नामकरण पडा।

खट्वागेश्वर—महामुण्डेश्वर के महाते में ही एक शिवलिंग और कूप। कथा है कि शिव ने कूप में स्नान के लिये यहाँ अपना खट्वाग कूप में डाला था।

भुवनेश्वर—महामुडेश्वर के पास ही एक कुड के दक्षिण तट पर उत्तराभिमुख लिंग।

विमलेश—भुवनेश्वर के दक्षिण में एक कुड था उसके पूर्व में विमलेश की स्थिति थी। यही से पाशुपतसिद्धि त्र्यवक सशरीर रुद्रलोक पहुँचे।

भृग्वेश्वर—अगारक कुड के दक्षिण में भृगु द्वारा स्थापित वडा शिव मदिर।

नदीशेश्वर—भृग्वेश्वर के दक्षिण में नन्दीश्वर का शिवलिंग था जिसके दर्शनमात्र से ही पाशुपत व्रत में सिद्धि मिल जाती थी। यही पर तपस्वी कपिल ने गुहावास करके शिव की एक हजार वर्ष तक पूजा की जिसके फलस्वरूप वे साख्यवेत्ता हुए। वह गुहा कपिलेश्वर के नीचे थी। शायद यहाँ राजघाट के करारे की अनेक गुफाओ में से एक गुफा की ओर सकेत है।

कपिलेश्वर—पार्वती द्वारा यह प्रश्न करने पर कि कपिलेश्वर का नाम ओकारेश्वर कैसे पडा शिव ने वताया कि ओकार के अकार में पचायतन विष्णु, उकार में ब्रह्मा और नकार में नदीश्वर रूप में स्वय शिव है।

मत्स्योदरी—मत्योदरी के उत्तर कूल पर उसी तरह नदीश्वर का मदिर स्थित था जिस तरह ओकार के उत्तर में नकार। इस जगह वामदेव, सार्वाणि, अघोर और कपिल ने पाशुपत व्रत से सिद्धि पायी। कभी-कभी गगा इस देव के दर्शनार्थ मत्स्योदरी में आ मिलती थी। कपिलेश्वर के नीचे दक्षिण में मत्स्योदरी वहती थी। कपिलेश्वर के पश्चिम गगा और मत्स्योदरी का सगम था जहाँ अष्टमी और चतुर्दशी को स्नान का विशेष महत्व था। वहाँ पाशुपतो का अड्डा था तथा यह मदिर काफी वडा था।

उद्दालकेश्वर तथा दूसरे शिव लिंग कपिलेश्वर के आगे पश्चान्मुख लिंग थे। यहाँ उद्दालक ऋषि ने परम सिद्धि पायी। पास ही उत्तर में एक दूसरे शिव लिंग से पराशर मुनि को सिद्धि मिली। उसी लिंग से सटे आयतन में पश्चान्मुख वाष्कलिमुनि रहते थे। उसी के पास पूर्वामुख होकर पाशुपत भाव सिद्ध रहते थे और पश्चिम में एक मुख लिंग था जिसके सान्निध्य में अरुणि ने सिद्धि पायी। अरुणीश के पश्चिम में एक शिवलिंग था जहाँ पाशुपताचार्य योग सिद्ध का निवास था। उसी के दक्षिण में एक शिवलिङ्ग के सान्निध्य में कौस्तुभ नामक ऋषि को सिद्धि प्राप्त हुई तथा उसके दक्षिण में एक लिंग के पास सार्वाणि नामक एक पाशुपत रहते थे। उसके आगे एक महद् लिंग था जिसमें ओकार रूप में स्वय शिव का निवास था। उसी के नीचे श्रीमुखी नामक एक गुहा थी जिसमें शिवार्चन में रत पाशुपत रहते थे। उसी महालिंग के द्वार पर इसी शरीर से अघोर मुनि रुद्रत्व को प्राप्त हुए और इसीलिए उसका नाम अघोरेश्वर पडा। वहाँ यात्री को त्रिरात्रि विताने का आदेश था।

श्रीकठ—जान पडता है कि मत्स्योदरी के किनारे वहुत से शिवमदिर थे, जिनमें शात, दात, जितक्रोध और ब्रह्मचारी पाशुपत पूजा करते थे। कपिलेश्वर के दक्षिण में श्रीकठ के मदिर में पाशुपत ऋतुध्वज रहते थे। उसके आगे एक पूर्वमुख लिंग के सान्निध्य में जावाल को सिद्धि मिली। उसके दक्षिण में ओकारेश्वर की मूर्ति थी। उसके दक्षिण में दूसरे लिंग के पास कालिकवृक्षिय सिद्ध हुए। उस लिंग के भी दक्षिण एक पश्चान्मुख

शिवलिंग के पास गार्ग्य सिद्ध हुए। इन पाँचो को पचायतन कहते थे और इनके दर्शन का विशेष महत्त्व माना गया है। इस पचायतन के समीप एक कूप था।

रुद्रवास—यह मदिर श्रीकठ के दक्षिण मे स्थित था। उसके उत्तर पार्श्व में एक कुड था जिसमें आर्द्रा नक्षत्र सयुक्त चतुर्दशी को स्नान का महत्त्व था। वही स्थित रुद्रलिंग और उसके आस-पास बहुत से लिंग थे।

रुद्रमहालय—रुद्र के नैऋत भाग में। वहाँ स्वय पार्वती का वास माना जाता था। उसके आगे एक कूप था जहाँ पितरो और देवो का निवास माना जाता था। वहाँ श्राद्ध और पिंडदान की विधि थी तथा पिंड कूप में डाल दिये जाते थे। वही पर वैतरणी नामक एक वावडी थी जिसमें स्नान मे नरक मे परित्राण मिलता था। रुद्रमहालय के उत्तर में बहुत से लिंग थे।

वृहस्पतीश्वर—रुद्रकुड के पश्चिम में वृहस्पति द्वारा स्थापित लिंग।

पितरों द्वारा स्थापित लिंग—रुद्रकूप के दक्षिण भाग में था।

कामेश्वर—रुद्रवास के दक्षिण में। यहाँ काम के तप स्वरूप एक कुड उत्पन्न हुआ। उसके उत्तर तट पर कामेश्वर लिंग था जिसकी पूजा से सभी मनचाही बातें मिलती थीं। कुड में चैत्र शुक्ल १३ को स्नान विधि थी।

पचालकेश्वर—कामेश्वर के पूर्व में इस लिंग की कुबेर के पुत्र ने आराधना की। इसकी पूजा से धन प्राप्ति की बात मानी गयी है।

पचकेश्वर—कामेश्वर के अहाते में पूर्वमुख मुखलिंग। इसके आगे एक कूप था।

अघोरेश—कामेश्वर कूप के पास। यहाँ किन्नरो ने नौ लिंग स्थापित किए।

दिवाकर-निशाकर द्वारा स्थापित लिंग—पचकेश्वर के पूर्व में।

अघकेश्वर—अघोरेश के दक्षिण में अघक द्वारा स्थापित लिंग।

देवेश्वर—अघकेश्वर के पश्चिम और काम कुड के दक्षिण में, वही पर भीमेश्वर, सिद्धेश्वर, गगेश्वर, यमुनेश्वर और उर्वशी लिंग थे।

शातेश्वर—शात द्वारा स्थापित मडलेश्वर के पास शिवलिंग।

वालखिल्येश्वर—शातेश्वर के वायव्य दिशा में द्रोणेश्वर के पास काम कुड के पश्चिम में।

वाल्मीकेश्वर—वालखिल्येश्वर के आगे मुख लिंग।

च्यवनेश्वर—काम कुड के तट पर च्यवन द्वारा स्थापित लिंग।

वातेश्वर—वायु द्वारा स्थापित वालखिल्येश्वर के दक्षिण में। वही अग्नीश्वर, भरतेश, और सनकेश्वर के लिंग थे। वातेश्वर के दक्षिण में धर्मेश्वर का मदिर था। सनकेश्वर के उत्तर में गरुडेश्वर थे और बगल में सनदनेश्वर थे। सनकेश्वर के दक्षिण असुरीश्वर, पचशिखि लिंग तथा शनैश्चरेश्वर थे। शनैश्चरेश्वर के दर्शन से रोग-मुक्ति मानी जाती थी।

मार्कंडेश्वर—उस लिंग के आगे मार्कंडेय ह्रद था जिसमें स्नान दान, जप होम श्राद्ध और पितृतर्पण की विधि थी। मार्कंडेश्वर के उत्तर में एक कूप था और उसके उत्तर में एक कुड के बीच कुडेश्वर का मदिर था। कुड के पश्चिम में स्कद द्वारा स्थापित एक लिंग था। मार्कंडेश्वर के वह्नुत शाडिल्येश्वर का मुखलिंग और दक्षिण पार्श्व में भद्रेश्वर थे।

श्रीकुड—कपालीश के दक्षिण में। इसमें स्नान करके लोग श्रीदेवी का दर्शन करते थे। श्रीदेवी के उत्तर पार्श्व में महालक्ष्मी द्वारा स्थापित शिवलिंग था। इनके दर्शन से धन-धान्य मिलने का फल था।

दधीचेश्वर—महालक्ष्मी द्वारा स्थापित शिवलिंग के पश्चिम में उसके दक्षिण में गायत्री द्वारा स्थापित और उसके दक्षिण में सावित्री द्वारा स्थापित पश्चान्मुख लिंग थे।

सत्पतयेश्वर—दधीचेश्वर के पूर्व में मत्स्योदरी के तट पर स्थित।

उग्रेश्वर—लक्ष्मी लिंग के पास। उसके दक्षिण में एक वडा कुड था।

धनदेश्वर—दधीचेश्वर के पश्चिम मे। यहा कुबेर का वनवाया एक कुड था जिसमें स्नान करने से कुबेर का सान्निध्य प्राप्त होता था। वहाँ और भी वहुत से लिंग थे।

करवीरक—धनदेश के पश्चिम में। उसके वायव्य कोण में मारीचेश्वर थे और आगे एक कुड था। मारीचेश्वर के पश्चिम में कुड के तट पर इन्द्रेश्वर विराजमान थे।

कर्कोटकेश्वर—इन्द्रेश्वर के दक्षिण में नाग राज कर्कोटक की एक वापी और कर्कोट-केश्वर का मदिर।

वृमिचडेश्वर—कर्कोटकेश्वर के पास ही दक्षिण की ओर। इनके दर्शन से ब्रह्महत्या छूटती थी। यहा कौथुमि नाम के पाशुपत सिद्ध ज्ञान प्राप्त करके रुद्रलोक गये। यह पश्चिमाभिमुख लिंग कुड के उत्तर में था।

अग्नीश्वर—वृमिचडेश्वर के पूर्व एक दीर्घिका के किनारे स्थित।

आम्रातकेश्वर—अग्नीश्वर के पूर्व में, उसके पास ही दक्षिण में एक कुड पर उर्वशीश्वर स्थित थे।

तालकर्णेश्वर—उर्वशीश्वर के पास, वहा और भी वहुत से लिंग थे। मदिर के पूर्व में एक कूप था।

चित्रेश्वर—चण्डेश्वर के पूर्व।

कालेश्वर—चित्रेश्वर के समीप। यहा पिंगाक्ष नामक पशुपत रहते थे जिन्होंने काल को भी ठग लिया। यहाँ कालोदक नामक एक कूप भी था। लगता है यहा शिवभक्त त्रिशूल का दाग लेते थे। यहाँ पूजा, जप होम, दीप प्रदान, धूपदान, तथा जागरण की विधि थी। कालेश्वर के पास दक्षिण में मृत्यु द्वारा स्थापित सर्व-रोग-विनाशक एक लिंग था तथा कूप से उत्तर भाग में दक्षेश्वर और शच्येश्वर के मदिर थे।

महाकाल—दक्षेश्वर के पूर्व। यहा एक कुड था जिसके किनारे अतकेश्वर का मदिर था तथा उसी के पास शक्रेश्वर का। उसके दक्षिण में मातलीश्वर थे। उसके आगे एक कुड पर हस्तिपालेश्वर का मदिर था। हस्तीश्वर के पूर्व में विजयेश्वर का मदिर था।

बलिकुंड—महाकाल कुंड के उत्तर में। यहां बलि ने शिव की आराधना की थी।

कृत्तिवासेश्वर—काशी के प्रधान शिव-लिंगों में एक। कहानी है कि एक दैत्य हाथी का रूप धारण करके शिव से लड़ा। उसे मार कर और उसका चमड़ा उधेड़ कर शिव ने ओढ़ लिया इसी से इनका नाम कृत्तिवास पड़ा। लिंग पश्चिमाभिमुख था। उनके उत्तर में शक्रेश्वर, दक्षिण में मातलीश्वर तथा पूर्व में एक कूप था। वहां बहुत से पाशुपत रहते थे। फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी को फल, पुष्प, भक्ष्य, दूध, मधु तथा सरसों के साथ जल तथा हुडुकार, नमस्कार, नृत्यगीत, मुखवाद्य स्तोत्र और मंत्र से उनकी पूजा होती थी। वर्ष के दूसरे महीने की चतुर्दशी को भी उनकी पूजा विहित थी।

भृगीशेश्वर—इस लिंग की स्थापना का श्रेय काशिराज धन्वतरि को दिया गया है। एक मंदिर के आगे एक कूप था जिसमें वैद्यराज ने सब औषधियां फेंक दी थीं इसी से इस कूएँ का नाम वैद्यनाथ पड़ा। विश्वास था कि इसका पानी पीने से सब व्याधियां नष्ट हो जाती थीं। कूप के उत्तर भाग में हरिकेश्वर लिंग था जिसके दर्शन से भी रोग मुक्ति की बात कही गयी है।

शिवेश्वर—तुर्ग के पास दक्षिण में शिवतडाग था जिसके पश्चिम तट पर शिवेश्वर का मंदिर था।

जमदग्नि लिंग—विश्वेश्वर के पास ही दक्षिण में।

भैरवेश्वर—जमदग्नि लिंग के पास ही पश्चिम में। लिंग के पास ही नाचती हुई दुर्गा की मूर्ति थी उसके उत्तर में एक कूप था जिसके पश्चिम भाग में शुक्रेश्वर का मन्दिर तथा उत्तर में एक तालाब था। नैर्ऋत्य कोण में व्यासेश्वर का मन्दिर और घटाकर्णह्रद, उसी के पास उत्तर में पंचचूड़ा ह्रद था। उसके उत्तर में विलोक नाम अशोक वन में स्थित एक कुंड था। उसके पास ही मन्दाकिनी थी।

मध्यमेश्वर—मन्दाकिनी में स्नान करके मध्यमेश्वर के दर्शन से रुद्रलोक की प्राप्ति होती थी यहां ब्राह्मणों, पाशुपतों तथा यतियों को भोजन कराना तथा स्नान, दान, तप, होम, स्वाध्याय, तर्पण, श्राद्ध और पिंडदान फलदायक थे। मन्दिर के दक्षिण भू-भाग में विश्वदेव द्वारा स्थापित एक पूर्वाभिमुख लिंग था तथा पश्चिम में वीरभद्र द्वारा प्रतिष्ठित शिवलिंग। उन दोनों के दक्षिण में भद्रकाली ह्रद था जिसके पश्चिम तीर पर शौनक द्वारा स्थापित पतङ्गेश्वर थे। उसी के वायव्य कोण में मनुष्यों द्वारा स्थापित अनेक लिंग थे तथा दक्षिण में जयन्त द्वारा स्थापित शिवलिंग था।

सिद्धकूट और सिद्धेश्वर—जयन्तेश्वर के दक्षिण में सिद्धकूट था। यहां शिवपूजा में निरत सिद्ध और पाशुपत रहते थे। उनमें से कुछ ध्यान रत रहते थे, कुछ जप करते थे, कुछ स्वाध्याय करते थे और कुछ तप। कुछ आकाश शयन करते थे तो कुछ अधोमुख होकर धूम्रपान करते थे। कुछ प्रदक्षिणा करते थे और कुछ ने काष्ठ-मौन ले रखा था। कुछ पूजा के लिए गण्डूक पुष्प चुनते थे। सबके सब पूर्वाभिमुख सिद्धेश्वर की पूजा में निरत रहते थे। लिंग के पश्चिम भाग में एक वापी थी।

व्याघ्रेश्वर—सिद्धकूट के पूर्व में।

स्वयम्भू—व्याघ्रेश्वर के दक्षिण में स्वयम्भू लिंग था। तथा उसके पूर्व ज्येष्ठ स्थान था जहाँ एक लिंग था उसके पश्चिम में पचचूडा द्वारा स्थापित एक लिंग था, दक्षिण में प्रहसितेश्वर थे और उत्तर में निवासेश्वर। वही चतु समुद्र नामक एक कूप था।

दण्डीश्वर—चतु समुद्र कूप के उत्तर में तथा व्याघ्रेश के दक्षिण में। उसके उत्तर में दण्डखात नामक एक तालाव था जिसमें स्नान करने से पितृगण तर जाते थे। उसी अहाते में जैगीषव्येश्वर का मन्दिर था। उसके पश्चिम में सिद्धकूप, पूर्व में देवल और शतकाल द्वारा प्रतिष्ठित लिंग तथा पश्चिम में शातातपेश्वर थे।

हेतुकेश्वर—शातातपेश्वर के पश्चिम मे। उसके दक्षिण भाग मे कणाद द्वारा स्थापित कणादेश्वर नामक पश्चिमाभिमुख लिंग था तथा एक वापी। कणादेश्वर के दक्षिण में भूतीश का पश्चिमाभिमुख लिंग था। उसके पश्चिम में आषाढ नामक पश्चान्मुख चतुर्मुख लिंग तथा और भी बहुत से लिंग थे। उसके पूर्व में दैत्येश्वर थे जिनके दर्शन से पुत्रलाभ होता था। उसके दक्षिण में भारभूतेश्वर थे।

पाराशरेश्वर—व्यासेश्वर के पूर्व मे। उसके सामने अत्रि द्वारा स्थापित एक लिंग था।

शख-लिखित—व्यासेश्वर के पूर्व में शख और लिखित द्वारा स्थापित दो शिव मन्दिर।

विश्वेश्वर—इनके दर्शन तथा पाशुपत व्रत से फल मिलता था। उस मन्दिर के पूर्वोत्तर में अवधूत तीर्थ था।

पशुपतीश्वर—अवधूत तीर्थ से लगा हुआ पूर्व में पश्चिमाभिमुख चतुर्मुख लिंग। उसके दक्षिण भू-भाग में गोभिल ऋषि द्वारा स्थापित पचमुख शिवलिंग था तथा पश्चिम में विद्याधरपति जीमूतवाहन द्वारा स्थापित शिवलिंग।

गभस्तीश्वर—सूर्य द्वारा स्थापित पश्चान्मुख लिंग। उसके दक्षिण में दधिकर्णह्रद तथा उत्तर में एक कूप जिस पर दधिकर्णेश्वर का मन्दिर था।

ललिता—गभस्तीश्वर के उत्तर में उत्तराभिमुखी देवी। यहाँ लोग जागरण करते थे, घर वनवाते थे, मूर्ति के आगे दीपदान करते थे, झाडू लगाते थे तथा ब्राह्मणो और ब्राह्मणियो को भोजन कराते थे। वही मुखप्रेक्षणिका की मूर्ति थी जिसकी माघ मास की चतुर्थी को उपवास रख कर पूजा होती थी।

वृत्रत्वाष्टेश्वर—मुखप्रेक्षा के उत्तर में। यहाँ त्रिरात्रि का फल था।

चर्चिका—ललिता के उत्तर में। उसके आगे रेवन्त द्वारा स्थापित पूर्वाभिमुख लिंग था। उसके आगे पश्चान्मुख पचनदीश्वर थे। ललिता से लगा पूर्व में एक कूप था और उसके दक्षिण में पचनद तीर्थ था। यही पर उपमन्यु द्वारा स्थापित अनेक मुखोवाला लिंग था। उसी के पास पश्चिम में व्याघ्रपाद द्वारा प्रतिष्ठित लिंग था।

विश्वकर्म और दूसरे लिंग—गभस्तीश्वर के आगे।

शशाकेश्वर—गभस्तीश्वर के दक्षिण में । वही पर गन्धर्व चित्रेश्वर द्वारा स्थापित चित्रेश्वर थे ।

जैमिनीश—चित्रेश्वर के पश्चिम में जैमिनि द्वारा स्थापित । उसके आगे समन्त तथा और ऋषियो द्वारा स्थापित लिंग थे । उनके दक्षिण कोने में बुधेश्वर का पश्चान्मुख लिंग था । बुधेश्वर के वायव्य कोण में पास ही में रावणेश्वर लिंग था । उसके पूर्व में एक चतुर्मुख लिंग था ।

वराहेश्वर—रावणेश के दक्षिण में पूर्वाभिमुख लिंग । उसके दक्षिण में भी एक पूर्वाभिमुख लिंग था । उसके दक्षिण में दक्षिणाभिमुख गालवेश्वर का लिंग था । उसी के पास आयोगसिद्धि लिंग था ।

वातेश्वर—आयोगसिद्धि के दक्षिण में । उसी के आगे सोमेश्वर का पश्चान्मुख लिंग था । उसी के नैर्ऋत भाग में अगारेश्वर का पूर्वमुख लिंग था । उसके पूर्व में कुक्कुटेश्वर तथा उसके उत्तर में पाडवो द्वारा स्थापित पाँच लिंग थे । उन्ही के बीच सवर्तेश्वर थे ।

श्वेतेश्वर—सवर्तेश्वर के पश्चिम में पूर्वाभिमुख लिंग ।

कलशेश्वर—श्वेतेश्वर के पश्चिम में कलश से उत्थित लिंग । इसकी उत्पत्ति श्वेत मुनि के कलश से बतलायी गयी है । इसके दर्शन से जन्म जरा और मृत्यु से मुक्ति मानी गयी है ।

चित्रगुप्तेश्वर—कलशेश्वर के उत्तर में चित्रगुप्त द्वारा स्थापित लिंग । उसके पश्चिम में छाया द्वारा तथा विनायक द्वारा स्थापित लिंग थे । विनायक के पूर्व में एक कुड था जहाँ विरूपाक्ष का पश्चान्मुख लिंग था । उसके दक्षिण में एक कूप था ।

गुहेश्वर—कलशेश के दक्षिण में । उसके दक्षिण पार्श्व में उत्तमेश्वर और वामदेव थे । उसके पश्चिम में कवलाश्वतराक्ष गधर्व द्वारा स्थापित लिंग था । नलकूबरेश्वर भी वही थे ।

मणिकर्णी देवी—नलकूबरेश्वर के दक्षिण में । उसके आगे एक कुड में मणिकर्णीश्वर का मदिर था । उसके उत्तर में परमेश्वर थे और उसके पास ही धर्मराज द्वारा स्थापित लिंग । उसके पश्चिम में निर्जरेश्वर थे जिनके दर्शन से सब व्याधियाँ नष्ट हो जाती थी । निर्जरेश्वर के नैर्ऋत्त कोण में नदीश्वर थे जहाँ पिंडदान का महत्व था ।

बाणेश्वर—नदीश्वर के दक्षिण में । उसके दक्षिण दैत्यराज बाण द्वारा स्थापित लिंग था ।

कूष्माडेश्वर—बाणेश्वर के दक्षिण में । उसके पूर्व में राक्षस द्वारा प्रतिष्ठित शिवलिंग तथा दक्षिण में गगा द्वारा स्थापित गगेश्वर थे ।

गगातीर के लिंग—गगेश्वर के उत्तर में वैवस्वतेश्वर, उसके पश्चिम में आदित्यो द्वारा स्थापित लिंग, उसके आगे वज्रेश्वर, कनकेश्वर का छाया लिंग उसके आगे तारकेश्वर और कनकेश्वर थे ।

मनुजेश्वर—कनकेश्वर के उत्तर में मुखलिंग था, और उसके आगे इन्द्र द्वारा स्थापित लिंग।, इन्द्रेश्वर के दक्षिण में रभा द्वारा स्थापित शिव लिंग, तथा उत्तर में शची द्वारा स्थापित लिंग थे। शचीश्वर के उत्तर भाग में लोकपाल, देव, असुर, मरुद्, यक्ष, नाग, गवर्व, किन्नर, तथा अप्सराओ द्वारा स्थापित लिंग थे। दक्षिण में फाल्गुनेश्वर तथा महापाशुपतेश्वर थे।

समुद्रेश्वर—महापाशुपतेश्वर के दक्षिण में समुद्र द्वारा स्थापित लिंग। दक्षिण में ईशान, पूर्व में लागलि थे। वही नकुलीश का पूर्वाभिमुख लिंग चार पुरुषो से युक्त था।

देवदेव—इस लिंग के वारे में एक कथा दी हुई है। एक समय जव देवदेव का लिंग राक्षस आकाश मार्ग से ले जा रहे थे। विचारा लिंग सोचने लगा कि विना अविमुक्त के उसकी गति सभव नही थी। इतने में उस प्रदेश से कुकड़ूँ कूँ की आवाज आयी, जिसे सुनकर राक्षस लिंग छोड कर भागे और इसका नाम अविमुक्त पडा। उन दिनो भी उस मदिर में कुक्कुटो की पूजा होती थी। मदिर के दक्षिण भाग में एक वापी थी उसके जल की पश्चिम में दडपाणि रक्षा करते थे। पूर्व में तारक उत्तर में नदीश और दक्षिण में महाकाल थे।

प्रीतकेश्वर—अविमुक्तेश्वर के आगे पश्चान्मुख लिंग। अविमुक्त के उत्तर में मोक्षेश्वर थे। उसके उत्तर में वरुणेश्वर का चतुर्मुख लिंग था।

सुवर्णाक्षेश्वर—वरुणेश्वर के पूर्व में मुखलिंग, उसके उत्तर में गौरी, दक्षिण में निकुभ तथा पश्चिम में विनायक थे।

विजयास्य—निकुभ के पूर्व में। इसके दक्षिण में शुक्रेश्वर, उत्तर में देवयानी द्वारा स्थापित लिंग। उसके आगे कच द्वारा स्थापित लिंग जिसके पास ही एक कूप था। पूर्व में अनर्केश्वर और गणेश्वर थे।

रामेश्वर—उसके दक्षिण में त्रिपुरान्तक और दत्तात्रेय द्वारा प्रतिष्ठित लिंग, पश्चिम में हरिकेशेश्वर और गोकर्णेश्वर थे। उत्तर में एक तडाग था जिसके पश्चिम तट पर देवेश्वर थे और उनके सामने एक कुड।

पिशाचेश्वर—देवेश्वर के उत्तर में, उसके आगे ध्रुवेश का मुख-लिंग, उसके पश्चिम में एक कुड पर वैद्यनाथ। नैऋंत भाग में मनु द्वारा स्थापित एक लिंग, पश्चिम में मुचुकुदेश्वर तथा दक्षिण में गौतमेश और विभाडेश्वर।

ऋष्यशृगेश्वर—विभाडेश्वर के दक्षिण में, उसके पूर्व में ब्रह्मेश्वर तथा पश्चिम में पर्जन्येश्वर।

नहुषेश्वर—पर्जन्येश्वर के पूर्व में, उसके पूर्व में विशालाक्षी, दक्षिण में जरासधेश्वर का चतुर्मुख लिंग और ललितका देवी।

हिरण्याक्षेश्वर—जरासधेश्वर के आगे मुखलिंग, उसके दक्षिण में ययातीश्वर का मुख लिंग था, उसके पश्चिम ब्रह्मेश के पास अगस्त्येश्वर, उसी के पास विश्वावसु द्वारा स्थापित लिंग।

मुडेरा—अगस्त्येश्वर के पूर्व मे उसके दक्षिण में, दशाश्वमेधिक लिंग और उसके उत्तर में नवमातृकाओ का मदिर और कुड ।

पुलस्त्येश्वर—अगस्त्येश्वर के दक्षिण में, उसके दक्षिण में पुष्पदंतेश्वर और वहुत से लिंग थे। उसके पूर्व में सिद्धेश्वर जिनकी पचोपचार पूजा से सिद्धि मिलती थी।

हरिश्चद्रेश्वर—पूर्व में ऋतेश्वर, दक्षिण में अगिरेश और क्षेमेश्वर, कालजर और लोलार्क।

दुर्गादेवी—लोलार्क के पश्चिम में।

असितेश्वर—दुर्गा के पश्चिम में, वही अम्मी (शुष्कनदी) के नाम मे शुष्केश्वर का मदिर था। उसके पश्चिम में जनकेश्वर, उत्तर में शंकुकर्णेश्वर तथा एक कुड पर स्थित सिद्धेश्वर।

माडव्येश्वर—शंकुकर्णेश्वर के वायव्य भाग में। उसके उत्तर में छागलेश्वर, पश्चिम में कपर्दीश्वर, पूर्व में हस्तिश्वर, दक्षिण में कात्यायनेश्वर तथा अगारेश्वर थे। अगारेश्वर पर एक कुड था और उसके दक्षिण में मुकुरेश्वर। कुड के वगल में छागलेश्वर का मदिर था।

वाराणमी के लिंगों की इतनी विशद व्याख्या के बाद लिग पुराण का कहना है कि वहाँ असख्य लिग थे जिनका वर्णन असभव था, केवल इतने ही सिद्ध लिगो, कूपो, ह्रदो, वापियो, नदियो का वर्णन कर दिया गया जिनके स्पर्श मे ही मुक्ति मिलती थी।

चतुर्दशीआयतन—यात्री वरणा में स्नान करके पहले शैलेश का दर्शन करता था। सगम पर स्नान और सगमेश्वर का दर्शन, स्वर्लीन में स्नान और स्वर्लीनेश्वर का दर्शन, गगा में स्नान और मध्यमेश्वर का दर्शन, हिरण्यगर्भ में स्नान और ईश्वर का दर्शन, मणिकर्णी में स्नान और ईशानमीश्वर का दर्शन, कूप जल स्पर्श करके गोप्रेक्षमीश्वर का दर्शन, कपिलह्रद में स्नान करके वृषभध्वज का दर्शन, उसके वाद उपशात के कूप का जल स्पर्श, पचचूडाह्रद में स्नान तथा ज्येष्ठ-स्थान का अर्चन, चतु समुद्रकूप में स्नान, देव की पूजा तथा उसके आगे के कूप का जल स्पर्श तथा शुद्धेश्वर का दर्शन, दडखात में स्नान तथा व्याडेश की पूजा, शौनकेश्वर कुड में स्नान तथा जवुकेश्वर की पूजा कृष्ण चतुर्दशी से लेकर प्रतिपदा तक होती थी।

अष्टायतन—लागलीश, आपाढीश, भारतभूत, त्रिपुरांतक, नकुलीश, त्र्यवक, अविमुक्त, देवदेव।

पचायतन—शिव का कहना है उन्हें पचातन जो वाराणमी के उत्तर में स्थित था वहुत प्रिय था। यहा भस्मनिष्ठ एकातवासी ब्राह्मण रहते थे। इनमें ओकार की मूर्ति दव्य थी। अविमुक्त स्वर्लीन और मध्यमेश्वर को त्रिकटक कहा गया है। ईश्वर के पडग माने गये है। यथा—

चैत्रमास में कामकुड में स्नान और पूजन, वैशाख मास में विमलेश्वर कुड में स्नान और पूजन, ज्येष्ठ मास में रुद्रवास कुड में स्नान और पूजन, आपाढ में श्री कुड में स्नान

और पूजन, श्रावण में लक्ष्मीकुड में स्नान और पूजन, आश्विन मे कपिलह्रद और मार्कंडेयह्रद मे स्नान और पूजन, मार्गशीर्ष मे कपालमोचन में स्नान और पूजन, पौष में गुह्यको की यात्रा, माघ में धनदेश्वर कुड तथा कोटितीर्थ मे स्नान और पूजन। फाल्गुन १४ को पिशाची चतुर्दशी पडती थी। यात्रा में मिष्टान्न सहित उदकभाड के दान का आदेश था।

गौरी पूजा—फाल्गुन शुक्ल पक्ष तृतीया के दिन स्नान के बाद गोप्रेक्ष का दर्शन उसके वाद कालिका देवी की पूजा, ज्येष्ठ स्थान में गौरी और ललिता की पूजा। ललिता के स्थान में ब्राह्मण भोजन, वस्त्र तथा दक्षिणा।

विनायक—पहले ढुढि फिर क्रमश कोण विनायक, देवढि विनायक, गोप्रेक्ष के हस्ति-विनायक और सिंदूर विनायक के दर्शन। यहाँ ब्राह्मणो को लड्डू देने की विधि थी।

क्षेत्ररक्षित चडिकाएँ—दक्षिण में दुर्गा, नैर्ऋत में उत्तरेश्वरी, पश्चिम में अगारेशी, वायव्य में भद्रकाली, उत्तर में भीष्मचडी, तथा महामुडा। ऊर्ध्वकेशी और शाकरी सब जगह थी तथा चित्रघटा मध्य में।

वाराणसी में शिवलिंगो के उपर्युक्त वर्णन में तीर्थ माहात्म्य के सिवा और भी वाते आयी है जिनसे तत्कालीन वाराणसी के शैवधर्म पर प्रकाश पडता है। लिंगो की स्थापना का श्रेय तो अधिकतर देवी देवताओ, किन्नरो, राक्षसो, अप्सराओ ऋषियो इत्यादि को दिया गया है पर लिंगपुराण में अनेक ऐसे उल्लेख है जिनसे वाराणसी के पाशुपत सिद्धो के नाम आये है। वरणेश्वर के मदिर में पाशुपत अश्वपाद को सिद्धि मिली (पृ० ५३), तथा विमलीश के सान्निध्य में (पृ० ५६) पाशुपत सिद्ध त्र्यबक को (पृ० ५६)। कपिलेश्वर के नीचे एक गुहा थी जिसमें सभवत पाशुपत गण तप करते थे (पृ० ५७)। उद्दालकेश्वर के आस-पास वाष्कलि और पाशुपत भाव सिद्ध रहते थे (पृ० ५९–६०) तथा अरुणीश के पास योग सिद्ध (पृ० ६०)। पाशुपतो की दृष्टि से कपिलेश्वर का मदिर विशेष महत्त्व का था। कपिलेश्वर के आस-पास कौस्तुभ, और सार्वाणि को सिद्धि मिली। उसी के नीचे श्रीमुखी नाम की गुहा थी जिसमें पाशुपत रहते थे। यहाँ पाशुपत अघोर को सिद्धि मिली (पृ० ६०–६१)। दृमिचडेश्वर के सान्निध्य में पाशुपत कौथुमि को ज्ञान प्राप्त हुआ। कालेश्वर के पास पिंगाक्ष नामक पाशुपत रहते थे (पृ० ७२)। कृत्तिवासेश्वर पाशुपतो का अड्डा (पृ० ७७) था। सिद्धकूट में पाशुपत जप-तप में निरत रहते थे।

कुछ अजीब शैव क्रियाओ का भी उल्लेख आया है। कोटीश्वर के आग्नेय दिशा में श्मशान स्तम्भ था जहाँ मनुष्य अपने दुष्कृतो को तज देते थे (पृ० ५४)। कालेश्वर मे शिवभक्त त्रिशूल का दाग लेते थे तथा देवदेव के मन्दिर में कुक्कुटो की पूजा होती थी (पृ० १०९)। वाराणसी मे अग्निपात का तो अनेक वार उल्लेख हुआ है। १९ वीं सदी तक यह क्रिया वाराणसी में विद्यमान थी। लक्ष्मीधर ने इस अग्निपात का विधि पूर्वक वर्णन किया है (पृ० २५८ मे)। वायु पुराण के अनुसार जो ब्राह्मण निम्न लिखित मन्त्र का ध्यान करके अग्नि प्रवेश करता था उसे रुद्रलोक की प्राप्ति होती थी—

त्वमग्ने रुद्रस्त्व सुधामहोदधिस्त्व, सर्वे मारुता क्षिप्रमीयिरे,
त्व वार्तर्यासिसगरी यस्त्व प्रस्थिमायीरूप पातयन् माम्।

देवी पुराण के अनुसार अग्निपात के पहले शिवरूप भैरव की पूजा होती थी तथा भैरव का पटचित्र बनाया जाता था। उनकी पचीस भुजाएँ होती थीं जिनमें खड्ग, खेटक, शूल, चक्र, गजचर्म, खट्वांग, वज्र तथा डमरू होते थे। वे दन्तुर और त्रिलोचन होते थे और नाना शिव और शिवाओं से घिरे होते थे। नागराज छुरी की जगह, वासुकी उपवीत की जगह, जटाबन्ध में कुटिल तथा कंकण की जगह शंखपाल होते थे। तक्षक और पद्मराग केयूर का काम देते थे और पद्म और कर्कोटक नूपुर का। इनके दोनों ओर गजमुख और हस्तिमुख वाले शूलधारी पुरुष होते थे और दो आयुध पुरुषों में एक के हाथ में कपाल और शूल और दूसरे के हाथ में उत्पल और अंकुश होते थे। ब्रह्मा और विष्णु उनके सेवक होते थे और उनका रूप अंधकासुर जैसा होता था। उसकी पूजा करने के बाद वीर आठ प्रकार से अपने को अग्नि में होम देता था—(१) पतंगपात—इसमें पतिंगे की तरह वीर आग में गिरता था। (२) हंसपात—हंस की तरह दोनों बगलें सिकोड़ कर अग्निपात। (३) मृगपात—मृग जैसे समपाद होकर अधे गढे को पार करता है। (४) मुसल—जैसे ओखल में मूसल गिरता है। (५) शाखापात। (६) विमानपात। (७) वृष की तरह हुंकारते हुए अग्निपात। (८) सिंहपात—जैसे सिंह गजेन्द्र को मार कर तनता है, उसी तरह तनकर अग्निपात। स्त्रियों को भी अग्निपात का अधिकार था। यह भी कहा गया है कि भैरव वैष्णव के अस्थि की माला तथा शाम्भव कंचुक धारण करते थे। इनकी प्रतिमाएँ चित्रित होती थीं अथवा धातु काष्ठ अथवा रत्नों से बनी होती थीं। इनकी पूजा घर, पर्वत, नदी और विंध्याचल के सान्निध्य में विहित थी। इनके लिये मठ, कूप और आराम बनवाये जाते थे।

द्वितीय खण्ड

प्रथम अध्याय

१२१० से १५१६ ईस्वी तक बनारस का इतिहास

१ इतिहास

कुतुबुद्दीन ऐबक और शहाबुद्दीन गोरी ने ११९४ ईस्वी में बनारस को फतह किया और बनारस की हुकूमत उन्होने अपने एक बडे आला अफसर के हाथ सुपुर्द किया, जिसने बनारस से मूर्तिपूजा हटाने का पूरा प्रयत्न किया।[1] बनारस की अनुश्रुतियो के अनुसार इस सूबेदार का नाम सैयद जमालुद्दीन था और मशहूर है कि उसी ने बनारस का जमालुद्दीन पुरा मुहल्ला बसाया। पर बनारस कुछ ही दिनो के बाद मुसलमानो के हाथ से निकल गया और उसे कुतुबुद्दीन को ११९७ ईस्वी में दोबारा फतह करना पडा। बनारस की अनुश्रुति के अनुसार कुतुबुद्दीन के राज्य काल में बनारस का सूबेदार मुहम्मद बाकर था। कुतुबुद्दीन के बाद शम्सुद्दीन इल्तुतमिश (१२११-१२२६ ईस्वी) दिल्ली के तख्त पर बैठा। गद्दीनशीन होते ही इल्तुतमिश को जो अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडा, उनमें अवध और बनारस के सूबो की बगावत भी थी।[2] पर इन सब बगावतो को उसने कुचल डाला और बनारस पर उसका अधिकार काफी सुदृढ हो गया।[3] गुलाम सल्तनत १२३६ ईस्वी तक चलती रही पर उसके इतिहास में बनारस के बारे में कोई विवरण नही मिलता।

हम पहले ही कह आये है कि गोरी और कुतुबुद्दीन की फौजो ने बनारस में काफी तबाही मचा दी और प्राय सब मन्दिर जमीन्दोज कर दिये। गुलाम वश के सुल्तानो के समय में, जान पडता है, बनारस में कई मस्जिदे, हिन्दू मन्दिरो के अमलो से बनवायी गयी। इनमें से मुख्य दारानगर से हनुमान फाटक की सडक पर अढाई कगूरे की मस्जिद है। इस मस्जिद का गुबद दर्शनीय है। मस्जिद का निचला भाग हिन्दू मन्दिरो के अमले से बना है। इसके दूसरे मजिल मे ११९० ईस्वी का सस्कृत एक लेख है जिसमें कुछ मन्दिरो और इमारतो के बनने का उल्लेख है।[4] इससे ज्ञात होता है कि यह मस्जिद बारहवी सदी के अन्त अथवा तेरहवी सदी के आरम्भ में बनी होगी। चौखम्भा मुहल्ले की चौबीस खम्भो वाली मस्जिद भी इसी युग की मालूम पडती है। गुलजार मुहल्ले में मकदूम साहब नाम की कब्रगाह के उत्तर और पश्चिम की ओर वाली दालानें भी हिन्दू मन्दिरो के स्तम्भो से बनी है। भदऊँ[5] मुहल्ले की भी मस्जिद हिन्दू मन्दिरो के सामान से

---

[1] ईलियट, भाग २, २२२-२२४

[2] कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इडिया, भाग ३, ५-५८

[3] ईलियट, भाग २, पृ० ३२४

[4] बनारस गजेटियर, पृ० २५७

[5] भारत कला भवन मे राजघाट से प्राप्त एक ताम्र-पत्र में यह भाद्रय के नाम मे उल्लिखित है। उक्त ताम्रपत्र गाहडवाल गोविन्दचन्द्र देव का है।

बनी है। राजघाट पर एक मस्जिद में एक दालान १५० फुट लम्बी और २५ फुट चौडी है। उसके खभे गाहडवाल युग के या इसके और पहले के है। राजघाट पर ही पत्तग शहीद के पास एक टूहे पर चार खम्भो वाली एक इमारत है जिसकी छत पर मूर्तियाँ बनी है। जान पडता है ये सब मस्जिदें तेरहवी सदी के आरम्भ में बनी।[1]

गुलाम सुल्तानो के समय हिन्दुओ की बनारस में क्या अवस्था थी, इसका ठीक-ठीक पता नही चलता। जान पडता है कि उन्हें कठोर शासन के अन्दर रहना पडा होगा। पर बनारस के हिन्दू अपने धार्मिक विश्वासो के सम्बन्ध में ऐसे ही हार मान लेने वाले नही थे। बनारस के ११९४ ईस्वी में पतन के साथ ही अविमुक्तेश्वर का मन्दिर भी गिरा दिया गया होगा। पर ऐसा पता चलता है कि इल्तुतमिश के राज्य काल में पुन श्री विश्वेश्वर का मन्दिर बना। इस युग में गुजरात के प्रसिद्ध दानी सेठ वस्तुपाल द्वारा बनारस में विश्वनाथ की पूजा के लिये एक लाख रुपये भेजने का उल्लेख हमें मिलता है।[2]

गुलाम सुल्तानो के बाद दिल्ली के तख्त पर ग्यासुद्दीन बल्बन बैठे। इन्होने १२६६ से १२८७ ईस्वी तक राज्य किया। इनके राज्य काल में भी बनारस के इतिहास के विषय में कुछ विशेष पता नही चलता। स्थानिक अनुश्रुति है कि इनके समय में बनारस के सूबेदार जलालुद्दीन अहमद थे और इन्होने जलालुद्दीनपुरा नाम का मुहल्ला बनाया।

१२८७ से लेकर १२९६ ईस्वी तक हमें बनारस के इतिहास के बारे में कुछ नहीं मिलता। १२९० ईस्वी में खलजियो ने दिल्ली पर अपनी सल्तनत कायम की और इस वश में सबसे प्रतापी बादशाह अलाउद्दीन हुआ (१२९६–१३१६)। इसके बारे में प्रसिद्ध है कि उसने हिंदुओ को मटियामेट करने की पूरी कोशिश की और वह मूर्तिपूजा का कट्टर शत्रु था। उसके राज्य में बनारस की क्या हालत थी, इसका कुछ पता नहीं चलता पर यह एक विचित्र बात है कि इसके राज्य के प्रथम वर्ष में ही बनारस में पद्मेश्वर का मदिर बना। इस बात का पता जौनपुर के लाल दरवाजा मस्जिद से मिले एक लेख से लगता है।[3] लाल दरवाजा मस्जिद १४४७ ईस्वी में बनी, इससे पता चलता है कि १२९६ से शायद १४४७ ईस्वी तक पद्मेश्वर का मदिर बनारस मे बना रहा। लेख निम्नलिखित है—

तस्यात्मज शुचिर्धीर पद्मसाधुरय भुवि, काश्या विश्वेश्वरद्वारि हिमाद्रिशिखरोपम।
पद्मेश्वरस्य देवस्य प्रकारमकरोत्सुधी, ज्येष्ठे मासि सिते पक्षे द्वादश्यास्बुधवासरे ॥

लिखिते मे सदा याति प्रशस्ति प्लववत्सरे सवत् १३५३।

अर्थात् पद्मसाधु ने काशी विश्वनाथ के मदिर के सामने १२९६ ईस्वी में पद्मेश्वर का मदिर बनवाया। इस लेख से दो बातो का पता चलता है एक तो यह कि १२९६ ईस्वी तक काशी में विश्वेश्वर का मदिर था और दूसरा यह कि उस समय तक भी नये मदिर बनारस में बन सकते थे। हिंदुओ को इस धार्मिक स्वतत्रता देने के दो कारण

---

[1] बनारस गजेटियर, पृ २५२, २५४-५५

[2] प्रबध कोश, परिशिष्ट १, पृ० १३२, कलकत्ता १९३५

[3] फुह्ररर, दि शर्की आर्किटेक्चर ऑफ जौनपुर, पृ० ५१

हो सकते है। एक तो यह कि बनारस की तरफ सुल्तानो का विशेष ध्यान नही था और दूसरे यह कि बनारस के प्रातीय शासक अपने मालिको की भाँति कट्टर नही थे।

बनारस से मिले हुए एक दूसरे लेख से पता चलता है कि वीरेश्वर नाम के किसी व्यक्ति ने मणिकर्णकेश्वर के मदिर की स्थापना की। लेख का समय सवत् १३५९ आषाढ वदि ११ भौमवार (मगलवार २४ अप्रैल १३०२) है।[१] जैसा श्री नागर का अनुमान है शायद मणिकर्णिका घाट के पास ही यह मदिर रहा हो। इस मदिर के बनने से इस बात की भी पुष्टि होती है कि किसी रोक टोक के बिना अलाउद्दीन के आरभिक राज्य काल तक बनारस में बराबर मदिर बनते रहे। शायद मणिकर्णिकेश्वर का मदिर बनवाने वाले वीरेश्वर के नाम पर ही काशी के वीरेश्वर घाट का नाम पड़ा।

१३२० ईस्वी में दिल्ली के तख्त पर तुगलक वश की स्थापना हुई। इस वश का सबसे प्रतापी राजा मुहम्मद तुगलक (१३२५–१३५१ ई०) हुआ। भाग्यवश इसके राज्य काल में बनारस की अवस्था पर जिनप्रभ सूरिकृति विविध तीर्थकल्प से काफी प्रकाश पड़ता है। जिनप्रभ सूरि एक प्रसिद्ध श्वेतावर जैन आचार्य थे और अनुश्रुति यह है कि उनका मुहम्मद तुगलक पर प्रभाव था। जो भी हो जिनप्रभसूरि ने तमाम जैनतीर्थों की, जिनमें काशी भी थी, यात्रा की और इन सब तीर्थों का विवरण उन्होने अपनी पुस्तक विविधतीर्थ-कल्प में एकत्र किया। विविधतीर्थ कल्प से पता चलता है कि जिनप्रभ का दृष्टिकोण वैज्ञानिक था और वे तीर्थों का वर्णन करते हुए हिंदू पुराणो की तरह केवल ग्रथों का ही सहारा नही लेते थे। उनके बनारस के वर्णन से बनारस की भौगोलिक स्थिति, बनारस सबधी किवदतियाँ, बनारस की धार्मिक स्थिति, विद्या इत्यादि सभी अगो पर प्रकाश पड़ता है।[२]

वाराणसी के बारे में विविधतीर्थ कल्प का कहना है कि सुवर्ण रत्नो से समृद्ध उत्तर-वाहिनी गगा से घिरी हुई उस नगरी में बड़े अद्भुत लोग रहते थे तथा वरणा और असी नाम की दो नदियो के इस नगरी में प्रवेश करने से ही नैरुक्तो द्वारा इसका नामकरण हुआ।

काशी के सबध में भी जिनप्रभ ने निम्नलिखित जैन अनुश्रुतियो का उल्लेख किया है—

१—यहा सातवें जिन सुपार्श्वनाथ का पृथ्वी देवी के कोख से जन्म हुआ। अपने राज्य का भोग करके खूब दान देने के बाद वे सम्मेतगिरि गये और वहा उन्हें मोक्ष मिला।

२—तेइसवें जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ का भी यही जन्म हुआ। इनके पिता का नाम अश्वसेन और माता का नाम वामा था। अपनी जवानी बनारस मे बिताकर ये सम्मेतगिरि पर केवली हुए। इनके सबध में कहानी है कि बचपन में मणिकर्णिका पर कमठ के पचाग्नि

---

[१] जर्नल यू० पी० हि० सो०, भा० ९, एप्रिल १९३६, पृ० २१ से

[२] विविधतीर्थ कल्प, जिन विजय द्वारा सपादित, पृ० ७२-७४, शाति निकेतन, १९३४

यज्ञ की एक लकडी से एक जलते हुए सर्प को निकालकर इन्होंने यज्ञादि कर्मों से लोगो को विरत किया।

३—इस नगरी में वेद और कर्मकाड के प्रकाड पण्डित जयघोष और विजयघोष नाम के दो भाई रहते थे। एक समय जयघोष ने गगा में स्नान करते हुए पृदाकुण द्वारा भेक को पकडे जाते एव कुशल द्वारा एक सर्प को पकडे जाते और जमीन पर उसे गिरा कर खाये जाते देखा। इन दृश्यो से उन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ। साधु होने के दूसरे दिन वे बनारस आये और ब्राह्मण-यज्ञशाला में प्रवेश करना चाहा पर ऐसा करने मे उन्हें दान के इच्छुक ब्राह्मणों ने रोका। बाद में उन्होंने अपने उपदेशो से उन्हें अपनी ओर झुका लिया। कुछ दिनो के बाद उनके भ्राता विजयघोष ने ससारी जीवन का त्याग किया।

४—यहाँ पर सवाहन नाम के राजा की हजार कन्याओं की लालच से एक दूसरे राजा द्वारा नगरी घेरे जाने पर गर्भस्थ होते हुए भी अगवीर ने राजलक्ष्मी की रक्षा की।

५—मृतगगा के किनारे पैदा हुए मातग ऋषि बल एक समय वाराणसी में तिंदुक नाम के एक उपवन में ठहरे। यहाँ अपने आचार से उन्होंने गडी तिंदुक नामक यक्ष का ध्यान आकर्षित किया। कोसल-राज की कन्या भद्रा ने इस गदे ऋषि को देखकर उस पर थूक दिया। इस पर यक्ष भद्रा के सिर पर सवार हो गया और उसे ऋषि से विवाह करना पडा। बाद में ऋषि ने उसे छोड दिया और उसने रुद्रदेव से अपना विवाह कर लिया। एक समय भिक्षा माँगते हुए मातग ऋषि पर ब्राह्मण हँसे और उनकी बेइज्जती की लेकिन वहाँ भद्रा ने उन्हें पहचान लिया। बाद में उन्होंने ब्राह्मणो को क्षमा कर दिया।

६—इस नगरी में भद्रसेन नाम के एक वृद्ध श्रेष्ठि रहते थे। उनकी पत्नी का नाम नदा और पुत्री का नाम नदश्री था। एक समय पार्श्वनाथ ने उनके निजी मन्दिर मे अपना समय बिताया। उसी समय नदश्री साध्वी हो गयी और उसे पार्श्वनाथ ने आर्या गोपालि के नियत्रण में रक्खा।

७—इस नगरी में धर्मघोष और धर्मयशस् नाम के दो तपस्वी रहते थे। एक समय हेमत में गगा पार करते हुए उन्हें प्यास लगी, लेकिन वे गगा का पानी पी नहीं सकते थे। इस पर देवताओ ने दही लाकर दी पर उसे भी उन्होंने स्वीकार नही किया। देवताओ ने गर्मी से इन तपस्वियो की रक्षा करने के लिए आकाश में बादल कर दिये। गाँव लौटने पर उञ्छवृत्ति से ग्रहण किये गये अन्न से उन्होंने अपनी भूख मिटायी।

८—अयोध्या के राजा त्रिशकु के पुत्र हरिश्चन्द्र अपनी पत्नी सुतारा और पुत्र रोहिताश्व के साथ सुख से कालयापन कर रहे थे। उनकी कीर्ति गाथा सुन कर चन्द्रचूड और मणिप्रभ नाम के दो देवता पृथ्वी पर अवतरित हुए और जगली सूअर का रूप धर के अयोध्या के पास शक्रावतार नामक उपवन को नष्ट करने लगे। हरिश्चन्द्र ने तो इन सूअरो को तो तीर से मार डाला पर ऐसा करने में एक सूअर के बदन से तीर निकल कर एक गर्भिणी हिरनी को लगा और वह चल बसी। अपने पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए राजा कुलपति के पास पहुँचे। कुलपति और उनकी कन्या दोनो ही राजा पर बहुत

अप्रसन्न हुए। उनको प्रसन्न करने के लिए राजा ने अपना पूरा राज्य तो उन्हें दे ही दिया पर उसके साथ एक लाख सुवर्ण मुद्राएँ भी देने का वादा किया। ऋषि कौटल्य के साथ राजा अपने नगर वापस आये और कोपाध्यक्ष को मुहरे लाने को कहा। इस पर ऋषि ने राजा को बेवकूफ बनाते हुए कहा कि अपना सब दान देने पर उन्हें उस द्रव्य पर कोई अधिकार नही था। जब राजा के मत्री वसुभूति और उनके मित्र कुतल ने बीच बचाव करना चाहा तो ऋषि ने शाप देकर एक को तोता और दूसरे को सियार बना दिया। एक महीने में कर्ज उतारने का वादा करके अपने पुत्र और पत्नी के साथ राजा काशी में आये और वहाँ उन्होने उन दोनो को वज्रहृदय नामक ब्राह्मण के हाथ छह हजार मुहरो पर बेंच डाला। सुतारा को ब्राह्मण के यहाँ दासी का काम करना पडता था और रोहिताश्व को ब्राह्मण के लिए ईधन और फल-फूल इकट्ठा करना पडता था। इसी बीच में कुलपति अपना कर्ज राजा से वसूलने को आ धमके और राजा ने उन्हें छह हजार मुहरें भेंट कर दी। बाकी रुपये के लिये कुलपति ने हरिश्चन्द्र को काशिराज से भीख माँगने की सलाह दी पर राजा ने उसे नही माना और अपने आप को एक चाडाल के हाथ बेंच दिया। इस चाडाल ने राजा को श्मशान भूमि की देख-रेख पर नियुक्त किया। देवताओ ने राजा के सत्य की और घोर परीक्षा के लिए नगर में महामारी का प्रकोप फैलाया। इसका दोष सुतारा के सिर मढा गया और उसे गधे पर चढ़ाकर शहर से निकाल कर एक बरगद के पेड के साथ बाँध दिया गया। उस कष्ट से हरिश्चन्द्र ने उसका उद्धार किया। इसी बीच में फूल चुनते हुए रोहिताश्व को एक साँप ने डस लिया और उससे उसकी मृत्यु हो गयी। जब उसका शव दाह के लिए श्मशान में लाया गया तो हरिश्चन्द्र ने श्मशान का कर माँगा। इसी समय देवता प्रकट हुए और उन्होने हरिश्चन्द्र को उनकी पूर्वावस्था पर पहुँचा दिया।[1]

काशी माहात्म्य में इस बात की चर्चा है कि कलियुग को काशी में स्थान नही है। यहा कीट पतग और घोर पाप करने वालो को भी शिव का परम पद मिलता है।

यहा धातुवाद, रसवाद, खन्यवाद तथा मत्रविद्या से निपुण लोग रहते थे। शब्दानुशासन, तर्क, नाटक, अलकार और ज्योतिष के सिरे के पडित भी इस नगरी मे वास करते थे। निमित्तशास्त्र और साहित्यादि विद्याओ के निपुणो की भी यहा कमी नही थी। यहा के रहने वाले परिव्राजको, जटाधारियो, योगियो तथा ब्राह्मणो की समभाव से सेवा करते थे। चारो दिशाओ और देशान्तर के निवासी यहाँ रहते थे और कला कुतूहल में अपना समय व्यतीत करते थे।

वाराणसी इस समय चार भागो में विभक्त थी—यथा देव वाराणसी जहाँ विश्वनाथ का मदिर था। इस देव वाराणसी में जैन चतुर्विंशति पट्ट की उस समय भी पूजा होती थी। दूसरी राजधानी वाराणसी में यवन रहते थे। तीसरी मदन वाराणसी थी और चौथी विजय वाराणसी। इस नगरी में लौकिक तीर्थों की गणना में कौन समर्थ था ?

---

[1] वही, पृ० ७३–७४

यहा अनेक अन्तर्वण, दन्तखात, निकषा और तालाव थे। श्री पार्श्वनाथ का चैत्य अनेक प्रतिमाओ से विभूषित था। यहा की पुष्कारिणियो में नाना जाति के कमल खिलते थे जिनके अमल परिमल से भ्रमरकुल आकृष्ट होते थे।

इस नगरी में विना भय के वदर इधर उधर कूदा करते थे, पशु भी वेधडक घूमा करते थे और धूर्त भी नि सकोच टहलते रहते थे।

वाराणसी से तीन कोस पर धर्मेक्षा नाम का सन्निवेश था जहा वोधिसत्त्व का ऊँचा गगनचुवी आयतन था।

यहा से अढाई योजन पर चन्द्रावती नाम नगरी थी जहा श्री चन्द्रप्रभु ने जन्म ग्रहण करके अखिल भुवन के लोगो को तुष्ट किया।

गगोदक और दो जिनो के जन्मस्थान से प्रकाशित काशी नगरी किसे प्यारी नही होगी।

काशी के चौदहवी सदी के मध्य के वर्णन से यह पता चलता है कि मुसलमानो के अनेक अत्याचारो के होते हुए भी काशी ने अडिग भाव से धार्मिक और सास्कृतिक क्षेत्रो में अपना नाम जीवित रक्खा। इस युग में भी वनारस शिक्षा का प्रधान केन्द्र वना रहा और यहा वेद-वेदागो तथा व्याकरण की शिक्षा के अतिरिक्त धातुवाद, रसवाद और खन्यवाद जैसे वैज्ञानिक विषयो की भी शिक्षा दी जाती थी। मत्रशास्त्र, ज्योतिष और निमित्त शास्त्र के भी निष्णात इस नगरी में रहते थे। साथ ही साथ नाटक, अलकार और साहित्य का भी यहाँ पठन-पाठन चलता रहता था।

जिनप्रभ से हमें यह भी मालूम पडता है कि उस समय भी विश्वनाथ का मदिर देववाराणसी में स्थित था। जैनो का भी काशी उस समय तीर्थ क्षेत्र वन चुका था। चौदहवी सदी में वहाँ पार्श्वनाथ का एक मदिर था, शायद वह मदिर भेलूपुर में रहा हो जहा अव भी पार्श्वनाथ का मदिर है। चन्द्रावती भी जैनो का आजकल की तरह ही पवित्र स्थान था। सारनाथ का धमेख स्तूप भी ज्यो का त्यो खडा था और लोग चौदहवी सदी तक यह नही भूले थे कि वह वोधिसत्त्व का परमपवित्र स्थान है। वनारस से धमेख और चन्द्रावती की जो दूरिया दी गयी है वह भी ठीक है और उससे यह पता लगता है कि जिनप्रभ ने सुनी-सुनाई वात नही लिखी है वे उन जगहो की यात्रा के लिए स्वय अवश्य गये होगे।

जिनप्रभ के काशी वर्णन से भी पता चलता है कि चौदहवी सदी में भी परिव्राजको, जटाधारियो और योगियो का आज की तरह ही वनारस अड्डा था और लोग उनका आदर करते थे।

वनारस शहर का भी उन्होने स्वाभाविक वर्णन किया है। उससे पता चलता है कि शहर में वहुत से तालाव और पोखरिया थी जिनमे तरह-तरह के कमल खिला करते थे। आज की ही तरह वन्दर इधर-उधर उछल-कूद मचाया करते थे और निर्द्वन्द्व

भाव से साँड इधर-उधर टहला करते थे। धूर्त और बदमाशो की भी चौदहवी सदी के बनारस में कमी नही थी।

नगर को जिनप्रभ ने चार वाराणसियो में बाँटा है। पहली है देव वाराणसी। शायद इस वाराणसी से दक्षिण की ओर बसे बनारस की ओर सकेत है। जान पडता है, देव मन्दिर चौदहवी सदी में इसी ओर बने थे और विश्वनाथ का भी मन्दिर यही था। अगर हमारा अनुमान सत्य है तो चौदहवी सदी का विश्वनाथ मन्दिर आज कल के पुराने विश्वनाथ के आस-पास रहा होगा। दूसरी वाराणसी राजधानी वाराणसी थी और यहाँ मुसलमान राजकर्मचारी रहते थे। निश्चय ही इस राजधानी वाराणसी का संकेत शहर के आदमपुर और जैतपुर हल्को से है। तीसरी वाराणसी को मदन वाराणसी कहा गया है। यह वाराणसी खास बनारस शहर का एक भाग न होकर गाजीपुर की जमानियाँ तहसील में थी। सोलहवी सदी के आरम्भ में जैसा तुजुक ए बाबरी[1] में कहा गया है बाबर ने मदन बनारस में अपना डेरा डाला था। अकबर के राज्यकाल में अलीकुली खान-खान ए-जमा ने इसका नाम जमानियाँ में बदल दिया और तभी से मदन बनारस का नाम जमानियाँ चला आता है। जान पडता है कि मदन-बनारस को बसाने का श्रेय गाहडवाल मदनचन्द्र को है। चौथा बनारस, विजय-वाराणसी भी खास बनारस शहर का भाग नही मालूम पडता। सम्भव है कि मिर्जापुर के विजयगढ का नाम विजय-वाराणसी रहा हो और इसे गोविन्दचन्द्र के पुत्र विजयचन्द्र ने बसाया हो।

फीरोज़ तुग़लक (१३५१–१३८८ ईस्वी) कट्टर मुसलमान था और उसके द्वारा मन्दिर तोडने और ब्राह्मणो के सताये जाने के अनेक उल्लेख इतिहास में आये हैं। जान पडता है फीरोज तुग़लक के समय तक ब्राह्मणो को शायद हिन्दू अफसरो की मदद से जज़िया से माफी थी। लेकिन इस्लाम के अनुसार तो सब काफिरो पर जज़िया लगना चाहिए। फीरोज ने देखा कि हिन्दुओ में से खास एक फिर्के का और उस फिर्के का, जो धर्म का ठीकेदार था, इस तरह जज़िया से निकल भागना इस्लाम की अवहेलना थी। इसलिए फीरोज ने निश्चय किया कि जज़िया सब हिन्दुओ से वसूला जाय। इस पर ब्राह्मणो ने बडा वावेला मचाया। वे राज महल के चारो ओर इकट्ठे होकर दुहाइयाँ देने लगे और जल मरने की धमकी दी। इस पर फीरोज ने इनसे खुशी से जल मरने को कहा, पर जल मरना कोई मामली बात तो थी नही। तब ब्राह्मणो ने भूखे रह कर महल पर धरना देना आरम्भ किया। इसका असर बादशाह पर तो न पडा उतर वर्ण के बेचारे हिन्दुओ पर इसका प्रभाव अवश्य पडा और उन्होने ब्राह्मणो पर लगी जज़िया का भार भी उठाया।[2] बनारस में ब्राह्मणो पर जज़िया लगने का क्या प्रभाव पडा इसका पता नही है पर दिल्ली के अन्य वर्ण के हिन्दुओ की तरह बनारस के सेठ साहूकारो ने भी अपने धर्म गुरुओ का यह भार उठाया होगा।

बनारस में फीरोज तुगलक की कट्टरता का सकेत शायद बकरिया कुड की एक मस्जिद मे मिलता है। यह मस्जिद हिन्दू मन्दिरो के अमले से बनी है और इसमें पाँच-पाँच

[1] तुजुक ए बाबरी (बेवरिज का अनुवाद), भाग २, पृ० ६५८, लडन १९२२

[2] कैंब्रिज हिस्ट्री, भाग ३, पृ० १८८

खंभो की तीन लडें लगी हैं। मस्जिद पर एक लेख से पता चलता है कि ज़िया अहमद नाम के किसी व्यक्ति ने १३७४ ईस्वी में फीरोज़ के राज्यकाल में मस्जिद, तालाव की सीढ़ियाँ और फखरुद्दीन अलावी की दरगाह की दीवाल वनवायी।[१] जान पडता है बनारस के मन्दिरो पर पुन विपत्ति के वादल घहराने लगे थे। वनारस का दिल्ली के सुल्तानो के हुकूमत मे बच रहने का एक कारण दिल्ली से पूरब की ओर जाने वाले रास्ते से बनारस अलग पड जाना है। यह रास्ता कन्नौज, अयोध्या, जौनपुर और गाजीपुर होकर निकल जाता था और इसीलिए कम से कम फौजियो से तो वनारस की रक्षा हो ही जाती थी।

१३९४ ईस्वी से बनारस के इतिहास में एक दूसरा दौर शुरू होता है और अस्सी साल से कुछ अधिक काल तक के लिए वनारस जौनपुर से शर्की सुल्तानो के हाथ में चला जाता है। जौनपुर को १३५९–६० ईस्वी में फीरोज शाह तुग़लक ने वसाया। १३९३ ईस्वी में ख्वाजा जहाँ मलिक सरवर ने दिल्ली से तुग़लक सुल्तान नसीरुद्दीन मुहम्मद तुग़लक से अपना सम्बन्ध तोडकर जौनपुर में अपना स्वतन्त्र राज्य कायम किया। इसने अवध, दोआव में कोइल तक और पूरब में तिरहुत और विहार तक अपना अधिकार वढाया। ख्वाजा जहाँ की मृत्यु १३९९ ईस्वी में हुई। इनके और इनके वशधरो यानी मलिक करनफूल मुवारक शाह (१३९९–१४०२ ईस्वी) और शम्सुद्दीन इब्राहीम शाह (१४०२–१४३६ ईस्वी) के समय तक बनारस की क्या अवस्था थी इसका कुछ पता नही लगता। पर महमूद शाह शर्क़ी (१४३६–१४५८ ईस्वी) के समय में लगता है वनारस के मन्दिरो की तोड-फोड़ फिर से आरम्भ हो गयी। जौनपुर की लाल दरवाजा मस्जिद १४४७ ईस्वी में वनी और इसमें वनारस के पद्मेश्वर के १२९६ईस्वी के लेख के मिलने से यह पता चलता है कि १४४७ईस्वी के आस पास ही बनारस का यह मन्दिर टूटा। विश्वनाथ के मन्दिर की भी यही गति हुई होगी इसमें सन्देह नही। हुसेन शाह शर्क़ी १४५८ ईस्वी में जौनपुर की गद्दी पर आये। दिल्ली के लोदी वादशाह वहलोल (१४५१-१४८९ईस्वी) से इनकी लडाइयाँ इतिहास प्रसिद्ध हैं। अन्त में १४७९ ईस्वी में हुसेन शाह को वहलोल से हार खाकर वगाल भाग जाना पडा और जौनपुर पुन दिल्ली के अधीन हो गया। वनारस में अनुश्रुति है हुसेन शाह के समय वनारस के फौजदार ग़ुलाम अमीना थे जिन्होने अमीन मण्डई मुहल्ला वसाया। लोदियो और शर्क़ियो के इस कशमकश में वनारस को और उसके मन्दिरो को काफी नुकसान पहुँचा होगा, इसमें सन्देह नही।

सिकन्दर लोदी (१४८९–१५१७ ईस्वी) के समय पुन वनारस के इतिहास की थोडी सी झलक मिलती है। हम कह आये है कि १४७८ ईस्वी में जौनपुर पुन दिल्ली की सल्तनत में मिला लिया गया। वहलोल ने जौनपुर की सूवेदारी हाथ में ले ली। सिकन्दर लोदी के गद्दी पर आते ही पुन टटा उठ खडा हुआ। सिकन्दर लोदी ने अपने भाई वारवक से समझौता करना चाहा। पर वारवक को हुसेन शाह, जो विहार में पडा था, वरावर इस उम्मीद में भडकाता रहा कि दोनो भाइयो की लडाई में उसका उल्लू सीधा होगा। इसका नतीजा यह हुआ कि वारवक को कन्नौज के पास सिकन्दर से हार खानी पडी। सिकन्दर ने उसके साथ भलमसी का व्यवहार किया और पुन उसे

---

[१] जे० ए० एस० वी०, २४, १, ४२, १९३

जौनपुर का शासक नियुक्त कर दिया पर साथ ही साथ उसके हाथ से प्राय सब अधिकार ले लिये। इतने से ही मामला खतम नही हुआ। कुछ ही दिनो में सुल्तान के पास खबर पहुँची कि हिन्दू जमीदारो ने बलवा कर दिया है। बारबक शाह ने अपने को कुछ करने में असमर्थ पाया पर सिकन्दर फौरन उसकी मदद को आ पहुँचा। जमीदारो को हार खानी पडी और जौनपुर में पुन बारबक आ विराजे और सिकन्दर शिकार खेलने के लिए अवध की तरफ चले गये पर बलवा न रुका और बारबक बलवाइयो को शह देने लगे। यह सुनकर सिकन्दर ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया और फाफामऊ के राजा भील को मात दी। अक्टूबर १४९४ ईस्वी में राजा लखमीचन्द को, जो फाफामऊ के राजा भील के पुत्र थे, हुसैन शाह ने सिकन्दर पर हमला करने को ललकारा। सिकन्दर हुसैन शाह से लडने को आगे बढ़ा। वह थोडी सी फौज चुनार में रखकर बनारस की ओर चला और बनारस शहर से करीब २५ मील पर उसे हराकर पटने तक खदेड दिया।[1] बनारस में अनुश्रुति है कि रघुवशी राजा डोमनदेव को सिकन्दर लोदी की इस लडाई में मदद करने से कटेहर का परगना मिला।[2]

सिकन्दर कट्टर मुसलमान था। मुसलमान इतिहासकार उसे सच्चा ग़ाजी मानते थे। मन्दिरो के नष्ट करने में और ब्राह्मणो का वध करने में तो वह एक था। बनारस पर भी इसके राज्य काल में बुरी ही गुजरी होगी और शायद उसके राज्यकाल में बनारस का एक भी मन्दिर न बचा हो। पर बनारस में जल्दी से अपनी प्राचीनता पर लौट आने की एक बहुत बडी शक्ति थी और सुल्तान युग के लाख अत्याचार भी बनारस को मिटाने में असमर्थ रहे। जौनपुर की हिन्दुओ की बग़ावत हुसैन शर्की के भडकाने से मानी जाती है, पर इसमें हिन्दुओ पर सिकन्दर लोदी द्वारा किए गये अत्याचार भी एक कारण हो सकते है।

२. सल्तनत युग में बनारस की धार्मिक स्थिति

कुतुबुद्दीन द्वारा बनारस दखल हो जाने पर एक बार तो बनारस के धार्मिक विश्वासो को गहरा धक्का लगा। ब्राह्मणो की धार्मिक सत्ता जाती रही और हिंदू धर्म के प्रतीक प्राय सब मदिर ढहा दिये गये। पर बनारस में लाख अत्याचार होने पर भी अपनी पूर्ववत अवस्था पर पहुँच जाने का एक विलक्षण गुण है। बनारस के दखल होने के कुछ ही वर्षो के अन्दर, इल्तुतमिश के काल में विश्वनाथ का मदिर पुन बन गया और गुजरात ऐसे सुदूर प्रात से भी वहाँ दान दक्षिणा आने लगी। १२९६ ईस्वी तक जो, जैसा पद्म साधु के पद्मेश्वर वाले लेख से पता चलता है, बनारस में फिर से मदिर भी बनने लगे। चौदहवी सदी के प्रथम चरण में तो पुन बनारस अपनी पूर्वावस्था पर आ पहुँचा था। हजारो की सख्या में लौकिक तीर्थ बन चुके थे और बाहर से भी लोग बनारस में आ आ कर बसने लगे थे। अपने कौशल से ब्राह्मणो ने अपने ऊपर से जज़िया भी माफ करवा ली होगी, और शायद सेठो के रुपयो के बल से, जिसमें से बहुत कुछ मुसलमान

---

[1] ईलियट, भाग ५, पृ० ९५

[2] बनारस गजेटियर, पृ० १९१–९२

अमल्दारो की जेब में भी जाता होगा, बनारस में पूर्ववत् धार्मिक और सामाजिक व्यवहार चलने लगे होंगे। पर बनारस का यह धार्मिक पुनरुत्थान क्षणिक था। फीरोज तुग़लक के गद्दी पर आते ही पुन हिंदुओं पर तबाही आ गयी और बनारस भी उससे न बच सका। जौनपुर के शर्की सुल्तानो के अधिकार में भी बनारस के हिंदू सुखी नही थे। पर बनारस को सबको गहरा धक्का सिकन्दर लोदी के समय लगा। सिकन्दर अपनी धार्मिक कट्टरता के लिए प्रसिद्ध था और उसने बनारस के हिंदुओं को अच्छी तरह कुचल डाला। इस भयकर धक्के से करीब सौ साल बाद ही बनारस सँभल सका।

बनारस का धार्मिक विश्वास सुल्तानी युग में भी पहले की तरह ही था। बाबा विश्वनाथ सर्वमान्य देवता थे, पर लौकिक देवताओं की सख्या, जैसा जिनप्रभ ने कहा है, असख्य थी। गगास्नान, व्रत, देव पूजा, उपवास, ब्राह्मण भोजन और पूजा पहले ही की तरह जारी थी। छुआछूत इत्यादि भी पहले जैसी ही थी। जिनप्रभ से हमें मालूम पडता है कि सन्यासी, परिव्राजक, जटाधारी साधू और योगी बनारस में विशेष तरह से बसते थे। और भी कितने ही मतमतातर बनारस में रहे होंगे, जिनका पता नही। मन्त्रशास्त्र का भी बनारस में काफी प्रचार होने से यह पता चलता है कि यहाँ तान्त्रिको की भी कमी नही थी।

उपर्युक्त विवरण से पता चलता है कि ब्राह्मण धर्म वही पुरानी लीक पकड रक्खी थी। पर भारत में इस्लाम के आगमन ने प्राचीन हिन्दू धर्म और सामाजिक व्यवस्था को बुरी तरह झकझोर डाला था। अब तक तो हिंदू धर्म की यह विशेपता थी कि जो भी मतमतान्तर बाहर से आये या भीतर से प्रकट हुए उन्हें उसने अपने विशाल धर्म में स्थान दे दिया और उसके पूजको और मानने वालो को इस बात की पूर्ण स्वतत्रता दे दी कि वे जिस देवता को चाहे पूजा करें और जो उनके धार्मिक विश्वास है उन्हें मानें। इस तरह हिन्दू धर्म किसी खास धर्म या मजहब का प्रतीक न होकर बहुत से विश्वासो और धर्मो का एक ढीलाढाला पुज बना रहा। पर इस्लाम एक सघटित धर्म था। इस्लाम की शरण में एक बार आ जाने वाले को यह स्वतत्रता नहीं थी कि वह अपने पहले धार्मिक विश्वासो पर भी आस्था रख सके। हिंदू धर्म अलग अलग जातियो का समुदाय है, पर इसके विपरीत इस्लाम व्यक्तियों को एक वृहत् समूह का अग बना देता है। हिंदू धर्म चरित्र की शुद्धता पर जोर देता है और इस्लाम मत पर। हिन्दू धर्म मत की विभिन्नताएँ होते हुए भी सबको परब्रह्म से मिलने का अधिकारी मानता है, पर इस्लाम के मत से मुसलमानो के अतिरिक्त और सब काफिर दोजख के अधिकारी है। भारत का ऐसे मत से पाला नहीं पडा था जो दूसरे की सुने ही नही, अपनी जबर्दस्ती चलाये। इसलिए कुछ दिनो तक तो हिंदू धर्म के होश हवास उडे रहे पर धीरे धीरे उसने इस नये वातावरण में अपने को सभालने का प्रयत्न किया, कुछ अपने प्राचीन रूप में एक व्यवस्था लाकर और कुछ नये विचारो को प्रश्रय देकर।

श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी[1] का मत है कि इस्लाम का सामना करने के लिये विशाल हिंदू धर्म के जगल मे एक पथ निकालने का प्रयत्न कुछ स्मार्त पडितो ने किया, जिससे हिंदुओं में श्राद्ध विवाहादि की एक रीति नीति प्रचलित हो सके। पर केवल आचार पर

---

[1] कबीर, पृ० १७२ से

ही जोर देनें से काम नही चलने का था उससे तो केवल जडता बढी और हिंदू जप तप स्नान होम पर ही जुट गये।

पर इन कट्टर पथी हिंदुओ के सिवा भी बनारस के आस पास और बिहार में नाथ पथी योगियो का बहुत जोर था। जिनप्रभ सूरि ने मुहम्मद तुगलक के समय में काशी के जिन तीन चार सप्रदायो के नाम गिनाये है उनमें योगी भी है। ये योगी स्मार्त मत और प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता) को नही मानते थे। ये गुणातीत शिव या निर्गुण तत्त्व के उपासक थे और इनकी साधना ध्यान और उपासना द्वारा होती थी। इनमें सिद्ध साधक और अवधूत तो गृहस्थ नही होते थे पर इनके शिष्यो में बहुत से आश्रम-भ्रष्ट गृहस्थ थे जो योगी जाति का रूप ग्रहण कर चुके थे। हिंदू तो इन्हें पतित मानते थे पर वे तब तक मुसलमान नही हुए थे।

इस तरह जब इस ह्रास काल में चारो ओर निराशा की लहर दौड रही थी बनारस में रामानद और उनके शिष्य हुए, जिन्होने मूढ धार्मिक विश्वासो के ऊपर उठकर प्रेम और भक्ति का एक नया रास्ता दिखलाया, जिसमें ऊँच नीच, जात-पात, यज्ञ, जप, होम इत्यादि धर्म के वाह्याडबरो को छोडकर मनुष्य की एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। इस नयी धार्मिक विचार धारा का आरम वनारस से उस समय हुआ जबकि हिंदुओ की आँखें निरतर पिटते रहने पर भी नही खुल रही थी। इस बगावत अथवा पुनरुत्थान की ओर पहला कदम बढाने वाले रामानद थे।

रामानद रामानुजी सप्रदाय के थे। एक अनुश्रुति के अनुसार १२९९ ईस्वी में उनका जन्म प्रयाग के एक ब्राह्मण कुल में हुआ और बारह वर्ष की अवस्था में वे बनारस में शिक्षा के लिये आये। यहा पहले तो उन्होने शाकर वेदात का अध्ययन किया पर बाद में श्री वैष्णव मत के आचार्य राघवानद के शिष्य होकर विशिष्टाद्वैतवादी हो गये। कुछ समय बाद रामानद तीर्थयात्रा पर गये और जान पडता है इस यात्रा मे उन्हें भिन्न जातियो के हिंदुओ से साबका पडने पर उनकी सकुचित दृष्टि विकसित हुई। रामानुज की शिक्षा तो केवल ब्राह्मणो तक ही सीमित थी और छुआछूत खान-पान के भेद के ऊपर वे नही उठ सके थे। अनुश्रुति है कि यात्रा से बनारस लौटने पर रामानद के मठवालो ने उन्हें प्रायश्चित्त के बिना लेनें से इन्कार कर दिया पर रामानद की तो आँखें खुल चुकी थी। उन्होने तुरत रामानुजी सप्रदाय का त्याग कर दिया और अपना स्वतत्र मत चलाया और इस सिद्धान्त का दृढ़ता के साथ प्रतिपादन किया कि राम की शुद्ध मन से उपासना करने वाले बिना किसी जाति भेद के एक साथ खा पी सकते थे। जातिवाद पर आश्रित हिंदू समाज के लिए तो यह बिलकुल नयी बात थी। रामानद नें जाति की फौलादी दीवारो की प्राचीन रूढियो को तोड डालने को कहा। पर वे केवल सिद्धात ही प्रतिपादित करके नही रह गये। उन्होने छोटो को ऊपर उठाया और उनको सामाजिक और धार्मिक एकता दी। उन्होने यह भी देखा कि नये मत के प्रचार के लिए सस्कृत से काम नहीं चलने का था। अत उन्होने और उनके चेलो ने जनता की भाषा को अपनाया। उनके शिष्यो में एक ब्राह्मण, एक चमार, एक राजपूत और यहाँ तक की एक स्त्री भी थी। जुलाहा कबीर मुसलमान थे। इन मस्त

फकीरो ने गाव-गाव घूमते हुए इस नयें मत का प्रचार किया। रामानद की मृत्यु शायद १४१० ईस्वी में एक सौ पन्द्रह वर्ष की उमर में हुई।

रामानद के सप्रदाय में कवीर का बहुत वडा स्थान है। मुसलमान होते हुए भी उन्हें हिंदू धर्म का अच्छा ज्ञान था और जैसा श्री हजारी प्रसाद का अनुमान है उनका जन्म शायद ऐसे मुस्लिम कुल में हुआ था जो थोडे ही दिन पहले जोगियो का पथ छोडकर मुसलमान हो गया था। अनुश्रुति के अनुसार कवीर रामानद के शिष्य थे लेकिन रामानद की मृत्यु १४१० ईस्वी में हुई और कवीर की मृत्यु १५१८ ईस्वी में। इसलिये यह मानना कठिन है कि कवीर रामानद के शिष्य थे। फिर भी कुछ विद्वानो ने रामानद का समय कुछ आगे लाकर कवीर का उन्हें शिष्य दिखलाने का प्रयत्न किया है। जो भी हो, यह तो निश्चय है की कवीर को रामानदी सप्रदाय से बहुत वडी स्फूर्ति मिली।

वनारस में कवीर अपने कुटुंव के साथ रहते थे और जुलाहे का अपना काम काज भी चलाते थे। धार्मिक असहिष्णुता और निरर्थक आचारो के विरोधी होने के कारण कवीर ने वनारस के पडितो और सन्यासियो की काफी खवर ली। कुछ दिनो तक वे प्रयाग और मानिकपुर में भी रहे। प्रयाग के उस पार झूसी में रहते हुए शेख तकी नाम के एक सूफी सत से उनकी मुलाकात हुई। ये कवीर सबधी एक मुसलमानी अनुश्रुति के अनुसार कवीर के पीर थे। कहावत है कि हिंदू मुसलमानो में भेद-भाव मिटाने के प्रयत्न में सफलता के लिए कवीर को शेख तकी का आशीर्वाद मिला। लेकिन इस विरोध भावना में उन्हें सफलता मिलनी तो दूर रही मुसलमान इनसे विगड खडे हुए और उन्हें कैफ़ियत देने के लिए सुल्तान सिकदर लोदी ने १४९५ ईस्वी में जौनपुर वुलाया। पर किसी तरह इस कट्टर मुसलमान वादशाह से भी वे वच गये।

कवीरदास का क्या मत था इसके वारे मे यहा अधिक कहने की आवश्यकता नही है। वे वाह्याचारो के, चाहे वे हिंदू हो अथवा मुस्लिम, घोर विरोधी थे। वे प्रेम को समस्त वाह्याचारो से वहुत ऊपर समझते थे। इस प्रेम के सामने मदिर-मस्जिद, वेद-कुरान, व्रत, जप, तप, तीर्थ सब वेकार और भुलावे के साधन थे। पर केवल अस्वीकारात्मक भावना से ही रूढिया नही नष्ट होती। उसके लिये प्रेम के साथ लडते रहने की जरूरत है। कवीर ने ऐसा ही किया। प्रेम मार्ग के इस पथिक को अनेक कष्ट उठाने पडे, पर उन्होने पीछे हटने का नाम नही लिया।

प्राय कवीरदास हिंदू मुसलमान धर्मो के समन्वयकारी माने जाते है पर यह वात कुछ समझ में नही आती। वे तो सव वाह्याचारो के, चाहे वे हिंदू हो अथवा मुसलमान, घोर शत्रु थे। समझौता उनका रास्ता नही था। वे तो उन जातिगत, कुलगत, सस्कारगत और सम्प्रदायगत भावो को तोड कर एक ऐसे समाज की स्थापना का स्वप्न देखते थे जिसमें मनुष्य एक था और प्रेम का मार्ग ही असल मार्ग था। कवीर की यह आवाज उसी वनारस से निकली जहां कवीर से दो हजार वरस पहले भगवान् वुद्ध ने सर्वजन हित कामना का प्रचार किया था। वुद्ध को अपने सदेश में इसलिये सफलता मिली कि उनका रास्ता

बीच का था, पर कबीर तो लडाकू थे। उन्हें सुलह पसन्द नही थी और शायद इसीलिये उनके मत का इतना प्रसार नही हो सका। पर इसमें सदेह नही कि रामानन्द और कबीर ने उन अछूतों और हिंदू समाज से प्रताडित जनो में एक आशा और भरोसे की नीव डाली जिसके बिना उनमे से अधिकतर अवश्य मुसलमान हो जाते।

जिस समय बनारस में कबीर अपने विरोधियो को ललकार रहे थे और उन्हें निर्गुण प्रेम का सबक सिखा रहे थे, उसी समय काशी में एक नये महात्मा वल्लभाचार्य का प्रादुर्भाव हुआ। वल्लभाचार्य के माता पिता तैलंग ब्राह्मण थे। अनुश्रुति है कि जिस समय ये काशी-यात्रा को आये हुए थे उसी समय शहर मे भारी गडबड मची और ये भाग कर चपारण्य अर्थात् मध्यप्रात के राजिम नामक स्थान में चले गये। वही १४७९ ईस्वी में वल्लभाचार्य का जन्म हुआ। बाद मे उनके माता पिता मथुरा में बस गये और वही वल्लभाचार्य की शिक्षा दीक्षा हुई। पिता की मृत्यु के बाद ग्यारह वर्ष की अवस्था में वल्लभाचार्य ने उत्तरभारत की यात्रा की और उसमे लौट कर वे बनारस मे बस गये। यहाँ उन्होने अपना विवाह किया और यही रह कर उन्होने बादरायण के ब्रह्मसूत्र और भगवद्-गीता पर भाष्य लिखे। पर बनारस से वे बहुधा गोकुल जाकर वहाँ काफी दिनो तक ठहरा करते थे और वही उन्होंने १५२० ईस्वी मे श्रीनाथ जी की मूर्ति स्थापित की जिसे औरगजेब के समय उदयपुर के पास नाथद्वारा में ले जाना पडा।

वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित मत शुद्धाद्वैतवाद कहलाया। इसने एक ओर रामानुज का विशिष्टाद्वैत और दूसरी ओर शकर का मायावाद अस्वीकृत किया। इस मत में भक्ति ही सब कुछ है, वह साध्य और साधन दोनो ही है। ईश्वर की दया के लिये इस मत में पुष्टि शब्द का व्यवहार किया गया है और इसीलिए वल्लभाचार्य के नये मत का नाम पुष्टि-मार्ग पडा इस पुष्टि-मार्ग में कृष्ण ही सत् चित् आनन्द है। मुक्त होकर जीव आनद स्वरूप हो जाता है और कृष्ण से एकाकार होकर रहता है। वृन्दावन ही, जहाँ राधाकृष्ण विहार करते हैं, भक्तो का आधार और लक्ष्य है।

रामानद, कबीर और वल्लभाचार्य के सिवा बनारस में कितने ही सत, महात्मा और धर्म प्रवर्तक चौदहवी, पद्रहवी और सोलहवी शताब्दियो में हुए होगे, इसका हमें पता नही है। पर इसमें कोई सदेह नही कि बनारस इस युग में हिन्दुओ का प्रधान केंद्र था। चैतन्य और नानक भी काशी में आये और भारत के कोने कोने से कितने ही साधु महात्मा और श्रद्धालु इस नगरी में रास्ते के घोर कष्ट उठाकर आते रहे होगे। काशी के पडितो को शास्त्रार्थ में हराकर अपने मत का प्रतिपादन करना एक बडी बात मानी जाती थी और इसमें सन्देह नही कि समय समय पर इसमें बहुत से पडित और धर्माचार्य भाग लेते रहे होगे।

इस तरह हम देख सकते है कि चौदहवी-पद्रहवी सदी के अपने परीक्षण काल में भी जब मुसलमानी सल्तनत की तलवार बराबर इसके सिर पर तनी रहती थी और जब हिंदू धर्म काफी जीर्ण हो चुका था, बनारस ने नयी आवाज लगाने में कोर कसर बाकी नही रक्खी।

रामानद और कवीर ने तो हिंदू धर्म के उन मूल व्यवस्थाओ और विश्वासो पर ही आघात किया जिसने हिंदुओ को इतना कमजोर बना दिया था। पर जात-पांत के भेदो में लिपटी हुई हिंदू जनता उनके पथ पर वहुत आगे न वढ सकी। उनको तो ऐसे आचार्य की जरूरत थी जो वर्ण व्यवस्था के सीमित दायरे के अदर ही भगवद् भक्ति का उपदेश दे। वल्लभाचार्य ऐसे आचार्य थे और इसी लिये उनका मत आगे वढा। वाद में तुलसीदास ने भी रामभक्ति के आदर्शो को ब्राह्मणधर्म के अनुकूल ही रक्खा। अगर वल्लभाचार्य और तुलसीदास मध्यकालीन भक्ति में अपना मध्यम मार्ग नही निकालते तो उन्हें अधिक सफलता नही मिलती। ● ●

दूसरा अध्याय

मुगल कालीन बनारस

१ इतिहास

मुगल वश के सस्थापक बादशाह बाबर ने इब्राहीम लोदी को पानीपत के मैदान में १५२६ में हरा दिया और इस तरह दिल्ली पर मुगलो का अधिकार हो गया। पर अभी पूरे उत्तरी हिन्दुस्तान पर बाबर का कब्जा न हुआ था। लोदी साम्राज्य के पूर्वी सूबो पर अफ़गान सरदारो का दखल था। लोदियो ने दरिया खाँ को मुहम्मद सुल्तान के नाम से उन सूबो का बादशाह बना दिया। फिर भी १५२७ मे हुमायूँ ने गाजीपुर तक मुल्क दखल कर लिया[1] पर जैसे ही हुमायूँ वापस हुआ कि अफगानो ने पुन उस भाग पर अपना कब्जा कर लिया और बाबर को पुन १५२८ और १५२९ में अवध को फ़तह करना पड़ा। बाबर की इस लड़ाई में बनारस एक मुख्य केन्द्र बन गया। बाबर ने बनारस जीत कर ९३४ हिजरी में वहाँ जलालुद्दीन खाँ शर्क़ी को कुछ सेना के साथ रख दिया। १५२८ में गगा के उस पार जब बाबर अपनी सेना सहित डेरा डाले हुए था तब उसे समाचार मिला कि सुल्तान महमूद लोदी ने दस हजार अफ़ग़ानो को इकट्ठा करके शेख बयाज़ीद और बीवन के मातहत एक बडी सेना सरवार (गोरखपुर) की ओर रवाना कर दी थी और वह खुद फतह खाँ सरवानी के साथ नदी के किनारे किनारे चुनार की ओर बढ़ रहा था। बाबर को यह भी ज्ञात हुआ कि शेर खाँ सूर जिसे १५२७ में बाबर ने कई परगने उपहार में दिये थे और जिसके अधिकार में पूरा प्रदेश छोड दिया था, अफ़ग़ानो से मिल गया था और अफगानो ने उसे अमीर की खिल्लत भी दे दी थी। शेर खा ने नदी पार करके बनारस पर धावा बोल दिया और जलालुद्दीन के सहायक बनारस नगर को बचाने में अपनी असमर्थता देख कर भाग खडे हुए। जलालुद्दीन ने बाबर के पास जो खबर भेजी उसमें तो यह कहा गया था कि वह बनारस के किले मे अपने आदमियो को छोडकर खुद महमूद के साथ लडने के लिये आगे बढ गया था।[2] शेर खाँ का बनारस पर यह धावा शाहाबाद की ओर से चौसा पार करके हुआ था। थोडे ही दिनो बाद बाबर को खबर मिली कि बाग़ियो ने चुनार पहुँच कर किले पर घेरा डाल दिया था। थोडी सी लडाई भी हुई पर बाबर के आगे बढने का समाचार सुनकर बाग़ी अस्तव्यस्त दशा में भागे और गगा पार कर बनारस की ओर जाते हुए अफगान सिपाही भी एक दम भाग खड हुए। ५ मार्च १५२९ को बनारस पुन बाबर के हाथ में आ गया।

२३ मार्च १५२९ को बाबर ने चुनार पहुँचकर किले से दो मील आगे डेरा डाला। किसी ने बाबर को खबर दी कि चुनार के पास गगा के मोड पर घने जगल में शेर और गैंडे दीख पडे थे। दूसरे दिन बादशाह की आज्ञा से हाँका हुआ पर जगल में शेर

---

[1] ईलियट, भाग ४, पृ० २६६

[2] बाबरनामा, भाग २, पृ० ६५१–५२

और गैंडा का पता न लगा। यहाँ अवड के कारण बाबर को बडी तकलीफ हुई और नाव पर सवार होकर वह अपने खेमे में, जो बनारस मे ५ मील ऊपर था, पहुँच गया।[१] अफगानो को पटना के पास करारी हार देने के बाद बाबर दिल्ली लौट गया जहाँ १५३०ई० में उसकी मृत्यु हो गयी।

१५३० ईस्वी में हुमायूँ दिल्ली के तख्त पर बैठा और उसने जौनपुर को, जहाँ अफगानो ने बिहार खाँ के नाम से एक नये सुल्तान को कायम किया था, पुन जीतने का प्रयत्न किया। बिहार खाँ और शेर खाँ ने शाहाबाद और बनारस जिले का परगना बरह, जिसे उस समय हाँडा कहते थे, बाँट रखा था।[२] बाद में शेर खाँ पूरे बिहार का शासक बन बैठा और चुनार के किले पर भी उसने अधिकार कर लिया। शेर खाँ मुगलो से दुरंगी चाल चल रहा था और इसी के अनुसार १५३० में अपनी फौज को हटाकर उसने लखनऊ के पास मुगलो की जीत हो लेने दी। जीत के बाद हुमायूँ ने चुनार का किला वापस मागा पर शेर खाँ ने इससे इनकार कर दिया। बाद में हुमायूँ और शेर खाँ में इस शर्त पर सुलह हुई कि चुनार का किला शेर खाँ के ही कब्जे में रहेगा।[३] लेकिन दूसरे ही साल हुमायूँ ने चुनार के किले पर कब्जा कर लिया। पर उसी बीच शेर खाँ ने रोहतास और गौड पर अधिकार कर अपने को और अधिक शक्तिशाली बना लिया। चुनार का किला फतह करके हुमायूँ ने बनारस में डेरा डाल दिया। लगता है अपने बनारस के इसी मुक़ाम में एक दिन हुमायूँ सारनाथ का चौखडी स्तूप देखने गये। इस घटना की यादगार कायम रखने के लिये राजा टोडरमल के पुत्र गोवरधन ने चौखडी स्तूप पर ९९६ हिजरी में एक एक अठपहला गुबद बनवा दिया।[४] बनारस मे हुमायूँ ने शेरशाह के पास एक दूत भेजकर बिहार पर अपने स्वत्व की बात उठाई। शेर खाँ इस शर्त पर बिहार देने को राजी हो गया कि हुमायूँ बगाल उसके पास रहने दे, इसकेलिए उसने दस लाख रुपये सालाना मालगुजारी देने का भी वायदा किया। दोनों में यह बातचीत पक्की हो गयी पर तीन ही दिन बाद बगाल के सुल्तान महमूद ने हुमायूँ के पास एक दूत भेजकर उन्हें सलाह दी कि शेरशाह द्वारा अपने अधिकारो के मजबूत करने के पहले ही बादशाह को उसे कुचल देना चाहिए।[५] महमूद की यह सलाह मान कर हुमायूँ झट बगाल की तरफ रवाना हो गये।

हुमायूँ जब बगाल की राजधानी गौड मे आराम की जिन्दगी बिता रहे थे तो शेर शाह १५३८ में बनारस पर चढ आये। इस समय बनारस का फौजदार मीर फजली था।[६] बनारस पर घेरा डालकर शेरशाह ने खवास खाँ को मुगेर से खानखाना यूसुफ खेल

---

[१] वही, भाग २, पृ० ६५७

[२] ईलियट, भाग ४, पृ० ३१०–३२९

[३] ईलियट, भाग ४, पृ० २५०

[४] ए० एस० आर० १९०४–०५, जर्नल यू० पी० हि० सो० १५, ५५–६४

[५] ईलियट, भाग ४, पृ० ३६२–३६३

[६] ईलियट, भाग ६, पृ० १९

को कैद कर लाने का हुक्म दिया और इस काम में खवास खाँ को सफलता भी मिली। इसके कुछ ही दिनो वाद वनारस फतह हुआ और शेर खा के हुक्म से मुगल सिपाहियो में से अधिकतर कत्ल कर दिये गये तथा मीर फजली भी मारा गया।[१] श्री कानूनगो के अनुसार मुग़लो के इस कत्ल का कारण यह था कि शेर शाह ने चुनार के किले में अपने तोपचियो पर मुगलो द्वारा किये गये अत्याचार का वदला लिया।[२] वनारस के पतन के वाद शेर खाँ की फौजो ने कन्नौज तक अपना अधिकार वढ़ा लिया। इन घटनाओ से हुमायूँ घवराकर गौड से आगे वढकर शेर खाँ से लडने के लिए रवाना हुआ। चौसाके पास हुमायूँ और शेर शाह की लडाई हुई जिसमें हुमायूँ को करारी हार खानी पडी। इस लडाई के वाद शेर खाँ ने शाह की पदवी धारण की और हुमायूँ को कन्नौज के पास हराने के वाद सारा उत्तर भारत इसके कब्जे में आ गया। वनारस शहर और जिला शेर शाह (१५३८–१५४५) और उसके पुत्र इस्लाम शाह (१५४५–१५५४) के कब्जे में रहा। पर इस्लाम शाह की मृत्यु के वाद काफी गडवडी मची।

इसके वाद वाले काल में आदिल शाह (१५५४–१५५६) के कब्जे में चुनार कुछ दिनो तक रहा पर गगा के उत्तर में आदिल शाह की सप्रभुता के वारे में सदेह है। आदिल शाह को अपने रिश्तेदारों से ही नही वरन् लडाकू अफग़ान सरदारो से भी लडना पडा। इन अफग़ान सरदारो में ताज खाँ नाम के एक सरदार के कब्जे में इस जिले की पुरानी जागीर हाडा और दूसरे परगने थे। ताज खा को आदिल शाह ने हराया[3] तथा इब्राहीम सूरी और वगाल के मुहम्मद शाह को भी हरा कर अत में १५५६ में खिज्र खा से लडते हुए वह मुगेर के पास मारा गया। इसी वीच में हुमायूँ पुन हिंदुस्तान लौटा और उसने १५५५ में दिल्ली वापस लिया, पर जल्दी ही उसकी मृत्यु हो गयी। आदिल शाह सूर के वहादुर सेनापति हेमू ने पहले तो मुगलो को मात दी पर वाद में पानीपत की लडाई में १५५६ में वह मारा गया। इस तरह मुग़लो और पठानो की लडाई में आखीरी फतह मुगलो के हाथ लगी।

खान जमाँ की १५५९ की लडाई के पहले वनारस मुगल साम्राज्य में सम्मिलित नही था।[४] इसके वाद भी उस प्रदेश में पूर्ण शाति स्थापित नही हो सकी। चुनार १५६४ तक आदिल शाह के अनुयायियो के हाथ मे था। इन गडवडियो के वीच अकवर को खान जमाँ की वगावत का भी सामना करना पडा। पर १५६५ में अकवर के वनारस आने पर उस प्रदेश में शाति स्थापित हुई।[५] पर यह शाति स्थायी न हुई, अकवर के लौटते ही खान जमाँ ने पुन विद्रोह कर दिया पर वह शीघ्र ही पूर्वी प्रदेश से निकाल

---

[१] ईलियट, भाग ४, पृ० २७८

[२] कानूनगो, शेरशाह, पृ० १७५, कलकत्ता १९२१

[3] ईलियट, भाग ४, पृ० ५०७

[४] ईलियट, भाग ५, पृ० २६०

[५] ईलियट, भाग ५, पृ० ३०६

वाहर किया गया और १५६७ में मार भी डाला गया। वादशाह अकवर स्वय वनारस गये और वहाँ के वाशिंदो की वग़ावत की वजह से उन्होंने शहर लूट लेने की आज्ञा दी। वाद में पूरा सूवा मुनीम खाँ खानखाना के सुपुर्द कर दिया गया।[1] मुतखावउत्तवारीख[2] में वदायूनी लिखता है कि अकवर ने मुनीम खा खानखाना को आगरे से वुलाकर वहादुर खाँ और खान ज़माँ की जागीरें सुपुर्द कर दी। ये जागीरें जौनपुर, वनारस, गाजीपुर, जमानियाँ और चुनार के किले तक फैली हुई थी।

१५७४ में वगाल में अफगान राज्य को समाप्त करने की दृष्टि से अकवर स्वय सेना लेकर आगे वढे। सेना नावनवारे पर थी और आगरे से चलकर २५ रवी उल अव्वल को वह वनारस जिले में पहुँची। वहाँ से अकवर ने शेर वेग तवाची को एक नाव पर रवानाकर मुनीम खा को वादशाह की अवाई की खवर देने के लिए भेजा। इस अवसर पर वादशाह विश्राम लेने के लिए शहर में तीन दिनो तक रहे।[3] वगाल फतह हो जाने पर मुनीम खाँ वहा के सूवेदार नियुक्त कर दिये गये। जौनपुर, वनारस और चुनार का प्रवध स्वय अकवर ने सँभाल लिया और उनके सहकारी मिर्ज़ा मीरक रज़वी और शेर इब्राहीम सीकरीवाल नियुक्त हुए।[4] १५७६ में वनारस के सूवेदार मुहम्मद मासूम खाँ फरनखुदी थे।[5] इनके वाद तरसुम मुहम्मद खाँ आये और १५८९ में मिर्ज़ा अब्दुल रहीम खाँ खानखाना शायद थोडे दिनो के लिए जौनपुर के सूवेदार वनकर आये।[6]

अकवर के राज्यकाल में राजा टोडरमल का वनारस से काफी सवव रहा। हम आगे देखेंगे कि विश्वनाथ का मदिर उन्ही की मदद से १५८५ के करीव नारायण भट्ट ने वनवाया और १५८९ में उन्होंने द्रौपदी कुड की स्थापना की। टोडरमल का वनारस से कभी सीधा सवध नहीं था और जो कुछ भी धार्मिक कार्य उनके द्वारा हुए उनका श्रेय उनके पुत्र गोवरधन, गोवरधनधारी अथवा धरू को है। गोवरधन के इतिहास की अधिक-तर सामग्री श्रीयुत जगीरसिंह ने इकट्ठा की है[7] और उसी के आधार पर हम उसका वनारस से सवध निश्चित कर सकते है। हमें अकवरनामा से पता चलता है कि १५७७ में गुजरात की लडाई में गोवरधन अपने पिता के साथ-साथ मिर्ज़ा मुज़फ़्फ़र हुसेन और मीर अली से वीरतापूर्वक लडा। इसके वाद हम पुन उसका नाम १५८४ में सुनते है। इस वार वादशाह की आज्ञा से टोडरमल ने उसे अरव वहादुर को दड देने के लिए भेजा। अरव वहादुर को खान आज़म ने विहार में तिरहुत और चपारन के वीच हराया, पर वह

---

[1] ईलियट, भाग ५, पृ० ३२२

[2] मुतखावउत्तवारीख (लो द्वारा अनूदित), भाग २, पृ० १०४

[3] ईलियट, भाग ५, पृ० ३७५

[4] वदायूनी, भाग २, पृ० १८५

[5] वही, पृ० २९०–९१

[6] वही, पृ० ३८४

[7] राजा टोडरमल्स सन्स, ज० यू० पी० हि० सो० १५, अक १ (१९४२) पृ० ५५ स

हार न मानकर जौनपुर की तरफ चढ आया। यह कहना मुश्किल है कि धरू सीधे आगरे से,जौनपुर भेजा गया अथवा वह जौनपुर का उस समय भी फौजदार था। अगर विश्वनाथ मंदिर की १५८५ में टोडरमल द्वारा पुन स्थापना हुई तो यह मानना पडेगा कि शायद एक दो वरस पहले से ही उसका लडका गोवरधन जौनपुर मे था। अकवर-नामा में एक उल्लेख से पता चलता है कि अकवर के २४ वें राज्यवर्ष में शमशेर खाँ विहार के वागियो को हराने के लिये वनारस के राजा टोडरमल के साथ उस समय आगरे में थे और इसलिये यह सभव है कि उनका पुत्र गोवरधन वनारस अथवा जौनपुर में कुछ काल के लिए या पक्की तौर से किसी सरकारी पद पर नियुक्त था। सन् १५८९ के अत में तो अपनी पिता की मृत्यु के वाद वह जौनपुर से ही सीधा आगरा गया। इस वात के वहुत से प्रमाण है कि अकवर के राज्यकाल के २८ वें से ३३ वें वर्ष तक गोवरधन वरावर जौनपुर में रहा। इन सव वातो से श्री जगीरसिंह इस नतीजे पर पहुँचते है कि गोवरधन जौनपुर सरकार में जागीरदार था।

जौनपुर में रहते हुए वनारस आने के गोवरधन को वहुत से मौके पडे होगे और टोडरमल के नाम से जो मन्दिर या वावलियाँ वनारस में वनी उन्हें गोवरधन ने ही वनवाई होगी। सन् १५८५ और १५८९ के वीच में विश्वेश्वर की पूजा के उपलक्ष्य में शेप कृष्ण द्वारा लिखित कसवध नाटक का प्रणयन हुआ[1] और गोवर्धन इस नाटक में स्वय उपस्थित थे। नाटक के आरम्भ में एक श्लोक आता है जिससे गोवरधन के सम्वन्ध में कुछ विवरण प्राप्त होता है।

> तस्यास्ति तडनकुलामलमडनस्य, श्रीतोडरक्षितिपतेस्तनयो नयज्ञ।
> नानाकलाकुलगृह स विदग्धगोष्ठी एकोऽधितिष्ठति गुर्रुगिरिधारिनामा ॥

इस श्लोक से यह पता चलता है कि गुरु गिरधारी टडन कुल में उत्पन्न राजा टोडरमल के पुत्र थे। उन्हें कलाओ से वडा प्रेम था और विद्वद्गोष्ठी उन्हें वडी प्रिय थी।

इस श्लोक के पहले वाले स्थल में भी राजा टोडरमल के पुत्र 'साम्राज्य-धुरन्धर गोवर्धन-धारि-राज' के नाम से वर्णित है। श्लोक से पता लगता है कि इस नाटक के अवसर पर गोवर्धन ने गुरु का काम किया। पर श्लोक में जो 'गिरिधारि' आया है उससे कुछ लोगो ने वल्लभाचार्य के पौत्र गिरिधारि का अर्थ निकाला है और यह माना है कि वे गोवर्धन के गुरु थे। पर केवल उपर्युक्त श्लोक के आधार पर यह मान लेना ठीक न होगा। इस प्रसग में वनारस की एक प्रसिद्ध कहावत की ओर ध्यान दिला देना चाहते है। कहावत है 'सवके गुरू गोवरधन दास', अर्थात् गोवरधन दास सवके गुरु है अर्थात् सव धार्मिक कार्यो में सवके अग्रणी है। हो सकता है यह कहावत गोवरधन के लिए ही वनारस में चली थी और इसी गुरु के अल्ल की प्रतिध्वनि हम कसवध के श्लोक में पाते है।

अपने पिता की मृत्यु के वाद १५८९ ईस्वी के अन्त में गोवरधन आगरे गये। वहा

---

[1] एगेलिंग, इडिया आफिस कैटलाग ऑव सस्कृत मैनस्क्रिप्टस्, पार्ट ५-७, पृ० १५९१, ए एण्ड वी० मैनस्क्रिप्ट न० ४१७५

मे १५९० ईस्वी में अब्दुर्रहीम खानखाना के साथ मुल्तान गये, सिन्ध मे मिर्जा जानीवेग तर्खान के साथ लडे और १५९२ में मारे गये।

वनारस में टोडरमल के नाम के दो इमारतो के नाम आते है और दोनो से लगता है गोवरधन ने अपने पिता के नाम पर वनवायी। उन्होने शायद १५८५ के करीव विश्वनाथ का मन्दिर रुपये लगाकर नारायण भट्ट द्वारा वनवाया। शिवपुर में द्रौपदी कुण्ड सवंत् १६४६ या १५८९ ईस्वी में वना।[1] इस लेख से पता चलता है कि राजा टोडरमल के आदेश से गोविन्द दास ने यह कुड वनवाया। शायद गोविन्द दास गोवरधन का ही नाम हो, पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। गोवरधन ने १५८९ ईस्वी में सारनाथ के चौखडी स्तूप पर एक गुम्वद वादशाह हुमायूँ के एक दिन चौखडी पर ठहरने की यादगार में भी वनवाया।[2]

वनारस के एक मौजी मुसलमान जिनका नाम गोसाला खाँ वनारसी था १००४ हिजरी में दीन इलाही में शामिल हो गये और उन्होंने अपनी दाढी और सर के वाल सफाचट करवा दिये। यह गोसाला खाँ अवुल फज्ल की कृपा से शाहशाह की सेवा में दाखिल किये गये। आदमी चलते पुरजे थे, किसी तरह वनारस के करोडी वन गये। वदायूनी का कहना है[3] कि आप एक रण्डी पर फिदा थे और आगरा से रवाना होने के पहले आपने उसे काफी रुपया दिया और एक सरपुरस्ती भी मुकर्रर कर दिया। जव रण्डियो के दारोगा ने इस वात की शिकायत शाहशाह से की तव गोसाला वनारस से पकड मँगाये गये। इसके वाद उन पर क्या गुजरी इसका पता नही, पर वनारसी हथकण्डे दिखाकर वे निकल भागे होगे, इसमें शक नहीं।

१५८४ ईस्वी में इलाहावाद का किला वना और तव से सूवे की राजधानी जौनपुर से उठकर वहाँ चली गयी। वनारस इलाहावाद सूवे का एक सरकार या जिला वन गया। वनारस का सवसे पहला फौजदार मिर्जा चीन किलीच खाँ था। कहा जाता है कि मिर्जा किलीच १५९९ ईस्वी तक वनारस के सूवेदार रहे। इनके आगरा वापस चले जाने के वाद इनके पुत्र चीन किलीच जौनपुर के सूवेदार वने।

नवाव किलीच का रुख उस समय के व्यापारियो के प्रति वहुत कडा था। वनारसी दास अपने अर्धकथानक[4] में लिखते हैं कि १५९८ ईस्वी में जौनपुर के सूवेदार नवाव किलीच खा ने वहा के सव जौहरियो को पकड कर इसलिए वद कर दिया कि वह जो वस्तु उनसे चाहता था वे उनके पास नहीं थी। एक दिन उसने जौहरियो को वाधकर चोरो की तरह अपने सामने खडा किया और उन्हें कटीले कोडो से पिटवाकर छोड दिया। विचारे जौहरी इस अत्याचार से परेशान होकर अपने मालमते के साथ चारो ओर भागने लगे।

---

[1] टोडरमल्स इसक्रिप्शन एट द्रौपदी कुड, इतिहास सग्रह, नववर १९०८, पृ २०

[2] ए० एस० आर०, १९०४–०५, पृ० ७५

[3] वदायूनी, भा० २, पृ० ४१८–१९

[4] अर्धकथानक (नाथूराम प्रेमी द्वारा सपादित), पृ० ११० से, ववई १९४३

इसके बाद जब जौहरियो ने यह सुना कि १५९१ ईस्वी में किलीच खाँ आगरे चले गये तब वे पुन जौनपुर लौट कर अपने काम में लग गये ।

बनारस जिले की अकबर के समय क्या अवस्था थी, इसका थोडा सा हाल हमें आईन अकबरी से मिलता है । उस समय चदौली चुनार सरकार में थी । बनारस के परगने आज जैसे ही थे सिवा इसके कि वरह का नाम टाँडा था, लेकिन इनकी सीमाओ में अतर है । इस जिले में उपजाऊ जमीन का रकबा कुल ४६,४४८ बीघा (२७,८७० एकड) और इसकी लगान २५,१९,०३७ दाम थे, इसके अलावा ५०,४३२ दाम सुयूरग़ल के लगते थे । कुल मिलाकर लगान ६४,२३७ रुपये होती थी जो रुपये की उस समय की कीमत देखते हुए काफी ऊँची थी । प्राय पूरा सरकार बनारस आज कल के बनारस जिले में आ जाता था, पर उस समय का परगना बयालसी अब जौनपुर में है और गगा और कसवार के दक्खिन के बीच की कुछ जमीन अब मिर्जापुर में है । महल हवेली बनारस में देहात अमानत, जाल्हूपुर और शिवपुर थे । यहाँ ब्राह्मणो की जमीदारी थी । वे ३१,६५७ बीघे पर १,७३४,७७१ दाम लगान देते थे और उन्हें सैनिक उपयोग के लिए ५० घोडे और १००० पैदल देने पडते थे । कटेहर में, जिसका प्रधान कस्बा चन्द्रावती था, कटेहर और सुल्तानीपुर थे । यह रघुवशियो की जमीदारी थी । इन्हें पाँच सौ सवार और ४००० पैदल देने पडते थे । ३०,४९६ बीघे जुते खेत पर इन्हें १८,७४, २३० दाम लगान देनी पडती थी । पन्द्रह या टाँडा ब्राह्मणो की जमीदारी थी । इसमें कुल जुते खेत का रकबा ४६११ बीघा था और इसकी लगान ७१३,४२६ दाम, १३०९६ बीघो पर होती थी । यहा से ३०० पैदल सैनिक लिये जाते थे । कसवार ४१,१८१ बीघे का बडा महाल था । इसकी लगान २,२९०,१६० दाम होती थी और इसे ५० घुडसवार और २००० पैदल देने पडते थे । अफ़ाद कसवार, देहात अमानत और कटेहर में फुटकर जमीनो का महाल था । इसमें १०, ६५५ बीघे जमीन थी जिसकी लगान ८,५३,२२६ दाम थी और यहाँ के राजपूतो और ब्राह्मणो को ४०० पैदल सिपाही देने पडते थे । *कोल असला*, जिसे उस समय कोला करते थे, जौनपुर सरकार में था । यह राजपूत महाल था । इसमें २४,३३१ बीघे जुते खेत पर ३६,३,३३२ दाम लगान लगती थी और इसे १० सवार और ३०० पैदल सिपाही देने पडते थे । इस तरह बनारस और आधुनिक गगापुर तहसीलो में कुल मिलाकर पैदावार खेत का रकबा ९३,५६० एकड था, २०९,४१२ दाम सुयूरग़ल के लेकर लगान २,४७,०६८ रुपये थी । इससे पता लगता है कि लगान की रकम बहुत भारी थी पर यह बात पक्की तरह से नही कही जा सकती क्यो कि आईन की प्राचीन प्रतियो मे अलग अलग सख्याएँ आयी हैं और यह निश्चित नही है कि उनमें से कौन ठीक है ।[1]

जहाँगीर (१६०२-२७) के राज्यकाल में काशी के इतिहास की कुछ बातो का पता बनारसीदास के अर्धकथानक से चलता है । जहागीरकालीन इतिहास में बनारस का नाम केवल एक बार १६२४ ईस्वी में खुर्रम की बगावत के सबध में आता है । जब

[1] बनारस गजेटियर, पृ० १९४-१९६

उसे शाही फौज के सामने इलाहाबाद से हटकर बनारस भागना पड़ा तो दक्खिन जाने के पहले यहीं उसने अपनी फौज इकट्ठी की। १६२३ ईस्वी में बनारस में गहरा प्लेग फैला, जनश्रुति के अनुसार उसी में तुलसीदास का देहात हुआ।

सवत् १६५६ (१५९९ ईस्वी) में ही जौनपुर मे एक और घटना घटी जिसका बनारस के इतिहास से अवश्य ही सबध रहा होगा। यह घटना शाहजादा सलीम की बग़ावत थी। बनारसीदास ने अर्धकथानक में[1] इस घटना का उल्लेख किया है। शाहजादा सलीम कोल्हूवन में जिस समय शिकार खेलने गया उस समय जौनपुर के सूबेदार नवाब किलीच खाँ के पुत्र चीन किलीच खाँ थे। इनको अकबर ने आज्ञा दी कि वे शाहजादा सलीम को कोल्हूवन में शिकार खेलने से रोक दे। फौजदार ने लडाई की तैयारी करनी शुरू कर दी। सब रास्ते छेंक दिये गये। गोमती के घाट बद हो गये और पुल के दरवाज़े लगा दिये गये। पैदल और सवारो की चारो ओर तैनाती कर दी गयी और कोट के कगूरो पर तोपें चढा दी गयी। गढ में लडाई के लिये अन्न, वस्त्र और हथियार, गोला बारूद भी इकट्ठा होने लगे। लडाई की तैयारी से जौनपुर की प्रजा घबडा उठी और चारो ओर भागने लगी। जौनपुर के सब जौहरी इकट्ठा होकर चीन किलीच खाँ के पास पहुँचे और उसने जौनपुर में रहने अथवा भागने के सबध में आदेश चाहा। किलीच खाँ ने इसे जौहरियो की इच्छा पर ही छोड दिया कि वे वहाँ पर रहें अथवा भागें। य. पलायति स जीवति के सिद्धान्त के अनुसार जौहरियो ने भागने में ही अपनी सलामती समझी। उसी बीच शाहजादा सलीम गोमती तीर आये और इन्होंने अपने मीर लाल बेग को वकील बनाकर चीन किलीच खाँ के पास भेजा। यह वकील चीन किलीच को समझा बुझाकर सलीम के पास ले गया और उन्होंने उसे क्षमा कर दिया। जब जौहरियो ने यह समाचार सुना तो वे पुन जौनपुर आ गये।

इस युग में नवाब चीन किलीच खा, जो जौनपुर और बनारस के सूबेदार थे, काफी विद्याव्यसनी थे। बनारसीदास के अर्ध-कथानक से पता चलता है कि वे चार हजारी मनसबदार थे।[2] १५८४ ईस्वी में उन्होंने बनारसीदास को सिरोपाव बख़शा। बनारसीदास और चीन किलीच खा के बीच गहरी मित्रता हो गयी। चीन किलीच उनसे अनेक ग्रथ पढते थे। इन चीन किलीच खा की मृत्यु सवत् १६७२ (सन् १६१६) में जौनपुर में हो गयी।

बनारस और जौनपुर पर १६१५ ईस्वी में एक और बडी विपत्ति आयी।[3] इस साल जहाँगीर बादशाह ने आग़ा नूर नाम के एक उमराव को सिरोपाव देकर जौनपुर की ओर भेजा। उसके आने की खबर सुनते ही लोग इधर उधर भागने लगे। आग़ा नूर ने बनारस और जौनपुर के बीच बडे अत्याचार किए। जडिया, कोठीवाल हुडीवाल, सर्राफ, जौहरी और दलालो को पकड कर उसने कोडे लगवाये और बेडियाँ लगवाकर जेलो में बद करा

---

[1] अर्धकथानक, १५० से

[2] वही, ५४८ से

[3] वही, ४६१ से

दिया। इस प्रकार लूट पाट करके दो चार धनियो को पकड कर आगा नूर आगरे ले गया और तव बनारस और जौनपुर के महाजन और व्यापारी अपने घरो को लौट आये।

२. राल्फ फ़िच (१५८३-९१) की बनारस यात्रा

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि अकवर और जहाँगीर काल में हमें वनारस के इतिहास की वहुत कम सामग्री उपलब्ध है। जान पडता है १५६७ ईस्वी तक तो अकवर भी इस नगर से नाराज़ रहे लेकिन वाद में अकवर की धार्मिक उदारता और टोडरमल और मानसिंह के प्रयत्नो से वनारस पुन एक वार चमक उठा। भाग्यवश अकवर के राज्यकाल में वनारस की सैर करने सर्व प्रथम अग्रेजी यात्री राल्फ फिच आया। फिच का यात्रा वर्णन १६ वी सदी के अत के वनारस का जीता जागता नक्शा खडा कर देता है। फिच ने प्राय वनारसी जीवन के हर अगो पर प्रकाश डाला है, जिससे पता चलता है कि आरभिक सोलहवीं सदी की गडवड से वनारस उवर चुका था और पुन धार्मिक जीवन में नि शक होकर जुट गया था। फिच के अनुसार इस युग मे वनारस मे कपडे का व्यापार भी उन्नति पर था और शहर वगाल के व्यापार का सवमे वडा केन्द्र था।[१] उसने वनारस के अन्ध विश्वासो और धार्मिक कृत्यो का भी अच्छा खाका खीचा है। आइये हम भी फिच के साथ १६ वी सदी के अत के वनारस की सैर करें।

"इस शहर में हिंदू ही रहते थे आज भी पुराने शहर या 'पक्के महाल' में हिंदू ही रहते है, मुसलमानो के मुहल्ले उक्त पुराने शहर के वाहर है। जिन मूर्तिपूजको को मैंने देखा है उनमें वे सवसे वडे मूर्ति पूजक है। इस शहर में दूर दूर से यात्री यात्रा करने आते है।" इसके वाद वह वनारस के घाटो मदिरो और मूर्तियो का वर्णन देता है। हिन्दू मूर्तियाँ फिच को अजीव सी लगी, "मूर्तियाँ कुछ वाघो-सी है, कुछ चीतो-सी और कुछ वदरो-सी। कुछ मूर्तियाँ स्त्री-पुरुषो और मोरो जैसी है और कुछ चार हाथो वाले शैतानो जैसी। मूर्तियाँ पालथी मार कर वैठी हैं और उनमें हर एक के हाथो में भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं।"[२] कलाहीन मुगल कालीन हिन्दू मूर्तियो को देखकर फिच घवरा सा उठा। वे काली और वदसूरत थी और उनके चेहरे भयकर थे। उनके कान मुलम्मेदार और रत्नजटित थे और उनके दाँत और आँख सोने चाँदी और शीशे की थीं। मदिरों में कोई जूते पहन कर नही घुस सकता था। वनारसी हिंदू मूर्तियो के सम्मुख सदा दीपक जलाते थे। मूर्तियाँ वहुधा खडी हुई होती थी। गरमी में उन पर पखा किया जाता था। जव कभी हिंदू उधर से जाते थे पुजारी घटा वजाते थे और यात्री उन्हें दान दक्षिणा देते थे। फ़िच वनारस में एक अडा ? (आद्या) नाम की मूर्तियो का उल्लेख करता है, "और वहुत सी जगहो मे एक तरह की मूर्तियाँ खडी रहती है, जिसे उनकी भाषा में अडा कहते हैं। इस अडा को चार हाथ और पजे होते है। वहाँ वहुत से कटे और नकाशीदार पत्थर भी है जिन पर वे जल अक्षत, गेहूँ, जौ और दूसरी चीजें चढाते है"।

---

[१] विलियम फास्टर, अर्ली ट्रावेल्स इन इडिया, पृ० १७६, लडन १९२१

[२] वही, पृ० २० से २३

बनारस नगर के स्त्री पुरुष गगा स्नान करते थे और वहाँ मिट्टी के चबूतरो पर बैठे वृद्ध पुरुष स्नानार्थियो के हाथो में नहाने के पहले दो तीन कुशा दे देते थे जो नहाने के पहले वे अपनी अँगुलियो के बीच मे रख लेते थे। कुछ मस्तक पर तिलक लगाने के लिए बैठ जाते थे। इसके बाद एक पोटली से थोडा सा चावल, जौ और पैसे निकाल कर वे वृद्धो को देते थे। नहाने के बाद यात्री मदिरो मे जाकर पूजा करते थे और पुजारियो का आशीर्वाद प्राप्त करते थे।

उपर्युक्त विवरण से पता चलता है कि गगा में स्नान करते हुए यात्री कुश हाथ में लेकर तर्पण करते थे। घाटियो की प्रथा उस समय भी थी, पर सभवत घाट पक्के नही थे और घाटिये कच्चे चबूतरो पर बैठते थे। दान दक्षिणा देने और सिर पर तिलक लगाने की प्रथा भी ठीक वैसी ही थी जैसी आजकल है।

फिच के अनुसार कुछ हिंदू अपने शरीर की लबाई जितनी जगह धोकर, उस पर अपने हाथ पैर पसार कर और लम्बे लेटकर ऊपर उठते हुए और फिर लेटते हुए और इस तरह कम से कम बीस बार बिना दाहिना पैर उठाए हुए और फिर लेटते हुए जमीन चूमते हुए पूजा करते थे। यहाँ दडवत से मतलब है।

अपनी पूजा में कुछ लोग हर तरह के १५–१६ छोटे बडे पात्र व्यवहार में लाते थे। वे बीच में घटे बजाया करते थे और पात्रो के चारो ओर जल का मडल बनाते थे। फिर मत्रोच्चार के बाद नैवेद्य देवताओ को अर्पण करते थे और बैठे हुए लोगो के सिर पर तिलक कर दिया जाता था। यहाँ फिच, लगता है, किसी पार्वण श्राद्ध का वर्णन कर रहा है।

फिच एक कुएँ अथवा वापी का उल्लेख करता है जो पत्थर की बनी थी और जिसमें नीचे जाने के लिये सीढियाँ लगी थी। इसका पानी सर्वदा फूल फेंके जाने के कारण बडा ही गदा और बदबूदार था। इस वापी पर हमेशा लोगो की भीड जमा रहती थी और लोगो का विश्वास था कि वहाँ स्नान करने से सब पाप धुल जाते है क्योकि वहाँ स्वय ईश्वर ने स्नान किया था। उसके तल से वे बालू निकाला करते थे और यह बालू बडा ही पवित्र माना जाता था। यात्री जल ही में प्रार्थना करते थे। जल में डुबकी मार कर ये अँजुली से तर्पण करते थे और इसके बाद घूम कर और तीन बार आचमन करने के बाद वे मदिरो में दर्शन करने जाते थे। इस कुड का नाम तो नही दिया गया है पर शायद यहाँ मणिकर्णिका कुड से मतलब है।

"बहुत से देवताओ में से एक है जिनका हिन्दू बहुत आदर करते है। उनके अनुसार वे सारे ससार को खाना कपडा देते है। इनकी मूर्ति के पास बैठकर एक आदमी हमेशा पखा किया करता है।" विश्वेश्वर के इस वर्णन से यह पता चलता है कि इनका मन्दिर फिच की बनारस यात्रा के पहले बन चुका था।

"कुछ हिन्दू जला दिये जाते थे, कुछ मुरदे अर्ध दग्धावस्था में ही पानी में फेंक दिये जाते थे। स्त्रियाँ अपने मृत पतियो के साथ सती हो जाती थी, अन्यथा उनके सिर मूड दिये जाते थे और बाद में उसकी कोई पूछ नही होती थी।"

"मुमूर्षु स्त्री या पुरुष इस आशा से कि उनका अन्त जल्दी हो जायगा, इष्टदेव के सामने डाल दिये जाते थे। अगर उस पर भी मृत्यु न हुई तो दूसरे दिन मुमूर्षु के मित्र और उसके सम्बन्धी पास मे बैठ कर थोडा-सा रोने कलपने के बाद उसे नदी किनारे ले जाते थे और उसे नरकट के एक बेडे पर चढाकर नदी के बहाव पर प्रवाह कर देते थे।"

"विवाह के बाद दुलहा-दुलहिन गगा के किनारे आते थे। उनके साथ एक गाय, बछडा और ब्राह्मण देवता होते थे। पहुँचने के बाद दुलहा-दुलहिन, ब्राह्मण देवता और गाय बछडे सभी पानी के अन्दर घुस जाते थे। जल के अन्दर से वे ब्राह्मण देवता को एक चार गज लम्बा सफेद कपडा और चीजो से भरी एक पिटारी देते थे। ब्राह्मण कपडा गाय के पीठ पर रख देते थे और उसकी पूछ पकड कर मन्त्र पढते थे। दुलहिन के हाथ में एक ताम्रपात्र होता था। इसके बाद दुलहा-दुलहिन और ब्राह्मण एक साथ गाय की पूंछ पकडते थे और ताम्रपात्र से पानी बराबर उनके हाथो में गिरता रहता था। इसके बाद ब्राह्मण देवता दुलहा-दुलहिन की गाँठ जोड देते थे और वे दोनो गाय और बछडे की फेरी देते थे। अन्त में ये मन्दिर के दर्शन के लिये जाते थे और पैसा चढ़ा कर और दण्डवत कर अपने घर लौट जाते थे।" यहाँ गोदान का फिच ने सुन्दर चित्र खीचा है। जहाँ तक हमें पता है, अब गगा तीर पर व्याह के बाद गोदान की प्रथा उठ गयी है और उसकी जगह गगा पुजैया होती है।

"धोती पहनने के अतिरिक्त बनारस के लोग अधिकतर नगे रहते थे। उनकी स्त्रियो के गले, भुजाओ और कानो में चाँदी, ताबे और रागे की हँसली, जोशन और तरकियाँ होती थी। चूडियाँ हाथीदाँत की होती थी और उनपर अम्बर और अकीक के नग जडे होते थे। स्त्रियो के माथो पर गोल सिन्दूर के टीके होते थे और माँग सिन्दूर से भरी होती थी। यह माँग कई तरह से भरी जाती थी। जाडे के दिनो में आदमी रुई भरी रजाइयाँ या दुलाइयाँ ओढते थे और उनके कान और सिर कटोप से ढके होते थे।"

फ़िच के अनसार बनारस एक बहुत बडा शहर था और वहाँ सूती कपडे का बहुत बडा व्यवसाय था। मुगलो के लिये वहाँ बडी सख्या में पगडियाँ भी बनती थी।

३. वरदराज और ढुण्ढिराज का बनारस

हम देख आये है कि फिच के अनुसार उस समय बनारस में बहुत से कच्चे घाट थे, पर इन घाटो के नाम फिच ने नही दिये है। सौभाग्यवश इन घाटो और कुछ मुहल्लो के नाम हमें वरदराज (१६००–१६६०) की गीवार्ण-पद-मजरी में मिलते है।[१] गीर्वाण-पद-मजरी की हस्तलिखित प्रति में घाटो और कुछ ब्राह्मणो के मुहल्लो के नाम आते है। प्रश्न कर्ता पूछता है—आप कहाँ रहते है? उत्तर मिलता है—मैं काशी मे रहता हूँ?

[१] श्री के० गोडे०, वरदराज ए प्यूपिल आफ भट्टोजी, ए वाल्युम इन स्टडीज इन इडोलाजी प्रेजेंटेड टु प्रो० पी० वी० काणे, पृ० १८८ मे पूना, १९४१, देखिए उमाकान्त शाह, गीर्वाण-पद मजरी तथा वाङ्मजरी, जर्नल गायकवाड ओ० इ०, जून १९५९

फिर प्रश्न होता है—काशी में आप कहाँ रहते हैं ? उत्तर मिलता है राजघाट पर। इसके वाद निम्नलिखित घाटो और मुहल्लो के नाम आते हैं।

राजघाट—प्राचीन वनारस यही वसा था और यही पर वनारस की सवसे पुरानी वस्ती है।

ब्रह्मा घट्ट्—पचगगा के वगल में आजकल का ब्रह्मा घाट।

दुर्गा घाट—पचगगा के पास आजकल का दुर्गाघाट।

बिंदुमाधव घट्ट—पचगगा पर माधोराय के धरहरे का नीचे वाला घाट।

मगलागौरी घट्ट—यह घाट भी राम घाट के वगल में है।

राम घट्ट—आज दिन भी पचगगा के पास राम घाट विद्यमान है।

त्रिलोचन घट्ट—गाय घाट के पास वाला त्रिलोचन घाट।

अग्नीश्वर घट्ट—राम घाट के पास।

नागेश्वर घट्ट—इसका पता नहीं।

वीरेश्वर घट्ट—मणिकर्णिका घाट से सटा हुआ घाट।

सिद्ध विनायक—वनारस का सिद्ध विनायक मुहल्ला।

स्वर्गद्वार प्रवेश—इसका पता नही।

मोक्षद्वार प्रवेश—इसका पता नहीं।

गंगाकेशव पार्श्व—शायद इसका तात्पर्य आदिकेशव घाट से है।

जरासध घट्ट—दशाश्वमेध घाट के पास मीर घाट का प्राचीन नाम।

वृद्धादित्य घट्ट—इसका पता नही।

सोमेश्वर घट्ट—इसका पता नही।

रामेश्वर—पचक्रोशी यात्रा में रामेश्वर नाम का तीर्थ स्थान।

लोलार्क—अस्सी के पास लोलार्क कुड। शायद अकवर-जहाँगीर युग में इस नाम का कोई मुहल्ला भी था।

अस्सी सगम—आधुनिक अस्सी घाट।

वरुणा सगम—वरना सगम–राजघाट के आगे जहाँ वरना गगा से मिलती है।

लक्ष्मीनृसिंह—यह मुहल्ला अथवा मदिर बिंदुमाधव घाट के ऊपर था।

पचगगेश्वर—इनका भी मदिर बिंदुमाधव घाट पर था।

दक्षेश्वर—इसका पता नही।

दुग्ध विनायक—आजकल का दूध विनायक मुहल्ला।

कालभैरव—आज का भैरवनाथ मुहल्ला।

दशाश्वमेध घट्ट—आजकल का सुप्रसिद्ध दशाश्वमेध घाट।

चतु षष्टियोगिनी घट्ट—दशाश्वमेघ घाट के पास आधुनिक चौसट्ठी घाट।

सर्वेश्वर घट्ट—इसका पता नही।

मानसरोवर—आजकल का मानसरोवर घाट। इस मुहल्ले को अवर-नरेश मानसिंह ने वनवाया।

आदि विश्वेश्वर—इनका मदिर भी गीवार्ण पद मजरी के अनुसार विंदुमाधव घाट पर था। आधुनिक आदि विश्वेश्वर वास के फाटक मुहल्ले में है।

केदारेश्वर घट्ट—आधुनिक केदार घाट।

४ हिंदू सामंत और बनारस

अकवर और जहागीर के राज्यकाल में राजा मानसिंह ने भी बनारस मे कई घाट और वहुत से मदिर वनवाये। वनारस में अनुश्रुति है कि राजा मानसिंह ने एक दिन मे १००० मदिर वनवाने का निश्चय किया। फिर क्या था वहुत से गढे पत्थरो पर मदिरो के नक्शे खोद दिये गये और इस तरह राजा मानसिंह का प्रण पूरा हुआ। शेरिंग के समय तक मानसिंह के वनवाये हुए मदिर वनारस में मिलते थे।[१] मानसिंह के वनवाये घाटो में सवसे प्रसिद्ध घाट मानमदिर घाट है। इसे राजा मानसिंह ने वनवाया वाद में जयसिंह ने इसमें वेघशाला वनवायी।

वूदी नरेशो का भी वनारस से सवघ था। टाड के अनुसार[२] अकवर ने राव दुर्लभ के साथ सधिपत्र में उन्हें वनारस में एक महल दिया। राजमदिर और शीतला घाट के वीच में टूटी फूटी हालत मे यह महल अव भी मौजूद है।

वनारस के मुग़लकालीन धार्मिक इतिहास में सवसे प्रसिद्ध घटना अकवर के राज्यकाल में विश्वनाथ के मदिर की पुन रचना है। विश्वनाथ का मदिर शर्कियो अथवा सिकदर लोदी के समय तोड दिया गया। ऐसा जान पडता है कि अकवर के राज्यकाल तक वह फिर नही वन सका था। विश्वनाथ के मदिर का पुन पुन गिराये जाने का उल्लेख नारायण भट्ट ने अपने त्रिस्थली सेतु (रचनाकाल करीव १५८५, पृ० २०८) में किया है। उनका कहना है कि लिंग वहुधा हटा दिये जाने से नये स्थापित लिंग की पूजा करनी चाहिए। म्लेच्छो द्वारा अगर मदिर नष्ट कर दिया गया हो तो खाली जगह की ही पूजा की जा सकती थी।

प्रसिद्ध दक्षिणी विद्वान नारायण भट्ट का समय १५१४ से १५९५ ईस्वी तक है और ऐसा जान पडता है कि उनके जीवन के अधिक भाग में वनारस में विश्वनाथ का कोई मदिर नही था। ऐसा भी पता चलता है कि औरगज़ेव के पहले विश्वनाथ के १५वी सदी के मदिर के स्थान पर कोई मस्जिद नही वनी थी। ज्ञानवापी मस्जिद का १२५×१८ फुट नाप का पूरव की ओर का चवूतरा शायद चौदहवी सदी के विश्वनाथ मदिर का वचा भाग है।

---

[१] शेरिंग, दि सेक्रेड सिटी ऑफ वनारस, पृ० ४२-४३

[२] टाट, एनाल्स एड एटिक्विटीज़ ऑफ राजस्थान, १४८३, लडन १९५२

अकवर के राज्यकाल में विश्वनाथ का मदिर वनाने का श्रेय टोडरमल और नारायण भट्ट को है। दिवाकर भट्ट ने अपनी दानहारावली में कहा[१] भी है—**श्री रामेश्वरसूरि-सूनुरभवन्नारायणाख्यो महान्। येनाकार्यविमुक्तके सुविधिना विश्वेश्वरस्थापना**—अर्थात् रामेश्वरभट्ट के पुत्र नारायण भट्ट ने अविमुक्त क्षेत्र वाराणसी में विधिपूर्वक विश्वेश्वर की स्थापना की। डा० आल्तेकर का अनुमान है कि टोडरमल की सहायता से नारायण भट्ट ने १५८५ ईस्वी के करीव यह कार्य सपादित किया। सभव है कि नारायण भट्ट ने टोडरमल को १५८० ईस्वी में मुंगेर की विजय के वाद विश्वनाथ मदिर वनवाने की सलाह दी तथा वनाने वालो ने १५ वीं सदी के विश्वनाथ मदिर का नक्शा अपने सामने रक्खा।

प्राचीन मदिर में पाच मडप थे। इनमें से पूर्व की ओर पाचवें मडप की नाप १२५×३५ फुट थी, यह रग मडप था और यहाँ धार्मिक उपदेश होते थे। टोडरमल ने केवल मडप की मरम्मत करा दी। मदिर की कुरसी ७ फुट और ऊची उठा कर सडक के वरावर कर दी गयी। मुसलमानो के डर से मदिर मे मूर्तियाँ नही खोदी गयी।

१६ वी सदी का विश्वनाथ मदिर चौखूटा था और उसकी प्रत्येक भुजा १२४ फुट की थी। मुख्य मदिर वीच में ३२ फुट के मुरब्बे में जलधरी के अदर था। गर्भगृह से जुटे हुए १६×१० फुट के चार अतर्गृह थे। इनके वाद १२×८ के छोटे अतर्गृह थे जो चार मडपो में जाते थे। पूर्वी और पश्चिमी मडपो में दडपाणि और द्वारपालो के मदिर थे, शायद इनकी मूर्तिया आलो पर स्थित थी।

मदिर के चारो कोनो पर १२ फुट के उपमदिर थे। नदीमडप मदिर के वाहर था। मदिर की ऊचाई शायद १२८ फुट थी। मडपो और मदिरो पर शिखर थे जिनकी अनुमानत ऊचाई ६४ फुट और ४८ फुट थी। मदिर के चारो ओर प्रदक्षिणा पथ था जिसमें अनगिनत देवी देवताओ के मदिर थे।

टोडरमल की सहायता से विश्वेश्वर के मदिर के वनाये जाने की वात हम ऊपर कह आये है, पर इसके सिवा टोडरमल ने शिवपुर में प्रसिद्ध द्रौपदी कुड सीढी सहित १५८९ ईस्वी में वनवाया जैसा उनके एक लेख से प्रकट होता है।[२]

५ तुलसीदास के समय की काशी

अकवर-जहाँगीर युग के वनारस के इतिहास की सवसे वडी घटना गोस्वामी तुलसीदास का प्रादुर्भाव है। विनयपत्रिका में हम काशी के अकवर-जहाँगीर युग की काशी की एक झलक पाते है। उनकी काशी-स्तुति से हमें काशी सवधी तत्कालीन विश्वासों और मदिरो इत्यादि का अच्छा पता लगता है। मरण पर्यन्त काशी में रहना श्रेयस्कर माना जाता था। काशी दुख, क्लेश, पाप और रोग का नाश करने वाली मानी जाती थी। काशी का मध्य भाग जिसे अतर्गृही कहते थे नगरी का सव से पवित्र भाग था। वैदिक धर्म में पूर्ण विश्वास करने वालो की यहाँ वस्ती थी। दडपाणि भैरव का वहाँ

---

[१] एग्गेलिग, इडिया ऑफिस केटलाग ऑफ सस्कृत मेनस्क्रिप्ट्स्, भाग १, पृ० ५४७

[२] इतिहास सग्रह, नवर १९०८, पृ २०

स्थान था। लोलार्क कुड और त्रिलोचन घाट काशी के नेत्र समान थे। कर्णघटा का यहा मदिर था। मणिकर्णिका तीर्थ काशी का सबसे प्रसिद्ध तीर्थ था। सासारिक और पारलौकिक सुखो को देने वाली पचक्रोशी यात्रा का भी धार्मिक महत्त्व था। विश्वनाथ और पार्वती की यह नगरी थी।[1]

काशी के उपर्युक्त विवरण से कई बातो का पता चलता है। एक तो यह कि जिस समय विनय-पत्रिका का यह पद लिखा गया उस समय विश्वनाथ का मदिर बन चुका था और दूसरे यह कि पचक्रोशी यात्रा काशी में धार्मिक क्रियाओ का एक अग मान ली गयी थी। पचक्रोशी की सडक काशी की पवित्र भूमि की चौहद्दी बाधती है और इस सडक के ठीक पूर्वी नोक पर बनारस की स्थिति है। इस सडक की लबाई करीब पचास मील है। गगा से आरभ होकर दक्षिण में शहर को छोडती हुई यह सडक नगर से पाँच कोस से दूरी पर कभी नही जाती। इस पर निम्नलिखित पडाव हैं—(१) मणिकर्णिका से अस्सी, (२) धूपचडी,.(३) रामेश्वर, (४) शिवपुर, (५) कपिल धारा और (६) बरना सगम।

हम ऊपर कह आये हैं कि पद्रहवी सदी में कुछ मुसलमान बादशाहो की वजह से बनारस की सस्कृति को काफी धक्का पहुचा, पर अकबर के राज्यकाल में बनारस पुन पूरी तौर से सभल गया और अपनी पुरानी परपरा में चल पडा। वही हजारो देवी देवताओ की पूजा, गगास्नान, जप, तप, आराधना, ब्राह्मणो को दान देना इत्यादि फिर से चालू हो गये और पुन देश के सब भागो से यात्री काशी में जुटने लगे। पर बनारस का वैदिक धर्म इतना रूढ़िगत हो गया था कि उसमें किसी तरह के सुधार की ओर लोगो का ध्यान तक नही जाता था। सच तो यह है कि तत्कालीन काशी में वैदिक धर्म ने लोगो की विचार शक्ति को कुचल सा दिया था और जनता के मन में एक विचित्र तरह का सूनापन आ गया था। कबीर ने इन बाह्याडबरो को छोड कर प्रेम का सदेसा गाया पर उसे सुनने वाले, कम से कम भद्रश्रेणी के लोग जो सस्कृति के प्रवर्तक और धार्मिक क्षेत्र के अगुआ थे, नही के बराबर थे। कबीर ने हिंदू धर्म तथा इस्लाम दोनो को आडे हाथो लिया पर हिंदुओ की नसो में सनातन धर्म इस बुरी तरह से घुस गया था कि उसे छोडने अथवा उसमें किसी तरह का अदल बदल करने की वे बात तक नही सोचते थे। ऐसे ही समय गोस्वामी तुलसी दास ने काशी से सगुणभक्ति की एक बुलद आवाज उठाई। इस सगुण भक्ति की खान रामायण का लेखन अयोध्या से १५७४ ईस्वी में आरभ हुआ पर बहुत बरसो बाद उसकी समाप्ति काशी में हुई। अनुश्रुति तो यह है कि भदैनी के पास बाबा तुलसी दास ने रामायण समाप्त किया और गोपाल मदिर के बाग में विनय-पत्रिका।

इसमें सदेह नही कि बनारस के तत्कालीन धार्मिक और सामाजिक वातावरण से गोस्वामी तुलसीदास बडे क्षुब्ध थे। विनयपत्रिका में तो एक जगह उन्होने जी खोलकर उस अवस्था का वर्णन भी किया ह वे कहते है—हे दीन दयालु रामजी, पाप दारिद्र्य और दुख इन तीन दारुण तापो से दुनियाँ जली जा रही है। सभी प्रकार का सुख चला गया

[1] विनय पत्रिका (वियोगी हरि द्वारा सपादित), पृ० १०३-०४ काशी, स० १९९२

[2] वही, पृ० ३४०-४१

है। ब्राह्मण जिनकी पवित्रता वेद सम्मत है, उनकी बुद्धि को भी क्रोध, राग, मोह, अहकार और लोभ ने निगल लिया है। वे समता, सतोष, दया, धर्म आदि को छोडकर कामी, क्रोधी, मूढ और लोभी हो गये है। क्षत्रिय भी नित नये पापो की चालें चल रहे है। नास्तिकता ने राजनीति, धर्मशास्त्र, श्रद्धा, भक्ति और कुल मर्यादा की प्रतिष्ठा को चौपट कर दिया है। ससार में न तो आश्रम-धर्म है और न वर्ण-धर्म-ही। लोक और वेद दोनो की मर्यादा नष्ट होती जा रही है। न कोई लोकाचार मानता है, न वैदिक धर्म ही। पाप में सनकर प्रजा का ह्रास हो रहा है, लोग अपने अपने रग में मस्त है, कोई किसी की सुनता नही। शाति, सत्य और सुमार्ग शून्य हो गये है और दुराचार और छल कपट की वढती हो रही है। सज्जन कष्ट पाते है पर दुर्जन मौज करते है। धर्म के नाम पर लोग पेट पालने लगे है। साधन निष्फल होने लगे है और सिद्धियाँ भी झूठी पड गयी है।

हिंदू धर्म की इस दुरवस्था को देखते हुए भी गोस्वामी तुलसी दास ने रामचरित मानस में पुराण सम्मत हिंदू धर्म के विरोध में अपनी आवाज नही उठायी। अगर वे तत्कालीन वर्णाश्रम धर्म की सत्ता पर व्याघात करते तो शायद उन्हें भी वही नतीजा मिलता जो रामानद और कवीर को मिला और जनता उनकी सुनती ही नही। उन्होने तो राम की कथा को भक्ति से सरावोर करके जनता के सामने रख दिया और उसे वताया कि सगुण की भक्ति-पूर्वक आराधना ही मुक्ति मिलने का सवसे सुगम मार्ग है। श्रुति, स्मृति कर्मफल, पुनर्जन्म और अवतारवाद पर उनकी पूर्ण आस्था थी। ब्राह्मणो की श्रेष्ठता भी उन्होनें स्वीकार करली थी। सारे अवगुणो से भरा भी ब्राह्मण हमारी पूजा का पात्र है, पर पढा लिखा भी शूद्र हमारे आदर का भाजन नही हो सकता। पवित्र नदियो में स्नान का फल परमेश्वर की आज्ञा उद्घोष करती हुई आकाशवाणियाँ, और घोर तपस्या द्वारा चमत्कार-पूर्ण फलो की प्राप्ति की ओर भी मानसकार की श्रद्धा है। मानस में अनेक देवता भी मनुष्यो की तरह अनेक ऐंद्रिय साधनो के लिये व्यग्र दिखलायी देते है और ब्रह्मा और शिव भी राम द्वारा मुक्ति के अभिलाषी है। परतु इन सव पौराणिक कथा-वार्ताओ के होते हुए भी रामायण में राम की वीरता, सीता के प्रति प्रेम, भरत और लक्ष्मण का भ्रातृप्रेम, हनुमान का दृढ सेवक धर्म तथा सव के ऊपर भक्ति का ऐसा सुदर सदेश है जिसने करोडो आदमियो को एक जीवित आदर्श देकर उन्हें गिरने से वचाया।

रामायण भक्ति का एक अटूट भडार है। तुलसीदास के राम कुलीनता, धन, पुरुषार्थ, गुण, और कर्मकाड की परवाह न करके केवल भक्ति के भूखे है। भक्ति ईश्वर-दत्त है। भक्त सारी दुनिया को राममय देखता है, और किसी उदात्त अथवा अनुदात्त भाव के विना राम में भरोसा रखता है। पाप-भार से दवे प्राणी की रक्षा ज्ञान, योग या तप से नही हो सकती, उसके लिये तो अचल भक्ति की आवश्यकता है। सव गुणो में चरित्र की निर्मलता को गोसाइंजी सव के ऊपर मानते हैं। वे कहते है कि अपने शरीर को पूजनीय मानो क्योंकि परमपिता ने भी इसमें एक वार जन्म लिया था। इसीलिए यह सिद्ध है कि राम का मनुष्य देह लेना ही उनका सव प्राणियो के प्रति प्रेम है। इसी प्रेम के वशीभूत होकर राम ने शवरी के जूठे बैर तक चखे, निषाद को अपनी छाती से लगाया और राक्षस विभीषण तक को शरण दी।

तुलसीदास ने जो भक्ति और आदर्श की धारा वहाई, उसने मुगलकालीन भारत में हिंदुओ की रक्षा कर ली नही तो वे घोर अधकार के गड्ढे में बरावर गिरते ही जाते। अनेक अत्याचारो को झेलते हुए भी हिंदुओ के सामने तुलसीदास के राम का एक ऐसा आदर्श था जो उनके सूने जीवन में एक भक्ति की लहर दौडाकर उन्हें अपने भीतरी और वाहरी कष्टो से मुकावला करने के लिय तैयार करता था। रामभक्ति ने कर्मकाडमय हिंदू धर्म की शुष्कता दूर करके उसमें रस वहाया। इसमें शक नही कि समाज के प्रताडितो के प्रति तो तुलसीदास के भाव श्रुति-सम्मत ही थे, और अनिष्टकारी जाति-वाद का भी उन्होने समर्थन किया है। पर यह सव तो उनके निजी सस्कार और परिस्थितियो के फल है। उनके राम को इन सामाजिक वाह्याडवरो से कुछ मतलव नही है, उनके लिये तो भक्ति ही साध्य और साधन सव कुछ है।

मुगलकालीन वनारस में और दूसरे शहरो में भी शैवधर्म का प्रावल्य था ओर इसी लिये तुलसीदास ने वरावर शिव की वदना की है, पर ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनो राम के आधीन है और उन्हें जिस तरह चाहते है दारुयोषित की तरह नचाते है। राम की वरात में शिव और ब्रह्मा राम के परम भक्त माने गये है और वे अपने को राम के पादपद्मो का अभिलाषी मानते है। फिर भी शिव-पार्वती की ओर राम-जानकी की श्रद्धा व्यक्त की गयी है और यह श्रद्धा इस वात का उदाहरण है कि तुलसीदास का शैवो से किसी प्रकार का द्वेष-भाव नही था।

जन-श्रुतियो में तुलसीदास और अब्दुल रहीम खाँ खान खाना की मित्रता की ओर सकेत है। १५८९ से १५९१ तक जव खान खाना जौनपुर के सूवेदार थे सभवत तव उनकी तुलसीदास के से भेंट होती रही होगी। सभव है कि खान खाना का हिंदी-प्रेम तुलसीदास ससर्ग से ही वढा हो।

अकवर के राज्यकाल में वनारस में केदारघाट पर कुमारस्वामी के मठ की भी स्थापना हुई। कुमारस्वामी का जन्म सोलहवी सदी के आरम्भ में तिनेवली जिले के वैकुठग्राम में हुआ। ये कार्तिकेय के परमभक्त थे। गुरु की खोज में यात्रा करते हुए मदुरा नरेश से इन्हें काफी द्रव्य प्राप्त हुआ। कावेरी के किनारे धर्मपुर नामक स्थान पर इनकी गुरु से भेंट हुई और उन्ही की आज्ञा से वे काशी की ओर रवाना हुए। किवदन्ती है कि काशी से वे दिल्ली पहुँचे और अकवर से वनारस में मठ स्थापित करने का फरमान प्राप्त किया। काशी में उन्होने केदार घाट पर मठ स्थापित किया और वहाँ दक्षिण भारत के यात्री वेरोकटोक आने लगे। कुमारस्वामी के छठे गद्दीदार के समय में फौजदार के अत्याचार के कारण तिल्लैनायक स्वामी ने अपने एक गुरुभाई को नियुक्त कर दिया और स्वय वहुत सा द्रव्य लेकर दक्षिण चले गये और वहाँ जाकर त्रिपनंदल (तजोर) में अपना घर वनाया और १७२० ईस्वी में जमीदारी खरीदी। काशी में ब्राह्मण भोजन कराने के लिए लोग इनकी गद्दी में रकम जमा कर देते थे। दोनो गद्दियाँ अपनी हुडियाँ चलाती थी। केदारेश्वर का मदिर इन्ही के प्रवध में है।[1]

• •

[1] हस का काशी अक, पृ० १४१ से

तीसरा अध्याय

शाहजहाँ–औरंगजेब कालीन बनारस

(१६२७–१७०७ ईस्वी)

१. इतिहास

शाहजहाँ (१६२७–१६५८ ईस्वी) के राज्यकाल में बनारस के राजनीतिक इतिहास के बारे में तो कुछ पता नहीं चलता। जान पडता है कि ऐसी कोई विशेष घटना घटी ही नही जिसका उल्लेख इतिहासकार कर सकें। पर शाहजहाँ कट्टर मुसलमान था और अपने राज्यकाल के कुछ ही दिनो बाद उसने नये बने मन्दिरो को तोडने की आज्ञा दी और इस हुक्म का असर बनारस पर भी पडना लाजमी था। बादशाहनामा[1] के अनुसार यह हुक्म १६३२ ईस्वी में शाया हुआ। इतिहासकार के शब्दो में, शाहशाह के सामने यह बात लायी गयी कि जहाँगीर के राज्यकाल में बनारस में, जो बुतपरस्तो का प्रधान अड्डा था, बहुत से मन्दिर बनने आरभ हुए थे पर वे पूरे नही हो सके थे। बुतपरस्त उन मन्दिरो को पूरा करने के इच्छुक थे। इसलिए दीन के सरक्षक शाहशाह ने हुक्म जारी किया कि बनारस और उनके साम्राज्य में और भी दूसरी जगहो में अधबने मन्दिर गिरा दिये जायें। इस हुक्म के बाद इलाहाबाद के सूबे से खबर मिली कि केवल बनारस सरकार में ही ७६ अधबने मन्दिर गिरा दिये गये। शाहजहाँ के इस तानाशाही हुक्म को बनारसियो ने यो ही नही मान लिया इस बात के गवाह प्रसिद्ध अग्रेज यात्री पीटर मडी है।[2] ३ दिसम्बर १६३२ को मुगलसराय जाते हुए मडी ने एक आदमी को पेड से फाँसी लटकता हुआ देखा। पूछताछ करने पर उसे इस आदमी को फाँसी के कारण का पता चला। बात यह थी कि शाहजहाँ के फरमान के मुताबिक इलाहाबाद के सूबेदार हैदर बेग ने अपने चचाजाद भाई को बनारस के नये मन्दिर तोडने भेजा। एक राजपूत रास्ते में छिप गया और उसने अपनी कमठी से सूबेदार के चचेरे भाई और उसके तीन चार साथियो को मार डाला। वह बराबर अत तक लडता रहा और मरते-मरते भी उसने अपने जमधर से दो तीन आदमियो को मार गिराया। पर अन्त में वह मारा गया और उसकी लाश पेड से लटका दी गयी। वीरता का यह अपूर्व उदाहरण है। यह अनामा राजपूत मन्दिरो को तो ढहने से न बचा सका पर यह उसने जरूर साबित कर दिया कि हिन्दुओ के उस ह्रास पूर्ण युग में भी ऐसे वीर थे जो अपने धर्म के लिये लडते लडते मर जाने को तैयार थे।

मडी आगरा से पटना जाते हुए ३ सितम्बर १६३२ को बनारस पहुँचा। बनारस के रगबिरगे नागरिकों, अच्छी इमारतो और फर्शदार पतली और घुमावदार सडको को

---

[1] ईलियट, भाग ७, पृ० ७०

[2] दि ट्रावेल्स आफ पीटर मडी (टेंपिल द्वारा सपादित), भाग २, पृ० १७८, लडन १९१४

देखकर वह बडा प्रभावित हुआ। बनारस पहुँचने के दूसरे दिन भी मडी को इसलिए ठहर जाना पडा कि बनारस के फौजदार मुजफ्फर वेग ने कुलीज खाँ की औरतो और घर-गृहस्थी को इलाहाबाद से मुल्तान पहुँचाने के लिए उसकी गाडियाँ जबर्दस्ती ले ली थी। पर मडी पूरा उस्ताद था, उसने झट घूस देकर अपनी गाडियाँ छुडवा ली और आगे बढ गया।[1]

मडी के अनुसार बनारस में "खत्री ब्राह्मण और बनियो की बस्ती है और वहा दूर दूर से लोग देवताओ की पूजा करने आते हैं। इनमें काशी विश्वेश्वर महादेव का मदिर सबसे प्रसिद्ध है। मै उसके अदर गया। उसके बीच में एक ऊँची जगह पर एक लबोतरा सादा (बिना नकाशी का) पत्थर है। उस पर लोग नदी का पानी, फूल, अक्षत और पिघला घी चढाते हैं। पूजा के समय ब्राह्मण कुछ पढते रहते है, पर उसे गँवार समझते नही। लिंग के ऊपर एक रेशमी चँदवा है जिसके सहारे कई बत्तियाँ जलती रहती हैं। उस सादी थोथी मूरत का मतलब एक सादे गँवार के ठेठ शब्दो में महादेव का लिंग था। अगर ऐसी बात है तो जान पडता है इसीसे स्त्रियाँ अपने छोटे बच्चो को निरोग करवाने लाती है। शायद इस लिंग में प्रजनन और रक्षण, दोनो भाव निहित है"।[2] विश्वनाथ के मदिर का यह आँखो देखा सर्वप्रथम वर्णन है।

विश्वनाथ के मदिर के सिवाय मडी ने गणेश, चतुर्भुज, और देवी के मदिर भी देखे। मदिरो के द्वार पर अक्सर नन्दी होते थे। वह मदिरो के सभा मडपो का भी वर्णन करता है जहाँ उसने कुछ सुन्दर मूर्तियाँ देखी। इसके पहले तक तो उसकी यात्रा में केवल बदसूरत मूर्तियाँ ही मिली थी।

पटने से लौटते हुए मण्डी मुगलसराय २९ नवम्बर १६३२ को पहुँचा। वहाँ उसे खबर लगी कि बनारस में एक बढी भयकर बीमारी फैली हुई थी और शहर के ९० प्रतिशत आदमी या तो मर गये थे या भाग गये थे। उसे अपनी गाडियों की मरम्मत के लिये बनारस में दो दिन ठहरना जरूरी था। एक दिन वह स्मशान देखने चला गया। वहाँ चालीस मुर्दे जल रहे थे और कुछ अर्धमृत मनुष्य पानी में स्वर्ग-प्राप्ति के लिये उतार दिये गये थे।[3]

मडी ने बनारस में साधुओ और फकीरो का भारी हगामा भी देखा। इनमें हिन्दू, मुसलमान, जोगी और नागे थे जो लोगो के दान धर्म पर अपनी जीविका चलाते थे। इनमें से कुछ सडको पर बैठे थे, और कुछ मकबरो में, जहाँ हरे भरे वृक्ष कुएँ, छावन और मट्टी की चौतरिया थी, उसकी साधुओ के एक अखाडे से भी भेंट हुई। अखाडे का मुखिया घोडे पर सवार होकर झडा लेकर चल रहा था और कुछ साथियो के हाथ में लम्बे बासो में बधी चौरियाँ थी। एक सिंघा बजा रहा था। वे अधिकतर मोरछल लिये,

---

[1] पीटर मडी, वही, पृ० १२२

[2] वही, पृ० १२२–२३

[3] वही, पृ० १७५

जमातो में चलते थे। कुछ के हाथो में बैठने के लिये व्याघ्र चर्म थे। जोगी गेरुए कपडे पहने थे। कुछ साधुओ के कमर में सिक्कड थे, जिनमें उनकी गुप्तेन्द्रियो पर काम निरोध के लिये तवे बधे थे। अधिकतर साधू जटाजूटधारी थे। कुछ साधू बिना बोले लोगो के सामने खडे हो जाते थे और तब तक नही हटते थे जब तक उनसे हटने को न कहा जाय। इनमें से कुछ साधुओ को वैद्यक का भी ज्ञान था पर उनमें अधिकतर तो अपनी पवित्रता के लिये ही प्रसिद्ध थे।[1]

२ दारा शुकोह और बनारस

दारा शुकोह की धार्मिक सहिष्णुता इतिहास मे प्रसिद्ध है। उन्होने यहूदियो और क्रिस्तानो के धर्म ग्रन्थ भी पढे थे पर उपनिषदो से उन्हें विशेष शान्ति मिली। दारा इलाहाबाद के सूबेदार थे और इसीलिए बनारस उनके क्षेत्र में था। उपनिषदो के अनुवाद सिर्रे उल-असरार अथवा सिर्रे अकबर के दीबाचा में वे कहते है कि उन्होने १६५६ में बनारस के बहुत से पण्डित और सन्यासी इकट्ठे किये और उनकी मदद से उपनिषदो का फारसी में स्वत अनुवाद किया।[2] दारा द्वारा षट्भूमिक नामक एक सस्कृत ग्रन्थ के अनुवाद की बात मिलती है।[3] एक जगह दारा कहते है कि उन्होने सूफी मत ग्रहण किया था और हिन्दू फकीरो के ससर्ग से यह पता लगने पर दोनो मतो में केवल शाब्दिक भेद है, उन्होने मजमूअउल-बहरैन १६५८ में लिखा जिससे दोनो मजहबो का समन्वय हो सके। पता नही कि दारा स्वत बनारस आये थे या नही, पर बनारस में तो अनुश्रुति है कि वे यहाँ आये थे।

शाहजहाँ के राज्यकाल में बनारस में एक और घटना घटी और वह थी कवीन्द्राचार्य (१६२७–७०) द्वारा यात्रियो पर जकात का कर उठवाना। कवीन्द्राचार्य गोदावरी नदी के तीर पुण्य-भूमि नामक स्थान के निवासी थे। वेद, वेदान्त, और अन्य शास्त्रो का अध्ययन करके वे सन्यासी हो कर बनारस में रहने लगे तथा पण्डितो के अग्रणी बने। उनके हस्तलिखित पुस्तको के अद्भुत सग्रह (कवीन्द्राचार्य सूची पत्र, गायकवाड ओरियन्टल सीरीज १९२१) से उनके अगाध पाण्डित्य और विद्याव्यसन का पता चलता है। अनुश्रुति है कि शाहजहाँ ने उन्हें सर्वविद्यानिधान की पदवी दी थी। कवीन्द्राचार्य का सर्वश्रेष्ठ कार्य शाहजहाँ द्वारा काशी और प्रयाग के यात्रियो पर से यात्री कर उठवाना था। यात्रियो पर जकात का वर्णन मुस्लिम इतिहासकारो में नही मिलता इसका कारण यही हो सकता है कि मुस्लिम इतिहासकार भला कैसे इस घटना का अकन करते जिसमें बादशाह द्वारा काफिरो पर से एक कर उठ जाने की बात हो। सम्भव है, इस कर के उठवाने में दारा शुकोह का हाथ रहा हो।

---

[1] वही, पृ० १७६–७७

[2] नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भा० ४७।२, पृ० १८०

[3] जर्नल गगा नाथ झा रिसर्च इंस्टट्यूट, फरवरी १९४४, पृ० १९३ से

[4] एच० डी० शर्मा और एम० एम० पाटकर, कवीन्द्र चन्द्रोदय, पृ० १–४

कर उठ जाने पर हिंदू जगत और विशेष कर बनारस के पंडितवर्ग में आनंद की लहर आ गयी। चारो ओर कवीद्राचार्य की प्रशसा होने लगी और उन्हें लोगो ने विद्या-निधान और आचार्य पदवियो से विभूषित किया। उन्हें बनारस के अनेक पडितो ने कवितावद्ध मानपत्र भी समर्पण किये, जिनका सग्रह श्रीकृष्ण उपाध्याय ने कवीन्द्र-चन्द्रोदय नाम के ग्रंथ में किया है। अभाग्यवश इन मानपत्रो में केवल कवीन्द्राचार्य की स्तुति मात्र की गयी है, ऐतिहासिक सामग्री तो इसमें नही-सी है।

३ औरंगजेब और बनारस

१६५८ ईस्वी में जब शाहजहाँ सख्त बीमार पडे तो उनके पुत्रो में तख्त के लिये लडाई छिड गयी। बगाल के सूबेदार और शाहजहाँ के द्वितीय पुत्र शुजा ने अपने पिता की बीमारी का हाल सुना[1] तब उसने अपने को हिन्दुस्तान का बादशाह घोषित कर दिया और एक बडी सेना, तोपखाने और नवारे के साथ वह बगाल से दिल्ली की ओर चला और करीब १४ जनवरी १६५८ को बनारस पहुँच गया। इस बीच दारा ने शुजा के मुकाबिले के लिये बीस हजार घुडसवार, दो हजार बदूकची और २०० बरकदाज, जिनके साथ काफी रुपये और हाथी थे, रवाना कर दिये। इस सेना के नाम के सिपहसालार सुलेमान शुकोह थे लेकिन सब करने धरने वाले राजा जयसिंह और दिलेर खाँ रुहेला थे। दोनो फौजो का बनारस से उत्तर पूर्व पाँच मील दूरी पर बहादुरपुर में २५ जनवरी को मुकाबिला हुआ। पहले तो मामूली सी झडपें और गोलेबाजी होती रही, लेकिन १४ फरवरी १६५८ को बादशाही फौजो ने धावा बोल दिया। उस झटके से शुजा की फौज बिखर गयी और उसका पडाव लूट लिया गया। भागती हुई फौज की आवाज से मसहरी के अदर लेटे हुए शुजा की नीद खुल गयी। हाथी पर सवार होकर वह फौरन बाहर आया लेकिन लडाई तो तब तक समाप्त हो चुकी थी, दुश्मन उसका पडाव लूट रहे थे और शुजा के अफसर इस बात की परवाह किये बिना कि उनके मालिक का क्या हुआ सिर पर पैर रखकर भाग रहे थे। थोडे आदमी मुकाबला कर रहे थे, सो भी इसलिये कि किसी तरह बच कर निकल जा सकें। शुजा के करीब तीन हजार सिपाहियो ने तो अपने हथियार डाल दिये। हाथी पर सवार शुजा के ऊपर तीर बरस रहे थे। फिर भी उसने अपनी फौज को जमा करने की बहुतेरी कोशिशें की पर उसका कोई नतीजा नहीं निकला। शुजा के बच निकलने का केवल एक ही रास्ता बच गया था और वह था नदी किनारे का रास्ता जिसकी रक्षा नवारे की तोपें कर रही थी, लेकिन वहाँ तक पहुँचना भी आसान नही था। किसी तरह कुछ वफादार साथियो की मदद से शुजा नवारे तक पहुँच गया। उसके भागते ही उसके पडाव में ऐसी लूट मची कि शुजा और उसके साथियो का कम से कम दो करोड का नुकसान हुआ।

शुजा ने फौरन अपने नवारे का लगर उठवा दिया और जल्दी से नदी के बहाव की ओर भागा। जल्दी इतनी थी दस मील तक तो नवारा रुका ही नही। जब वह रुका तो मिर्जा जान बेग, जो लडाई के मैदान से केवल ४०० सिपाहियो के साथ भाग सके

[1] सरकार, औरगजेब, भा० १-२, पृ० ४६६ से

थे, नावो पर सवार हो सके। इस गडवडी और घवराहट का सवूत इसी वात से मिल जाता है कि मिर्जा जान वेग ने अपने मालिक को अपनी जान वचाने पर वधाइयाँ दी क्योकि उस भयकर मारकाट से वच निकलना ही हजारो फतह के समान था। पर शुजा की ज्यादातर फौज को जमीन के रास्ते से भागना पडा और इस भागाभाग में वदमाश गाववालो ने सिपाहियो के कपडे तक उतरवा लिये। हारे हुए वीरो की सख्या पन्द्रह हजार थी और वे जिरह वख्तरों से लैस और घोडो पर सवार भी थे, फिर भी भीगी विल्ली की तरह उन्होंने उन वदमाशो से अपने को लूट जाने दिया। कुछ ने और भी वहादुरी का प्रदर्शन किया। उन्होंने तो अपने साजसामान और रुपये इसलिये फेंक दिये कि भागने में सुभीता हो सके। गाँव की औरतें इन सिपाहियो को पानी की लालच से फँसाकर एक ओर ले जाती थी और इनके साज सामान लूट लेती थी। इन वीरो को चीचपड तक करने की भी हिम्मत न होती थी।

इस लडाई के वाद रोते गाते शुजा किसी तरह मुगेर जा पहुँचे। वहाँ सुलेमान के साथ उनकी सधि हुई और सुलेमान ७ मई १६४८ को आगरा लौट गया।

औरगजेव द्वारा हराये जाने पर दारा को अपनी प्राण रक्षा के लिये पजाव में भागने और औरगजेव द्वारा उसका पीछा करने का समाचार सुनकर शुजा की राजेच्छा पुन जाग्रत हुई और उसने दिल्ली की ओर कूच करने की ठान ली। अक्टूबर १६५८ के अन्त में २५००० घुडसवार, तोपखाना और भारी नवारे के साथ वगाल की सेना ने पटने से कूच वोल दी। रोहतास, चुनार और वनारस ने शुजा के लिये अपने दरवाजे खोल दिये। इलाहावाद के सूवेदार ने भी उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। गगा के उत्तर में भेजे गये एक फौजी दस्ते ने जौनपुर भी दखल कर लिया। वनारस में शुजा की खाली पेटियाँ वनारस के हिंदू मुसलमान महाजनो और रईसो से जर्वदस्ती वसूल किये गये तीन लाख रुपयो से भर गयी। इस तरह शुजा की फौज २३ दिसम्वर को इलाहावाद जा पहुँची। यहाँ सुल्तान मुहम्मद की फौज ने उसका मुकावला किया और अत में इलाहावाद से तीन मजिल दूर खजवा पर औरगजेव ने उसे पूरी तौर से हरा दिया।

वनारस में औरगजेव का नाम उसकी धार्मिक असहिष्णुता के कारण आज तक लिया जाता है। औरगजेव कट्टर मुसलमान था और उसके जीवन का यह ध्येय था कि हिंदू किसी तरह आगे न वढने पावे। उसने पुन हिन्दुओ पर जजिया लगवाया मदिर तोडे और जहाँ तक उससे वन पडा हिंदुओ की सास्कृतिक सस्थाओ को नष्ट किया। औरगजेव का वनारस के हिंदुओ के प्रति रुख दो प्रकार का जान पडता है—पहला तो वह जिसे उसने तख्त पर वैठते ही हिन्दुओ के वारे में अख्तियार किया और दूसरा वह जव गद्दी पर जमकर अधिकार करने के वाद उसने हिंदुओ के प्रति अख्तियार किया।

अनेक भयकर लडाइयाँ लडने के वाद और अपने भाइयो के खून से हाथ रग कर औरगजेव दिल्ली के तख्त पर वैठा। जनता में उसकी इस क्रूरता का कारण एक घृणा का भाव था और इसीलिए फौरन गद्दी पर वैठते ही औरगजेव कोई ऐसी वात नही करना चाहता था जिससे उसके प्रति लोगों में असतोष और विद्रोह की आग भडके। औरगजेव

की हिंदुओ के प्रति इस नीति का पता हमें बनारस के २८ फरवरी १६५९ के एक फ़रमान से लगता है ।[१] फरमान का मजमून यह है—"हमारे शरायत कानून के लिहाज से यह निश्चित किया गया है कि पुराने मदिर न गिराये जायँ, लेकिन कोई नया मदिर न बनने दिया जाय । दरबार में खबर पहुँची है कि कुछ लोगो ने बनारस और उसके आस पास रहने वाले हिंदुओ को और कुछ ब्राह्मणो को जिनको बनारस के प्राचीन मदिरो में पूजा करने का अधिकार है तग किया है । वे चाहते हैं कि इन ब्राह्मणो को पूजा करने के मौरूसी हक से भी हटा दिया जाय । इसलिये मैं यह फरमान जारी करता हूँ कि तुम भविष्य में ऐसा प्रबध करो कि कोई भी गैरकानूनी तरीको से ब्राह्मणो तथा उस जगह के रहनेवाले हिंदुओ के कार्यों और हक़ो में दस्तन्दाजी न कर सकें ।' औरगजेब का यह फरमान शाहजादा मुहम्मद सुल्तान के बीच बचाव से अबुल हसन के नाम जारी किया गया था ।

पर औरगजेब के हिंदुओ के प्रति आरभिक बर्ताव से यह न समझ लेना चाहिए कि बनारस में सब कुशल मगल था क्योकि वृद्धकाल के पास आलमगीरी मस्जिद कृत्तिवासेश्वर के मदिर को तोडकर १६५९ ईस्वी में बनी ।

१६६६ ईस्वी में बनारस के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना घटी । छत्रपति शिवाजी औरगजेब के बुलाने पर दिल्ली गये, पर वहाँ उनका अपमान किया गया और उन्हें कैद कर लिया गया । वहाँ से वे बडे ही कौशल से निकल भागे और बनारस जा पहुँचे, पर यहाँ से बहुत दिनो तक नही रह सके । साधु-वेश में वे यहाँ से दक्षिण की ओर चले गये । शायद उनके बनारस जाने और छिपे रहने से औरगजेब का बनारस पर क्रोध और बढा होगा ।

जो भी हो दिल्ली के तख्त पर मजबूती से पैर जम जाने के बाद औरगजेब ने बुतपरस्तो से बदला लेने की सोची । साकी मुस्तइद खाँ ने मासिर-ए-आलमगीरी[२] में इसका पूरा पूरा वर्णन दिया है । उन्ही के शब्दो में "१७ जिलकदा, हिजरी १०७९ (१८ अप्रैल १६६९) के दिन दीन (धर्म) के रक्षक बादशाह सलामत के कानो में खबर पहुची कि ठट्टा और मुल्तान के सूबो में और विशेष कर बनारस में बेवकूफ ब्राह्मण अपनी रद्दी किताबें अपनी पाठशालाओ में पढाते और समझाते हैं और उनमें दूर दूर से हिंदू और मुसलमान विद्यार्थी और जिज्ञासु उनके बादमागी भरे ज्ञान विज्ञानो को पढने की दृष्टि से जाते हैं । धर्म-सचालक बादशाह ने यह सुनने के बाद सब सूबेदारो के नाम यह फरमान जारी किया कि वे अपनी इच्छा से काफिरो के तमाम मदिर और पाठशालाएँ गिरा दें । उन्हें इस बात की भी सख्त ताकीद की गयी कि वे सब प्रकार के मूर्ति-पूजा सबधी शास्त्रो का पठन पाठन, और मूर्तिपूजा भी बद कर दें । १५ रब-उल-आखिर (२ सितबर, १६६९) को दीन प्रतिपालक बादशाह को खबर मिली कि उनकी आज्ञा के अनुसार उनके अमलो ने बनारस में विश्वनाथ का मदिर गिरा दिया ।" मदिर केवल गिराया ही नही गया उस पर

---

[१] जे० ए० एस० बी०, १९, ११, सरकार, औरगजेब, भा० ३, पृ० २८१

[२] ईलियट, भाग ७, पृ० १८३-८४

ज्ञानवापी की मस्जिद भी उठा दी गयी। मस्जिद बनाने वालों ने पुराने मंदिर की पश्चिमी दीवार गिरा दी और छोटे मंदिरों को जमींदोज कर दिया। पश्चिमी उत्तरी और दक्षिणी द्वार भी बंद कर दिये गये, द्वारों पर उठे शिखर गिरा दिये गये और उनकी जगह गुंबद खड़े कर दिये गये। गर्भगृह मस्जिद के मुख्य दालान में परिणित हो गया। चारों अंतरगृह बचा लिये गये और उन्हें मंडपों में मिलाकर २४ फुट मुरब्बे में दालानें निकाल दी गयीं। मंदिर का पूर्वी भाग तोड़कर एक बरामदे में परिणत कर दिया गया। इसमें अब भी पुराने खंभे लगे हैं। मंदिर के पूर्वी मंडप में जो १२५×३५ फुट का था पत्थर के चौके बैठा कर उसे एक लंबे चौक में परिणत कर दिया गया।

इसी झपेटे में बिंदुमाधव का मंदिर भी आ गया। बिंदुमाधव के मंदिर को तुड़वाकर वहां मस्जिद बनवायी गयी। हम आगे चल कर देखेंगे कि तावेर्नियें के अनुसार बिंदुमाधव का मंदिर पंचगंगा से रामघाट तक फैला हुआ था और इसके अहाते के अंदर श्री राम, और मंगलागौरी के मंदिर और पुजारियों के रहने के लिये बहुत से मकान थे। मस्जिद की बनावट में खास तो खूबसूरती नहीं है, लेकिन उसके धरहरे जो अब गिर चुके हैं बहुत ख्यात हैं। इन धरहरों की चौड़ाई जमीन पर ८। फुट थी और सिर पर ७॥ फुट, इनकी उंचाई १४७ फुट २ इंच है। मस्जिद की कुर्सी गंगा से करीब ८० फुट ऊँचे पर है। बिंदुमाधव का मंदिर किसने बनवाया था यह तो ठीक नहीं कहा जा सकता, पर तुलसीदास के समय शायद वह था और हो सकता है अकबर के राजा मानसिंह ने इसे बनवाया हो। जिस पुश्ते पर जामा मस्जिद है उसकी दक्षिण दिशा वाली दीवार में पंचगंगा घाट वाली सीढ़ियों के ऊपर एक लेख है जिसमें पता लगता है कि महाराज जयसिंह ने १६८२ में यहां अपनी यात्रा सुफल की (हंस का काशी अंक, पृ० १२५)। इस लेख से कुछ लोगों की धारणा है कि धरहरा १६८२ में बना जो ठीक नहीं मालूम पड़ता।

४. बनारस और औरंगजेब कालीन कुछ विदेशी यात्री :

इस युग में बनारस की हालत का पता संस्कृत साहित्य से कम चलता है। संस्कृत लेखकों को तो धर्म कर्म छोड़कर दुनियावी बातों की ओर ध्यान देने की फुरसत नहीं थी और मुसलमानों को काफिरों से कोई सरोकार ही नहीं था। भाग्यवश दो प्रसिद्ध फरासीसी यात्री बर्नियर और तावेर्नियें १६६० और १६६५ के बीच बनारस आये और उनके बयानों से हमारे सामने १६६० और १६६५ के बीच के बनारस का चित्र खड़ा हो जाता है। जब ये यात्री वहां आये तब तक बनारस औरंगजेब की धार्मिक असहिष्णुता का शिकार नहीं बन पाया था। विश्वनाथ और बिंदुमाधव के मंदिर तब तक खड़े थे और बनारस में पठन-पाठन का कार्य भी उसी तरह से चल रहा था।

१६६५ ईस्वी में तावेर्नियें इलाहाबाद से बनारस के लिये रवाना हुआ।[१] गंगा पार करने के बाद सूबेदार के दस्तक के लिये उसे दो पहर तक रुकना पड़ा। ऐसा करना जरूरी

[१] ट्रावेल्स इन इंडिया बाइ जें बापतीस्त तावेरनियें, अनु० वी०, बॉल, भा० १, पृ० ११८-११९, लंदन, १८८९

था क्योकि विना सूबेदार के आज्ञा पत्र के वह आगे नही बढ सकता था। जान पडता है इस नियम का सख्ती के साथ पालन किया जाता था। तावेर्नियें का कहना है कि गगा के इस पार और उस पार एक एक दो दारोगा होता था जो विना दस्तक के किसी को आगे नही बढने देता था। दस्तक देखकर वह साथ वाली व्यापारिक वस्तुओ की भी चिट्ठी तैयार करता था और हर गाडी से चार रुपये और रथ से एक रुपये कर वसूल करता था, नाव का महसूल और किराया अलग से चुकाना पडता था। नाव पर सवार होने के पहले सूबेदार का दस्तक देखा जाता था और जकात वसूल करने वाले असवाव की खूब जाच पडताल करते थे। निजी असवाव पर तो कोई महसूल नही लगता था लेकिन व्यापारिक माल पर जकात देनी पडती थी।

वनारस का शहर गगा के उत्तर में वसा था और गगा पूरे शहरपनाह से सटकर वहती थी। वनारस को तावेर्नियें ने वडे किते से वना हुआ शहर पाया उसमे मकान अधिकतर ईंट,पत्थर के थे और वे इतने ऊचे थे कि उतने ऊचे मकान तावेर्नियें ने हिंदुस्तान में कही नही देखे थे। लेकिन वनारस की सँकरी और तकलीफदेह गलियो की वह निंदा करता है। वनारस शहर में कई कारवाँ सराएँ थी। उनमें एक वहुत वडी और वडे किते से वनी हुई थी। एक सरायँ के चौक में दो दालानें थी जहाँ रेशमी, तथा सूती कपडो और वहुत सी दूसरी चीजो का सौदा होता था। बेचनेवालो में अधिकतर कारीगर होते थे जो थान वनाकर खुद वेचते थे और इस तरह ग्राहको को, विना विचवइयो के, कारीगरो से माल सीधा मिल जाता था। इन कारीगरो को अपना माल दिखाने के पहले ठीकेदार से रेशमी और सूती माल पर वादशाही मुहर लगवानी पडती थी। ऐसा न करने पर उन्हें कोडो की सजा मिलती थी।

उपर्युक्त वर्णन से पता चलता है कि मुग़ल काल में भी वनारसी वाने का काम नगर में वहुत जोरो से चलता था और व्यापारियो को माल दिखलाने कारीगर सरायो में ले जाया करते थे। आधुनिक वनारस में तो कारीगर पहले माल महाजनो को बेचते है और वाद में उनसे व्यापारी माल लेते है। थानो पर वादशाही मुहर लगवाने का अव कोई प्रश्न ही नही उठता और न वनारसी वाने पर किसी तरह का निर्यात कर ही है। अभाग्यवश तावेर्नियें यह नही वतलाता कि वनारस में सूती और रेशमी कपडो में कौन-कौन-सी किस्में थी, पर मनुच्ची[1] के अनुसार सोने चाँदी के तारवाने के काम वहुत वनते थे। यहाँ से वे दुनियाँ भर में जाते थे। हमें खुलासात-उत्तवारीख (१७२०)[2] से पता चलता है कि वनारसी कपडो में झूना और मिह्रगुल मुख्य थे।

तावेर्नियें के अनुसार शहर से करीव पाँच सौ कदम पर उत्तरी भाग की ओर एक मस्जिद के अहाते में कई वहुत सुन्दर नक्शो वाली दरगाहें थी। इनमें से सवसे खूवसूरत दरगाहो मे से हर एक दरगाह के चारो ओर दीवारो से घिरे वगीचे थे। दरगाहो के

---

[1] स्तोरिया दो मोगोर, भाग २, पृ० ८३

[2] जे० सरकार, इंडिया ऑफ औरगजेव टाइम्स, पृ० ४७ कलकत्ता १९०१

पास से गुजरनेवाले दीवालों में बने मोखों से अन्दर झांक सकते थे। इसमें सन्देह नहीं कि तावेर्नियें यहाँ लाटभैरो पर की मस्जिद की बात कर रहा है। १९ वीं सदी के आरम्भ में एक हिन्दू मुस्लिम दंगे के बीच यह मस्जिद ढहा दी गयी और सब दरगाहें भी जमींदोज कर दी गयीं।

इन मुसल्मानी इमारतों के बीच तावेर्नियें ने तथाकथित अशोक की प्रसिद्ध लाट देखी, जो १८०९ में हिन्दू मुस्लिम दंगे में तोड़ दी गयी। यह लाट एक चौखूंटे चबूतरे पर बीच में स्थित थी। लाट ३० से ३४ फुट तक ऊँची थी और इतनी मोटी थी कि तीन आदमी हाथ मिलाकर मुश्किल से इसे घेर सकते थे। लाट बहुत कड़े चुनारी पत्थर की बनी थी और वह इतनी सख्त थी कि तावेर्नियें के छुरी से भी उसे खरोच नहीं सका। इस लाट का शीर्षक पिरामिड के आकार का था। उसके नोक पर एक गोला था और गोले के नीचे कठा था। तावेर्नियें के अनुसार इस स्तम्भ के चारो ओर पशुओं की उभार दार नक्काशियाँ बनी थीं। उसे दरगाहों के रक्षकों से यह भी पता चला कि स्तम्भ धँस रहा था और करीब पचास साल में वह जमीन के नीचे तीन फुट से अधिक धँस गया था।

तावेर्नियें के अनुसार[1] बिन्दुमाधव के मन्दिर की ख्याति सारे हिन्दुस्तान में जगन्नाथ के मन्दिर की तरह थी। मन्दिर के प्रवेश द्वार से गंगा तक सीढ़ियाँ थीं और उनके बीच बीच में अंधेरी मढ़ियाँ। इनमें से कुछ में तो ब्राह्मण रहते और कुछ में वे अपना भोजन बनाते थे। ब्राह्मण गङ्गास्नान और पूजा-पाठ के बाद भोजन बनाने में अलग अलग जुट पड़ते थे और उन्हें सदा यह भय लगा रहता था कि कहीं कोई अपवित्र आदमी उन्हें छू न ले। हिन्दुओं को गङ्गाजल पान का बड़ा शौक था। उनका विश्वास था कि गङ्गाजल पीते ही पाप कट जाते हैं। नित्य प्रति बहुत से ब्राह्मण नदी के साफ़ स्रोत से घड़ों में पानी भर कर लाते थे। इन घड़ों और झारियों को वे अपने प्रधान के पास ले जाते थे और और वह उनके मुँह केसरिया कपड़ों से बँधवाकर उनपर अपनी मुहर मार देते थे। ब्राह्मण बहँगियो पर लाद कर इन घड़ों को बाहर ले जाते थे। कन्धा बदलते हुए ब्राह्मण इन घड़ों को तीन चार सौ कोस तक ले जाते थे और खास जगहों में ले जाकर या तो वे उन्हें बेच देते थे या उन्हें किसी को भेंट कर देते थे। पर भेंट पाने वाले को काफी मालदार होना आवश्यक था जिससे ब्राह्मण देवताओं को भरपूर दक्षिणा वसूल हो सके।

कुछ ऐसे हिन्दू भी थे जो काफी कीमत देकर अपने बच्चों की शादी के समय गङ्गाजल पीते थे। जैसे भोजन के बाद यूरोप में हाइपोक्रास या सम्कट पिया जाता था उसी प्रकार यजमान की हैसियत के अनुसार एक या दो कटोरा गङ्गाजल प्रत्येक अतिथि को भोजनोपरान्त मिलता था। गङ्गाजल का इतना अधिक मान इसलिए था कि लोगों का विश्वास था कि न तो यह खराब होता था और न इसमें कीड़े पड़ते थे। लेकिन तावेर्नियें को इस बात पर इसलिए विश्वास नहीं हुआ कि गङ्गा में सैकड़ों मुर्दे फेंके जाने से ऐसा सम्भव नहीं था।

[1] वही, भाग २, पृ० २३०-३५

विंदुमाधव का मदिर स्वस्तिक अथवा क्रास की शक्ल में था। इसकी चारो भुजाएँ समान थी। एक गुवद के ऊपर अनेक पहलो वाला नोकदार शिखर था। क्रास के हर एक वाहुओ के अत पर भी धरहरे थे जिन पर चढने के लिये वाहर से सीढियाँ थी। धरहरो के सिरे पर पहुचने तक कई अवारियाँ और ताखे भी तर हवा आने के लिये थे। धरहरे भद्दे अर्धचित्रो से भरे थे। गुवद के नीचे और मदिर के ठीक वीच में ७ से ८ फुट तक लवी और ५ से ६ फुट तक चौडी एक वेदिका थी जिसमें दो वडे सीढियाँ पादपीठ तक पहुचने के लिये थी। समय अथवा उत्सवो के अनुसार इन पादपीठो पर रेशमी वस्त्र अथवा किंखाव विछे होते थे। वेदिका पर भी सोनहले अथवा रुपहले काम अथवा कामदार आस्तरण होते थे। मदिर के वाहर से मूर्तियाँ सीधी दिखलायी देती थीं। स्त्रियाँ और लडकियाँ सिर्फ एक कौम की स्त्रियो को छोड कर वाहर ही से देवदर्शन कर सकती थी। इस वेदिका पर की मूर्तियो में से एक मूर्ति ५ या ६ फुट की थी। इसका सर और गला छोडकर और कुछ नही दीख पडता था क्योकि मूर्ति का वागा पूरे अग को ढके रहता था। कभी कभी मूर्ति के गले में सोने अथवा मानिक, मोती अथवा पन्ने की माला दीख पडती थी। वेदिका के वायी ओर गरुड की मूर्ति थी जिसे ब्राह्मणो को छोडकर और कोई नही छू सकता था। कहावत थी कि इस पर चढकर भगवान ससार की सैर करते थे और देखते थे कि कही कोई अपने काम में ढिलाई तो नही कर रहा है अथवा कोई किसी को नुकसान तो नही पहुँचा रहा है। मदिर के प्रवेशद्वार और प्रधान द्वार के वीच में एक दूसरी वेदिका पर सगमरमर की पालथी मारे हुए एक मूर्ति थी। तावेर्नियें ने वहा प्रधान पुजारी के लडके को पूजार्थियो द्वारा फेंके गये ताफता और किंखाव के रुमालो को लोकते हुए और उन्हें देवता से छुलाकर उन्हें लौटाते हुए देखा। दूसरे पूजार्थी उसकी ओर रुद्राक्ष अथवा तुलसी की मालाएँ और कुछ लोग मूगे, पीले अवर और फूल की मालाएँ तथा फल-फूल भी फेंकते थे। पुजारी इन सवको देवता का भोग लगाकर लोगो को लौटा देता था। इस देवता का नाम तावेर्नियें मुरलीराम देता है।

मदिर के मुख्य प्रवेश द्वार पर मदिर का मुख्य पुजारी सामने चदन का थाल रखे वैठा रहता था। पूजार्थी एक के वाद एक उसके सामने आते थे और वह उनके मस्तक और छाती पर चदन पोत देता था। तावेर्नियें के अनुसार भिन्न-भिन्न जातियो के लोग भिन्न रगो के तिलक लगाते थे। चदन का तिलक लगाने वाले श्रेष्ठ जाति के लोग माने जाते थे।

जयपुर के राजा द्वारा वनवायी पाठशाला के वायी ओर (इस इमारत को अव कगन वाली हवेली कहते हैं) राम मदिर था जिसे शायद जयसिंह ने वनवाया था। उस मदिर के सामने एक सभा मडप था जिसमे वहुत से आदमी, औरतें और वच्चे वडे सवेरे दर्शन के लिये इकट्ठे होते थे। तावेर्नियें भी दर्शन के लिये वडे सवेरे पहुँचा। उसने चार चार ब्राह्मणो के दो दलो को आरती लिये और वाजे वजाते पाया। दो ब्राह्मण भजन कर रहे थे और उनके सुर में सुर मिला कर दरसनिया भी गा रहे थे। इन दोनो के हाथो में मोरछल और चँवर थे जिनका प्रयोजन यह था कि मदिर खुलने पर देवता को भक्तो से तकलीफ न हो। यह हो हल्ला काफी देर होता रहा। अत में दो ब्राह्मणो ने वडे वडे

घंटे बजाना आरंभ किया। फिर एक मुगरी से मंदिर का दरवाजा खटखटाया और फौरन ही भीतर से छह ब्राह्मणों ने मंदिर का दरवाजा खोल दिया। दरवाजे से ६-७ फुट की दूरी की वेदी पर उसने मंगलागौरी और सीता-राम की मूर्तियाँ देखीं। टेंग हटा दिया गया और लोगों ने दर्शन करके तीन बार दंडवत की। बाद में लोगों ने पुजारियों को पुष्पमालाएँ चढ़ाने को दीं जो देवता को छुला कर लौटा दी गयीं। एक बूढ़े ब्राह्मण ने इसके बाद आरती करना शुरू किया। इन सब कामों में काफी समय लगा और इसके बाद मंदिर बंद हो गया और लोग अपने घरों को वापिस चले गये। लोगों ने बहुत सा सीधा सामान, घी, तेल, दूध इत्यादि देवताओं को भेंट किया और ब्राह्मणों ने उसमें से कुछ नहीं छोड़ा। तावेर्नियें के समय में मंगलागौरी स्त्रियों की प्रधान देवी मानी जाती थी और इसीलिये मंदिर में स्त्रियों और बच्चों की भारी भीड़ रहती थी।

राजा को मंदिर बनवाने में और बिंदुमाधव के मंदिर में मूर्ति लाने में करीब पांच लाख रुपये ब्राह्मणों और भिखमंगों को दान दक्षिणा में देने पड़े।

कंगनवाली हवेली की गली की दूसरी ओर रणछोडदास जी का मंदिर था और उसी मंदिर में गोपालदास (लाल) की मूर्ति थी। ये मूर्तियाँ शायद पत्थर की थीं।

तावेर्नियें और बर्नियर दोनों ने ही बनारस के शिक्षालयों पर प्रकाश डाला है। तावेर्नियें ने तो केवल बिंदुमाधव के मंदिर के पास कंगन वाली हवेली में जयसिंह की निजी पाठशाला को, जो उन्होंने अच्छे घरानों के लड़कों को पढ़ाने के लिए खोल रखी थी देखा, पर बर्नियर बनारस की शिक्षा पद्धति पर काफी प्रकाश डालता है।

तावेर्नियें जयसिंह की पाठशाला में स्वयं गया और उसने देखा कि कई ब्राह्मण बच्चों को एक ऐसी भाषा (संस्कृत) में, जो बोल चाल की न थी, पढ़ना लिखना सिखा रहे थे। पाठशाला के चौक से पहले खंड की दालान में उसने दो राजकुमारों को छोटे सरदारों और ब्राह्मणों के साथ बैठे देखा। ये विद्यार्थी जमीन पर खड़ी से कुछ अंक लिख रहे थे। तावेर्नियें को देख कर उन्होंने उसका परिचय पूछा और यह पता चलने पर कि वह फिरंगी था, उन्होंने उसको ऊपर बुला लिया और उससे यूरोप और खास कर फ्रांस के बारे में बहुत सी बातें पूछीं। एक ब्राह्मण के हाथ में एक डच द्वारा भेंट किये गये दो ग्लोब थे। उन पर तावेर्नियें ने फ्रांस का स्थान दिखलाया। कुछ देर बातचीत करने के बाद पान देकर, तावेर्नियें विदा किया गया।

बर्नियर शायद १६६० के करीब बनारस गया।[१] वह शहर के आस पास के देहातों की सुंदरता और पैदावार की तारीफ करता है। बर्नियर के अनुसार पूरा नगर हिंदुओं का विद्यालय था। भारत के उस एथेंस में केवल ब्राह्मण और दूसरे भक्त पठन में अपना समय व्यतीत करते थे। काशी में उस समय कोई विद्यालय जैसी संस्था जहाँ क्रमबद्ध पढ़ाई

[१] फ्रांकोआ बर्नियर, ट्रावेल्स इन दि मोगुल एम्पायर, ए डी १६५६-१६६८ (अनुवाद) ए कान्स्टेबल, लंदन १८९१

होती नही थी। गुरुगण शहर के भिन्न भिन्न भागो मे अपने घरो मे और खास कर रईसो की अनुमति से उनके बगीचो में रहते थे। कुछ गुरुओ के पास चार शिष्य होते थे और कुछ के पास छह-सात। विख्यात गुरुओ के पास भी दस-पद्रह से अधिक विद्यार्थी नही होते थे। प्राय विद्यार्थी अपने गुरुओ के पास दस से पद्रह वर्षो तक रहते थे और धीरे-धीरे विद्याभ्यास करते थे। बर्नियर का कहना है कि अधिकतर विद्यार्थी सुस्त होते थे और शायद उनकी सुस्ती का कारण गरमी और उनका भोजन था। विद्यार्थी अपनी पढाई धीरे-धीरे इसलिए चलाते थे कि उनमे प्रतिस्पर्धा की भावना न थी और विद्वत्ता दिखलाने पर किसी मान मर्यादा बढने अथवा इनाम की आशा न थी। वे खिचडी खाते थे, जो महाजनो की कृपा से उन्हे मिल जाती थी।[1]

पाठ्यक्रम में पहले तो विद्यार्थी व्याकरण की सहायता से सस्कृत सीखते थे, बाद में पुराण पढते थे और आगे चलकर दर्शन, आयुर्वेद, ज्योतिष इत्यादि अपने इच्छित विषय का अध्ययन करते थे।[2]

बनारस में बर्नियर ने एक प्रसिद्ध पुस्तकालय भी देखा जो सभवत कवीन्द्राचार्य का पुस्तकालय था।

गगा के बहाव के साथ यात्रा करते हुए बर्नियर काशी के पडितो के प्रधान से मिला जो शायद सन्यासी कवीन्द्राचार्य थे।[3] बर्नियर के अनुसार शाहजहाँ ने उनकी विद्वत्ता से अथवा यो कहिए हिन्दू राजाओ को खुश करने के लिये दो हजार रुपये सालाने की वृत्ति बाँध दी थी। बर्नियर का कहना है कि कवीन्द्राचार्य मोटे ताजे आदमी थे और जब बर्नियर उनसे मिला तब उन्होने सफेद रेशमी धोती और लाल चादर पहन रखी थी। बर्नियर अक्सर उनसे इसी वेषभूषा में दिल्ली में मिला करता था। उनसे इनकी भेंट उमराओ की सभा में अथवा शाहजहाँ के दरबार में होती थी। कभी कभी वे सडक में पैदल या पालकी पर भी मिल जाते थे। एक साल तक वे बर्नियर के आग़ा दानिशमद खाँ के पास बराबर इसलिए आया करते थे कि वे औरगजेब से कह सुन कर उनकी वृत्ति फिर से जारी करा दें। बर्नियर की कवीन्द्राचार्य से मुलाकात उनके पुस्तकालय में हुई। वहाँ और भी छह पडित थे। बर्नियर और पडितो में मूर्तिपूजा पर बहस चल पडी। पडितो ने मूर्तिपूजा का आधार मूर्ति की पूजा नही, बल्कि उसके द्वारा देवता विशेष की आराधना बतलायी। उनके अनुसार मूर्तियाँ प्रार्थना में अधिक लगने के लिये केवल आधार भूत थी पर इन सब बातो से बर्नियर का सतोष नही हुआ।

४. औरंगजेब के समय बनारस की धार्मिक स्थिति

१६६९ ईस्वी तक बनारस की धार्मिक अवस्था में कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ था। विश्वनाथ काशी के प्रधान देवता थे ही पर बिन्दुमाधव की पूजा का भी

[1] वही, पृ० ३३५

[2] वही, पृ० ३३५–३४०

[3] गोडे, कवीद्राचार्य सरस्वती एट दि मुगल कोर्ट, एनाल्स आफ श्री वेंकटेश्वर इस्टि-ट्यूट, दिसबर १९४०

वडा जोर था। काशी में सस्कृत का पठन पाठन भी उसी ज़ोर से चल रहा था। एक और भी विचित्र वात है कि कम से कम युरोपियन लोग बेखटके हिन्दुओ के मन्दिरो में जा सकते थे, लेकिन इसमें सन्देह है कि तथाकथित अछूत भी ऐसा कर सकते थे। जो भी हो इतना तो पता लगता है कि परिस्थिति के अनुकूल हिन्दू धर्म ने अपनी कुछ असहिष्णुता को दूर करने का प्रयत्न किया। औरगजेब के फरमान से यह भी पता चलता है कि कुछ मुसलमात भी हिन्दू धर्म की ओर आकृष्ट हो रहे थे। यह वात वहुत दिनो तक नहीं चलने पायी। औरगजेब ने १६६९ ईन्वी में वनारस के मन्दिरो को तुडवा देने और पाठशालाओ को वन्दकर देने की आज्ञा निकाल कर इस सद्भावना को सदा के लिये समाप्त कर दिया।

इस युग में वनारस के पडे पुजारियो और गगापुत्रो के वारे में तो हमें अधिक पता नही चलता, पर इसमें कोई शक नही कि वनारस में ठगो की काफी सख्या थी। इसी तरह की एक ठगी काशी करवत भी थी। काशी करवत का कुँआ आज दिन भी आदि विश्वेश्वर के पूर्व की ओर है। इसमें पानी तक पहुँचने का एक रास्ता है जो अव वन्द कर दिया गया है। मन्दिर भी हफ्ते में केवल एक वार खुलता है। कहावत है कि वनारस में आकर वहुत से मूर्ख यात्री काशी करवत लेते थे, यानी आरे से कटकर या तलवार पर कूद कर मुक्ति के लिये अपनी जान दे देते थे। वाद में तो वदमाश पुजारी भोलेभाले यात्रियो को यहाँ लाकर मार डालते थे और उनको लूटकर उनकी लाशें काशी करवत के कुएँ में फेंक देते थे। काशी करवत वास्तव में वनारस में था, इसमें कोई सशय नही। यह अकवर या उससे भी पहले यहाँ रहा हो तो कोई आश्चर्य नही है क्योकि शेरशाह के समकालीन मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने पदमावत में लिखा है 'करवट तपा होहि जिमि चूरू।' अलेकजेंडर हेमिल्टन (१७४४) भी अपने यात्रा विवरण में[1] कहता है कि काशी में कुछ धर्मांध पडे अपना नाम कमाने के इच्छुक कुछ वेवकूफो को पकड कर ऊँचे वुर्ज पर चढा देते थे और वहाँ से वे वेवकूफ उस जगह कूदते थे जहाँ वहुत सी छुरियाँ जमीन में गडी होती थी, जिन पर गिर कर वे सीधे स्वर्ग पधारते थे। हेमिल्टन के अनुसार औरगजेब ने यह सव कारवाइयो को वद कर दिया। चहार गुलशन और खुलासउत्तवारीख[2] के अनुसार आत्महत्या या आत्म वलिदान करने की यह प्रथा प्रयाग में भी थी। अक्षयवट के पास एक आरा था जिसके नीचे अकसर मोक्ष प्राप्त करने के लिए भक्त लोग अपनी गरदन कटवा लिया करते थे। शाहजहाँ ने यह प्रथा वन्द करवा दी।

सभवत वहुत प्राचीन काल से शैव धर्म में आत्म वलिदान द्वारा मोक्ष साधन की प्रथा थी। मत्स्यपुराण (१८३।७७) में एक जगह कहा गया है कि काशी में आग में जल मरने से मनुष्य सीधा शिव के मुख में प्रवेश करता था। काशी में गङ्गा में मुक्ति के लिए डूव मरने की प्रथा अग्रेजो ने वन्द की। शैव धर्म तपप्रधान धर्म था और इस

---

[1] ए न्यू एकाउट ऑफ दि ईस्ट इडीज, भाग २, पृ २१-२२, लडन १९४४

[2] सरकार, इडिया ऑफ औरगज़ेब, पृ० ४६

तरह के बलिदान इस धर्म के लिए स्वाभाविक भी थे। इन सब प्रथाओं से यह भी पता चलता है कि शैव धर्म मे दार्शनिकता का प्रवेश होते हुए भी उसमें बहुत सी आदिम युग की प्रथाएँ बच रही थी।

शैव धर्म के सग आत्मबलि की प्रथाओ का अवशेष अब तक बगाल के चडक उत्सव में बच गया है।[1] इस शैव उत्सव में, जो कई दिनो तक चलता है, भक्तगण आग पर झूलते है, काँटो पर कूदते है और तीर से अपने को बेधते हैं। चैत्र पूर्णिमा को वे केले के खभे में लगी हुई छुरियो पर जय शिव कह कर कूदते है। जान पडता है, इसी प्रथा को किसी ने स्थिर रूप देकर काशी करवत की कल्पना की और कुछ दिनो में वह लूट और बदमाशी का साधन बन गया।

६ सत्रहवीं सदी की काशी के ब्राह्मण जीवन की झाँकियाँ

बनारस की महत्ता अधिकतर उसके धार्मिक जीवन पर अवलबित है। पूजा-पाठ तीर्थयात्रा तथा अध्ययन-अध्यापन इस जीवन की विशेषताएँ है। बनारस के इस जीवन का प्रतीक आज कल की तरह सत्रहवी सदी में भी ब्राह्मण थे। वरदराज कृत गीर्वाण पद मञ्जरी (१६०० से १६५० ईस्वी के बीच रचित) तथा ढुढिराज कृत गीर्वाण वाङमजरी[2] (१७०२–१७०४ ईस्वी के बीच) में ब्राह्मणो के विशेषकर दक्षिणी ब्राह्मणो के, दैनिक जीवन का सुन्दर चित्र है। वरदराज भट्टोजी दीक्षित के शिष्य थे और उन्हें बनारस शहर का पूरा ज्ञान था। ढुढिराज की गीर्वाण वाङमजरी गीर्वाण पदमजरी पर ही आधारित है पर साहित्यिक दृष्टि से वह एक उच्चकोटि की रचना है। गीर्वाण वाङमजरी में तो ऐसा जान पडता है कि चालू बनारसी बोली का सस्कृत में अनुवाद कर दिया गया हो। गीर्वाण पदमजरी में सन्यासी के अपने गुरु केवल यह कह देने पर कि उसने जजमान के यहाँ केवल विहित भोजन किया कथा समाप्त हो जाती है, पर गीर्वाण वाङ मजरी में भोजनोपरात सन्यासी के विदा हो जाने पर जजमान और उसकी पत्नी का समागम होने पर कथा का अत शृगार रस में होता है ढुढिराज के ऐसा कहने पर भी कि उसकी पुस्तक बालको के ज्ञानवर्धन के लिए है।

गीवार्ण पदमजरी के आरभ में ब्राह्मण अपनी पत्नी से कहता है—"मुझे स्नान के लिए जाना है।" उत्तर मिलता है—"जल्दी जाइए, भोजन तैयार है।" वह कहता है—"कितने ब्राह्मण भोजन के लिए लाऊँ?" उत्तर मिलता है—"केवल एक।" वह कहता है—"स्नान सामग्री दे—जलपात्र, कुश, तिल, खड्ग पात्र (गैंडे की खाल का बना तर्पण पात्र), तिलक का सामान, शुद्ध वस्त्र और उत्तरीय।" इन सामान को लेकर ब्राह्मण मणिकर्णिका पहुँचा और वहाँ यथाविधि स्नान करके सन्यासी के पास पहुँच कर उन्हें दण्ड-प्रणाम करके प्रार्थना की—"स्वामी जी, मेरे यहाँ भिक्षा के लिए पधारें।"

---

[1] जे० ए० एस० बी० (१९३५), पृ० ३९७ से

[2] उमाकात शाह, जर्नल ऑफ दि आरियंटल इस्टिट्यूट बडोदा, भाग ७, ४, पृ० १–३८, भा० १, २, ३

उन्होंने कहा—"कितने सन्यासी चाहिएँ—और कौन से—द्राविड, आंध्र, कर्णाटक, महाराष्ट्र अजमेरा (पुष्करणा ब्राह्मण), गौर्जर, गौड, मैथिल, औत्कल, कान्यकुब्ज, अथवा सारस्वत।" ब्राह्मण ने कहा—"केवल एक कार्णाटक।" प्रश्न हुआ—"तुम कहाँ रहते हो।" काशी में।" प्रश्न हुआ—"काशी में कहाँ—राजघाट में, गौघाट में, त्रिलोचन घाट में, ब्रह्माघाट में, दुर्गाघाट में, मंगलाघाट में, रामघाट में, अग्नीश्वर घाट में नागेश्वर घाट में, वीरेश्वर घाट में, सिद्धिविनायक घाट में, स्वर्गद्वार प्रवेश में, मोक्षद्वार प्रवेश में, गंगाकेशव पार्श्व में जरासंध घाट में, वृद्धादित्य घाट में, सोमेश्वर घाट में, चतुःषष्टि योगिनी घाट में, सर्वेश्वर घाट में, मानसरोवर घाट में, केदारेश्वर घाट में, रामेश्वर में, लोलार्क में, असी संगम पर अथवा वरुणा संगम पर ?" जवाब मिला—"मैं बिंदुमाधव घाट पर रहता हूँ।" तुरंत प्रश्न हुआ—"बिन्दुमाधव घाट पर भी कहाँ रहते हो—लक्ष्मीनृसिंह के पास, पंच गंगेश्वर के पास, आदिविश्वेश्वर के पास दक्षेश्वर के पास, दुग्धविनायक के पास अथवा काल भैरव के पास ?" उत्तर मिला—"दुग्धविनायक के पास।" पर सन्यासी कब रुकने के थे, पूछा—"दुग्धविनायक के पास किसके घर में—तिम्मा भट्ट के घर में, राम भट्ट के घर में, शिव भट्ट के घर में, लक्ष्मण भट्ट के घर में, कृष्ण भट्ट के घर में, नारायण भट्ट के घर में अथवा भैरव भट्ट के घर में ?" बेचारे ब्राह्मण ने उत्तर दिया—"शिव भट्ट के घर में।" सन्यासी ने पीछा न छोडा, बोले—"उसके घर में कहाँ—पूर्व शाला में दक्षिण शाला में, पश्चिमशाला में उत्तरशाला में अथवा प्रासाद में ?" जवाब मिला—"उत्तर शाला में।" अब प्रश्न का रुख बदला, पूछा गया—"लोग तुम्हें किस नाम से जानते हैं ?" जवाब मिला—"मेरा नाम अर्लपियुध्मखजपुरंदरगरुडध्वज वाजपेयी है।" इतना बडा नाम सुनकर स्वामी जी ठंडे पड गये, बोले—"तेरा इतना बडा नाम—अच्छा, तूने क्या क्या पढा है ?" अब बात बनारस की शिक्षा पर चल पडी। वाजपेयी जी बोले—"मैंने सांगपूर्वक चारो वेद, तथा सांग षट् दर्शन पढे हैं।" सन्यासी जी बोले—"उनके नाम बता।" जवाब मिला, "ऋग्, यजुस्, साम और अथर्व। उनके अंग हैं शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस्, और ज्योतिष। दर्शन के षडङ्ग हैं, वैशेषिक, तर्क, सांख्य, योग, मीमासा और वेदान्त।" सन्यासी और आगे बढे, पूछा—"अंगो और उपांगो के स्थान कौन-कौन से है ?" जवाब मिला—"वेद का मुख व्याकरण है, ज्योतिष उनका नेत्र है, निरुक्त कान है और छन्दस् विचित्ति, शिक्षा घ्राण है, कल्प उसके हाथ हैं, न्यायशास्त्र गुदा है, वैशेषिक लिंग है, मीमांसा रीढ है, सांख्य और योग बगलें हैं, तथा वेदान्त ब्रह्मरंध्र है।" इतनी लम्बी बात से भी संतुष्ट न होकर सन्यासी ने पूछा—"और भी कुछ पढा है ?" ब्राह्मण ने दिया—"काव्य, नाटक, अलंकार और स्मृति भी पढे हैं।" सन्यासी अब संतुष्ट हुए—"क्या खूब, तू श्रोत्रिय है ? यह त्रिविक्रम तेरे यहाँ भिक्षा ग्रहण करेगा। इसे तेरे घर का पता नहीं, इसे साथ ले जा।"

इसी प्रकरण को लेकर गीर्वाण वाङ्मंजरी में ढुंढिराज ने अच्छा प्रसार किया है। कथा यों प्रारंभ होती है। किसी ब्राह्मण ने उषःकाल में सोकर उठने के बाद प्रातः स्तोत्र इत्यादि पढते हुए अपनी स्त्री से कहा—"अरी, मुझे निपटने जाना है जल्दी से पानी और हाथ पैर धोने के लिए मिट्टी दे।" उसके इतना कहते ही पत्नी ने झट से पानी भरा लोटा उसे

दे दिया और हाथ पैर धोने के लिए मिट्टी भी। शौचादि से निवट कर वह पीढे पर बैठ गया, हाथ पैर धोये, दातन की फिर अपनी स्त्री से बोला—"अरी सुनती है, आज मुझे मणि कर्णिका नहाने जाना है। जल्दी से स्नान सामग्री तैयार कर दे। कमडलु, अर्घ्यपात्र, रुद्राक्ष की सुमिरनी, भभूत की बटिया, देवतापूजा की पेटी, तिल, नारियल और चदन दे दें। ये सब चीजे जल्दी से ला।" फिर ललकारा—"अरी देर क्यो करती है?" जवाब मिला—"यहाँ दिया नही है, अंधेरे घर में कुछ दिखलायी नही देता जल्दी कैसे हो सकती है।" पडित बिगड कर बोले—"अरी राँड क्या करती है, मेरे नहाने और सध्या का समय बीता जा रहा है।" "जल्दी तो कर रही हू और क्या करू"—यह कहकर उसने उसे सब वस्तुएँ दे दी। पडित जी फिर अपनी स्त्री से बोले—"अरी, आज बडा भारी पर्व है, आज कुछ ब्राह्मणो को निमत्रण देना चाहिये। तेरा जमाई तो आवेगा ही, अपने भाई को भी बुला ले और साथ ही उसके बच्चे भी। अपनी पतोहू के बुलाने के लिए अपनी कन्या जल्दी से भेज।" उसके इतना कहने पर पत्नी ने कहा—"आप अपने भाई के बच्चे को भी बुला लीजिए।" जवाब मिला—"अरे, उस बच्चे का क्या। उनके लिए कोई खास चीज करने की जरूरत नही। सारी मडली में वह भी समा जायेगा।" उसने जवाब दिया—"अरे, बूद बूद से तो तालाव भर जाता है। उस बच्चे की गिनती कैसे नही होगी।' अच्छा आज भोजन क्या बनेगा?" जवाब मिला—"जो मन में आवे बना।" उसने कहा—"तो सीधा सामान लाइये।" जवाब मिला—"लडके को भेज।" उसने कहा—"वह तो सो रहा है।" जवाब मिला—"उस राँड के जाये को फौरन उठा।" उसने कहा—"वह तो आपके पास ही है, आप ही उसे जगा दीजिये।" पडित जी बिगड कर चिल्लाये—"अरे बैल, जल्दी से उठ, सबेरा हो गया, इतनी देर तक तू सोया क्यो है। आलस छोड।" ललकार सुनते ही वह जल्दी से उठ बैठा और हाथ जोडकर विनय-पूर्वक पिता को प्रणाम करके उसके सामने खडा हो गया। पिता जी बोले—"अरे, आज घर में बडा काम है। बाजार जाकर सीधा सामान ला।" पूत जी बोले—"तो रुप पैसे दीजिए।" पिता जी ने कहा—"अरे, जनाने घर में जा वहाँ एक लकडी की सदूक है उसके अदर एक चाँदी की पेटी है उसके भीतर सोने चाँदी के सिक्को की पोटली है। उसमें से दो चाँदी के सक्के ले लेना और फिर सबको ज्यो का त्यो रख देना। दो रुपये लेकर बडा बाजार जाना। चौखभा बाजार जाकर मूषक माधव जी की हाट में उनके पैसे भुनाकर जो भी चीजें चाहे खरीद लेना।" पूत जी बोले—"पिता जी, क्या क्या खरीदना है, कहिए।"

पिता जी ने कहा—"अरे, पहले बनिये की दूकान पर जाकर ढाई सेर घी खरीदना उसका दाम आधा रुपया होगा। सफेद शक्कर खरीदना, पूरन पोली के लिए चने की दाल खरीदना। हीग, जीरा, पिसी हल्दी, सुपारी, लायची, लौंग, जायफल, जावित्री खरीदना। खैर खरीदना मत भूलना। कपूर, कस्तूरी, केसर, गोरोचन, खस जिसे सुगधवाला भी कहते है और दशाग धूप खरीद लेना। यह सब खरीद करके आगे बढना। वहा से कपडछान आटा असली होने के वायदे पर खरीद कर घुवाँस और चौरेठा खरीदना। उसके आगे बढकर साग बाजार में जो भी साग मिलें उन्हें खरीद लेना।"

पुत्र ने कहा—"कौन कौन से शाक खरीदने हैं बताइए। पडित जी—"अरे, पहले सूरन खरीदना फिर सफेद और लाल कदा, ककडी, बुद्‌बुदका, सरसो, कोहडा, पीला कोहडा, परोवर, भटा, कुदरू (तुडीफल), परवल, करैला और कटहल खरीदना। उसके आगे अन्नपूर्णा के पास जाकर पक्के और कच्चे केले, केले की गाँफ और फूल खरीदना। कही से पके पके मगही पान ले लेना। उधर से लौटकर कालभैरव की बाजार मे जहा बहुत से साग मिलते है पहले मेथी का साग खरीदना बाद में और जैसे चौलाई, पोई, चकवड (पवाँर) और बृहतीफल (वन भटा), लाल और सफेद कदे के पत्ते। अरे, इमली मत भूलना। अदरक तथा केले के पत्ते लाना। इनसे भी अधिक जो कुछ दिखलाई दे जाय ले लेना।" लडके राम इतनी लवी चौडी बातें सुनकर घबरा उठे और बोले—"अरे पिता जी, इतनी वस्तुओ की याद मुझे कैसे रहेगी। पिताजी नाराज होकर बोले—"अरे मूर्ख, तू निरा गधा है। कौन जाने तेरे अट्ठारह वर्ष कैसे बीत गये। अरे मूर्खशिरोमणि, एक कागज पर सब लिख ले और उसे देखकर सब चीजें खरीद लेना।" इतना कहकर वे फिर बोले—"आह, आज बडी देर हो गयी। समय बहुत बीत गया। हाय रे, मेरे अभाग्य से मुझे सारे मूर्ख ही मिले। यह अभागिनी राँड और यह है उसका बेवकूफ बेटा। इन दोनो के सग दोष से मेरा कल्याण कैसे होगा। अब मैं ठहर नही सकता।"

इतना कहकर पडित जी गगा तीर पर मणिकर्णिका पहुँचे। वहाँ महाप्रयोग (सकल्प) का उच्चारण करके यथाविधि स्नान के बाद ठीक तरह से सध्या की। इसके बाद ब्रह्मयज्ञ और तर्पण के उपरात पूजा वस्तुओ से भगवान की पूजा करके उठकर एक अयाचित ब्राह्मण को निमन्त्रण देकर, घाट पर चढकर पडित जी सन्यासियो के मठ में पहुँचे। वहाँ बहुत से दडी थे। उनमें एक तुदिल बूढा यति था। उसे देखकर वे उसके पास पहुँचे और साष्टाग दडवत करके उन्होंने उससे कहा—"स्वामी, आपके दर्शन से मैं अतीव कृतार्थ हुआ।" उसके ऐसा कहने पर स्वामी ने नारायण नारायण का उद्‌घोष किया। पडित जी फिर बोले—"क्या स्वामी जी यही निवास करते हैं।" उत्तर मिला—"नारायण, नारायण।" पडित जी बोले—"क्या ही अच्छा मठ है, बहुत ही अच्छी जगह पर स्थित है। स्वामी, मुझे कुछ कहना है यदि स्वीकार करें तो कहूँ।" स्वामी जी बोले—" जो कहना है कह।" पडित जी ने कहा—"यदि स्वामी जी मेरे घर भिक्षा ग्रहण करने आवें तो मैं कृतकृत्य हो जाऊँ। स्वामी जी, आज मेरा जन्म सफल हो गया"। इसके बाद स्वामी जी और पडित जी में निम्नलिखित प्रश्नोत्तरी हुई। स्वामी—"तेरी जात क्या है ?" पडित—"स्वामी मैं महाराष्ट्र हूँ।" स्वामी—"महाराष्ट्रो के यहाँ भिक्षा ग्रहण तो हमारे लिए प्रशसनीय है—क्या तू श्रोत्रिय है?" पडित—"स्वामी जी मैं श्रोत्रिय हूँ।" स्वामी—"खूब कहा, कहावत है—श्रोत्रिय से ही भोजन मागना चाहिए, उसके अभाव में पानी पीना चाहिए—यह कहावत आज घट गयी। अरे, तू तो बगाली मालूम पडता है ?" पडित—"ठीक है स्वामी जी, मेरा जन्म बगाल में हुआ, मेरे पिता जी भी वही पैदा हुए। हम दोनो वही पढे पढाये।" स्वामी—"तो तेरे पिता का क्या नाम था ?" पडित—"स्वामी जी, मेरे पिता अदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठभट्टाचार्य नाम से प्रसिद्ध थे।" स्वामी—"तेरा नाम क्या है ?" पडित—"लोग मुझे झिलिमिलिझाकारशौचालकारअलर्पियुग्मव

ज्जकृतुपुरदर भट्टाचार्य नाम से जानते है।" स्वामी—ठीक है वहाँ के लोगो के नाम ऐसे ही बडे होते है, तू भी तो वही का है।" पडित—"स्वामी जी।"

इतना कहकर पडित जी बोले—"स्वामी जी, अब आप उठिए, समय हो गया, आप अपना दड कमडल, इत्यादि लेकर मेरे साथ ही चलें।" उसके ऐसा कहने पर स्वामी जी बोले—"अरे, तेरा घर कितनी दूर और किस घाट पर है ?" पडित—"स्वामी जी, मेरा घर पास ही में दुण्ढविनायक के पास है। गगादास नामक प्रसिद्ध महाजन के घर के पास ही मेरा घर है।" ठीक—ऐसा कहकर स्वामी जी उठे, दड कमडल, इत्यादि लिया और अपने चेले से बोले—"अरे मेधाश्रम, तू यही रहना। मठ छोड कर कही मत जाना।" शिष्य—"स्वामी जी, भिक्षा के लिए तो कही जाना ही होगा।" स्वामी—"अरे क्या कहता है—आज कही मत जाना। यहाँ चिवडा है, छाछ है, तथा काठ के बरतन में नमक। उन्हें लेकर खा पी लेना। घूमेगा कहाँ ?"

इतना कहकर स्वामी जी चलने को तैयार हुए तो पडित जी ने कहा—"स्वामी जी, आगे आगे चले, मै पीछे हो लूगा।" यह सुनकर स्वामी जी बोले—"बाबा, तू आगे चल मैं तेरे पीछे हो लूगा। बडी भीड-भाड है। तू सब को हटाना बचाना, नही तो मैं छू जाऊँगा।" उसने आज्ञा का पालन किया और दोनो घर पहुँचे। भीतरी घर मे घुसकर पडित जी ने आवाज दी—"अरे प्रभाकर, जल्दी आ। स्वामी जी के पैर धोने के लिए जल दे।" यह सुनकर वह शीघ्र ही जल लाया और यजमान ने अपने हाथ से स्वामी जी के पैर धोये और उस जल को अपने सिर पर छिडक कर भीतर घुसे। वहाँ स्वामी जी स्वस्थचित्त से एक बडे पीढे पर बैठ गये। इसके बाद जो लोग भोजन के लिए आये थे वे स्नान करके भीतर आये। यजमान स्वामी जी की षोडषोपचार पूजा करके नैवेद्य लगाकर बलिवैश्वदेव किया और पुन भीतर जाकर स्वामीजी के नीचे सबको यथास्थान बैठाकर सबको पानी पीने के पात्र दे दिये। उनके बीच उसने यति जी के सामने एक बडा भारी पत्ता रख दिया और सात दोने। दूसरो के सामने बडे केले के पत्ते और दो दो दोने रख दिये। इसके बाद उसने यतिवर की पचोपचार से पूजा की तथा दूसरो की गध अक्षत से पूजा करके सबका पादोदक ग्रहण किया और फिर पडित अपनी स्त्री से बोले।

इस स्थल पर भोजन सामग्रियो का विशद उल्लेख है। गीर्वाणपद मजरी में यह उल्लेख अन्त मे गुरु शिष्य सवाद मे आता है। मठ वापिस आकर गुरु की वन्दना करके और यह कह कर कि मैं अनुष्ठान करके मठ वापस आता हूँ वह गगा के तीर जाकर यथा-विधि अनुष्ठान करके मठ वापिस लौटकर गुरु के पास गरुडासन में बैठ गया। गुरु ने कहा—"हे वामनाश्रम, आज तू ने क्या-क्या खाया ?" शिष्य ने कहा—"स्वामी, आज जो मैंने खाया वैसा कभी नही खाया। पाँत में एक हजार ब्राह्मण बैठे थे। उन सबको बिना पक्षपात के भोजन परसा गया। उनमे से प्रत्येक के सामने बडे-बडे केले के पत्ते और दोने रखकर उस पर कच्चा आम, इमली, कवक (?) नीबू, जभीरी नीबू, नारगी, बेल, आमला, ककडी, गूलर, शिवा (हड), करीर, तथा अदरक इत्यादि परोस दिये। इसके बाद बैगन, तरबूज, करैला कोहँडा, लौकी, केला, घृतकोशातकी (घिया तरोई), कटहल,

शिग्रु, परवल, कुदरू, उर्वारिक, तेंदू, राजमाप, ककडी, गजदन्त फल, गोरस ककडी, सुखावास, कुलक, कर्कोटकी, (खेकसा, ककोडा) परसे गये। राजावु, वार्हत, कठिल्लक, कर्कार, चित्रा, श्रेयसी तथा कन्दो में सूरन, आलू, मूली, लाल मूली, रतालू, पिंडकन्द, अरवीं और पोथिका थे। सागो में शाकिनी, वास्तुक (वथुआ), उपोदका, चक्रवर्त, मूली, आलू, अगस्त्य (पोई) कुरट, मिश्रेयाभाव, समष्ठिला, दद्रुघ्न (चकवड), वृद्धदारु, श्रीहस्तिनी, हिवसा, तडुलीयर्व (चौराई), कदलीस्तभ, कदली पुष्प, अगस्त्य पुष्प और घृतकुमारी पुष्प थे। घी में तले करैले, भण्टे, कठिल्लक, निष्पाव, राजमाप, वृहती (वन भण्टा) सेम, वन्ध्या, की कचरियाँ परसी गयीं। दही-भात, उडद-भात, खट्टा-भात, घी-भात, सिद्धार्थ-मिष्टान्न, तिलमिष्टान्न, और माप-मिष्टान्न परोसकर पत्तो के बीच भात परोस दिया और फिर अरहर, मूग, उडद, राजमाप, चना, कुलथी और वाल (निष्पाव) की दालें परसीं गयीं। तदनन्तर दूध में पकी तरह-तरह की दलिया तथा तिन्नी और चावल की खीरें परोसी गयीं। इसके वाद प्रत्येक अभ्यागत को घी में तले दो-दो पापड परसे गये। कढी और पेय छाछ, आवॅला, इमली, अनारदाने के रस और मिर्च से वने थे। अन्त मे भैंस का दही परोसकर बहुत प्रकार के पक्वान परोसे गये यथा उडद वडा, मूग वडा, चने का वडा, चूर्मे के लड्डू, पूरी, लड्डू, तिलके लड्डू, पूये, हलुआ (पिष्टका) और अनरसा। इन सबके वाद ताजे घी और दूध की वारी आयी। ये सव पदार्थ स्त्रियाँ वार-वार परोस रही थीं। घवराकर गुरुजी ने पूछा—"अरे वामनाश्रम, जो कुछ परसा गया तू ने सव खा लिया अथवा नही ?" उत्तर मिला—"स्वामी, मैंने नहीं खाया। मेरे खाने लायक जो वस्तुएँ थीं उनको ही मैंने लिया।"

गीर्वाण वाड्मजरी मे इस भोजन का और भी रसमय वर्णन है। सब लोगो के पत्तल पर वैठ जाने पर पंडित जी ने अपनी स्त्री से कहा—अरी, पहले सब पत्तो को घी से माज दे और फिर भोजन परोस। यह सुनते ही उसने जल्दी मे परोसना शुरू कर दिया। पहले नमक परोस कर वाद में सलोने शाक परसे तथा आम, नीवू, अदरक, सूरन, हड, वैर, वैंगन, करौंदा, मूली, वासकट, और वन भटा के अचार, फूट, लौकी, केले के फूल तथा शाक के कचूमर परसे। फिर करैले और गाजर इत्यादि के शाक परसे। इसके वाद शुद्ध उडद के वडे, मेथीवडी, तिलवडी, कोहॅडौरी, आमवडी, कोहॅडे के वीज की वडी, पापड, दहीवडा और किसमिसी वडे परोसे गये। इसके शुद्ध चने के दाल से वने दही और घी मे सस्कृत लाडुवटिका आयीं इसके वाद मेथीकूट आया। इन सवके वीच खूव महीन चावल का भात परोसा गया, इसके वाद ऊपर शुद्ध अरहर की दाल। उसके वाद उसने अनेक तरह के भक्ष्यपदार्थ जैसे पूरण पोली, माँडे के लड्डू, घी में पके उडद के वडे, अनरसा, दही पूरी, पूरी, कचौरी, फेनी, चीलडे, घी के वने मालपूए, पापड, चीनी भरी लुचुई, लड्डू, तिलवा, मूग और आटे के लेड्डू तथा पेडे इत्यादि परसे। खीरो में गेहू से वनी सात तरह की खीर, चावल और तिन्नी की खीर थी। उनके ऊपर उसने शुद्ध सफेद शक्कर डाल दी तथा घी से सव दोने भर दिए। उसके वाद चटपटे क्वाथ परोसे और उनके पास मिर्च रख दिया। स्वामी जी के सात दोनो में छह में दूव, दही, घी, क्वाथ, मठा तथा चने का पेय परसा और एक दोना पानी के लिए छोड दिया। इसके

बाद यजमान ने ब्रह्मार्पण पूर्व सकल्प ग्रहण किया। सबसे पहले स्वामी जी को हस्तोदक दिया तथा इसके बाद सबने आचमन किया और यजमान स्वय पाँत में भोजन के लिए बैठ गया। स्वामी जी बहुत से पदार्थ देख कर घबराए हुए से भोजन करने लगे तब यजमान ने कहा-स्वामी जी, आज बडी देर हो गयी, चैन से भोजन कीजिए जो चीज अच्छी लगे खाइए जो अच्छी न लगे मत खाइए। इस तरह उसने सबसे प्रार्थना की। भोजन समाप्त हो जाने पर सबसे पहले स्वामी जी उठे। उसने स्वामी जी को हाथ धोने के लिए पानी दिया, दाँत खोदने के लिए बाँस की सीक तथा हाथ साफ करने के लिए शक्कर तथा उसे सुगंधित करने के लिए चदन। स्वामी जी ने हाथ पैर साफ करके अगस्त्य का स्मरण किया। इसके बाद यजमान स्वामी जी को आगे करके सबके साथ बैठक मे पहुँचे। वहाँ स्वामी जी आराम से एक बडी चौकी पर बैठे तथा दूसरे गलीचे पर। यजमान ने स्वामी जी को मुखशुद्धि के लिए एक मुट्ठी लौंग दी तथा दूसरो को पान दक्षिणा इत्यादि देकर विदा किया और वे सब उसे असीसते हुए अपने अपने घर गये। तदुपरान्त यजमान ने स्वामी जी को नमस्कार करने के लिए स्त्री पुत्र आदि को बुलाया। यजमान की पत्नी अपने पति की आवाज सुनते ही सब काम काज छोड, अपनी पतोहू और दोनो लडकियो को लेकर फ़ौरन आयी और आकर उसने विनयपूर्वक उन्हें प्रणाम किया। उन्हें सादर देखकर स्वामी जी ने नारायण, नारायण किया इसके बाद वे सब अतःपुर में चली गयी।

गीर्वाण पदमजरी में स्वामी भोजनोपरात हाथ पैर धोकर एक बडी चौकी पर बैठ गये और आचमन के बाद उनके शरीर पर कस्तूरी और कपूर मिला हुआ श्री चदन लगाया गया, एक मुट्ठी लौंग दी गयी, मालाएँ पहनायी गयी और एक जोडा बहुमूल्य कपडा भेंट किया गया। यजमान ने बहुत विलब हो जाने से अच्छा भोजन न बनने के लिए क्षमा चाही। पर बेचारे स्वामी जी ठस चुके थे और यजमान की प्रार्थना पर कवल पर बैठ गये। बैठते ही परिवार के लोग आ गये। स्वामी जी के पूछने पर यजमान ने अपने पिता, माता, दादा, दादी, परदादा, परदादी, बडे भाई, बडी बहन, छोटे भाई, छोटी बहन, ताऊ, चाचा, बूआ, मौसी, मामा, मामी, पत्नी, पुत्र, कन्या, जमाई, पोते, नाती, साला, परपोता, ससुर, सास, भावुक, आचार्य, ब्राह्मण, मित्र, नौकर और दासी तथा सबधियो का परिचय कराया। इस सब के परिचय से स्वामी जी को प्रसन्नता हुई।

गीर्वाण वाङ्मजरी मे भोजनोपरान्त स्वामी जी और यजमान की बातचीत का सुदर उल्लेख है। स्वामी जी—"अरे यह क्या तेरी स्त्री है" पडित—"हाँ, स्वामी जी।" स्वामी जी—"बडी सती है। जैसा रूप तैसा ही गुण यह सुना था पर आज ही ऐसा देखा। तू बडा भाग्यवान है, भोजन करने कराने की शक्ति, श्रेष्ठ स्त्री से रति, धन में दान की शक्ति ये बड तप के फल है। ये जो गुण है उन सबको मैंने तुझ में देखे। तुझसे बढकर कोई भाग्यवान नही।" पडित—यह सब आपकी कृपा का फल है।" स्वामी—"अरे तुझे कितने बच्चे है?" पडित—"स्वामी जी, दो लडके और दो लडकियाँ।" स्वामी—"क्या ये दोनो तेरे लडके है?" पडित—"महराज।" स्वामी—"इनके नाम क्या है?" पडित—"स्वामी जी, बडे का नाम दिवाकर, और छोटे का प्रभाकर शर्मा है।" स्वामी—"ये क्या पढ़ते है?" पडित—"ये कुछ कुछ व्याकरण पढ़ते है? काव्य कोशादि तो ये

पढ चुके ।" स्वामी—"बिलकुल ठीक । क्या इनके विवाह हो चुके ?" पडित—"वडे का व्याह हो चुका, छोटे का नही ।" स्वामी—"तेरी पतोहू नही दिखलायी पडती ।" पडित—"स्वामी जी, अभी वह आपको प्रणाम करने आयी थी ।" स्वामी—"अरे, वह तो वडी ही लावण्यवती और सुदरी थी । तेरे पुत्र के योग्य है ।" पडित—"स्वामी जी ।" स्वामी जी—"क्या इसका प्रथम रजोधर्म हो चुका या नही ?" पडित—"स्वामी जी, हो चुका है ।" स्वामी—"कितने दिन हुए ?" पडित —"दो महीने ।" स्वामी—"ठीक, क्या वह सबकी आज्ञा मानती है ?" पडित—"अभी तक तो मानती है ।" स्वामी—"अरे, तू वडा भाग्यवान है ।" पडित—"यह सब आपकी कृपा है ।" स्वामी—"एक दूसरी सोलह वरस की कन्या दिखलायी दी, वह कौन है ?" पडित—"स्वामी जी, वह मेरी जेठी कन्या है ।" स्वामी—"क्या यही उसका वर है ?" पडित—"जी हाँ ।" स्वामी—"अरे, यह तूने क्या किया ? यह नाटा और दुवला पतला है । यह इसके योग्य नही । कहाँ तेरी इतनी सुदर कन्या और कहा यह हरामी वदसूरत । तूने यह अनुचित किया ।" पडित—"स्वामी, मै क्या करू वह उसका भाग्य था । वह उमर में काफी है पर जरा कमजोर है ।" स्वामी—"क्या दूसरी का विवाह हुआ है, अथवा नही ? पडित—"स्वामी जी, अभी नही ।" स्वामी—उसके साथ वैसा न करना, देख सुन लेना । पडित—"स्वामी, उसके भाग्य में जो वदा है वही होगा ।" स्वामी—"अरे तेरे छोटे लडके का विवाह कव होगा ?" पडित—"स्वामी जी, चार महीने वाद ।" स्वामी—"तो कही उसकी सगाई कर दी है ?" पडित—"हा, महाराज, ब्रह्माघाट पर त्र्यवक भट्ट नामक एक ब्राह्मण रहते है । उनकी कन्या के साथ वाक्दान है और उसने कन्या देना भी स्वीकार किया है । पर ऋणानुवध वलवान है—और कहानी है—वन में नव मजरियो पर मडराता हुआ भौंरा गधफली नही सूघता । क्या वह रम्य नही है अथवा वह रमणशील नही, केवल ईश्वर की इच्छा ही वलवती है ।" स्वामी—"ठीक, मै तो उसे जानता हू । मैने उसके यहाँ कई वार भिक्षा पायी है । उसकी स्त्री वडी साध्वी है और वडी ही सुदरी । वह मुझसे वडा स्नेह करती है । उसके हाथ की रसोई वडी रुचिकर होती है, वह वडी ही कुशल है । वह तेरे योग्य होगी ।" पडित—"स्वामी जी, आप क्या मजाक करते है ?" स्वामी—"नही रे, वह तेरे सवथ योग्य होगी । वह कुलीन है । मै उसे जानता हू, इसलिए कहता हू ।" पडित—"देखना चाहिये महाराज, जो होना होगा ठीक है ।" स्वामी—"अरे नही, तू भलामानस है, ईश्वर कृपा से तेरी मनचाही इच्छा शीघ्र ही पूरी होगी ।" पडित—तथास्तु । स्वामी जी ने फिर कहा—"अरे मैंने तेरी स्त्री के समान दूसरी स्त्री नही देखी । मै उसके गुणो का क्या वर्णन करू । कैसे उसने केवल दो मुहूर्त में इतना अच्छा भोजन तैयार कर दिया फिर उसे सवको परोसकर ब्राह्मणो को यथेच्छा भोजन कराके स्वय जल्दी से भोजन करके तेरे वुलाने पर वह यहा आ पहुची । उसका इतना परिश्रम दूसरी स्त्रियो में क्या मिल सकता है । इतने गुण अभ्यास से नही मिल सकते । कहा है—देने की शक्ति, प्रिय वोलने की शक्ति, धैर्य, और उचित वात जानना ये सहज गुण होने पर भी अभ्यास से नही पाये जा सकते । ये सव गुण तेरी पत्नी मे वर्तमान है । वडे भाग से वह तुझे भरपूर सुख देगी । अरे, सुन क्या तेरी स्त्री को गर्भ है ?" पडित—"यह ठीक है

स्वामी जी, चार मास बीत चुके।" स्वामी—"यह मुझे पहले से ही पता था।" पंडित—"ठीक है।" स्वामी—"उसे अच्छी संतान हो, आठ पुत्र हो।" पंडित—"तथास्तु।"

अब स्वामी जी ने बातचीत का रुख बदला और बोले—"अरे, तेरा पिता बनारस छोडकर बहुत दिनो तक बंगाल में किस लिए रहा ? पंडित—"स्वामी जी, वे विद्याभ्यास के लिए वहाँ रहे।" स्वामी—"क्या काशी में अध्ययन नहीं हो सकता था ?" पंडित—"क्यो नहीं हो सकता था। पर वहाँ उन्होंने तर्क पढा।" स्वामी—"क्या पढ़ा ?" पण्डित—स्वामी जी, जिस तरह पिता ने अभ्यास किया वह तो मैं नहीं कर सका, पर उसका आधा कुछ कुछ मैंने भी अभ्यास किया।" स्वामी—"तू ने क्या पढ़ा"। पंडित—"मैंने पहले पचप्रकरण और चिन्तामणि पढ़ी बाद में, शिरोमणि, मथुरानाथी, भावानन्दी और मिश्रान्त का अध्ययन किया। अठारह कोश देखे, भाष्यान्त व्याकरण पढा, अठारह पुराण पढे, वेदान्त में परिश्रम किया, छंद, अलकार, तथा नाटक साहित्य के साथ काव्य पढ़ा। ज्योतिष में अभ्यास किया तथा वैद्यक में परिश्रम। अब जो कुछ बच रहा है उसमें भी मेरी रुचि है"। स्वामी—"शिव शिव, तूने सब कुछ पढ़ा सिवाय वेद के"। पंडित—"स्वामी, बिना वेद के ब्राह्मणत्व कहाँ। ब्राह्मणो मे पहले वेदाध्ययन और बाद में और कुछ होता है।"

गीर्वाण पदमंजरी में तो जिस ब्राह्मण ने स्वामी जी को निमंत्रण दिया था वह स्वयं उनसे उनके ज्ञान की परीक्षा लेने लगा। पण्डित—"स्वामी जी, आपने क्या क्या पढा ?" स्वामी—"मैंने सब कुछ पढा है।" पंडित—"सब शास्त्रो में सबसे कठिन कौन शास्त्र है ?" स्वामी—"क्या तुझे पता नहीं।" पंडित—"मुझे पता है फिर भी आप कहिए।" स्वामी जी ने व्याकरण को कठिन बतलाया और उसके प्रमाण में बहुत से शास्त्रो से उल्लेख दिया। बाद में व्याकरण और तर्क इन दोनो में श्रेष्ठ कौन है इस पर बहस चल पडी। पंडित के पूछने पर कि उसने कौन सी पुस्तकें पढी हैं स्वामी ने व्याकरण, वेदान्त, मीमासा, वैशेषिक, साख्य और काव्य के अनेक ग्रंथ गिना डाले। पर वाजपेयी जी उनका पिंड सहज ही में छोडने वाले नहीं थे, पूछ बैठे—"मैंने सुना है कि आपके देश में प्याज-लहसुन खाया जाता है क्या यह सच है" ? स्वामी जी—"बेवकूफ ऐसा कहते है। अशिष्ट, पतित और अब्राह्मण उन्हें खाते हैं।" पंडित—"स्वामी मेरा अपराध क्षमा करें मैंने अनजाने यह पूछा।" अब स्वामी जी ने पता लगाया कि यजमान कनौजिये थे। यजमान ने उस प्रदेश की फसल, फल फूल, दूध, दही, घी, मसाले, पशु-पक्षी तीर्थों इत्यादि की लंबी तालिका सुना दी। एकाएक वाजपेयी की लहसुन प्याज वाली बात का बदला लेने के लिए स्वामी जी कह पडे—"वाजपेयी, तेरे देश में रजस्वला के हाथ का पकाया भात खाने की प्रथा है। क्या यह सच है ?" वाजपेयी—"भलेमानस ऐसा नहीं करते।" स्वामी—"तो क्या गैरभलेमानस ऐसा करते है ?" वाजपेयी—"धर्कट, अप्रमानिक, और हलवाहे ऐसा करते हैं।" जिरह और आगे बढी। स्वामी जी बोले—"उनके साथ सम्बन्ध रहता है या नहीं। ठीक कह, मगर झूठ बोलेगा तो तेरा परलोक नष्ट हो जायगा।" वाजपेयी जी ने पशोपेश मे पडकर कहा—"अरे स्वामी जी, किस देश में दुराचार नहीं। दक्षिण में मातुल कन्यावरण में दुराचार है। दाक्षिणात्यो में सोलह वर्ष के पूर्व कन्या के विवाह में तथा आन्ध्रदेश में हलवाही में दुराचार है। महाराष्ट्र देश में जूठे

नाने में तथा अपने सुभीते मे जेठे को छोड कर छोटे के विवाह में दुराचार है। द्रविड और केरल मे मवके मामने स्तन दिखाने में दुराचार है, केरल देश में उपरि सुरत मे दुराचार है। कोंकण में वृक्षारोहण में दुराचार है। गुजरात में मशक के पानी और तीसरे दिन रजस्वला-स्नान में दुराचार है। उत्तर में मास भक्षण में दुराचार है। पर्वत-प्रदेश में देवर मे पुत्रोत्पत्ति में दुराचार है। उत्तर में कही मूखेमास भक्षण में अत्यन्त दुराचार है। मैथिल और गौड प्रदेशो में सदा तेल लगाने मे दुराचार है। गौड देश में वेद न पढने में दुराचार है। कान्यकुब्ज मे पण्यस्थ घृतपक्व भोजन तथा विवाहादि में भोजन के ममय दूसरे को छूने में दुराचार है। उत्कल मे मुखसुरत मे दुराचार है। गौड, द्राविड, केरल, उत्कल और मिथिला में भुजिया चावल का भात खाने में दुराचार है तथा मब देशो में रास्ते में पान खाने में दुराचार है।

गीवार्ण वाङ्मजरी में भी दुराचारो की तालिका दी गयी जो वहुत कुछ गीर्वाण पद मजरी की तालिका से मिलती है पर कुछ देशो के नये दुराचारो के भी उल्लेख है, जैसे कर्णाटक देश में श्रीमानो को स्नान विना भोजन में, तावे के पात्र में दूध दही रखने में, द्रविड और केरल में रास्ते में वामी भोजन करने में, उत्तर में पर स्त्री गमन में, मगध में असवर्ण विवाह में, चन्द्रावती में दामी गमन में। कश्मीर के ब्राह्मण तो प्राय यवनो की तरह होते थे। उनके जीवन में दुराचारो की गणना नही। पर पडित जी के अनुसार महाराष्ट्र देश की सव जातियो में कुछ न कुछ दुराचार वर्तमान थे, सिवाय माध्वो के जिनमें दुराचार का लेशमात्र भी नही था। अव प्रश्नोत्तरी पुन प्रारभ हो गयी। स्वामी—"यह तूने ठीक कहा, मेरा भी यही अनुभव है"। पडित—"स्वामी जी, झूठ वोलने से क्या फायदा ? में आपकी कृपा से सव जानता हू।" स्वामी-"अरे, गौड देश में कौन कौन से तीर्थ है ?" पडित जी तीर्थों के नाम गिना गये। स्वामी-"वहा और वंथा क्या विशिष्ट वस्तुएँ होती है ?" पडित-"स्वामी, वहाँ अनेक तरह के नक्काशीदार (विचित्राणि) पट्ट वस्त्र (पट्टवस्त्राणि), क्षीरोदक नामक दुकूल, तथा अनेक तरह के रेशमी वस्त्र होते है। रेशम वही पैदा होता है। वहा वहुत ही महीन मलमल वीनी जाती है।" उमके वाद उमने वहा के धान्य, शक्कर, दूध, दही, घी, तेल, वृक्षो, लताओ, नदियो, पशु पक्षियो, पुष्पो जातियो इत्यादि के नाम गिना डाले। स्वामी जी सतुष्ट होकर वोले—"वाह, क्या देश है मुझे भी वहा एक वार जाना चाहिए। वहा गगासागर नहाकर जगन्नाथ का दर्शन करके लौटूगा। चातुर्मास्य विताकर जाऊगा।"

गीर्वाण पदमजरी में दुराचारो के वर्णन के वाद स्वामी और वाजपेयी की वात वडी चोखी वन पडती है। वाजपेयी जी ताड गये थे कि स्वामी जी की विद्या ऐसी वैसी ही थी। इन नोकझोक का वर्णन निम्नलिखित प्रश्नोत्तरी में आता है। स्वामी—"वाह, ठीक हुआ। अव मुझे मठ जाना है अनुष्ठान का समय हो गया है।" वाजपेयी—"जाइये महाराज, भिक्षा के लिए फिर कव पधारियेगा ?" स्वामी—"मै नही आऊगा। तेरे घर वडी भीड भाड होती है, वृथा वडा समय खराव होता है।" वाजपेयी—"तो आज आज कैसे आये ?" स्वामी—"अनाध्याय था इसलिए।" वाजपेयी—"स्वामी जी, नकार

दीर्घ क्यो ?" स्वामी—"अरे, वाजपेयी तुझे कान नही है, तू वहरा है।" वाजपेयी—"अपराध हो गया, स्वामी को क्षमा करना चाहिए। आप जहा भी जायेंगे भीड भाड तो होगी ही।" स्वामी—"मै कही भी नही जाता।" वाजपेयी—"तो भिक्षा कैसे मिलती है।" स्वामी—"मै माधूकर करता हू।" वाजपेयी—"उकार दीर्घ क्यो ?" स्वामी—"मै नही जानता।" वाजपेयी—"आप नही जानते। सबको पता है कि भिक्षा को माधुकरी कहते है और माधूकर मे प्रयोग विरोध है।" स्वामी—"होने दे प्रयोग विरोध। ऋपि प्रयोग अर्थके प्रयोग मे विरोध हो तो दोष है।" वाजपेयी—"तो आपने काव्य नही पढे है।" स्वामी—"काव्यालाप छोडना चाहिए, इसलिये।" इसके बाद वाजपेयी ने कुछ कूट श्लोक पढकर उनके अर्थ जानने चाहे। स्वामी जी ने घवराकर कहा—"अरे वाजपेयी, मुझे भी ऐसे हजारो कूट श्लोक याद है, जिनके तू अर्थ नही कर सकता।" वाजपेयी—"कहिये स्वामी जी।" स्वामी—"अरे, लडाई झगडे से क्या फायदा अव मुझे जाना चाहिए (ठहर कर) वहुत दूर जाना है।" वाजपेयी—"आप कहाँ रहते है ?" स्वामी—"मै तिलाभाडेश्वर पर रहता हू।" वाजपेयी—"लकार दीर्घ कैसे हुआ ?" स्वामी—"अवैय्याकरण के साथ की वजह से मुख से दीर्घ निकल गया, भूल हो गयी।" वाजपेयी—"स्वामी जी अव आप पधारिए।"

गीर्वाण वाङमजरी का ब्राह्मण अधिक श्रद्धालु था और सन्यासी पण्डित। इसीलिए ब्राह्मण यजमान ने उनसे पूछा—"स्वामी जी, पूर्वाश्रम में आपका गाँव कौन था ?" स्वामी—"अरे पूर्वाश्रम में मै कर्णाटक के चजी ग्राम मे रहता था।" पडित—"तो पूर्वाश्रम में आपकी क्या वृत्ति थी, भिक्षावृत्ति अथवा व्यवसाय वृत्ति।" स्वामी—"अरे, कुछ न पूछ, कुछ कहने का उत्साह नही होता।" पडित—"नही स्वामी जी, मुझे जानने की इच्छा है। आप अवश्य कहिये।" स्वामी जी ने कहा—

"अरे, पूर्वाश्रम में मेरी व्यवसाय वृत्ति थी। तव दिल्लीश्वर के अमात्य असत्खान (असद खाँ) मन्त्री थे, उसका वेटा जुल्फिकार खाँ था। जव वह दिग्विजय के लिए वहाँ आया तो उसके साथ मैंने वहुत दिनो तक व्यवसाय किया। मेरे तावे में चार हजार सवार, दस हजार पैदल सिपाही, चालीस हाथी, वहुत मे ऊँट, तथा रथ थे। घर में चार पालकियाँ थी और वहुत सी माल ढोनेवाली गाडियाँ। मेरे यहाँ सोलह वडी सुन्दरी दासियाँ थीं जिनका लावण्य मै वखान नही सकता। उनकी तरह मेरी गृहिणी भी नही थी। वे सव मेरी सेवा में सदा तत्पर रहती थी। उनमें से एक वडी ही सुन्दरी थी, उसके गुण और सौदर्य वर्णनातीत है, वह दूसरी अप्सरा की तरह लगती थी। उसे मै वडा प्यार करता था। उसका भी मन मुझे छोडकर और कही नही गया।

"अरे, उस समय मेरे पास कई वेश्याएँ रहती थी, जो सदा मेरी वाहुओ के पास उपस्थित रहती थी। उनमें से एक वडी ही सुन्दरी थी। उसके कठ की मधुरता, नृत्य गीतादि, आलाप और अभिनय का वर्णन शक्ति के वाहर है। आज भी जव उसका स्मरण हो आता है तव मेरा मन कही नही लगता। अव कहना क्या है जो होना था सो हुआ उसकी याद सपना हो गयी।

"पहले मेरे घर में प्रतिदिन सैंकडो ब्राह्मण जमा होते थे जिन्हें मैं क्षण भर में खिला देता था। उनमें से बहुत से अन्नार्थी, वस्त्रार्थी और याचक होते थे। और भी जो अर्थी मेरे पास आते थे उन्हें मैं मनचाही वस्तुएँ देता था। मेरी प्रभुता के फलस्वरूप मेरे पास से कोई निराश नही गया। ऐसी मेरी विभूति थी जिसकी याद आज सपने जैसी लगती है और उसके स्मरण से मुझे वडा क्लेश होता है।"

वीच में पंडित जी टपक पडे—"स्वामी जी, पूर्वकाल में आपका जो ऐसा वैभव था वह सहसा कहाँ चला गया। उसका कारण क्या था ?" स्वामी जी वोले—"अरे सुन, एक दिन मैं अपनी स्त्रियो के साथ सौधगृह में था उसी समय मेरे मालिक ने मुझे बुलवाया और दो वार दूत भेजे, पर मैं सौंदर्य से उत्पन्न सुख को छोडकर नही गया। मालिक ने फिर दूत भेजा तव भी मैं नही गया। इस पर क्रुद्ध होकर मालिक ने मुझे गिरफ्तार करने के लिए एक सेनानी के साथ चार हजार सवार भेजे। मेरी सेना तैयार न थी। दो घडी के अन्दर ही उन्होने सव कुछ लूट लिया। मुझे भी बाँधकर ले गये। मेरे मालिक ने मुझे डाँट फटकारकर चार महीने कैद में रखा, इसके बाद मेरी जजीरें काट दी गयी। उस दिन से मेरे मन में अतीव अनुताप हुआ और मैं कुटुम्वादि को छोडकर कुरुक्षेत्र पहुँचा और वहाँ कुछ दिन तक तप करने के वाद सन्यास ग्रहण कर लिया और बाद में यहाँ पहुँचा।"

पण्डित ने पूछा—"आपके सन्यास ग्रहण किए हुए कितने दिन हुए ?" स्वामी—"अरे, वारह वरस वीत गये। इतने दिनो तक तीर्थाटन करके चार मास से यहाँ आया हूँ।" पण्डित—"वाह, आपने तो खूब किया, कहा है विश्वेश्वर के समान देव, वाराणसी के समान क्षेत्र, तथा मणिकर्णिका के समान तीर्थ ब्रह्माण्ड में नही है। यह बात मानकर आप जैसो का ऐसा क्षेत्र छोड दूसरी जगह वास करना अनुचित है।" स्वामी—"तू ने ठीक कहा मेरे मन में भी यही है—कहा है, इस असार ससार में चार वातें सार है यथा काशीवास, सज्जनो का सग, गगा जल और शिवपूजा। ऐसे स्थल को छोडकर दूसरी जगह वसना ठीक नही।" पण्डित जी के इतना कहने पर कि स्वामी जी ठीक कहते है स्वामी जी वोल उठे—"अरे, अव मुझे मठ जाना चाहिए। आज मुझे वडी देर हो गयी। मैंने गीता पाठ भी नही किया। मेरे अनुष्ठान का समय भी हो गया अव तो मुझे जाना ही चाहिए।" इतना कह कर स्वामी जी उठ खडे हुए। यजमान ने स्वामी जी को साष्टाग दण्डवत की और उनके साथ कुछ दूर तक हो लिया। जरा दूर जाकर वह वोला—"स्वामी जी, आज वहुत थक गया हूँ। समय भी वहुत वीत गया है, आप क्षमा करें।" स्वामी—"नारायण, नारायण यह तू क्या कहता है। ऐसी भिक्षा तो कही मिलने को नहीं न ऐसी भक्ति ही। जिसकी जैसी भावना होती है वैसी ही उसको सिद्धि मिलती है।" पण्डित—"यह सव आपकी कृपा का फल है, अव आपको धीरे-धीरे जाना चाहिए।" यह कह कर और स्वामी जी की आज्ञा पाकर लौट गया।

वेचारे स्वामी जी कमण्डल एक तरफ फेंक कर दण्ड के सहारे वडे कष्ट से अपने मठ पहुँचे। वहाँ पहुँच कर शिष्य से वोले—"अरे सेपाश्रम, जल्दी उठकर विछावन विछा

दे।" शिष्य—"स्वामी जी अनुष्ठान का समय हो गया, अब सोयेंगे कैसे?" स्वामी—"अरे चुप रह, जल्दी से बिस्तरा लगा। एक पंखा लाकर मुझ पर हवा कर, मेरे शरीर में बड़ी दाह हो रही है। शिष्य—"स्वामी, आज आपने क्या-क्या भोजन किया?" स्वामी—"अरे अभी कुछ मत पूछ, बाद में सब कहूँगा। अभी तो बोलने की भी ताकत नहीं है, बैठ भी नहीं सकता।" यह कह कर स्वामी जी सो गये।

इधर थकेथकाये यजमान ने शृंगार रस की धारा बहा दी। अपनी स्त्री को पुकारा—"अरी सुनती है, आज हम दोनों थक गये हैं इसलिए तू जल्दी से सेज बिछा दे तथा सब बच्चों को सुला कर जल्दी से ऊपर आ जा। पहले मुझे संध्या-वन्दन के लिए जल दे दे।" उसने पति के कहे अनुसार सन्ध्या के लिए पानी रख दिया। जब वह सन्ध्या-वन्दन में लग गया तब पत्नी ने जल्दी से अटारी पर जाकर पलंग पर बिस्तरा लगा दिया और उसके ऊपर चमेली के फूल बिछाकर उसपर रेशमी चादर तथा सिरहाने दो तकिये लगाकर पलंग के नीचे पान लगाने इत्यादि का सामान रखकर अपने स्वामी को ख़बर दी। वह भी सन्ध्या-वन्दन करके ऊपर गये। पलंग पर बैठकर उसने अपनी स्त्री को पुकारा—"अरे, तू जल्दी से ऊपर आ नीचे क्या कर रही है?" यह सुनकर वह बाल बच्चों को यथा स्थान सुलाकर ऊपर चली आयी। उसे देखते ही पण्डित जी का शृंगार रस लबलबा आया और वे बोले—"हे कमल लोचने, मैं पानी पीना चाहता हूँ तू देगी तो न पिऊँगा, यदि फिर से देगी तो पी लूंगा।" यह सुनकर उसने उसे पानी दिया। वह जल पीकर फिर बोला—"हे कर्णान्तायत लोचने चन्द्रमुखी, जल्दी से पीले पान और चूना ला।" यह सुनकर उसने लगा हुआ पान का बीड़ा दिया। उसके बाद उसने हाथ पकड़कर उसे गोद में बैठाकर आलिंगन करके मुख चूमा। इसके बाद दोनों की उत्तर क्रिया समाप्त हुई।

उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों से सत्रहवीं सदी के बनारस के ब्राह्मण जीवन विशेषकर महाराष्ट्रीय ब्राह्मण जीवन के एक पहलू यानी भोजन पर विशेष प्रकाश पड़ता है। आज दिन भी बनारस के ब्राह्मणों और कुछ गृहस्थों में विशेष अवसरों पर सन्यासियों के निमंत्रण की प्रथा है। ऐसे अवसरों पर अतिथि और आतिथेय में आपस की बातचीत जिसमें गीर्वाण पद मंजरी के अनुसार यजमान बीस पड़ता था ख़ास बात थी। इन दोनों ग्रन्थों में काशी के ब्राह्मणों की प्रात क्रियाओं पर, जिनमें गंगा स्नान, पूजापाठ इत्यादि आ जाते हैं, विशद वर्णन है। महाप्रयोग के बाद ब्राह्मण मणिकर्णिका घाट पर स्नान करते थे और उसके बाद ही संध्या, ब्रह्मयज्ञ, निर्वाप, तर्पण और देवपूजा करते थे। पर्व के दिन गृहस्थ ब्राह्मण मठ पहुँच कर एक सन्यासी को भोजन का निमंत्रण देते थे। बनारस के मठों में भारत के अनेक भागों से आये हुए सन्यासी रहते थे। जान पड़ता है, सन्यासियों के निमंत्रण में भी यजमान अपनी जातीयता का ख्याल रखते थे। गीर्वाण-पदमंजरी में वाजपेयी एक कर्णाटकी सन्यासी को निमंत्रण देता है जिससे शायद वरदराज के देश का पता चलता है। गीर्वाण वाङ्मंजरी में ब्राह्मण द्वारा एक महाराष्ट्र के निमंत्रण से ढुंढिराज का महाराष्ट्रीय ब्राह्मण होना सिद्ध होता है। जान पड़ता है, उस

समय बनारस के दक्षिणी ब्राह्मण, बगाली ब्राह्मणो के लबे नाम को लेकर उनका मजाक उडाते थे।

सन्यासियो को छुआछूत का डर रहता था, इसीलिए यजमान के घर जाते समय हटो बचो की धुन लग जाती थी। घर पहुँच कर सन्यासी को उच्चासन पर बैठाया जाता था और भोजन के समय उसके सामने सबसे बडी पत्तल रखी जाती थी। भोजनोपरात चदनादि का लेप लगाया जाता था तथा लौंग दी जाती थी। कभी कभी सन्यासी को कीमती वस्त्र भेंट किया जाता था। भोजनोपरात आमत्रित ब्राह्मण तथा परिवार के लोग सन्यासी की अभ्यर्थना करते थे। सन्यासी कभी कभी यजमान के परिवारिक बातोमें रस लेता था और उसे सलाह भी देता था।

बनारस के दक्षिणी नागरिक आज की भाँति ही घाटो के पास रहते थे। गीर्वाण वाङमजरी का यजमान बिन्दुमाधव घाट के पास दूधविनायक मुहल्ले में रहता था। आज दिन की तरह घर का कुछ भाग किराये पर देने की प्रथा थी। ऐसे घरो के चारो ओर शालाएँ होती थी और बीच में प्रासाद। किरायेदार किसी शाला अथवा प्रासाद में जगह पाते थे।

गीर्वाण वाङमजरी का ब्राह्मण स्वभाव से कुछ चिडचिडा दिखलाया गया है, और वह अपनी स्त्री और पुत्र को गाली देने मे नही चूकता। ब्राह्मण देवता अपना रुपया पैसा खूब सँभाल कर अत पुर में एक काठ की पेटी के अन्दर एक चाँदी की पेटी मे रखते थे। अपने लडके को उन्होने आज्ञा दी की चौखभा बाजार में जाकर वह दो रुपयो के ढेउआ (पैसे) मूषक माधव जी की दुकान से भुना ले और उनसे दूसरे सामान खरीदे। उस समय बनारस में कितनी सस्ती थी इसका पता हमें इस बात से चल जाता है कि दो रुपये में ही ब्राह्मण के पुत्र ने कितना सामान खरीद लिया। आठ आने में ढाई सेर घी रे यह अर्थ निकलता है कि घी का भाव आठ रुपये मन था। इसके बाद पुत्र द्वारा भोज्य वस्तुओ के खरीदे जाने की लबी तालिका आती है। जिसमें उसने तरह तरह के मसाले, आँटा, मैदा, घुँवास और तरकारी खरीदी फिर उसने अन्नपूर्णा मन्दिर के बाजार से कच्चे पक्के केले खरीदे और कालभैरव बाजार से साग भाजी। इसके बाद भोजन पदार्थो का लबा विवरण आता है।

प्रकारान्तर में गीर्वाण पदमजरी में बीजापुर और मध्यदेश का वर्णन आ जाता है। मध्यदेश के वर्ण में वहाँ की पैदावार जिनमें रत्न, मसाले, धान्य, सब्जियाँ, शक्कर, नमक, दूध, घी, तेल, पशुपक्षी वनस्पति सभी आ जाते है। गीर्वाण वाङमजरी में वाजपेयी जी गौड देश की पैदावर इत्यादि का वर्णन तथा वहाँ के रहने वाले चारो वर्णो, शिल्पियो तथा नाचने गानेवालो इत्यादि का वर्णन करते है। सभवत सत्रहवी सदी के बनारसी पडित तत्कालीन मुगल प्रथा से उत्साहित होकर अपना भौगोलिक ज्ञान बढा रहे थे। गीर्वाण वाङमजरी और गीर्वाण पदमजरी से यह भी पता चलता है कि बनारस के पडित देश के भिन्न-भिन्न भागो के लोकाचारो को जो शास्त्र विरुद्ध थे, भलीभाँति जानते थे पर जिन प्रदेशो से वे आते थे उनके सदाचार की प्रशसा बातचीत में करते थे।

पर गीर्वाण पदमजरी और गीर्वाण वाङ्मजरी मे काशी के ब्राह्मण जीवन का जो चित्र खीचा गया है वह सत्रहवी सदी के लेखक वेंकटाध्वरि रचित विश्वगुणादर्शचपू में उल्लिखित[1] ब्राह्मण जीवन से भिन्न है। काशी वर्णन खड में कृशानु और विश्वावसु नामक दो गधर्वों की प्रश्नोत्तरी से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि काशी के ब्राह्मण अपनी परिचर्या से च्युत हो गये थे एव उनकी इस अधोगति का कारण मुगल थे जिनमें से कुछ वनारस में रहते थे। कृशानु विश्वावसु द्वारा काशी के ब्राह्मणो की प्रशसा सुनकर बोला—"कलियुग के प्रधान से श्रुति स्मृति विहित आचारो के विरुद्ध काम करने वाले इस प्रदेश के वासी ब्राह्मणो को तू प्रणाम करता है, देख काशी के रहने वालो की सुचर्या के विरुद्ध वातें—

"काशी के ब्राह्मण शस्त्र धारण से अपनी जीविका निर्वाह करते है, वेदाध्ययन का त्याग करते है, शूद्रो द्वारा लाये गये पानी से नहाते है, आचमन करते है और देवताओ को स्नान कराते है तथा अविहित रूप से चावल पकाते है। वे जूठा भोजन खाने से नही डरते। मुसलमानो और नीचो की वे सगति करते है तथा चाडालो के स्पर्श की परवाह न करते हुए वारवार रास्तो में इधर उधर घूमते है और प्रात काल नहाकर भी धोवी के धोये कपडे, जो गधो पर लादे जाते है, पहिनते है, तथा उन्हें पहिन कर वाहर कामकाज के लिये जाते है। घूमते हुए वे अस्पृश्य प्रमुख मुसलमानो को छूते है और उन्हें छूने पर भी नहाते नही। नहाने पर भी वे चपल भोजन कर लेते है और ऐसा कर लेने पर भी उन्हें लज्जा नही आती। वे नीचो, दुष्ट मुसलमानो तथा कुत्तो से निश्शक आलोकित तथा पाँत से वाहर तथा वेद ज्ञान शून्य मनुष्यो के साथ खाते है। वे मद्य के आस्वाद से मत्त जनता के मोहने के लिए स्मृतियाँ और श्रुतियो मे दूर असार कर्म सम्पादित कर्मों को करते है। यह आश्चर्य है कि वे शास्त्रविधि न जानते हुए जिन्ही किन्ही कन्याओ से विवाह करते है और जब वे युवती हो जाती है तो वे द्रव्य कमाने की आशा से देशान्तर में हमेशा घूमते रहते है। एक दूसरे के आलिगन के आशा में ही उनका यौवन ढलता जाता है और इस तरह वुद्धि मलिन होने से दम्पतियो का लोक परलोक विगड जाता है। यहाँ के लोग पढे लिखे नही होते। यदि सैकडो हजारो में कोई पढा लिखा होता भी है तो वह श्रुति स्मृति विरुद्ध तर्को में श्रम करता है तथा श्रुति स्मृति से विहित प्रामाणिक तर्को से दूर भागता है।"

काशी के ब्राह्मणो के विरुद्ध कृशानु की बात सुन कर विश्वावसु बोला—"अरे, वडे दुख की वात है। ब्राह्मण निंदा सुनकर मेरा हृदय काँप गया। जो तूने उनके अच्छी चर्या के विरुद्ध जाने की वात कही है वह तो कलियुग का दोष है ब्राह्मणो का नही। कलियुग में कृतयुग का चरित्र होना कैसे सभव है। पाप रूपी लता का आश्रयभूत कलियुग दुर्जय है देख—

"यह कलियुग अधर्मों के कामो का महल है दुरभिमानो का धर्मपीठ है, शास्त्रो के ललाट पर लिखी हुई आयु की लेखा का नाश है, यज्ञो की समाप्ति का कारण है,

[1] वी० जी० योगी द्वारा सपादित, ववई १९२३

सब वेदवचनों का वह समाप्ति दिवस है, साधनाओं की वह सीमा है तथा द्रव्य-प्राप्ति की इच्छा की वह जन्मभूमि है। ऐसे कलियुग में सैंकड़ों में एक भी श्रुति मार्ग में चलने वाला इस जगत में पैदा हो तो वह प्रशंसा का पात्र है जैसे कि मरुभूमि में एक छिछला सरोवर भी श्लाघनीय है। कायस्थ, राजपूत और ब्राह्मण जो शस्त्र धारण करते हैं वे यत्नपूर्वक निर्दय और शुष्क मुसलमान शासकों की सेवा करते हुए भी देवताओं और ब्राह्मणों की रक्षा करते हैं इसीलिए वे धन्य हैं। जो बिना शस्त्रधारण किये ही घरों में रहते हैं अथवा घर में उदासीन हैं ऐसे ब्राह्मणों को केवल त्याग रूपी उदकांजलि ही मिलती है।"

उपर्युक्त श्लोक का आशय है कि मुसलमान स्वभाव से ही क्रूर, निर्दय और धर्मद्वेषी थे अतएव वे ब्राह्मणों उनके धर्म और देवताओं का नाश करते थे। इसीलिये कायस्थ इत्यादि उनकी सेवा स्वीकार करके जनपद की रक्षा इत्यादि का अधिकार प्राप्त करके देवताओं और ब्राह्मणों की रक्षा करते थे। शास्त्र पढ़ने वाले ब्राह्मण यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रतिग्रह इन षट्कर्मों में निरत होते थे। इनमें याजन, अध्यापन और प्रतिग्रह उनकी जीविका के कारण थे। यजन, अध्ययन और दान तो केवल परमार्थ के सहायक थे, द्रव्य के अभाव से ये तीन कर्म शिथिल हो जाते हैं।

विद्वावसु ने चारों ओर आँखें फैला कर प्रशंसा पूर्वक कहा—"सेतुबंध रामेश्वर से हिमालय तक सारी पृथ्वी के मुसलमानों से आक्रान्त हो जाने पर तथा उनके भय से सब राजाओं के भाग जाने पर करुणारहित होकर भगवान नारायण के सो जाने पर तथा कलियुग के प्रसार होने पर केवल एक वही लोकोत्तर पुरुष है जो वेदोक्त मार्ग का अपने बल से निष्कंटक रखने का प्रयत्न करता है।"

वेंकटमखी के द्वारा काशी के ब्राह्मणों की दशा के विवरण में पूर्वपक्ष और उत्तर-पक्ष दोनों ही आ जाते हैं। इसमें संदेह नहीं ब्राह्मण जीवन के प्राचीन आदर्श से च्युत हो चुके थे पर समय के अनुसार ऐसा होना आश्चर्य की बात न थी। कायस्थों ब्राह्मणों और राजपूतों द्वारा मुसलमानों की सेवा का उद्देश्य भी हिन्दुओं की रक्षा ही बतलाया गया है।

काशी के ब्राह्मणों की शिक्षा वेद, वेदांग (व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त, छंद-शास्त्र, शिक्षा, कल्प), षट्दर्शन (वैशेषिक, तर्कशास्त्र, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदांत), काव्य, नाटक, अलंकार, स्मृति और संगीत भी आ जाते थे। पर बंगाल में नदिया न्याय की शिक्षा के लिए प्रसिद्ध था। व्याकरण की शिक्षा आवश्यक मानी गयी है पर वरदराज केवल तर्कशास्त्र के अध्ययन के विरोधी थे।

७. औरंगज़ेब युग में बनारस का व्यापार

हम कह आये हैं कि अकबर के राज्यकाल में बनारस का क्षेत्रफल ३६,८६९ बीघा था और उसकी लगान २,२१,७३२ रुपये। औरंगजेब के राज्यकाल में[1] बनारस

---

[1] सरकार, इंडिया ऑफ औरंगजेब, पृ० ४४

का क्षेत्रफल तो ४, ५३, ३५४ बीघा बढ़ गया, पर न मालूम क्यो बनारस की लगान घट कर १, ३५, ७५० रुपये रह गयी थी।

बनारस का बहुत प्राचीन काल से व्यापारिक महत्त्व उसकी भौगोलिक स्थिति के कारण था। दिल्ली के सुलतानो के समय इसका महत्त्व इसलिए कम हो गया था, कि बंगाल जाने की सडक जौनपुर-गाजीपुर होकर निकल जाती थी। पर मुगल काल में बनारस से होकर फिर बहुत सी सडकें चलने लगी। दिल्ली-मुरादाबाद-बनारस-पटना वाली सडक दिल्ली, शहादरा, गाजिउद्दीन नगर (गाजियाबाद), डाना, हापुड, बागसर, गढ़मुक्तेश्वर, बगडी, अमरोहा, मुरादाबाद रायबरेली, सैला, कडा, डलमऊ होकर बनारस पहुँचती थी।[1] बनारस से यह सडक सराय सैयदराजा, गाजीपुर, बक्सर, रानी सागर और बिसम्भरपुर होकर पटना पहुँचती थी। तावेर्नियें बनारस से पटना बहादुरपुर, सैयदराजा, मोहनिया की सराय, खुरमाबाद, सहसराम, दाऊदनगर, अल (सोनपुर) तथा आगा सराय होते हुए पहुँचा।

आगरा-इलाहाबाद-बनारस का भी एक रास्ता था। यह रास्ता फिरोजाबाद, शिकोहाबाद, इटावा, राजपुर, कुरारा, हटगाँव, शहजादपुर होकर इलाहाबाद पहुँचता था। इलाहाबाद से रास्ता रायबरेली, हनुमाननगरी (हनुमानगज), मलिकपुर, शाहजहाँपुर, सघा, मिर्जामुराद होकर बनारस पहुँचता था। तावेर्नियें ने इस सडक पर निम्नलिखित मजिलें दी है—फिरोजाबाद, सराय मुरलीदास, इटावा, अजितमल, सिकदरा, मूसानगर के पास साकल, शेरूराबाद, सराय शाहजादा, हटगाँव, औरगाबाद, आलमचन्द, इलाहाबाद, सदुल सराय (सैदाबाद), जगदीस सराय, बाबू सराय, बनारस। टीफेनथालर के अनुसार यह रास्ता हडिया, गोपीगज और मिर्जामुराद होकर बनारस पहुँचता था। ● ●

---

[1] वही, पृ० १०९–१११

चौथा अध्याय

१७०७ से १७८१ ईस्वी तक का वनारस

१ इतिहास-मुगलयुग

वनारस वहादुरशाह के राज्य में (१७०७-१७१२) मुग़ल साम्राज्य के ही अतर्गत था। फर्रुखसियर (१७१३-१७१९) और जहाँदार शाह की लडाई में वनारस का फिर ज़िक्र आता है। फर्रुखसियर वगाल का शासक था और उससे लडाई के समय विहार के सूवेदार हुसैन अली खाँ और इलाहावाद के सूवेदार अब्दुल्ला खाँ जहाँदार के विरुद्ध मिल गये थे। १८ सितवर १७१२ ईस्वी को फ़र्रुखसियर की फौज ने कूच कर दिया और स्वय फ़र्रुखसियर २५००० फौज के साथ चार दिन वाद आगे वढे। फ़ौज २९ सितवर को दानापुर पहुँची और शेरपुर और भटोली होते हुए वह १३ अक्टूवर को सोन के किनारे आ गयी। वाढ़ के कारण नाव का पुल वाँध कर नदी पार करके फौज १७ अक्टूवर को सितारा पहुँच गयी। खटोली, भूरी महादेव, जैंपुर होती हुई सेना २४ अक्टूवर को सहसराम पहुँची। वहाँ से चलकर खुर्रमावाद, मोहानी, सलोट, सराय सैयदराजा, मुगलसराय होते हुए ३० अक्टूवर को फर्रुखसियर वनारस के सामने छोटे मिर्जापुर में आ पहुँचे। वहाँ वनारस के रईसो से रुपये वसूलने की वात उठी लेकिन राय कृपानाथ की प्रार्थना पर वनारस को कुछ दिन वाद रुपये भेज देने की मुहलत दी गयी। जवर्दस्ती की यह वसूली, जो एक लाख रुपये थी, फर्रुखसियर को इलाहावाद में मिल गयी।[१]

फर्रुखसियर के राज्यकाल में वनारस की क्या हालत थी इसका तो हमें विशेष पता नही पर इसमें शक नहीं कि इस युग में वनारस में नागरो का काफी प्रभाव था। सभवत इसका कारण छवीलाराम नागर की इलाहावाद की सूवेदारी थी।[२] खुलासतुत्तवारीख और चहार गुलशन के अनुसार, वनारस इलाहावाद सूवे का एक सरकार था और इसलिए छवीलाराम का वनारस में प्रभाव होना कोई आश्चर्य की वात नही है। छवीलाराम नागर ने सवसे पहले फर्रुखसियर के प्रति अपनी वफादारी जाहिर की लेकिन वाद में सैयद भाइयो से उनकी नही पटी। १७१९ ईस्वी में जव फर्रुखसियर तख्त से उतारे गये, उस समय छवीलाराम इलाहावाद के सूवेदार थे। जिस समय यह घटना घटी छवीलाराम रुस्तम खाँ अफरीदी से मऊ-शम्सावाद में लड रहे थे और इसीलिए वह आगरे नही जा सके। जयसिंह को मना लेने के वाद सैयदो ने छवीलाराम को दुरुस्त करने की सोची क्योकि छवीलाराम की वग़ावत से रास्ते में वनारस और इलाहावाद पडने से वगाल का खज़ाना दिल्ली नही पहुँच सकता था। छवीलाराम की वग़ावत का समाचार सुनकर उनके भतीजे गिरधर वहादुर को दिल्ली में कैद कर लिया गया। वे किसी तरह से

---

[१] विलियम इरविन, लेटर मुगल्स, भाग १, पृ० २१२-१३

[२] वही, भाग २, पृ० ९ से

जान बचाकर भागे और इलाहाबाद में अपने चाचा से मिल गये। छबीलाराम से लड़ने के लिये मुग़ल फ़ौज आयी पर लड़ाई शुरु होने के पहले ही वे नवबर १७१९ ईस्वी में लकवे से मर गये।

मुग़लो ने गिरधर बहादुर से यह वादा किया कि इलाहाबाद का किला छोड़ देने पर उन्हें अवध और गोरखपुर और लखनऊ की सूबेदारी मिलेगी, पर उन्होंने न माना। अत में काफी लड़ाई के बाद रतनचद ने सुलह करवायी और ११ मई १७२० को गिरधर बहादुर इलाहाबाद का किला खाली करके लखनऊ चले गये।

१७२० ईस्वी में एक और घटना घटी जिससे बनारस के हिन्दुओ को भी काफी राहत मिली होगी। जज़िया कर से तो हिंदू हमेशा ही परेशान रहते थे पर १७२० में अराजकता से गल्ले का भाव भी ऊँचा उठ गया और हिंदुओ की परेशानी और बढ गयी। हिंदुओ ने मौका साधकर जज़िया के विरुद्ध हड़ताल बोल दी। सवाई राजा जयसिंह ने भी यह मामला अपने हाथो में ले लिया और मुहम्मद शाह को समझाया कि हिंदू मुल्क के पुराने बाशिंदे थे और मुसलमानो से भी बढकर बादशाह के ख़ैरख्वाह थे और इसलिए उनके ऊपर से जज़िया उठ जाना जरूरी था। अवध के सूबेदार राजा गिरधर बहादुर ने भी मुहम्मद शाह से यही प्रार्थना की और उन्हें बताया कि किस तरह उनके चाचा छबीलाराम ने फर्रुखसियर से कहकर यह कर उठवा दिया था। इन अर्जियो को स्वीकार करके मुहम्मद शाह ने सदा के लिए यह कर उठवा दिया। इसमे सल्तनत को चार करोड सालाने का नुकसान हुआ।[1]

२ मीर रुस्तम अली

सन् १७३० ईस्वी के लगभग सआदत खाँ अवध के नवाब मुकर्रर हुए। जान पडता है गाजीपुर, जौनपुर और बनारस की सरकारें उस समय मुर्तज़ा खाँ नाम के किसी उमराव की अधीनता में थी। सआदत खाँ ने इन्हें इलाहाबाद की सूबेदारी से निकलवाकर अवध के जिम्मे करवा दिया और मुर्तज़ा खाँ को सात लाख मालगुजारी देने का इकरारनामा लिख दिया।[2] पर सआदत खाँ इन सरकारो के बन्दोबस्त करने के झगड़े में खुद नहीं पड़े। उन्होंने इनका बदोबस्त आठ लाख रुपये पर मीर रुस्तम अली के हाथ कर दिया। इस तरह मीर रुस्तम अली बनारस की तहसील वसूल और बदोबस्त करने लगे। माल, दीवानी, फौजदारी वगैरह सब उसके अख्तियार में थी। मीर रुस्तम अली बहुत ही सुरुचिपूर्ण व्यक्ति थे। बनारस का प्रसिद्ध बुढ़वामगल मेला इन्हींने चलाया, चेतसिंह ने नही। बनारस में मीर के कैद होने पर एक होली गायी जाती थी—"कहाँ गयो मेरो होली को खेलैया, सिपाही रुस्तम अली बाँको सिपहिया।"[3] जान पडता है, रुस्तम अली खाँ को इमारतें बनवाने का भी शौक था। बनारस में मान मदिर घाट के उत्तर में उन्होने घाट, पुश्ता और एक किला भी बनवाया। बाद में इन सबके अमले से बलवतसिंह ने रामनगर का किला बनवाया। बाजीराव प्रथम द्वारा नियुक्त सदाशिव

---

[1] इरविन, वही, भाग २, १०३

[2] भारतवर्षीय राजदर्पण, पृ० १–२

[3] हस, काशी अक, पृ० ४४

नाइक नामक एक कारकुन इस घाट के वनने का हाल अपने पत्रो में देते है। ८-८-१७३५, के एक पत्र[१] में वे वाजीराव को लिखते है—यहाँ का अधिकारी घाट वनवा रहा है और इसीलिए मसाला नही मिलता। एक दूसरे पत्र से पता चलता है कि वनारस के उक्त अधिकारी के घाट वनवाने के कारण नाइक को मसाला न मिलने मे घाट वनवाना असभव था। २९-६-१७३५ के एक पत्र में[२] सदाशिव नाइक कहते है, "चूँकि यहाँ के अधिकारी ने जरासध घाट वनवाना आरभ किया, अपने हाकिम होने की वजह मे उसने सवको सामान मिलना वद करके अपना काम चलाया। किसी दूसरे को मसाला मिला नही, इसीलिए सवका काम वद हो गया"। उपर्युक्त विवरणो से पता चलता है कि मीर रुस्तम अली ने शायद १७३५ के आरभ में घाट वनवाना आरभ किया और काम अगस्त या उसके वाद तक चलता रहा।

३ मनसा राम

आधुनिक वनारस राज्य के सस्थापक मनसाराम रुस्तम अली की नौकरी में थे। इनका पिता का नाम मनोरजन सिंह था और वे कसवार परगने के थुथुरिया गाँव (आधुनिक गगापुर) के रहने वाले थे, और इस गाँव में उनका आधा हिस्सा था। मनोरजन सिंह के चार पुत्रो में, यथा मनसाराम, मयाराम, दासाराम और दयाराम में, मनसाराम सवसे वडे थे। मनसाराम असाधारण चतुर और वुद्धिमान व्यक्ति थे। आरभ में वे कसवार के राजा वैरीसाल की नौकरी में थे। एक वार उनके मालिक ने किसी काम से उन्हें रुस्तम अली के पास भेजा। वे दूसरे जमीदारो का भी वनारस में काम करते रहे। धीरे धीरे वे रुस्तम अली के प्रियपात्र हो गये और उन्होने रुस्तम अली की वैरीसाल से दुश्मनी करा दी। वाद में वे रुस्तम अली की तरफ से वैरीसाल से लडे और उन्हें कसवार से निकाल वाहर करने में सफल हुए। इसके वाद वे रुस्तम अली की तरफ से चार पाँच लाख की जमीदारी का इतजाम वडी मुतज्मिी के साथ करते रहे। रुस्तम अली के दरवार से उन्होने चुगलखोर जमीदारो को भी रुस्तम अली की सेना की मदद से निकाल वाहर किया। जव उन्हें वनारस की राजनीतिक और आर्थिक वातो का पूरी तौर से ज्ञान हो गया तव उन्होने चुपके से सफदर जग को रुस्तम अली को निकाल कर अपनी मुकर्ररी के लिए लिखा। जव रुस्तम अली को इस विश्वासघात का समाचार मिला तो उन्होने मनसाराम से जवाव तलव किया और उनकी कृतघ्नता की लानत मलामत की लेकिन मनसाराम नारायण और गगा की कसम खाकर इस वात से साफ इनकार कर गये। रुस्तम अली ने मनसाराम की वात मान ली पर मनसाराम षड्यत्र रचते ही रहते थे। उन्होने रुस्तम अली की मालगुजारी से चार लाख अधिक देना कवूल करके मुहम्मद कुली खाँ के जरीये वनारस की जमींदारी की सनद लिखवा ली। रुस्तम अली जेल भेज दिए गये। सनद मिलते ही मनसाराम भी चल वसे और उनकी गद्दी पर वलवत सिंह वैठे।[३]

---

[१] पेशवा दफ्तर, ३०, २८०

[२] पेशवा दफ्तर, ४३, २

[३] केलेंडर ऑफ पर्शियन करेसपाडेन्स, भाग ५, १४०७

चित्र नं ११ वह्लच्चरण लेख के साथ मृण्मुद्रा
राजघाट, काशी, पाँचवी सदी (भारत कला भवन, काशी)
पृष्ठ ९७

चित्र नं १२ अविमुक्तेश्वर लेख वाली मृण्मुद्रा
आठवी सदी, राजघाट, काशी (भारत कला भवन, काशी)
पृष्ठ ९६

चित्र नं १३ श्री सर्वत्रैविद्य लेख वाली मृण्मुद्रा
पाँचवी सदी, राजघाट (भारत कला भवन, काशी)
पृष्ठ ९८

चित्र नं १८ मीर रुस्तम अली की होली
करीब १७३५ ईस्वी (भारत कला भवन, काशी)
पृष्ठ २५१

४ बलवंत सिंह

गद्दी पर बैठते ही बलवत सिंह ने इक्कीस हजार सात सौ पचहत्तर रुपये मुहम्मद शाह को नजराना भेज कर उससे राजा का खिताब और कसवार वगैरह तीन और मौजो की जमीदारी अपने नाम करवा ली। अपने पूर्वजो के निवास स्थान थुथुरिया का नाम बदल कर उन्होने गगापुर रख दिया और वहाँ एक किला भी बनवाया।

बलवन्त सिंह अपनी अमलदारी के पहले दस वर्ष अर्थात् १७४८ तक बेउज्र अपनी मालगुजारी अवध के नवाब को भेजते थे। पर १७४८ में नवाब सफदर जग दिल्ली को वगश के विरुद्ध अहमद शाह की मदद के लिए अपनी फौज के साथ गये, उस समय बलवन्त सिंह को मौका मिला और उन्होने नवाब को फँसा देखकर उनके सजावलो को, जो उस समय तहसील करने आये थे, प्रतापगढ के राजा पृथ्वीपति के साथ मिलकर निकाल बाहर किया और राजपूतो की जमीदारी भदोही को लूट कर उसके जमींदार सरदार जसवन्त सिंह को मार डाला। भदोही का किला अली कुली खाँ इलाहाबाद वाले के अख्तियार में था। वह इस समाचार को सुनकर क्रुद्ध हुआ और कूच करके उसने भदोही का किला दखल कर लिया पर बलवन्त सिंह की कूटनीतिज्ञता के आगे उसकी कुछ न चल सकी। उसने अली कुली खाँ के हिन्दू सरदारो को अपनी तरफ मिला लिया और नवाब को हार कर इलाहाबाद भागना पडा।[१]

१७४६ ईस्वी में बनारस में एक घटना और घटी, जिससे बलवन्त सिंह की चतुराई का पता चलता है। बालाजी बाजीराव की माता काशीबाई तीर्थयात्रा करने बनारस आयी। बलवन्त सिंह के एक बागी भाई दासाराम ने यह मौका पाकर अपने को काशी बाई के हवाले कर दिया और उन्होने उसको शरण दी। लेकिन बलवन्त सिंह ने बादशाह से फरियाद कर दी कि काशीबाई दासाराम को उसके परिवार के साथ ले गयी। बलवन्त सिंह ने जब इस पर आपत्ति की तो उन्होने यह धमकी दी कि यदि दासाराम को काशी का आधा राज्य न दिया जायगा तो मराठी फौजे आक्रमण करेंगी। सफदर जग के वकील ने दिल्ली में इस शिकायत की ताईद की लेकिन मराठे इस बात से साफ इनकार कर गये।[२] शिकायत करके ही बलवन्त सिंह चुप नहीं रहे। उन्होने काशीबाई और उनके अनुचरो को काफी तग भी किया। काशीबाई के साथी विसाजी दादाजी अपने १७-७-१७४६ के एक पत्र में लिखते हैं—"यहाँ पहुँचते ही बलवन्त सिंह ने माता जी के रहने की व्यवस्था राजमन्दिर में की है और घोडे, ऊँट और सिलेदारो को गढी में रहने की जगह दी है। पहले आठ दिनो में ही बलवन्त सिंह ने सरकार के पाँच घोडे चोरी करवा दिये और जब उन्हें धमका कर हमने घोडे वापस करने को कहा तो उन्होने दो ही घोडे लौटाये। घोडो की चोरी से अपनी बदनामी समझ कर अपने कृत कर्म के समर्थनार्थ और अपनी हितेच्छुकता दिखलाने के लिये उन्होने माता जी तथा मसूर खाँ के ऊपर नालिश भी कर दी कि

---

[१] भारतवर्षीय राजदर्पण, पृ० ७-८

[२] के० आर० कानूनगो, सम साइडलाइट्स ऑन दि हिस्ट्री ऑफ बनारस, हिस्टोरिकल रेकर्डस् कमीशन रिपोर्ट, १४ (१९३७), पृ० ६५-६६

उनके साथ फौज है जो नगरवासियो को तकलीफ देती है। उनके वन्दोवस्त की आज्ञा मिल जाय। नवाव ने गया जाने के कार्यक्रम को भी रोक दिया है। यह घटना वापू श्री महादेव को समझायी गयी। उन्होने स्वत और दूसरे सरदारो से नवाव को समझवाने का प्रयत्न किया, पर वे न माने। अत में फतेहशाह से नवाव को समझवाया"।[१]

ऊपर हम कह आये है कि सफदर जग को अहमद वगश के साथ युद्ध में फसे देखकर वलवन्त सिंह वनारस मे गडवड मचा रहे थे। १७५० में अहमद खाँ वगश ने राम छतौनी की लडाई में अवध की फौज को वुरी तरह से हरा कर एक वडी फौज के साथ इलाहावाद का घेरा डाल दिया। राजेन्द्र गोसाई और वकाउल्ला ने वहादुरी से इनका मुकावला किया।[२] झूँसी के अपने पडाव से अहमद खाँ वगश ने जौनपुर, वनारस और आजमगढ की ओर अपनी फौजें भेजी। प्रतापगढ के सोमवंशी राजा पृथ्वीपत भी हमलावरो के साथ हो लिये। वनारस के महाजन आगे वढकर अफग़ान सेनापति से मिले और वहुत सा रुपया देकर उसे वनारस आने से रोका।

रुहेलो के भयकर अत्याचारो के विवरण हमें कई तत्कालीन मराठी पत्रो से मिलते है। गोविन्द वल्लाल ने वावूराव के नाम अपने १५-५-१७५१ के पत्र में लिखा[३] कि रुहेलो के अत्याचार से प्रयाग और वनारस वीरान हो गये थे। तमाम हुडी पुर्जों का काम वन्द हो गया था और वहुत से महाजनो का दिवाला निकल गया था। इस समय उत्तर भारत में हुडियाँ भेजना भी वहुत मुश्किल हो गया था।

केशव नाम के किसी व्यक्ति ने वासुदेव दीक्षित के नाम अपने १३-२-१७५१ के पत्र में भी रुहेलो के अत्याचारो का विस्तृत वर्णन दिया है।[४] इस पत्र से पता लगता है कि जव वनारस में गडवडी फैली हुई थी उस समय नारायण दीक्षित के पुत्र वालकृष्ण दीक्षित अपने पिता का श्राद्ध करने गया गये थे। वहाँ एक पत्र से, उन्हें मालूम हुआ कि रुहेलो ने प्रयाग की नयी वस्ती ले ली थी वहुत सी औरतो को कैद कर लिया था और उनके सरदार अहमद का इरादा वनारस आने का था। इतना सुनना था कि वनारस में दहशत फैल गयी। दो दिनो तक शहर में रोशनी तक नही हुई और दस दिन तक किसी के होश तक ठिकाने नही थे। वनारस से पटना तक का गाडी भाडा अस्सी रुपये हो गया। कही भी मजदूर नही मिलते थे और सव लोग मिर्जापुर, आजमगढ अथवा गगा पार भाग गये थे। इस गडवडी का हाल सुनकर अहमद वगश ने वनारस के सात महाजनो के नाम समाचार भेजकर उन्हें इस वात का ढाढस दिया कि उसका शहर लूटने का कोई इरादा नही था और इस वात की भी इच्छा प्रकट की कि लोग वनारस से न भागें। वगश के पास से परवाना मिलने पर वनारस के कोतवाल ने पाँच साहूकारो को गगापुर भेजा। वहाँ से सव मामला तय कर, उनके लौटने पर लोगो का ढाढस वँधा और वे पुन शहर में लौटने लगे।

---

[१] पेशवा दफ्तर, ४०, ४२

[२] सरकार, फॉल ऑफ दि मुगल एपायर, भाग १, पृ० ४०० से

[३] राजवाडे, मराठ्याच्या इतिहासाची साधनें, भाग ३, १६६-६७

[४] वही, पृ० ३४६ से

लेकिन इन सब गडबडियो में भी बलवन्त सिंह अपनी चाल चलते ही रहे। उन्हें पता लगा कि अहमद बगश ने उनके ही एक सूबेदार साहिब जुम्मा खाँ को बनारस से अवध के दक्षिण तक का सूबेदार नियुक्त किया था। बलवन्त सिंह ने पहले तो अपनी मिलकियत बचाने के लिये जुम्मा खाँ से सुलह करनी चाही पर जब उन्होंने न माना तब बलवन्त सिंह ने अपना रुख बदल दिया। पता चलता है कि बलवन्त सिंह अहमद बगश से मिलने प्रयाग पहुँचे और वहाँ कुछ नजर हाजिर किया। बगश ने उन्हें सरोपाव देकर बनारस की कोतवाली छोड कर सारा जिला उनको सुपुर्द कर दिया। बालकृष्ण दीक्षित के एक ७-५-१७५१ के पत्र[1] से पता चलता है कि अहमद बगश को महाजनो से सात लाख दिलवाकर बलवन्त सिंह ने बनारस की लूट रुकवायी।

१७५१ में सफदर जग ने पुन इलाहाबाद पर कब्जा कर लिया। इस खबर को सुनते ही बलवन्त सिंह ने जुम्मा खाँ को सफ़दर जग पर आक्रमण करने की सलाह दी पर जुम्मा खाँ के अफग़ान सिपाहियो ने इसे नही माना। बाद में अपनी कूटनीति से बलवन्त सिंह ने सिपाहियो में तनख्वाह के मामले पर फूट डाल दी और मौका पाकर जुम्मा खाँ को जौनपुर में घर द्वार लूट कर उनके परिवार को निकाल बाहर किया।

इधर नवाब सफदर जग ने अपना खोया हुआ प्रभाव पुन जमाकर अपने दुष्ट जागीरदारो को सजा देने की ठानी। १७५४ में प्रतापगढ के राजा पृथ्वीपति ने बलवन्त सिंह के साथ मिलकर नवाब के सजावलो को निकाल बाहर किया था। सुल्तानपुर में जब वे नवाब से बात कर रहे थे मरवा डाला गया। इसके बाद सफ़दर जग बलवन्त सिंह को भी खत्म करने की गरज से बनारस की ओर बढे पर वहाँ उनकी राजा से भेंट नही हुई। राजा बलवन्त सिंह पृथ्वीपति की मौत का हाल सुनकर अपने परिवार के साथ गगा के दक्षिण के तरफ पहाडो में भागे। इस पर नवाब ने उनका मकान लूट कर किला जमीनदोज करवा दिया।

जान पडता है इस विपत्ति से त्राण पाने के लिए बलवन्त सिंह मराठो से भी लिखा पढी कर रहे थे। वासुदेव दीक्षित के एक पत्र से इस बात का साफ पता चलता है।[2] यह पत्र बलवन्त सिंह के १५वें राज्यवर्ष में यानी १७५४ ईस्वी में लिखा गया था। तब तक बलवन्त सिंह बनारस छोड कर भागे नही थे। यह पत्र रघुनाथ दादा को लिखा गया था और उसके मुख्याश ये हैं, "राजश्री राजा बलिवड सिंह ने १५ वर्ष तक श्री क्षेत्र का जिस तरह पालन किया वैसा किसी ने नही किया। यह स्थल वजीर ने आपके साथ बन्दोबस्त कर दिया है, ऐसा मैंने राजा को लिखा। मैंने पचीसो पत्र दिखलाये पर उन्होंने इस बात पर अमल नही किया। इसमें उनका दोष नही है। लिखने पर भी काम न करने का कारण लडाई फसाद है और इसी लिए उन्होंने ध्यान नही दिया। पर उन्होंने कहा कि युक्ति से सब काम हो सकते हैं। इसके लिए उन्हें उतावली भी है। जो कुछ हो चुका है उसके लिए वह क्षमा-प्रार्थी है। इस स्थल की

---

[1] वही, पृ० ३५४

[2] पेशवा दफ्तर, २७, २०९

रक्षा करने में आपका ही यश है। वजीर ने इस प्रान्त में आकर प्रयाग में घर घर चौकी वैठा कर लूट आरभ कर दी है। इस स्थल पर भी उसका दाँत लगा है। जिस राजा ने आज पर्यन्त इस स्थल की रक्षा की, उसकी चिन्ता का यही कारण है। उसके लिए क्या उपाय करना चाहिए? सब लोग भयभीत हैं। लोग गगा की प्रार्थना करते हैं। इसके सिवा दूसरा उपाय नही है कि आप जल्दी से यहाँ चले आवें, अगर ऐसा नही कर सकते तो पत्र देखते ही एक सरदार के अधीन दस पन्द्रह हजार सवार ही भेज दीजिए। इनके नजदीक आने पर पाँच सात हजार सवार लेकर राजा आपसे मिल जायेंगे। आप दोनो की भेंट होने पर आपकी आज्ञा का पालन होगा। पर आप इस स्थल की रक्षा अवश्य करें। राजा की भी रक्षा करें। अगर उपद्रव हुआ तो बनारसवासी लडके-वाले लेकर गगा में डूब मरेंगे, दूसरा कोई उपाय नही है। राजा के बारे में आपसे कुछ लोगो ने बहुत कुछ बुरा भला कहा होगा, उसे आप अपने चित्त में न लावें, वह अनन्य भाव से आपके चरण सेवक हैं।" पर पत्र का कोई नतीजा नही निकला। रघुनाथ बाजीराव ने १७ मार्च १७५४ के एक पत्र में[1] बाबूराव महादेव को बलवन्त सिह की पैरवी करने का आदेश दिया और यह भी कहा कि राजा की अमलदारी अगर समाप्त हो जाय तो वे रघुनाथ राव के पास चले जावें।

ऊपर हम कह आये है कि सफदर जग के बनारस पहुँचने के पहले ही बलवन्त सिंह भाग गये थे। बाद में एक नौकर की मार्फत उन्होंने नवाब को एक लाख रुपया भेजा और माफी माँगकर मालगुजारी में दो लाख और बढा देने का वादा किया पर सफदर जग ने किसी तरह बलवन्त को बनारस बुलवाना चाहा और इसके लिए नूरुल् हुसैन नाम के एक कारिन्दे को भी भेजा, पर बलवन्त सिह जानते थे कि बनारस जाने का नतीजा क्या होगा। उन्होंने नूरुल् हुसैन से कहा, 'परमेश्वर के यहाँ जाकर कोई नही लौटता।' जब सफदर जग ने देखा कि बलवन्त सिह किसी तरह क़ब्जे में नही आते और नवाब को अवध लौट जाना आवश्यक था, तब वे राजा की मालगुजारी में दो लाख का इजाफ़ा करके अवध चले गये।

नवाब के जाने के बाद बलवन्त सिंह ने बनारस आकर रामनगर का क़िला बनवाया और विजयगढ़, अगोरी और लतीफ़पुर के किलो पर कब्जा कर लिया। विजयगढ का किला बलवन्त सिह ने राजा विजयगढ को तग करके पचास हज़ार पर खरीदा, पर क़िला दखल हो जाने के बाद राजा को एक कौडी भी न मिली। चुनार से ढाई कोस पर पतीता के किले का मालिक एक मुसलमान था, उसके बीमार पडने पर एक महीने तक किला घेर कर बलवन्त सिंह ने उसे दखल कर लिया। लतीफपुर का किला भी जो रामनगर से विजयगढ के रास्ते में है, एक मुसलमान का था। उसके मरने के बाद बलवन्त सिंह ने उस पर सहसा धावा बोल दिया और उसे दखल कर लिया, अगोरी-बडहर का किला उन्होंने चन्देल राजपूतो से जीत लिया।

शाहाबाद का कैरा-मगरार परगना दायम खाँ, जो गहरवार हिन्दू से मुसलमान हो गया था, के अधिकार में था। राजा बलवन्त सिंह के भाई दासाराम ने बलवन्त सिंह के

[1] मराठाच्या इतिहासाची साधनें, भाग १, पृ० ६८

भय से इसका आश्रय ग्रहण किया था। वलवन्त सिंह ने उस पर चढ़ाई की। यह हाल सुनकर द्वासाराम ने धोखे से किला वलवन्त सिंह को फतह करा दिया। लेकिन दायम खाँ ने पुन किला वापस लेकर दासाराम को कैद कर दिया। महाराष्ट्र सिपाहियो की मदद से वलवन्त सिंह ने अपने भाई को छुडा तो लिया पर वह दायम खाँ को गिरफ्तार न कर सका। वाद में वलवन्त सिंह ने विहार के सूवे के नायव से सात हजार मालगुजारी पर उस परगने का ठीका ले लिया। अवसर पाकर अस्सी हज़ार नजराना देकर उसने आलमगीर द्वितीय से यह परगना माफी करवा लिया।

१७५५ ईस्वी में तो वलवन्त सिंह ने जौनपुर की सभी छोटी वडी ज़मीदारियो को दखल कर लिया। सफदर जग० का १७५४ में देहान्त हो गया था और उनकी जगह शुजाउद्दौला अवध के नवाव हुए। शुजाउद्दौला और वलवन्त सिंह के वीच भी अनवन ही रही। १७५७ में राजा वलवन्त सिंह ने चुनार के किले के वादशाही फौजदार को एक लाख रुपया देकर किला हस्तगत कर लेना चाहा, पर नवाव को इसकी खवर लग गयी और वे फौरन लेकर के साथ वनारस पर चढ आये। राजा वलवन्त सिंह ने जैसे ही उनकी अवाई का समाचार सुना, वे अपने परिवार के साथ लतीफपुर के किले में भागे। वालाजी वाजीराव के नाम ३-३-१७५७ के एक पत्र में तुवाजी अनन्त लिखते है कि ब्रह्मावर्त में उनके और वालाजी की माता के काफी दिनो तक ठहरने का कारण यह था कि वनारस पर शुजाउद्दौला का धावा हुआ। पत्र का मज़मून है—"काशी के राजा वलवन्त सिंह ने चुनार का किला ले लिया इसीलिए अयोध्या का सूवेदार दस पन्द्रह हजार सैनिको के साथ उस पर चढ़ाई वोल कर काशी आ पहुँचा। वलवन्त सिंह पहाड में भाग गया और उसके सरदार भी वनारस छोड कर भाग गये और वहाँ धूम मच गयी।"[1] वनारस से वालकृष्ण दीक्षित ने भी चैत्र वदी, शुक्रवार, शक सवत् १६७८ के वासुदेव दीक्षित के नाम एक पत्र[2] में इसी घटना की ओर सकेत किया है—"अयोध्या वाले और यहाँ के अधिकारी में झगडा हो गया है इसीलिए आज पचीस दिन से अयोध्या वाला चुनार आकर वैठा है। यहाँ का अधिकारी गगा पार पहाडो में है। अभी तक सुलह नही हुई है। रैयत दोनो सेनाओ से लुट गयी है।"

वलवन्त सिंह के भाग जाने पर शुजाउद्दौला ने गाजीपुर के मालगुज़ार फज़ल अली को उन्हें मार डालने का हुक्म दिया और इनाम में वलवन्त सिंह की ज़मीदारी का उनके साथ वन्दोवस्त कर देने का वादा किया। फज़ल अली ने इस काम के लिए दस हजार सवारो की मदद और मालगुज़ारी में दस लाख की माफी चाही। इधर वलवन्त सिंह ने यह खवर सुनते ही मराठो से मदद मागी और नवाव के पास पाँच लाख रुपये नजर भेजकर और मालगुज़ारी में पाँच लाख इज़ाफा की रज़ामन्दी लेकर उनसे माफी चाही। नवाव के अमलो को भी घूस देकर उन्होने अपनी ओर कर लिया और उन सव ने एक स्वर से राजा को माफ कर देने की नवाव को सलाह दी। इस पर राजा की शर्तों को मानकर

[1] पेशवा दफ्तर, ४०, ४०

[2] वामन वालकृष्ण दीक्षित, नारायण दीक्षित पाटणकर, पृ० ९८–९९, ववई १९२५

शुजाउद्दौला ने उनसे सुलह कर ली और पाँच लाख रुपया अधिक मालगुज़ारी की सनद देकर वे अवध वापस चले गये। उस सनद के अनुसार भदोही के परगने का आधा ख़ज़ाना राजा का जागीर हो गया।[1]

गाजीपुर के मालगुजार सफदर जंग के दोस्त थे और इसीलिए वे दस्तूर के मुताबिक़ लखनऊ मालगुज़ारी भेजने में गफलत करते थे। शुजाउद्दौला ने उनकी हरकत से नाराज़ होकर उनकी जगह मुहम्मद अली खाँ को नियुक्त कर दिया, लेकिन जब उनसे भी ज़मींदारी का प्रबन्ध ठीक तरह से न हो सका तो फज़ल अली को पुन उनकी पुरानी जगह पर बैठा दिया। फिर भी नवाब की इस दया का फज़ल अली पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। पुन नियुक्ति के बाद आजमगढ़ के राजा के इलाकों का भी बन्दोबस्त उनके सुपुर्द कर दिया गया परन्तु उन्होंने फिर उत्पात शुरू कर दिये। इससे क्रुद्ध होकर नवाब ने उनको निकाल बाहर करने के लिए बेनीबहादुर के अधीन सेना भेजी और बलवन्त सिंह को बेनीबहादुर की मदद का हुक्म दिया। फ़ज़ल अली लड़ाई में हार गये।

राजा बलवन्त सिंह को इस मदद के लिए बेनीबहादुर की सिफारिश से नवाब ने १७६१ ईस्वी में आठ लाख सालाना मालगुज़ारी पर गाजीपुर जिले के बाईस परगनों का बन्दोबस्त कर दिया। यहाँ भी बलवन्त सिंह ने खूब लूट मचाई और फ़रासीसी अफसर वाल्टर रेमाँ, जो बाद में समरू नाम से मशहूर हुआ, की मदद से उसने बलिया के राजा भोजदेव के इलाके छीन लिये और बाद में उज्जैन के सरदार दुर्विजय सिंह का सिरिंगा का किला और तमाम इलाके दखल कर लिये। सिरिंगा का किला चौसा से दो कोस दक्षिण में था और इसके चारो ओर खाइयाँ थी।

लेकिन बलवन्त सिंह को लक्ष्मणेश्वर परगने के ज़मींदार सेनगढ़ी राजपूतों से मात खानी पड़ी। इन राजपूतों ने बलवन्त सिंह का खज़ाना लूट कर उनके आदमियों को निकाल बाहर किया। बलवन्त सिंह खुद बदला लेने के लिए आगे बढ़े पर लड़ाई में राजपूत परास्त न हो सके और झख मार कर बलवन्त सिंह को लक्ष्मणेश्वर का परगना उन्ही लोगों के हाथ बन्दोबस्त कर देना पड़ा। पर बलवन्त सिंह चैन से बैठने वाले जीव नही थे, मौक़ा मिलते ही उन्होंने मिर्जापुर में कन्तित के राजा की सब ज़मींदारी दखल कर ली और उन्हें निकाल बाहर किया।[2]

१७६१ के जनवरी मास में पानीपत की लड़ाई हुई, जिसमें शुजाउद्दौला अब्दाली के साथ थे। उस युद्ध में मराठों की हार हुई। जान पड़ता है उस समय बनारस के महाराष्ट्र ब्राह्मणों में काफ़ी खलबली पड़ गयी और बहुतों को तो शुजाउद्दौला के डर से शहर छोड़ कर भागना पड़ा। पानीपत की लड़ाई के कुछ ही दिनों बाद बालकृष्ण दीक्षित ने गोविन्द दीक्षित पाटणकर के नाम २७-१-१७६१ के एक पत्र में इस खलबली का ज़िक्र

---

[1] भारतवर्षीय राजदर्पण, पृ० ११–१२

[2] वही, पृ० १३

किया है।[१] पत्र के आरभ में पानीपत की लडाई का जिक्र है और मराठो की हार का, फिर यह वर्णन आता है कि इस समाचार का बनारस में क्या असर पडा। इस खबर के लखनऊ पहुँचने पर वहाँ खुशियाँ मनायी गयी। लखनऊ के अधिकारियो ने बनारस के अधिकारी को लिखा कि सब बागी मारे गये और कुछ भाग गये। ऐसी खबर पचमी आदित्यवार को रात छह घडी जाने पर मिली। उसके बाद सोमवार को छह घडी रात बीतने पर दीक्षित जी को खबर मुख्य (काशिराज) ने समाचार दिया कि रात्रि की दिल्ली की खबर ठीक थी और उन्हें सावधान रहने को कहा। बेचारे बालकृष्ण दीक्षित सपरिवार रामनगर भागे। इस पत्र से यह भी पता लगता है कि काशी के ब्राह्मण भी लडाई के समय पानीपत में थे। अब्दाली ने उन्हें क़ैद कर लिया था पर शुजाउद्दौला ने उन्हें छुडवाया। काशी के पडित वहाँ क्या कर रहे थे, यह तो ठीक ठीक नही मालूम पडता पर जीत के लिए पुरश्चरण कर रहे होगे ऐसा माना जा सकता है। धार्मिक अन्धविश्वासो के कारण मराठो को काफी नुकसान उठाना पडा, इसमें कोई सन्देह नही।

शाह आलम की, जो अग्रेजो से बिहार में हार गये थे, मदद करने के लिए १७६१ के मई में शुजाउद्दौला पुन बनारस आये। इस बार भी बलवन्त सिंह ने उनसे मुलाकात नही की केवल नजर के सवा लाख रुपये भेज दिये। शुजाउद्दौला ने आगे बढ कर सराय सैयद राजा में शाह आलम से १९ जून को भेंट की।[२]

१७६४ के आरभ में शाह आलम को पुन बिहार पर चढाई करने का मौका मिला। १७६३ के दिसम्बर महीने में नवाब कासिम अली खाँ को अग्रेजो ने बिहार से हरा कर निकाल बाहर किया। इन्होने शाह आलम से फरवरी १७६४ में इलाहाबाद में मुलाकात की और उन्हें और उनके वज़ीर को क्रमश दस और सत्रह लाख देकर अपनी मदद पर राजी कर लिया। जब बिहार की तरफ शाह आलम और शुजाउद्दौला की फौजें कम्पनी की फौजो से लडने के लिए बढ रही थी, उसी समय बलवन्त सिंह ने नवाब के पास हाजिर होकर उन्हें नजराना देकर मुलाक़ात हासिल की पर साथ ही इस बात की छिपे छिपे पूरी कोशिश की कि जहाँ तक हो सके नवाब का बनारस शहर में रहना न हो सके। यहाँ तक कि नवाब की फौज को तग करने के लिए उन्होने शहर के तमाम चोरो और बदमाशो को लगा दिया और इन बदमाशो ने डेरो में चोरियाँ और दूसरे उत्पात मचाने आरम्भ कर दिये। लाचार होकर शुजाउद्दौला को बनारस से जल्दी कूच करना पडा फिर भी लश्कर का पीछा करके बदमाशो ने उसे बहुत दिक किया।[३]

जब लडाई की इस तरह तैयारियाँ हो रही थी उसी समय ६ मार्च १७६४ को मेजर कारनाक सोन नदी पर हरिहरगज में अग्रेजी सेना के अफसर नियुक्त हुए। ब्रिटिश सेना का हौसला बढ़ा हुआ था पर उनके लिए रसद पहुचने का सवाल था क्योकि बलवन्त सिंह

---

[१] बा० बा० दीक्षित, उल्लिखित, पृ० ९९

[२] सरकार, फॉल ऑफ दि मुगल एपायर, भाग २, पृ० ५४३

[३] भारतवर्षीय राजदर्पण, पृ० १३

ने भोजपुर और करमनासा के उस पार के प्रदेश की सफाई करके गाजीपुर को भी वरवाद कर दिया था।[१] सेना की रसद का पटना से प्रवन्ध करके अग्रेज १२ मार्च को हरिहरगज से वक्सर की ओर रवाना होकर १७ मार्च को वहाँ पहुँच गये। वहाँ पहुँचने पर उन्हें खवर मिली कि वादशाही फौज वनारस में गगा पर पुल वना कर उतर रही थी। अग्रेजी फौजो को जव यह खवर मिली कि पुल टूट गया है तो उन्होंने वादशाही फौज पर फ़ौरन् धावा वोल देने की ठानी, क्योंकि पुल टूटने से आधी वादशाही फ़ौज तो गगा पार कर चुकी थी और आधी वनारस में ही रह गयी थी। लेकिन कार्नाक ने ऐसा करने की आज्ञा नही दी और मीर जाफर भी करमनासा पार करने के इसलिए विरुद्ध थे, क्योंकि उस समय वे वलवन्त सिंह से प्राय सुलह की शर्तें तय कर चुके थे और उनके अनुसार उन पर कार्नाक के केवल दस्तखत और मुहर भर वाकी थे। वाद में यह पता चला कि अग्रेजो और मीर जाफर को फँसा रखने के लिए यह वलवन्त सिंह की चाल थी।[२]

इस लडाई में दो हजार सवारो और पाँच हजार सिपाहियो के साथ वलवन्त सिंह नवाव अवध की मदद पर थे। लेकिन वलवन्त सिंह की चालो से शुजाउद्दौला पहले से ही परिचित थे और इसीलिए उन्होंने लडाई के समय वलवन्त सिंह को गगा के दक्षिण गाजीपुर के महमदावाद परगने में फ़ौज लेकर हाजिर रहने का हुक्म दिया।[३] पर विहार के नायव दीवान राजा ख्याली राम का राजा शितावराय के नाम एक पत्र से पता लगता है कि वलवन्त सिंह वीमारी का वहाना करके युद्ध में शामिल नहीं हुए। वे केवल अपने कारवारी नूरुल् हसन के मार्फत चुपके चुपके उनकी जीत के वाद वनारस, आजमगढ, गाजीपुर और कुडा का वन्दोवस्त अपने नाम करा लेना चाहते थे।[४]

काउन्सिल की आज्ञा मिलने के वाद भी कार्नाक ने लडाई नहीं आरम्भ की और खुद पटना चले गये। मई में शुजाउद्दौला को अग्रेजी फौज ने मात भी दी पर भागती फौज का पीछा नहीं किया गया। जून १७६४ में कार्नाक वापस वुला लिये गये और उनकी जगह मेजर हेक्टर मुनरो की नियुक्ति हुई और १३ अगस्त को उन्होंने अपनी कमान सभाल ली। अक्टूवर में मुनरो एक हलकी फौज के साथ करमनासा की तरफ वढे।

इधर शुजाउद्दौला के पडाव में गडवडी पड गयी। शाह आलम इस लडाई झगडे से तग आकर अग्रेजो के साथ सुलह के पक्ष में थे। नवाव मीर क़ासिम की तो और दुर्गत थी। शुजाउद्दौला ने उन पर धोखेवाजी का अभियोग लगा कर उन्हें क़ैद करके उनके जवाहरात जव्त कर लिये। २२ अक्टूवर को यानी वक्सर की लडाई के एक दिन पहले उन्हें कैद से छोडा गया और वे फौरन रुहेलखण्ड की ओर भागे। वहुत तक़लीफें

---

१ आर्थर ब्रूक, हिस्ट्री ऑफ दि राइज ऑफ दि वेगाल आर्मी, भाग १, पृ० ४२८, लडन १८५०

२ आर्थर ब्रूक, वही, भाग १, पृ० ४८४

३ भारतवर्षीय राजदर्पण, पृ० १३-१४

४ केलेंडर ऑफ पर्शियन कोरेसपोडेंस, भाग १, २४५९

उठाने के बाद वे नवाव नजीबुद्दौला के पेंशनयाफ्ता हो गये। फिर बडी ग़रीवी की हालत में, ६ जून १७७७ को उनकी दिल्ली में मृत्यु हो गयी।

२४ अक्टूवर १७६४ को वक्सर की लडाई हुई जिसमें शुजाउद्दौला की हार हुई। २५ तारीख को मेजर फ्लेचर को, शुजाउद्दौला की भागती फौज पर, जो गाजीपुर से गगा पार कर रही थी, आक्रमण करने का हुक्म मिला। लेकिन फ्लेचर के आगे वढने के पहले ही यह खवर मिली कि शुजाउद्दौला की फौज गगा पार कर गयी थी। २७ अक्टूवर को पूरी अग्रेजी सेना वनारस की ओर चल पडी। २९ अक्टूवर को हुक्म जारी हुआ कि सिपाही अपनी लाइन के वाहर न जायें। लुटेरो को कडे दड का आदेश भी दिया गया।[1] ३० तारीख को हुक्म जारी हुआ कि लुटेरो को मृत्युदड दिया जायगा। पर इन सव हुक्मो के होते हुए भी कुछ लूट हुई और उसके लिये एक नान-कमिशन अफसर फाँसी पर भी लटका दिया गया। ५ नवम्वर को अग्रेजी सेना गोमती पर पुल डाल कर उतर गयी और ८ नवम्वर को उसने वनारस शहर के पास पडाव डाल दिया। मेजर मुनरो ने हुक्म जारी किया कि सेना का कोई भी आदमी शहर के न तो अन्दर जाय न पडाव की सीमा के वाहर ही निकले। इस आज्ञा को न मानने वालो के लिये कठिन दण्ड का आदेश था और लुटेरो को तो फौरन फाँसी पर लटका देने की आज्ञा थी। दूसरे दिन वनारस के प्रधान नागरिको और महाजनो से, शहर की रक्षा के लिये चार लाख रुपये जो अग्रेजो की समझ में अविक नही थे, वसूले गये। जान पडता है यह रुपया महाजनो ने केवल अपनी टेंट से नही अदा किया, वनारस के नागरिको से वह वसूला गया। घोडो खडेराव के ३-१-१७६६ के पत्र से पता लगता है[2] कि उस समय व्राह्मणो तक से जवर्दस्ती रुपया वसूला गया। शहर की रक्षा के लिये अग्रेजी फौज की एक कम्पनी भी शहर में तैनात कर दी गयी, जिसका पहरा हर अडतालीस घटे में वदला जाता था।

शाह आलम अग्रेजो से सधि के लिए उत्सुक थे और वे अग्रेजी सेना के पीछे पीछे वनारस आ पहुँचे। कलकत्ते से हुक्म मिलने पर मुनरो ने १९ नवम्वर को उनसे भेंट की।

वनारस से मेजर मुनरो ने मेजर पेंवल की कमान में एक दस्ता चुनार भेजा, लेकिन क़िलेदार मुहम्मद वशीर खाँ ने उसका वहादुरी से मुकावला किया। कुछ अग्रेजी सेना नदी के रास्ते चुनार के पास नदी के दाहिने किनारे पर उतर गयी और ३ दिसम्वर को वहाँ कुछ सिपाही भी उनसे आ मिले। ५ दिसम्वर को मेजर मुनरो मुख्य सेना के साथ नदी के किनारे किनारे चलते हुए चुनार के किले के ठीक सामने आ पहुँचे पर दो धावो के वाद भी किले के रक्षको ने उन्हें पीछे ढकेल दिया।[3]

इसी समय मेजर मुनरो को खवर मिली कि दुश्मन की फौज इकट्ठी हो रही है। यह सुनते ही उन्होंने नदी के उस पार से अपने अधिकतर सिपाही वापस वुला लिये।

---

[1] आर्थर व्रुक, उल्लिखित, भाग १, पृ० ४८४–८५

[2] पेशवा दफ्तर, २९, ११०

[3] आर्थर व्रुक, उल्लिखित, भाग १, पृ० ४८८

इस डर से कि कहीं शत्रु घूम कर बनारस पर धावा न कर दे मेजर मुनरो ने अपना डेरा उठा दिया और ७ दिसम्बर को बनारस वापस चले आये और वहाँ शहर पनाह के बाहर अंग्रेजी फौज ने अपनी नयी जगहें सँभाल लीं। शहर पर धावा होने पर लडाई की तरतीब फौज को समझा दी गयी और सिपाहियों के कुछ दस्तों ने जिनके बीच बीच में तोपखाने थे अपनी उन जगहों पर पडाव डाल दिये, जहाँ लडाई के समय उनके स्थान निश्चित थे। १० दिसम्बर को मुनरो ने अपना पडाव एक सुविधा की जगह में बदल दिया। एक सबाल्टर्न के अधीन सिपाहियों की पाँच कम्पनियाँ एक ऊँची जगह पर रख दी गयीं, और सिपाहियों की एक कम्पनी अगली लाइन से कुछ दूर एक क़िलेबन्दी किये हुए घर में रख दी गयी। सिपाहियों की कुछ टुकडियाँ आस पास महत्त्वपूर्ण स्थानों में फैला दी गयीं। पडाव के चारों ओर खूटों का बाडा डाल दिया गया और उनमें दोहरे सन्तरियों का पहरा लगा दिया गया। कैप्टन डॉड की बटालियन का पहरा शाह आलम के डेरे पर लगा दिया गया। इस तरह अंग्रेजों ने बनारस की लडाई की पूरी तैयारी कर ली।[1]

चारों तरफ अफवाहें उड रही थीं कि शुजाउद्दौला का हमला होने ही वाला था। उधर कलकत्ते की काउन्सिल शुजाउद्दौला के साथ बाइज्जत समझौता चाहती थी। शुजा की भी इच्छा सुलह कर लेने की थी इसीलिए मुनरो के बनारस वापिस आते ही शुजा ने अपने दीवान बेनी बहादुर को मुनरो के पास सुलह के लिये भेजा। मुनरो ने बेनी बहादुर के सामने पहली शर्त यह रखी कि सुलह की बात आरम्भ होने के पहले शुजाउद्दौला मीर कासिम और समरू को अंग्रेजों के सुपुर्द कर दें। पर शुजाउद्दौला ने इस शर्त को नहीं माना, गो कि वे लडाई के खर्च के २५ लाख अंग्रेजों को, २५ लाख अंग्रेजी सेना में बाँटने को और यदि मुनरो किसी प्रकार सुलह करा सकते तो उन्हें भी ८ लाख भेंट करने पर राजी थे।[2] लेकिन मुनरो अपनी पहली माग से नहीं टिगे। इसी बीच में जब गरीब मीर क़ासिम ने यह खबर सुनी तो वह फौरन इलाहाबाद के आगे भागे। समरू के बारे में शुजाउद्दौला ने मुनरो को सूचना दिलवा दी कि वे समरू को एक दो अंग्रेज अफसरों के सामने मरवा डालने के लिये तैयार थे। पर इस प्रस्ताव को भी अंग्रेजों ने बडी घृणा के साथ ठुकरा दिया।

इस तरह सुलह की सब आशाएँ समाप्त हो जाने पर शुजाउद्दौला लडाई की तैयारी करने लगे और उन्होंने इस सम्बन्ध में रोहिल्लों और मल्हार राव से कुछ शर्तें तय करलीं। इस तरह नयी फौज और नये मित्रों के सहारे वे आगे बढे और बनारस के पास आ पहुँचे।

इसी बीच मुनरो छुट्टी पर चले गये और ७ जनवरी १७६५ को उनकी कमान सर रॉबर्ट फ्लेचर ने सँभाल ली। कलकत्ता में मुनरो की कारनाक से, जो अब जेनरल हो गये थे, मुलाक़ात हुई और मुनरो ने उनसे भावी लडाई के बारे में अपना इरादा बता दिया।

---

[1] आर्थर ब्रूक, वही, पृ० ४९१

[2] वही, पृ० ४९२

जैसा हम कह आये है फ्लेचर ने बनारस के फौज की कमान सँभाल ली और वे शुजाउद्दौला के हमले की प्रतीक्षा में कुछ दिनो तक रुके रहे, लेकिन शुजाउद्दौला हमला करने के बजाय अग्रेजी पडाव पर छोटे मोटे छापे मारते रहे। पटने से कुछ नयी फौज आ जाने पर फ्लेचर ने १४ जनवरी को अपनी फौज को कूच की आज्ञा दी। फ्लेचर का इरादा एकाएक धावा बोल देने का था लेकिन उसे यह इरादा छोड देना पडा और सारी रात चलती हुई फौज ने सवेरे शिवपुर में डेरा डाल दिया। यहाँ फिर शुजाउद्दौला के कामार दस्तो ने अग्रेजी सेना को सताना शुरू किया। अब सर रॉबर्ट फ्लेचर ने शत्रु का पीछा करने का इरादा पक्का कर लिया। शिवपुर में फ्लेचर ने रसद के लिए एक बडी बाजार लगवा दी पर कोतवालो को इस बात का सख्त हुक्म दे दिया कि सिवाय पडाव वालो और सिपाहियो को छोडकर गल्ला किसी के हाथ बेंचा न जाय। १८ जनवरी को फ्लेचर की सेना शुजाउद्दौला के पडाव में जा धमकी और थोडी देर की गोलदाजी के बाद ही शुजाउद्दौला को हार खानी पडी। कुछ ही दिनो बाद चुनार का किला भी अग्रेजो के हाथ लग गया। शुजा के साथ अग्रेजो की यह अन्तिम लडाई थी।

युद्ध समाप्त हो जाने के बाद स्पेंसर का तीन फ़रीको—शाहआलम, शुजाउद्दौला, और बलवन्त सिंह से साबिका पडा। स्पेंसर शुजाउद्दौला से बहुत नाराज थे। और उन्होंने उनसे बनारस और उसके अधिकार में और जिलो को ले लेने का पक्का इरादा कर लिया था लेकिन साथ ही साथ शुजाउद्दौला के साथ को हुई शर्तों के अनुसार बनारस के इन्तजाम के लिए रख लेना मजूर कर लिया। लेकिन स्पेंसर के अपने इरादे को अमल में लाने के पहले ही लार्ड क्लाइव भारत आ पहुँचे और उन्होने इलाहाबाद के सधिपत्र पर १७ अगस्त को दस्तखत कर दिये। इस सबध में लार्ड क्लाइव की सवारी पहली अगस्त को बनारस पहुँची, और उन्होने बनारस के रीजेंट मेरियट के पास डेरा डाल दिया। यहाँ अग्रेजी अफसरो ने भी एक नये शर्तनामे पर दस्तखत किये तथा इलाहाबाद के सन्धि पत्र की शर्तों पर भी कुछ बहस मुबाहसा हुआ। सेलेक्ट कमिटी के आदेशानुसार क्लाइव ने शुजा को चुनार के किले के सिवा उनकी सब रियासत लौटा देने का निश्चय किया। शाह आलम को इलाहाबाद और कोडा दे देने का निश्चय किया गया। बलवन्त सिंह ने अग्रेजो की अधीनता स्वीकार कर ली, अत उन्हें अग्रेजो ने अपनी छत्रछाया में लेने का निश्चय किया और उन्हें नवाब वजीर की अधीनता में बनारस और गाजीपुर की जमींदारी पहले की ही शर्त पर रख लेने की आज्ञा मिली।[१] इलाहाबाद से नवाब वजीर के साथ क्लाइव २३ अगस्त को बनारस लौटे। उनके साथ कार्नाक भी थे। यहाँ ठहर कर उन्होंने अग्रेजी सेना का नये सिरे से सगठन किया।[२]

इलाहाबाद के सन्धिपत्र पर दस्तखत होने के पहले कुछ महीनो तक बनारस बलवन्त सिंह और कम्पनी के रेसिडेंट मेरियट के प्रबध में रहा और इस अवसर पर खूब अधाधुधी

[१] आर्थर ब्रुक, वही, भाग १, पृ० ५३०
[२] आर्थर ब्रुक, वही, भाग १, पृ० ५३३–३४

चलती रही। स्पेंसर से बनारस का पट्टा अपने नाम लिखवाने में वलवन्त सिंह ने कम्पनी के अफ़सरो को आठ लाख रुपये घूस के दिये थे। वलवन्त सिंह जाविर आदमी थे, मामला सुलझते देख कर उन्होंने वनारस के मुसलमानो की माफी ज़मीन पर कब्जा कर लिया। इस पर वहुत से लोगो ने खैरात देवस्व और मोशाहरे के लिए मिली हुई ज़मीनो के लिए राजा पर मेरियट के पास नालिश की और उन्होने नौ हजार एक सौ दो रुपये चौदह आना सालाना मिलकियत की जायदाद में तीन सौ तेइस हकदारो के नाम लिख कर उन्हें वलवन्त सिंह से उनका हक दिलवाया। जब तक मेरियट बनारस में रहे तब तक तो वे अपना हक पाते रहे पर उनके जाते ही उनमें से वहुतो का हक़ वलवन्त सिंह ने ज़ब्त कर लिया।[१]

१७६७ में क्लाइव के इगलैंड वापस चले जाने पर उनकी जगह जान कार्टियर गवर्नर जेनरल नियुक्त हुए। शुजाउद्दौला वलवन्त सिंह पर अत्यन्त क्रुद्ध थे, इसलिए जब नये गवर्नर जेनरल प्रधान सेनापति सर हेक्टर मुनरो के साथ वनारस आये तब शुजाउद्दौला ने उनसे मिलकर उन्हें वलवन्त सिंह को निकाल वाहर करवाने पर दस लाख रुपये देने का वादा किया। कार्टियर लालच में आकर इस वात पर राज़ी हो गये।

अपनी इस कामयावी पर प्रसन्न होकर शुजाउद्दौला ने अपने तोपखाने के सरदार को हुक्म दिया कि जब वलवत सिंह सलाम करने आवें तो वह उन्हें उनके आदमियो के सहित गिरफ्तार करके नवाव के सामने लावे। जब वलवत सिंह नवाव को सलाम करने आये तो उन्हें नवाव के आदमियो के वरताव से कुछ सदेह हुआ और उन्होने अपने आदमियो को सिखला दिया कि अगर नवाव के आदमी उन्हें गिरफ्तार करना चाहें तो वे झूठा गुलगपाडा खडा करके उन्हें पकड कर ले भागें। नवाव के खेमे के पास जब वलवत सिंह पहुँचे तो वहा एक चोवदार ने उनकी तलवार रखवा लेनी चाही। फौरन ही राजा के आदमियो ने निश्चित सकेत के अनुसार उन्हें घेर लिया और तुरत उन्हें पालकी में वैठाकर गवर्नर जेनरल के खेमे की ओर ले गये। अपने मनसूवे को इस तरह विगडते देखकर शुजाउद्दौला अपने आदमियो पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए और उन्हें सजा देकर फौरन एक हाथी पर सवार होकर गवर्नर जेनरल के खेमे की ओर दौडे लेकिन उनके पहले ही वलवन्त सिंह वहाँ पहुँच चुके थे। गवर्नर जेनरल के पैरो पर गिर उनसे उन्होने यह कहा कि उनकी कम्पनी सरकार के प्रति वफादारी के कारण नवाव वलवन्त सिंह से शत्रुता थी। उसी समय नवाव भी वहाँ पहुँच गये और उन्होने अपने रैयत वलवन्त सिंह को गवर्नर जेनरल से माँगा। लाट साहव वडी मुश्किल में पडे और उन्होने सर हेक्टर मुनरो से वलवन्त सिंह को हटा ले जाने को कहा। राजा वलवन्त सिंह ने अपने वचाव के लिए दस लाख कार्टियर को और एक लाख मुनरो को देने का वादा किया। इस पर कार्टियर ने नवाव को समझाया कि लार्ड क्लाइव की इलाहावाद वाली सन्धि को अन्यथा करना उनके वस की वात नही थी। इस तरह वलवन्त सिंह ने फिर एक वार

[१] भारतवर्षीय राजदर्पण, पृ० १४

विकट परिस्थिति से छुटकारा पाया। कार्टियर को तो वलवन्त सिंह ने यो ही टरकाया। लेकिन मुनरो के एक लाख रुपये वाद में सर आयर कूट ने चेतसिंह से वसूल किया।[१]

वृद्धावस्था में नाना प्रकार के दुर्व्यसनो के कारण वलवन्त सिंह का शरीर शिथिल हो गया। उन्होने अपनी ताक़त वढाने के लिए अनेक औषधियाँ खानी शुरू की पर इनका स्वास्थ्य वरावर गिरता ही गया। अन्त में तो दुर्बलता इतनी वढी कि वे अपना राजकाज देखने में असमर्थ हो गये। परगनो की रैयत विगडने लगी और जौनपुर में एक वडा वलवा शुरू हो गया। उस वलवे को दवाने के लिए वलवन्त सिंह अपनी फौज के साथ आगे वढे पर रास्ते में उनकी वीमारी वढी और रामनगर लौटते समय २१ अगस्त १७७० को वीच रास्ते में ही उनकी मृत्यु हो गयी।

वलवन्त सिंह में चरित्र की अनेक कमजोरियाँ दीख पडती है। वे किसी के वहुत दिनों तक वफ़ादार नहीं रहे और जव उन्होने वफादारी की भी तो अपने स्वार्थ साघन के लिए। लूटपाट और ज़वर्दस्ती में भी वे किसी के पीछे नही थे। पर जव हम उनकी इन चारित्रिक कमजोरियो की ओर ध्यान देते है तव हमें १८वी सदी की अराजकता को दृष्टि में रखना पडेगा। दग़ाफ़रेव न करने वाले की उस समय पूरी मौत थी। अगर वलवन्त सिह अपने को हर समय चौकन्ना न रखते तो सफ़दर जग और शुजाउद्दौला ने उन्हें कभी का साफ कर दिया होता। उन्होने "मार के टर रहे" वाली भोजपुरी कहावत का आदर्श वरावर अपने सामने रक्खा। जव वे विपत्तियो से अपने को घिरा पाते थे फौरन ही पहाडो में जा भागते थे और शत्रु के लाख सर पीटने पर भी वे तव तक नही लौटते थे जव तक विचारा शत्रु घवरा कर खुद ही उनकी वात न मान ले। मराठो से तो पहले उनकी कुछ अनवन थी पर वाद में मराठो ने भी यह वात पूरी तरह से समझ लिया कि त्रिस्थली अर्थात् वनारस, प्रयाग और गया दखल करने में अगर कोई उनकी मदद कर सकता था तो वलवन्त सिह। जैसा कि तत्कालीन पत्रो से पता लगता है वलवन्त सिह मराठो की मदद की वरावर लुके छिपे वात चलाते रहते थे, पर कभी ऐसा अवसर नही आया कि वे उनकी खुलकर सहायता कर सकते।

वलवन्त सिह के समय में भी वनारस की शासन व्यवस्था अच्छी नही थी और लोगो पर अनेक करो के वोझ लदे रहते थे। गुडो, वदमाशो और गगापुत्रो के उपद्रव भी वरावर चलते रहते थे, पर इतना सव होते हुए भी वलवन्त सिंह को काशी प्यारी थी। अहमद शाह वगश और वाद में अग्रेजो को रुपये दिलवा कर उन्होने काशी को लुटने और सत्यनाश होने से वचाया। अगर वलवन्त सिह अपनी वागडोर ढीली कर देते तो उस अराजकता के युग में काशी की वडी हानि होती।

वलवन्त सिह केवल राजनीतिज्ञ और सिपाही ही नही थे, वे अच्छे विद्याव्यसनी और कला-प्रेमी भी थे। खिडकी घाट और राम नगर का किला उनके कला प्रेम के प्रतीक है। वलवन्त सिंह स्वय ब्रजभाषा के कवि थे। उन्होने चित्रचद्रिका नाम का एक ग्रन्थ भी लिखा है। इनका उपनाम काशिराज था।

---

[१] भारतवर्षीय राजदर्पण, पृ० १५-१६

५. चेत सिंह

राजा वलवत सिंह को कोई पुत्र न था विवाहिता रानी गुलाव कुँवर से सिर्फ एक कन्या थी जो तिरहुत में सिरसा के जमीदार दुर्विजय सिंह से व्याही थी। वलवत सिंह ने दुर्विजय सिंह के नाम महाइच का परगना कर दिया था। दुर्विजय सिंह को महीपनारायण नाम का एक पुत्र भी था। वलवन्त सिंह की रखेलिन पन्ना से दो पुत्र थे जिनमें एक का नाम चेत सिंह और दूसरे का नाम सुजान सिंह था। लेकिन इन दोनो का वेश्या पुत्र होने के कारण राज्य पर कोई अधिकार नही था। राजा वलवन्त सिंह अपने भतीजे मनियार सिंह को वहुत मानते थे और उन्होने उन्हें अपने पास रामनगर में रखकर विद्याभ्यास करवाया था। अपने पीछे मनियार सिंह को ही गद्दी देने का उन्होंने विचार प्रकट किया था और उनके जीते जी भी वह उनकी अनुमति से राजकाज चलाते थे। ये तीनो ही अर्थात् मनियार सिंह, महीपनारायण और चेत सिंह अपने को वलवन्त सिंह का उत्तराधिकारी समझते थे, लेकिन क़ानूनन राज्य के अधिकारी मनियार सिंह थे और वे ही राजा की क्रियाकर्म करने के अधिकारी थे।

महीपनारायण के पिता दुर्विजय सिंह और चेत सिंह अपनी अपनी घात में लगे थे, पर मनियार सिंह को इसका पता था और वे निश्चित होकर अपने को राज्य का उत्तराधिकारी समझे वैठे थे। उन्हें इस वात की खवर तक नही थी कि औसान सिंह चेत सिंह से मिले हुए थे और उन्होने उन्हें गद्दी पर बैठाने के लिए नवाव वज़ीर को वाईस लाख रुपया गद्दीनशीनी के लिये और मालगुज़ारी में ढाई लाख इज़ाफा के स्वीकार कर लिये थे। उन्होने गवर्नर जेनरल वारेन हेस्टिंग्स को भी मिलाने के लिए कलकत्ता आदमी भेजे थे और प्रतापगढ के राजा की कन्या से चेत सिंह का विवाह भी ठीक कर लिया था। जिस समय मनियार सिंह वलवन्त सिंह की क्रिया के लिए मणिकर्णिका घाट गये हुए थे, उसी समय औसान सिंह ने रामनगर के किले पर अपना पहरा वैठाकर और फ़ौजी सरदारो को मिलाकर खज़ाना दखल कर लिया। चेतसिंह गद्दी पर वैठा दिये गये। तोपो की सलामी हुई और सव लोग उन्हें नज़र देने लगे। जव मणिकर्णिका घाट पर मनियार सिंह को यह खवर लगी तो वे अपनी जान वचाने के लिए नैपाल के एक गाव में भागे।

इस तरह से चेत सिंह गद्दी पर वैठे और औसान सिंह उनके दीवान नियुक्त हुए। अवध के नवाव वज़ीर यह समाचार सुनकर फैजावाद से वनारस रवाना हुए। चेतसिंह उनकी पेशवाई में जौनपुर पहुँचे तथा नवाव से मिलकर उनकी काफी खुशामद की। नवाव खुश होकर वनारस पहुँचे और वहा कुछ दिनो तक रहकर चेतसिंह के साथ रामनगर गये। वहाँ सवा लाख रुपया विछवाकर चेत सिंह ने नवाव की मसनद लगवायी और उनके आदमियो को भी कुछ देकर प्रसन्न किया। खुद नवाव के सामने पैंतालीस तरह की पोशाकें, दो किश्ती जवाहरात, पन्द्रह वहुत अच्छे घोडे, और पाच हाथी नजर में पेश किये। चेत सिंह ने खुशामद के मारे अपने तमाम इलाको और असवावो की फिहरिस्त हाथ जोड़कर नवाव के पैरो में रख दी। इस पर नवाव वहुत खुश हुए और अपने पुत्र आसफउद्दौला से राजा चेत सिंह की पगडी वदलवा कर दोनो में भाई-चारे का सवध स्थापित करवा दिया।

नवाब वज़ीर को मदद देने के संबंध में बातचीत करने के लिये वारेन हेस्टिंग्स ने १७७३ में बनारस में एक सम्मेलन किया। राजा चेत सिंह ने जैसे ही हेस्टिंग्स की अवाई का समाचार सुना उनकी पेशवाई के लिए सैदपुर पहुँचे। उसी समय नवाब वज़ीर भी लखनऊ से बनारस के लिये जौनपुर पहुँचे। उन्होने जब चेत सिंह की यह हरकत सुनी तो इसलिए बहुत नाराज़ हुए कि राजा ने वारेन हेस्टिंग्स की तुलना में उनकी अवहेलना की। जब नवाब के प्रधान सलाहकार एलिच खाँ ने यह हाल चाल देखा तो उन्होने फौरन ही अपने दोस्त चेत सिंह के पास साडनी सवार से खबर भेजी। खबर पाते ही चेत सिंह ने हेस्टिंग्स से रुखसत ली और घोडे भगाते हुए, शिवपुर आ पहुँचे। उसी समय नवाब की सवारी बनारस के लिए वहाँ पहुँची थी। फौरन घोडे से उतर कर चेत सिंह नज़र के लिये एक तोडा अशर्फ़ी लेकर नवाब वज़ीर के हाथी के पास दौडे गये। पर नवाब ने मारे ग़ुस्से के उनकी तरफ निगाह भी नही उठायी और चेत सिंह बहुत दूर तक हाथ में तोडा लिये हाथी के साथ साथ दौडते रहे। अत में एलिच खाँ के कहने पर नवाब ने हाथी रुकवा कर उनकी नजर क़बूल की।

बनारस के सम्मेलन में बहुत सी बातें तय हुई। ५० लाख पर कोडा और इलाहाबाद नवाब वज़ीर के सुपुर्द हुए और चेत सिंह को गाजीपुर की जमींदारी की सनद उन्ही शर्तों पर, जो उनके पिता बलवन्त सिंह के लिए थी, दी गयी। वारेन हेस्टिंग्स ने चेत सिंह से बगाल से मिर्जापुर जाने वाली वस्तुओ पर समान भाव से चुगी की निर्ख तय की। इस सबध में कपनी के गोदाम से बिकने वाले अलपाका (ब्रॉडक्लाथ) तावा और सीसा पर किसी तरह की चुगी न लेने का भी निश्चय हुआ।[१]

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, नवाब वज़ीर का क्रोध शात करने के लिए चेत सिंह ने कोशिश की और इसमें एलिच खाँ ने उनकी मदद भी की पर नवाब का क्रोध कम न हुआ और वे चेतसिंह को हटाने की ब्योत बाँधने लगे। सितबर १७७३ में जब नवाब की मुलाकात के लिए हेस्टिंग्स लखनऊ आये तो नवाब ने उन पर चेत सिंह के सब इलाक़ो को छीन लेने का मसूबा प्रकट किया। इस पर हेस्टिंग्स नाराज़ हुए और उन्होने नवाब को उन इलाको की सनद चेत सिंह को दे देने के लिए समझाया। इसके पहले चेत सिंह को नवाब से कोई सनद नही मिली थी, वे उन्हें बाईस लाख अडतालीस हज़ार चार सौ उचास रुपये केवल मालगुज़ारी के देते थे और इलाको पर उनका कोई कायमी दावा न था। नवाब जब चाहते उन्हें निकाल बाहर कर सकते थे। पहले तो नवाब ने सनद देने में आनाकानी की, बाद में दबाव पडने पर मुर्कररी मालगुज़ारी पर दस लाख रुपये बढाकर और लतीफगढ और विजयगढ के किलो को छोड कर शेष के लिए सनद देना चाहा। पर हेस्टिंग्स के समझाने पर उनकी खातिर से नवाब ने राजा को मुर्कररी माल गुज़ारी की एक इस्तमरारी सनद दिया।[२]

---

[१] ग्लाइग, जी० आर०, वारेन हेस्टिंग्स, १, पृ० ३५४, लडन, १८४०-४१

[२] भारतवर्षीय राजदर्पण, पृ० २०

सन् १७७४ में नवाब शुजाउद्दौला की मृत्यु हो गयी और उनके पुत्र आसफउद्दौला अवध के नवाब वज़ीर हुए। उसी समय उनका ईस्ट इंडिया कंपनी से नया बन्दोबस्त हुआ जिसके अनुसार कम्पनी राजा चेत सिंह के सब इलाक़ो की मालिक हुई और राजा के साथ नवाब का कोई सम्बन्ध नहीं रह गया। इस तरह राजा चेत सिंह के सब इलाक़ो के कम्पनी के अधिकार में आने पर गवर्नर जेनरल की काउन्सिल में बड़ा वाद विवाद हुआ। हेस्टिंग्स ने राजा चेत सिंह के साथ ज़मींदारी के एक निश्चित मालगुज़ारी पर इस्तमरारी बन्दोबस्त की राय दी साथ ही इस बात की सिफ़ारिश की कि चेत सिंह को उनके तमाम इलाक़ो में पूरे अख्तियार दे दिये जावें जिससे पीछे कोई उनके प्रबन्ध में दस्तन्दाज़ी न कर सके। उन्होंने रेज़िडेण्ट की नियुक्ति का भी विरोध किया क्योंकि रेज़िडेण्ट के नियुक्त होने से राजकाज में दस्तन्दाज़ी होना ज़रूरी था और उन दोनों के झगड़ों का काउन्सिल को बराबर फ़ैसला करना पड़ता। यह भी निश्चित हुआ कि यदि काउन्सिल के फ़ैसले राजा के विरुद्ध होंगे और इस तरह वह पुनः ज़मींदार के ज़मींदार रह जायेंगे। उन्होंने यह सुझाव भी रक्खा कि राजा अपनी मालगुज़ारी पटना में अदा करें।[१]

बारवेल ने, जो काउन्सिल के एक सभासद थे, अपनी राय दी कि चेत सिंह की सब मालगुज़ारी माफ़ करके उन्हें स्वतन्त्र राजा बना देना चाहिए क्योंकि इस तरह बनारस और गाज़ीपुर के इलाक़े कम्पनी के इलाक़ों के बीच दीवार का काम करेंगे और नवाब वज़ीर से अगर कभी कम्पनी का झगड़ा हुआ तो उस समय चेत सिंह से मदद मिल सकेगी। उनकी राय में ऐसा प्रबन्ध उचित था जिसके द्वारा कम्पनी की भलाई में राजा अपनी भलाई समझें। अगर उनसे मालगुज़ारी वसूली गयी तो आपत्ति आने पर अपनी माल-गुज़ारी से छुटकारा पाने के लिये वे कम्पनी के विपक्ष में काम करेंगे।

काउन्सिल के एक दूसरे सभासद फ्रांसिस की यह राय थी कि राजा चेत सिंह के साथ इस्तमरारी बन्दोबस्त करके उनको अपने इलाक़ो पर अधिकार दिया जावे। उन्होंने गद्दीनशीनी की फ़ीस की एक निर्ख निश्चित कर देने की भी सलाह दी जो चेत सिंह के वंशधरों पर समान रूप से लागू हो।

लेकिन इन सदस्यों की राय के अनुसार उस समय राजा चेतसिंह को सनद नहीं दी गयी, पीछे १५ अप्रैल १७७६ को उन्हें ईस्ट इंडिया कम्पनी के पास से एक पट्टा मिला जिसमें कोई ऐसी शर्त नहीं थी जिससे निश्चित मालगुज़ारी कभी बढ़ाई न जा सके। इस सनद के बाद फ्रांसिस फ़ोक बनारस के एजेंट नियुक्त हुए। इनके समय में जौनपुर में एक हिन्दू-मुस्लिम दंगा हुआ। इस अवसर से लाभ उठाकर चेत सिंह ने जौनपुर शहर पर दखल कर लिया।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, चेतसिंह दासीपुत्र थे और इसीलिये अपनी जाति के साथ वे भोजन नहीं कर सकते थे यद्यपि उनकी जाति में मिल जाने की इच्छा थी। संयोग

[१] सन् १७७५ ई० के जून महीने की १२ ता० की गवर्नर जेनरल की कौंसिल की कार्रवाई।

से उनके भाई सुजान सिंह की स्त्री की मृत्यु हो गयी और इस अवसर पर उन्होने भूमिहारो को न्योता दिया। भूमिहार विरादरी के लोग इस बात पर राजी हो गये कि औसान सिंह राजा के साथ भोजन करना स्वीकार करें तो सब भूमिहार उसके लिए तैयार थे। पर ऐन मौके पर औसान सिंह बीमारी का बहाना करके अपने घर भागे और वहा से इलाहाबाद खिसक गये। रास्ते में उनकी मनियार सिंह से मुलाकात हो गयी। फिर दोनो साथ साथ सुलतानपुर आये, पर वहा वे नवाब की आज्ञा से रहने नही पाये। जब औसान सिंह को कही आश्रय नही मिला तो वे मुर्शिदाबाद भागे और मनियार सिंह छिपकर बनारस के पास ही रहने लगे।

अपनी जाति के इस अपमान से चेत सिंह बहुत दुखी हुए। उनके छत्रिय नौकरो ने उन्हें अपनी जाति में मिलाने का आग्रह किया। भुईंहार इससे बहुत घबराए और यह समाचार मनियार सिंह को दिया गया। मनियार सिंह ने देखा कि अब बाजी हाथ से जाने वाली ही थी इसलिये फौरन उन्होने चेतसिंह के यहा भोजन करना स्वीकार कर लिया और मनियार सिंह और चेत सिंह ने साथ बैठकर भोजन किया और दोनो में मेल हो गया। पर औसान सिंह का व्यवहार चेत सिंह न भूले। उन्हें जब यह पता चला कि मुर्शिदाबाद में औसान सिंह वारेन हेंस्टिग्स से उनकी शिकायत कर रहे थे, तो उन्होने रामनगर का उनका घर लुटवा लिया और उनके परिवार को कैद कर लिया।

इसी समय हेस्टिंग्स और फ्रासिस, क्लेवरिंग और मोनसन में काफी वैमनस्य बढा और इस वैमनस्य की लपेट में बनारस भी आ पडा। बनारस के रेजिडेंट फोक फ्रासिस के अनुयायी थे और उन्होने अपने वकीलो द्वारा हेस्टिंग्स के विरुद्ध ऐसा षडयन्त्र रचा कि एक समय तो ऐसा मालूम पडने लगा कि उनके हाथ से गवर्नरजनरली चली जायेगी और सर जान क्लेवरिंग गवर्नर होगे। चेत सिंह की कमबख्ती आयी और उन्होने इस अवसर से लाभ उठाने के लिए अपने वकील के मार्फत क्लेवरिंग के पास काफी रुपये भेजे।

वारेन हेस्टिग्स को राजा के इस व्यवहार का पता चल गया और वह उनसे अतिशय कुपित हुआ। मोनसन की मृत्यु के बाद १७७६ में काउसिल में चार ही सदस्य रह गये और इनमें फ्रासिस और क्लेवरिंग एक मत थे और हेस्टिग्स और बारवेल एक मत। पर हेस्टिंग्स को कास्टिंग वोट का अधिकार होने से काउसिल में उनका पलडा भारी पडा। हेस्टिग्स ने इस अवसर का लाभ उठाकर अपने विपक्षियो द्वारा नियुक्त आदमियो को निकाल बाहर किया। इस सफाई में बनारस की एजेंसी से फोक साहब भी निकाल बाहर किये गये और उनकी जगह टॉमस ग्रेहम की नियुक्ति हुई।

इसके थोडे ही दिनो बाद वारेन हेस्टिग्स ने औसान सिंह को मुर्शिदाबाद से बनारस वापस भेजा और राजा को उनके गुजारे के लिए ५० हजार सालाना आमदनी की जागीर देने का हुक्म दिया। ग्रेहम और बारवेल तो उन्हें जौनपुर की जागीरदारी दिलवाना चाहते थे पर चेत सिंह ने इसे नही माना। बाद में सलाह मशविरे के बाद औसान सिंह को भीतरी सैदपुर की जमीदारी देना निश्चित हुआ। इसकी कुल आमदनी ६५,०००

थी जिसमें ५० हजार औसान सिंह का हिस्सा और १५,००० राजा का हिस्सा तय हुआ।[१] उन्होने औसान सिंह के परिवार को भी फौरन कारामुक्त करने की आज्ञा दी। राजा को हार कर उनका हुक्म मानना पडा। वारेन हेस्टिंग्स का यह सरासर अन्याय था क्योंकि चेत सिंह के नाम कम्पनी के पट्टे की शर्तों के अनुसार कम्पनी को चेत सिंह और उनकी रैयतो के बीच के मामलो में दस्तदाजी करने का कोई अधिकार न था। जान पडता है कि राजा को परेशान और बेइज्जत करने के लिए यह सब औसान सिंह की राय से किया गया। औसान सिंह ने, जैसा हम ऊपर कह आये है, चेत सिंह को गद्दी पर बैठाया। ऐसा करने में उनका ख्याल था कि राजा उनके अनुगत होकर रहेंगे। चेतसिंह के गद्दी पर बैठने के बाद औसान सिंह उनके दीवान हुए और उनको इच्छित अधिकार भी मिले, पर उन्हें हमेशा इस बात का भय बना रहा कि कही उनको दीवानी खो न देनी पडे और इसी भय से उन्होने बडे बडे भूमिहार सरदारो से दुश्मनी मोल ले ली। जब चेत सिंह ने अपने छोटे भाई की स्त्री के श्राद्ध के अवसर पर उन्हें भूमिहारो को न्योता देने को कहा तो उन्हें स्वप्न में भी ऐसी उम्मीद नही थी कि भूमिहार उनका न्योता मानेंगे अगर उनको ऐसा भास होता तो वे हरगिज न्योता न बाँटते। पर तीर छूट चुका था और अब औसान सिंह के लिये इसके सिवा कोई चारा न रह गया था कि या तो वे राजा के साथ भोजन करें अथवा राजा से सर्वदा के लिये सम्बन्ध विच्छेद कर लें। उन्होने दूसरा रास्ता पकडा। इसमें चेत सिंह का कोई दोष न था। उन्होने तो औसान सिंह के हाथ में सब राजकाज सौंप दिया था और चेत सिंह के पिता बलवन्त सिंह की दया से ही तो औसान सिंह एक साधारण मजदूर से प्रतिष्ठित व्यक्ति बन सके थे। पर १८वीं सदी में वफ़ादारी नाम की कोई वस्तु नही रह गयी थी। सब लोग अपने ही रग में मस्त रहते थे और औसान सिंह भी उन्हीं में एक थे।

शम्भूनाथ का महाराज मिश्र के नाम, जो कलकत्ते में चेतसिंह के वकील थे और जो थोडे दिनो के लिये बनारस आ गये थे, ३१ मार्च १७७८ के पत्र[२] से यह पता चलता है कि गवर्नर जेनरल राजा की फौज के लिये एक अफसर नियुक्त करना चाहते थे पर फ्रासिस और फोक के विरोध के कारण वे ऐसा न कर सके। राजा की तरफदारी करने की वजह से हेस्टिंग्स फोक और फ्रासिस से नाराज थे और राजा के वकील हुलासीराम को उन्होने दरबार में आने से मना कर दिया था क्योंकि उन्हें शक था कि हुलासीराम के द्वारा राजा और फ्रासिस और फोक में खतकिताबत होती थी और ये दोनो राजा को हेस्टिंग्स के विरुद्ध भडकाते थे। फ्रासिस और फोक की पार्टी ह्वीलर के आने से और मजबूत हो गयी थी पर ह्वीलर कुछ रिश्वत चाहते थे और खुले आम गवर्नर जनरल को मुखालिफत नहीं करना चाहते थे। गवर्नर जेनरल के कृपा पात्र मुशी सद्रुद्दीन राजा के सहायक थे।

सन् १७७८ में ईस्ट इडिया कपनी को डच, मराठो, फ्रेंच और हैदर की लडाइयो के कारण रुपये की बडी तगिश पडी। फ़ौज के खर्च में कमी पड रही थी और तकादो

---

[१] केलेंडर भाग ५, पृ० ८५४

[२] केलेंडर भाग ५, पृ० ८५४

के मारे हेस्टिंग्स परीशान थे। वारेन हेस्टिंग्स को पता चला कि चेत सिंह के खजाने में दो करोड़ रुपये जमा थे। उसी समय कम्पनी ने अपने मातहत रजवाड़ो से लड़ाई के खर्च में माल मदद लेने का निश्चय किया। इस निश्चय के अनुसार हेस्टिंग्स ने चेत सिंह के जिम्मे तीन पलटन सिपाहियो के खर्च के लिए पाँच लाख रुपया सालाना निश्चित किया।

बनारस के एक समाचार से यह विदित होता है[1] कि १८ जुलाई १७७८ को टॉमस ग्रेहम ने चेत सिंह के पास गवर्नर जेनरल का परवाना दाखिल किया लेकिन राजा ने रुपये देने से इनकार किया। बाद में बख्शी सदानन्द, रामचन्द्र साहु, फैजुल्ला बेग और गुलाम हुसेन खाँ की राय से उन्होने परवाना स्वीकार किया और अपनी राय बाद में लिखने की इच्छा प्रकट की। बहुत सोच समझ कर राजा ने अपने वकील अली नकी को यह लिखा कि पहले तो वे गवर्नर जनरल से पलटन का खर्च बर्दाश्त करने में राजा की असमर्थता प्रकट करें और काउसिल के बहुमत सदस्यो से भी इस बात का पता चलावें कि इस माँग के बारे में विलायत का क्या मत होगा और अन्त में राजा की पाँच लाख की माँग पर इस शर्त पर स्वीकृति दें कि राजा का भी उससे फायदा हो। इस सबंध में सद्रुद्दीन और राजा नवकृष्ण से भी सलाह करने को कहा गया था। राजा चेत सिंह को कर्नल डॉड का भी एक पत्र मिला जिसमें कहा गया कि अगर जनरल कूट के इगलैंड से आने तक राजा सब मामले रोक ले सकें तो सब मामला ठीक तरह से तय हो सकता था। कर्नल डॉड ने मुशी रामसिंह के द्वारा भी कुछ मुहजबानी सन्देशा भेजा। २५ जुलाई को फोक के मुशी शम्भूनाथ ने लिखा कि इगलेंड के राजा ने फोक और दूसरे आदमियो को जिन्हें हेस्टिंग्स ने गैरकानूनी तौर से बरतरफ कर दिया था पुन नियुक्त कर दिया और एक महीने के बाद फोक के बनारस पहुँचने पर राजा का सब मामला दुरुस्त हो जायगा। खत मिलते ही राजा ने शम्भूनाथ के पत्र की नकल के साथ भाई राम को लिखा, "ईश्वर मेरी मदद कर रहे हैं अत मैंने राव रघुनाथ से शिफारसी पत्र लेने को जरूरी नहीं समझा"। बाद में गुप्त रीति से उन्होने बख्शी सदानन्द को उन ब्राह्मणो को जो राजा की भलाई के लिए पाठ-पूजा कर रहे थे, प्रत्येक को सौ रुपया दक्षिणा देने को कहा और औसान सिंह पर तब तक इसलिए निगाह रखने को कहा कि फोक के आने तक भाग न जावें।

काउसिल में इस प्रस्ताव के आने पर फ्रासिस और ह्वीलर दोनो ने इसका समर्थन किया। लेकिन सब लोगो ने मुकर्ररी मालगुजारी के सिवा कानूनी तौर से चेत सिंह से और कुछ लिया जा सकता था अथवा नही इस पर सन्देह प्रकट किया। लोगो के दिल में कोई सन्देह न पैदा हो इसलिए वारेन हेस्टिंग्स ने इस रकम को मददी रकम कहा और उसके बारे में पूरी तफसील चेत सिंह के पास भेज दी। इस रक़म को स्वीकार कर लेने के सिवा चेत सिंह के पास कोई चारा न था। पर बाद में उन्होने उस रक़म को घटाने की बहुत कोशिश की।

चेत सिंह की एक न चली और हार कर उन्हें गवर्नर जनरल की माँग स्वीकार

---

[1] कैलेंडर …५, १०६७

करनी पडी। अपने २८ सितम्बर १७७८ के पत्र में[१] पाँच लाख मछलीदार रुपये एक साथ देने में उन्होंने अपनी असमर्थता प्रकट की और छह-सात महीनो में किश्तबन्दी से रुपये अदा करने की परवानगी चाही और रुपये मछलीदार न देकर दूसरे रुपये देने की बात कही।

लेकिन गवर्नर जनरल ने अब चेत सिंह को तग करने की ठान ली थी। ७ अक्टूबर १७७८ के अपने एक पत्र में चेत सिंह लिखते हैं[२] कि अली नकी से यह सुनकर उन्हें अफसोस हुआ कि पाँच किश्तो में रुपये देने की बात हेस्टिंग्स ने नहीं मानी। पचास हजार तो वे ग्रेहम को दे चुके थे और बाकी वे एक हफ़्ते के अन्दर हुडी से गवर्नर जनरल के पास भेज देंगे। इसके एवज में वे हेस्टिंग्स की कृपा के भिखारी थे।

बनारस के एजेंट टॉमस ग्रेहम ने भी चेतसिंह के साथ इस पाँच लाख की मददी रक़म के लिए जो व्यवहार किया वह अत्यन्त अन्यायपूर्ण और गर्हित था। ग्रेहम दो नीचे दरजे के मुसलमानो द्वारा राजा से बातचीत चलाते थे। इनमें एक का नाम मौलवी अलाउद्दीन कुबरा और दूसरे का जैन उलआबेदीन था। यह जैन उलआबेदीन पहले एक हिंदू महाजन का लडका था जिसे कुबरा पढ़ाता था। बाद में इस लडके को भगाकर उसने मुसलमान बना दिया। ये दोनो कुछ दिनो हकीम और नजूमी का वेष बनाकर बनारस की गलियो में चक्कर मारा करते थे और रडियो के यहाँ इनकी बहुत खातिर होती थी। ये दोनो बदमाश किसी प्रकार सिफारिश पहुँचा कर कुछ दिनो में ग्रेहम के प्रधान सलाहकार बन बैठे और चेत सिंह पर हुक्म चलाने लगे। ग्रेहम पर इनका प्रभाव यहाँ तक बढ़ा कि जो कुछ यह करते थे उस पर ग्रेहम आँख मूँद कर दस्तखत कर देते थे। राजा से ये दोनो बदमाश आठ सौ महीने तो अपनी तनख्वाह के लेते थे और जब जो जी चाहा उन्हें दबाकर वसूल कर लेते थे। कम्पनी को पाँच लाख की मदद देने के समय तो इनको अच्छा मौक़ा मिला और उन्होने राजा से जो चाहा वसूला। ये बदमाश रेजिडेंट के नाम पर चेत सिंह के पास उलूल-जुलूल माँगें पेश किया करते थे और माँगें पूरी न होने पर धमका कर उनसे रुपये वसूल करते थे। एक बार अलाउद्दीन ने राजा से जाकर कहा कि ग्रेहम बीमार है और डाक्टरों ने उनके इलाज के लिए लाल चींटी का तीन सेर तेल माँगा है। राजा चेत सिंह की तो अक्ल गुम हो गयी और उन्होने रुपये देकर जान छुडाई।[3]

१२ अक्टूबर, १७७८ को चेतसिंह ने पुन लिखा[४] कि उन्हें यह सुनकर हर्ष हुआ कि हेस्टिंग्स ने उन्हें क्षमा किया है। उन्होने तीन लाख मछलीवाल रुपये की हुण्डी और पचास हजार की ग्रेहम की रसीद भेजी और बाकी डेढ लाख की हुण्डी चार-पाँच दिनो में

---

[१] केलेंडर ५, पत्र ११०६

[२] केलेंडर ५, पत्र ११२९

[3] भारतवर्षीय राजदर्पण, पृ० २९-३०

[४] केलेंडर......५, पत्र ११४३।

भेजने का वादा किया। १३ नवम्बर १७७८ के एक पत्र से यह पता लगता है कि चेत सिंह ने बाकी डेढ लाख भी शेख अली नकी के मार्फ़त अदा कर दिया।[1]

चेत सिंह और ग्रेहम की खटपट चलती ही रही। २८ जनवरी १७७९ की एक खबर से पता चलता है[2] कि चेत सिंह ने रामनगर में अपने सलाहकारो को इकट्ठा करके उन्हें बतलाया कि बदमाशी पर तुले हुए ग्रेहम रामनगर आने वाले थे और शेख अली नक़ी ने भी उन्हें लिखा था कि काउसिल के कुछ सदस्य राजा से प्रसन्न नहीं थे और इन सब कारणो से राजा को खबरदार हो जाना चाहिए। बात तय पायी कि राजा विजयगढ और लतीफपुर जाकर वहाँ के मोरचो को मजबूत करें और बाबू सुजान सिंह छत्तीसगढ जाकर नाकेबन्दी की तैयारी करें और खाइयाँ खोदें। अगर ग्रेहम बदमाशी के इरादे से आये तो राजा जिले में गडबड मचाकर पहाडो में भाग जायें और वही से बातचीत करें। इस बीच में ग़ुलाम हुसैन खाँ ने औसान सिंह को, जिनकी मदद से ग्रेहम बखेडा फैलाने वाले थे खतम करके, बाद में ग्रेहम से समझने की सलाह दी। यह सुझाव भी सामने आया कि मिर्ज़ा बाबर बेग औसान सिंह को फ़ुसला कर देहात में ले जायें और तब उनका काम तमाम कर दिया जाय। पहली जनवरी १७७९ को इस मामले पर बात हुई। तीन जनवरी को बाबू सुजान सिंह परगना छत्तीसगढ में रक्षात्मक इन्तज़ाम के लिये गये और राजा चेतसिंह ने लतीफपुर और विजयगढ रवाना होने की तैयारी की। उसी रोज आधी रात को राजा लतीफपुर पहुँच गये और चार तारीख को ग़ुलाम हुसेन खाँ फ़ैज़ुल्ला खाँ, बालकिशन हज़ारी और बहुत से प्यादो के साथ विजयगढ़ चल दिये। वहाँ एक दो दिन रहकर अगरौं जाने का इरादा था। विजयगढ़ जाने की तैयारी के समय भाई राम का एक पत्र मिला कि वे उनसे एक बात पर राय करने के लिये आ रहे थे। रवाना होने के पहले राजा ने जगदेव, ज़ालिम सिंह, दलजीत सिंह और रामरुच के लडके को अपने परगना वापस जाने की आज्ञा दी और वहाँ औसान सिंह से किसी प्रकार झगडा खडा कर उन्हें मार डालने की आज्ञा दी क्योंकि बिना औसान सिंह के मरे शान्ति असम्भव थी। इन लोगो ने इस काम के लिये कुछ फौज चाही जिसे १०० सवार और दो सौ पैदल दिये गये।

यह सब काम समाप्त करके जब राजा रामनगर को लौट रहे थे तो रामचद साहु शेख अली नक़ी का पत्र लाये जिसमें समाचार दिया गया था कि नकी ने गुप्त रीति से फ़ासिस की, जो थोडे समय से काउसिल के प्रथम सभासद होने वाले थे, नौकरी कर ली थी तथा फ़ासिस ने उन्हें मदद का वादा किया था। आयर कूट के आते ही राजा के मुवाफिक काम हो जायेगा। पत्र में उन पुरजो के संग्रह की जिनसे लोगो ने राजा से जबर्दस्ती रकमें वसूल की थी, रखने की और गवर्नर जनरल के पास पेश करने की भी बात कही गयी थी और राजा को ग्रेहम से न डरने की बात थी।

---

[1] केलेंडर··· ५, पत्र ११९४।
[2] केलेंडर· ५, पत्र १३३६।

२१ जुलाई १७७९ को पुन पाँच लाख रुपया चेतसिंह से मागा गया।[१] इस पर विनती पूर्वक अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए चेतसिंह ने लिखा, "मैं यह रकम अपने सोने चादी के बरतन वगैरह बेंचकर दे दूगा लेकिन पहले जब पाँच लाख माँगा गया था तो मैंने यह स्पष्ट लिख दिया था कि एक साल के सिवा यह रकम मै न दे सकूगा। मेरे सधिपत्र के अनुसार मेरी मालगुजारी के सिवा और सब कर माफ है। मै अपनी मालगुजारी बदस्तूर सरकार के पास पहुचाता रहा हूँ, फिर भी अन्यायपूर्वक मुझे इस तरह दबाकर रुपया वसूल करके क्लेश दिया जाता है"। इस पत्र का उत्तर हेस्टिग्स ने सख्ती के साथ दिया और हुक्म की बेउज्र तामीलियत न करने पर सेना भेजने की धमकी दी। राजा ने माफ़ी चाही पर उनको पाँच लाख के सिवा बीस हजार जुर्माना भी अदा करना पडा।[२] २५ अगस्त १७७९ को हेस्टिग्स ने चेतसिंह को लिखा[३] कि रुपया फौरन ग्रेहम को भेज दिया जाय। ऐसा न करने पर ग्रेहम दीनापुर के दो बटालियन सिपाहियो की मदद से जिस तरह हो सकेगा रुपया वसूल करेंगे और राजा को फौज का खर्च भी उठाना पडेगा। २७ अगस्त १९७९ के पत्र में[४] चेतसिंह ने रुपये देने में इसलिए असमर्थता प्रकट की कि पहले वर्ष के रुपये देने में ही उन्हें कर्ज लेना पडा था। हेस्टिग्स ने अपने २५ सितम्बर १७७९ के एक पत्र में चेतसिंह को लिखा[५] कि काउसिल ने मेजर केमक को फ़ौज की टुकडी के साथ बनारस जाने की आज्ञा दी है अगर रुपया मिल गया तो ग्रेहम फ़ौज रोक देगें नहीं तो फौज का भी खर्च राजा को बरदाश्त करना होगा।

१७७९ ईस्वी में कम्पनी की माग से परीशान होकर राजा ने उसे न मानने का निश्चय किया पर बदमाश मौलवियो ने उन्हें झूठी सूचना दी कि उनके दमन के लिए कलकत्ते से सर आयर कूट आ रहे थे। राजा ने कूट को राजी करने के लिए सुजान सिंह को बक्सर भेजा, पर उसके पहले मौलवी ग्रेहम के साथ वहाँ पहुँच गये थे और कूट से राजा की भरपूर चुगली खा रखी थी जिससे राजा से वे नाराज हो गये थे। गगा में भरपूर बाढ थी और मुश्किलो के साथ सुजान सिंह की किश्ती बक्सर में लगी। मौलवियो ने इसकी खबर ग्रेहम को दी और उन्होने कूट को सुजान सिंह से मुलाकात न करने की राय दी। इतना ही नही उन्होने नाव की लहासी कटवा दी। नाव पर कोई मल्लाह भी नही था, पर भाग्यवश वह दूसरे जगह आ लगी और सुजान सिंह डूबने से बच गये।[६]

सुजान सिंह बडी कठिनाई में पडे। भाग्य से उनकी मुलाकात हेनरी वानिस्टार्ट के परम विश्वासी और बलवन्तनामा के लेखक मुशी खैरुद्दीन साहब से हुई और उन्होने

---

[१] केलेंडर ५, पत्र १५४७

[२] भारतवर्षीय राजदर्पण ५०

[३] केलेंडर ५, पत्र १५६९

[४] केलेंडर ५, पत्र १५७३

[५] केलेंडर ५, पत्र १६१८

[६] भारतवर्षीय राजदर्पण, पृ० ३१

अपने मालिक से बहुत कह सुन कर आयर कूट से सुजान सिंह की मुलाकात करवायी। बाद में तो आयर कूट ने चेतसिंह की गाजीपुर और रामनगर में दावत भी कबूल की और उनसे अपने मित्र हेक्टर मुनरो के बलवन्त सिंह के नाम एक लाख बाकी रुपये भी वसूल किये।[१] राजा को उनके आदमियो को भी काफी रुपये देने पडे।

१७७९ में बनारस में एक और मजेदार घटना घटी और वह थी एक नक़ली सदाशिव भाऊ का बनारस में आगमन।[२] पेशवा के सेनापति परशुराम भाऊ की मृत्यु तो पानीपत की लडाई में हुई पर एक ठग ने, जिसकी सूरत भाऊ से बहुत मिलती थी, यह स्वाग बनाया कि वास्तव में भाऊ पानीपत की लडाई में मरे नही थे। यह नक़ली भाऊ १७७९ ईस्वी में इटावा के लाला बालगोविन्द से मिला और उन्होंने असली भाऊ साहब और इसकी शकल में बहुत मेल देख कर उसे आश्रय दिया लेकिन कुछ दिन बाद उन्हें पता चला कि असली भाऊ साहब की बोली और नकली भाऊ की बोली में अन्तर था। पूछने पर नकली भाऊ ने पानीपत से अपने भागने की मनगढन्त कहानी सुना दी। इस पर लाला बालगोविंद ने उसे काशी जाने की सलाह दी। पहले वह चित्रकूट गया और वहाँ उसने बनारस के कुछ ब्राह्मणो को बुलवाया। इन ब्राह्मणो को भी भाऊ साहब से इस ढँग की सूरत मिलती देखकर अचम्भा हुआ पर इतना ही नही जब नक़ली भाऊ ने उनके पास से अपनी तथाकथित जमा मागी तो वे बडे घबडाये। नकली भाऊ इसके बाद काशी पधारे और सदाशिव भाऊ से अपनी शकल के सादृश्य का लाभ उठाकर कुछ लोगो को अपने पास इकट्ठा कर लिया और साहूकारो की मदद से १००० की फौज और अपने लिए पालकी और घोडे इत्यादि तैनात कर लिये। नकली भाऊ की यह सब कार्रवाई बनारस के रेजिडेंट ग्रेहम के कानो में पडी और उन्होंने जाँच के बाद नक़ली भाऊ को चेत सिंह की मदद से गिरफ़्तार कर लिया। वारेन हेस्टिंग्स ने ३० अक्टूबर १७७९ को चेत सिंह को लिखा कि वे भाऊ का मुकदमा बनारस में करें और उसका कसूर साबित होने पर उसे दड दें।[३] चेत सिंह के १९ जनवरी १७८० के पत्र से[४] पता चलता है कि नकली भाऊ ने ग्रेहम और चेत सिंह की कोशिशो के बावजूद भी उसने कुछ फौज इकट्ठा करके शहर में गडबड मचा दी। चेत सिंह ने उसकी आमदनी रोकने की कोशिश की पर नाकाम रहे। आपस में झडप होने से दो आदमी मारे गये और तीन ज़ख्मी हुए। इसके बाद नकली भाऊ पकडा गया और चुनार भेजा गया। चेत सिंह की राय में वह खून और दगे का सिवाय खुली लडाई में दोषी नही था। भाऊ ने बाद में २६ जुलाई १७८१ को कर्नल ब्लेयर को एक पत्र लिखा[५] जिसमें उनसे गुजारे की रकम मिलने की और इस सकट से छुटकारा दिलवाने की प्रार्थना की।

---

[१] ओल्डहम, हिस्टोरिकल एड स्टेटिस्टिकल मेमायर ऑफ दि गाजीपुर डिस्ट्रिक्ट, पृ० १११–१२

[२] इतिहास सग्रह, नवबर–दिसबर, १९११, जनवरी १९१२, पृ० ६–८

[३] केलेंडर ५, पत्र १६५०

[४] केलेंडर ५, पत्र १७१०

[५] केलेंडर ६ पत्र २०१

तीसरे साल यानी १७८० में राजा चेतसिंह ने अपने विश्वासपात्र बख्शी लाला सदानन्द को हेस्टिंग्स के पास कलकत्ते भेजा। सदानन्द ने कलकत्ता पहुँच कर वारेन हेस्टिंग्स से मुलाकात की और राजा की तरफ से खास उनके लिए दो लाख की नज़र दाखिल करके बीती बातो के लिए माफी चाही और पाँच लाख जल्दी ही दाखिल करने का वादा किया।

गवर्नर जेनरल ने इस पर राजा के सब दोष क्षमा कर दिये पर सदानन्द को यह बात पूरी तरह से समझा दिया कि राजा को यह सब मिहरबानी तभी तक हासिल होगी, जब तक वे कम्पनी सरकार की आज्ञाओ का पालन करेंगे। उन्होने यह भी वादा किया कि लडाई समाप्त हो जाने पर पाँच लाख मददी रकम राजा से नही ली जायगी। बख्शी सदानन्द ने अपने मालिक की ओर से इन सब बातो पर अपनी सम्मति दी। हेस्टिंग्स ने यह रुपया लेफ्टिनेण्ट कर्नल केमेक के पास मालवा भेज देने को कहा।[1]

इसी साल (१७८० ईस्वी) के जुलाई महीने में हेस्टिंग्स और फ्रांसिस में पुन मतभेद हुआ। उसके कुछ ही रोज बाद बख्शी सदानन्द बनारस के लिए रवाना हुए थे। रुपया चेत सिंह से न दिया गया और रामनगर पर फौज भेजने पर ही रुपया वसूल हो सका।

जिस समय चेत सिंह और कम्पनी में यह चखचख चल रही थी जान पडता है उसी समय कम्पनी के नौकरो और चेत सिंह की रियाया में भी सद्भाव न था। १७७९ में कम्पनी के बक्सर के दफ्तर के नौकरो का चेत सिंह की रियासत में जाने से पिटने का भी उल्लेख है। बक्सर के चौधरी को बेडी डाल कर हवालात में रखने और नरायनपुर के ज़मीदार द्वारा उससे तिरपन रुपये जुर्माना वसूल होने की भी बात आती है। एक बार चेत सिंह के बलिया के फौजदार ने कम्पनी के तीन सिपाहियों को जो अन्न खरीदने आये थे इतना पिटवाया कि वे अधमरे हो गये। १७८० के नवम्बर में जब कम्पनी के तीन अफसर अपनी फौज से मिलने जा रहे थे तब उन्हें राजा के नौकरो और रैयत ने मार पीट कर लूट लिया। इस लूट पाट की शिकायत बक्सर के अफसर कप्तान एटन ने फोक के द्वारा चेत सिंह से की थी। राजा के आदमियो द्वारा बहकाये जाकर कम्पनी के कुछ सिपाही भी राजा की फौज में आ गये।[2] पर इन सब घटनाओ में चेतसिंह का कितना हाथ था यह नही कहा जा सकता। बनारस और उसके आस पास काफी लुच्चे और बदमाश थे अगर उन्होंने कम्पनी के कुछ आदमियो को पीट दिया हो तो इसमें हम राजा का दोष कैसे कह सकते है।

वारेन हेस्टिंग्स ने १५ दिसम्बर १७८०[3] को चेत सिंह को एक लम्बी शिकायती चिट्ठी लिखी जिसमें उनके आदमियो द्वारा कम्पनी के आदमियो से मारपीट का उल्लेख

---

[1] फॉरेस्ट, सेलेक्शन्स फ्रॉम दि पेपर्स ऑफ दि गवर्नर्स जेनरल ऑफ इंडिया, वारेन हेस्टिंग्स, भाग २, पृ० ११९ से, लंडन १९१०

[2] भारतवर्षीय राजदर्पण, पृ० ३४–३५

[3] कैलेंडर......५, पत्र २०६४

है। इसमें यह भी कहा गया है कि १४ नवम्बर १७८० को डाकुओ के एक गिरोह ने राजा की अमलदारी बारपुर में तीन अग्रेजी अफसरो की बेइज्जत की और एक जमीदार के उकसाने पर इन डाकुओ ने इन अफसरो के तीन नौकरो को मार कर असबाब से भरी एक नाव लूट ली। इस जमीदार ने एक अग्रेज अफसर को भी इतनी बुरी तौर से घायल किया कि उसे पटने के अस्पताल में भेजना पडा। बलिया के फौजदार मीर सफ़दर अली द्वारा कम्पनी के तीन सिपाहियो के जो अन्न खरीदने आये थे पिटने का भी उल्लेख इस पत्र में है। आयर कूट के कहने पर भी राजा ने फौजदार को कुछ दड नही दिया। इसी तरह नरायनपुर के जमीदार ने कैप्टन ईटन के साथ धृष्टता की जब उसने कम्पनी को अनाज देने के लिए कुछ दूकानदारो को आदेश दिया। गवर्नर जेनरल ने चेत सिंह को आदेश दिया कि वे बलिया के फौजदार और नरायनपुर के जमीदार को पकड कर उनके मामले की फोक के सामने जाँचकर और एक मुशी द्वारा मुकदमे की कारवाई का विवरण लिखवा कर गवर्नर जेनरल के पास भेजते रहें। पत्र में यह धमकी भी दी गयी थी कि अगर कसूरवारो को सजा न मिली तो इसके लिए चेत सिंह जिम्मेवार ठहराये जाएँगे।

वारेन हेस्टिंग्स द्वारा फ्रासिस के बरतरफ होने पर मार्कहम बनारस के रेजिडेंट नियुक्त हुए। चारो ओर लडाइयाँ ठन जाने से काउसिल ने २ नवम्बर १७८० को यह प्रस्ताव पास किया कि चेत सिंह से जितने सवार मिल सकें, लिये जायें। यह मदद बनारस के रेजिडेंट फोक द्वारा और सीधे हेस्टिंग्स द्वारा भी मागी गई पर चेत सिंह ने उत्तर दिया कि उनके पास इतने सवार नही थे कि उनमें से वे कम्पनी को दे सकें। उन्होने यह भी लिखा कि जमीदारी से सवारो के हटा लेने पर आमदनी बन्द हो जाने का अन्देशा था। मार्कहम के आने के बाद चेतसिंह से दो हजार सवार मागे गये पर बाद में उनकी सख्या घटाकर एक हजार कर दी गयी। राजा ने २५० सवार देने मजूर किये पर उन्हें भी वे न भेज सके।[१]

चेतसिंह के इस व्यवहार से हेस्टिंग्स बहुत नाराज हुए और उनके विरुद्ध की गयी शिकायतो पर उन्हें विश्वास होने लगा। इसी समय हेस्टिंग्स को पता लगा कि चेत सिंह लतीफपुर और विजयगढ़ के किलो में खजाना और लडाई के सामान इकट्ठा कर रहे थे। उनकी फौज की सख्या बहुत बढ़ गयी थी और उनके आदमी कम्पनी के आदमियो की बेइज्जती करते थे और लोगो को उनसे शत्रुता बरतने की सलाह देते थे। वे मराठो से भी पत्र व्यवहार कर रहे थे और इस बात का मौक़ा देख रहे थे कि अगर फरासीसी अथवा मराठे अग्रेजों पर आक्रमण कर दें तो वे उनका साथ दें।

मराठो के साथ चेत सिंह की कुछ साजिश जरूर चल रही थी इसका पता नाना फडनवीस के नाम पुरुषोत्तम महादेव के १७८१ के एक पत्र से चलता है। पत्र में कहा गया है कि अगर महाद जी सिंधिया कलकत्ते पर हमला करें तो अवध के नवाब और चेत सिंह आधा आधा खर्च उठाने के लिए तयार थे, लेकिन पुरुषोत्तम महादेव की सलाह

[१] फॉरेस्ट, उल्लिखित, पृ० ११९ से

थी कि रुपये आ जाने पर ही ऐसा कोई क़दम उठाना चाहिए। कलकत्ते जानेवाली फौज में दिल्ली के फौजी दस्ते, रुहेले, और आसफ़उद्दौला की फौजें शामिल होने,को थी। आशा की जाती थी कि गगा पार करने के लिए चेत सिंह नावो अथवा पुल का बन्दोबस्त करेंगे।[1]

इन सब का बदला लेने का हेस्टिंग्स ने निश्चय किया और इसका पता चेत सिंह को अपने कलकत्ते के वकीलो से चला। अपनी जान बचाने के लिए उन्होने कम्पनी की लडाइयो में बीस लाख रुपये देने की इच्छा प्रकट की और मार्कहम को सन्देसा भेजा। बाद में यह रकम बाइस लाख कर दी गयी पर फल कुछ न हुआ।

वारेन हेस्टिंग्स ७ जुलाई १७८१ को चार कम्पनी तिलगो के साथ नाव पर बनारस के लिए रवाना हुए। भागलपुर पहुँचने पर उन्होने बनारस के रेजिडेंट मार्कहम से मुलाकात की और तब पता चला कि हेस्टिंग्स का इरादा चेत सिंह से पचास लाख जुर्माना वसूल करने का था और अगर यह जुर्माना उनसे अदा न हो सका तो 'उसका इरादा चेत सिंह के सब इलाक़ो को अवध के नवाब को सुपुर्द कर देने का था जो कम्पनी को बहुत रुपया देने को तयार थे।

हेस्टिंग्स के भागलपुर से बक्सर पहुँचने पर चेत सिंह उनकी पेशवाई के लिए आये। उनके साथ किश्तियो पर दो हज़ार सिपाही और बहुत से बन्दूकची थे। सवार और प्यादे गगा के दोनो तरफ स्थलमार्ग से चेत सिंह के बेडे के साथ थे। उतनी फौज साथ रखने का केवल यही मतलब था कि चेत सिंह के साथ हेस्टिंग्स कुछ ज़ोर ज़बरदस्ती न कर सकें। हेस्टिंग्स ने बदस्तूर चेत सिंह से मुलाकात की और बनारस के लिये रवाना हो गये। राजा की किश्तियाँ गवर्नर जनरल की किश्तियो के पीछे-पीछे आने,लगी। इन पर फ़ौज देखकर हेस्टिंग्स को आश्चर्य और क्रोध हुआ और उनके क्रोध को अधिक उत्तेजना देने में चेत सिंह के घोर शत्रु औसान सिंह, अलीउद्दीन कुबरा और जैनुल आबेदीन थे।

रास्ते में चेत सिंह ने अकेले में हेस्टिंग्स से मुलाकात करनी चाही और अपनी किश्ती पर से सब को हटाकर हेस्टिंग्स ने उनसे मुलाकात की। राजा ने हाथ जोड कर क्षमा मागी और सिर से अपनी पगडी उतार कर हेस्टिंग्स के पाव पर धर कर कहा, "आप सब तरह से हमारे मालिक है जो कुछ भूल या कुसूर मुझसे हुए है उन्हें माफ करके मुझे अपने शरण में लीजिए क्योंकि आप के सिवा मेरा कोई दूसरा रक्षक नहीं है"। पर राजा के इस अनुनय विनय से भी हेस्टिंग्स पिघले नही, अत्यन्त क्रोध के साथ लात मार कर चेतसिंह की पगडी उन्होने फेंक दी और बडी बेइज्जती के साथ उन्हें विदा किया। हेस्टिंग्स का यह व्यवहार कहाँ तक सज्जनोचित था नही कहा जा सकता। अगर इस समय वे चेत सिंह के साथ भलमनसी का बर्ताव करते तो शायद उनकी बनारस में इतनी दुर्गत न होती, न उन्हें अग्रेजी पार्लेमेंट में इतनी ज़िल्लतें उठानी पडती।

१५ अगस्त सन् १७८१ को हेस्टिंग्स की सवारी बनारस पहुँची और उन्होने

---

[1] इतिहास सग्रह, अगस्त-अक्टूबर, १९११, पृ० ६१

दीनानाथ के गोले के पास माधोदास सामिया के बाग़ में डेरा डाला। बाद में उन्होंने मार्कहम को चेत सिंह की गिरफ्तारी का हुक्म दिया जिससे वे डर कर अपने जुर्माने का पचास लाख फौरन अदा कर दें। इतनी फुरती से राजा की गिरफ्तारी का उद्देश्य यह था कि उन्हें अपना बचाव करने का मौका न मिले। राजा चेत सिंह भी उसी दिन बनारस पहुँचे और शाम को हेस्टिंग्स से मुलाकात करनी चाही पर उन्होंने मुलाकात नामंजूर करके यह कहलवा दिया कि रेजिडेंट के मार्फत जब तक उनका मामला तय न हो जाय तब तक बिला इजाज़त वे उनसे मिलने न आयें।

दूसरे दिन, १५ वी अगस्त की सुबह को रेजिडेंट मार्कहम गवर्नर जनरल का एक खत लेकर राजा के पास पहुँचे उनके खत का मज़मून यह था, "सोलह महीने बीते कि तुमने अपने विश्वासपात्र नौकर लाला सदानन्द बख्शी को हमारे पास कलकत्ते भेजा था। उसने तुम्हारी तरफ से सब गुनाहो की माफी चाही और भविष्य में तुम मेरी सरकार की आज्ञानुसार काम करोगे इसकी शपथ ली। इसकी परीक्षा करने के लिए पाँच लाख रुपये लडाई के खर्चे के लिए मैंने काउसिल के गवर्नर जनरल द्वारा तुमसे माँगे और तुमने उसे देना भी मजूर कर लिया। जबानी तौर से बख्शी भी तुम्हारी तरफ से राजी हुए, उससे हमे विश्वास हुआ कि रुपया मिलने में देर न होगी। इसी विश्वास पर कर्नल कैमेक की फौज, जो मालवा की तरफ कूँच कर रही थी, के खर्च के लिए फोक साहब को जो उस समय बनारस के रेजिडेंट थे, हुक्म दिया गया कि रुपये वसूल करके कैमेक के पास भेज दें। तुम्हारे ऊपर पूरा विश्वास करके हमने कैमेक की फौज के खर्च का दूसरा बन्दोबस्त भी नही किया, लेकिन तुमने हमारे साथ विश्वासघात किया। कुछ रुपया पहले देकर और समय का रुख देखकर अथवा अपने पहले के मनसूबे के मुताबिक तुमने तरह तरह के बहाने करके रुपये देना बन्द कर दिया। इसकी वजह से जिस फौज को यह खर्च भेजना था वह बडी मुसीबत में आन पडी। उसके कई सौ सिपाही नौकरी छोडकर भाग खडे हुए और अगर कोई शत्रु सेना उस समय उनपर आक्रमण करती तो निस्सन्देह हमारी सेना मारी जाती। रेजिडेंट उस समय रोज़ बरोज़ तुमसे रुपये का तकाज़ा करते थे, मैंने भी बार बार तुम्हें पत्र लिखे पर तुमने कोई सुध नही ली, इसके सिवाय गवर्नर जनरल इन काउसिल की तरफ से मैंने तुमसे खुद और फोक साहब के द्वारा सरकारी फौज में काम करने के लिए सवारो की मदद चाही। फोक साहब की जगह जब मार्कहम साहब नियुक्त हुए, तब उन्होंने भी हमारी आज्ञा के अनुसार तुमसे माँगे गये २००० सवारो की सख्या घटाकर १५०० कर दी और उसे भी घटाकर १००० कर दी, इसे भी देने का वायदा करके अब तक तुमने एक भी सवार नहीं दिया।

"तुम्हारे दूसरे व्यवहारो के बारे में जिनसे तुमने अपने जासूसो द्वारा अपनी उस सरकार को जिसके मातहत तुम हो, उलट देना चाहा, मैं कुछ कहना नही चाहता। इस सरकार के प्रति जैसा तुम्हें उचित था तुमने नही किया। इस ज़मीदारी की प्रजा पर तुम गफ़लत करके रोज खून चोरी वग़ैरह होने देते हो यहाँ तक कि शहर बनारस की गलियो में नित्य यह सब अत्याचार हो रहा है जिससे अग्रेजो की बदनामी हो रही है। यह सब जिन शर्तों पर तुम्हें ज़मीदारी मिली थी उनके विरुद्ध है। ऊपर लिखे दो विषयो

से सरकार के साथ तुम्हारी बेईमानी और शत्रुता स्पष्ट हो जाती है इसीलिए मैंने तुम्हें सब बातें खोलकर लिखी हैं कि तुम फौरन इनका जवाब दो।"

राजा ने उसी रोज़ शाम को खत का जवाब भेज दिया जिसका मज़मून निम्न-लिखित है—

"मार्कहम साहब से आपका पत्र पाकर सब बातें मालूम पड़ी। शेख अली नक़ी के लौटने के बाद जो जो हुक्म आपने भेजे मैं उनकी तामील करता गया और वे आपका जो खत लाये उससे मुझे मालूम पड़ा कि आपके दिल से मेरे ऊपर से तमाम संदेह जाते रहे और आपकी दया मेरे ऊपर पहले सी ही रहेगी, पर आपकी मिहरबानी न हुई। मैंने बारबार अपनी मुसीबतों के बारे में आपको पत्र भेजे पर आपने उनका उत्तर न भेजा। इसीलिए बख्शी सदानंद को आपके पास भेजा जिससे कि वे आपको समझा सकें कि मैं आपका कितना हितैषी और आज्ञानुवर्ती हूँ और यह जानने का प्रयत्न करें कि आपका मन मेरी ओर से कैसा है। सदानंद ने हुजूर की खिदमत में पहुँचकर सब वाजिब हालात से आपको वाकिफ़ किया जिसके खिलाफ़ मैंने कोई अन्यथा आचरण नहीं किया। आपकी दया और उपकारों से मैं अत्यन्त संतुष्ट हूँ और अपनी इच्छापूर्ति का मूल आप ही को समझता हूँ। आपने लड़ाई के खर्च के लिये जो पाँच लाख रुपये देने का हुक्म मुझे दिया उस पर भी मैं राजी हो गया। पहले मैंने आपकी चिट्ठी के जवाब के साथ एक लाख रुपया भेजा बाद में एक लाख पचहत्तर हज़ार फोक साहब को दिये और बाकी रुपये के बंदोबस्त के लिए कुछ समय चाहा पर उसका कोई जवाब न मिला। लेकिन देर करने का मौका न देखकर अपने बख्शी के यहाँ पहुँचते ही मैंने रुपये दाखिल कर दिये। फ़ौज को रुपये भेजना मेरे बस की बात नहीं थी इसीलिये देरी के लिये मैं लाचार हूँ। अगर रुपया दाखिल करने के बजाय उसे फ़ौज को भेज देना मेरे बस की बात होती तो देर कभी न होती। इस खत के साथ मैं एक नक़्शा भेजता हूँ, जिन-जिन तारीखों को रुपया दिया गया उनकी तफ़सील है।

"आपने अपने खत के ज़रीए मुझसे पूछा था कि मैं कितने सवार दे सकूँगा। मैंने जवाब में लिखा था कि मेरे पास तेरह सौ सवार हैं जिनमें बहुतेरे दूर दूर के कामों पर लगे हैं लेकिन मुझे इस पत्र का भी जवाब न मिला। मार्कहम साहब ने मुझसे हज़ार सवार भेजने को कहा और मैंने पाँच सौ सवार इकट्ठे भी किये और बाकी के एवज़ में पाँच सौ बरकंदाज देने की खबर आपके पास भेजी। मैंने मार्कहम साहब से भी कह दिया कि वे सब जिस जगह वे चाहें, भेजे जाने को तैयार हैं लेकिन उसका आपके पास से कोई जवाब न आया। बारहाँ मैंने सवारों के बारे में खत का मार्कहम साहब से जवाब माँगा, पर न मालूम क्यों उन्होंने जवाब नहीं दिया। इस पर मुझे आश्चर्य हुआ। सिपाहियों के बारे में मुझे पहले यह हुक्म मिला कि मैं अपने सिपाहियों की दो कंपनियाँ कंपनी सरकार के आधीन कर दूँ और मैंने ऐसा ही किया। पीछे हुक्म मिला कि उनके दो कप्तानों की तनख्वाह भी मैं ही दूँ और मैं उनकी तनख्वाहें भी हर महीने देता रहा।

"अब्दुल्ला बेग और उनके आदमियों के सिवा हमारे कोई दूसरे आदमी कलकत्ता

नहीं गये थे। हमारे नुकसान के लिये दुश्मनो ने आपके पास झूठी शिकायतें की है। आप मेरे भाग्य से यहाँ आये है। मेरे दूसरे आदमी कलकत्ते गये थे या नही और रुक्के के अनुसार मैंने रुपया भेजा था या नही, इन सब बातो की वास्तविकता का पता लगेगा। मैंने अपने अमलो से मुचलका लेकर उन्हें समझा दिया है कि वे अपने परगनो से बदमाशो को निकाल बाहर करें। उनकी क्या मजाल है कि वे इसके विरुद्ध काम करें। अगरचे कोई चोरी या खून हुए है तो मैंने गुनहगारो को सजा दी है लेकिन अगर कोई गुनहगार भाग जाये तो मेरा क्या दोष है। मैं सब तरह से आपकी आज्ञा मानने का प्रयत्न करता हूँ।' मैंने अपने कर्तव्य से अन्यथा कुछ नही किया है। इस पर विचार करने के आप मालिक है, मैं तो आपका सब तरह से गुलाम हूँ"।[१]

इस पत्र को पाकर हेस्टिंग्स आपे से बाहर हो गये और उन्होने मार्कहम को हुक्म दिया कि वे शिवाला घाट पर चेत सिंह के महल को जायें और उन्हें क़ैद कर लें। अगर राजा इसमें कोई उज्र करें तो मार्कहम मेजर पोपहम के साथ सिपाहियो की दो कपनियो के आने का इतजार करें। इस तरह दूसरे हुक्म तक वे राजा को कैद में रक्खे। दूसरे दिन यानी १६ अगस्त को राजा शिवालाघाट में गिरफ्तार कर लिये गये और उनकी निगरानी के लिए लेफ्टिनेंट स्टॉकर, स्कॉट और साइक्स रख दिये गये। इसके बाद मार्कहम ने हेस्टिंग्स को रिपोर्ट दी, "राजा ने शांति के साथ अपने को क़ैद हो लेने दिया और मुझे इस बात का भरोसा दिलाया कि आपकी आज्ञा उनको शिरोधार्य है। उन्होने यह भी आशा प्रकट की कि आप उन्हें जीवनयापन के लिये भत्ते का प्रबंध कर देंगे। वे अपने क़िले, जमीदारी और खजाने, क्या अपना जीवन तक आप के पैरो पर रखने को तैयार थे। यह सब कहकर कैद होने पर उनकी जो बेइज्जती हुई है उस पर उन्होने बहुत खेद प्रकट किया और आपके पास मुझे इस प्रार्थना के साथ लौटने को कहा कि आप उनकी गदहपचीसी और उनके पिता की सेवाओ का विचार करके और जब उनके कामो से आपको सतोष हो जाय तब आप उनको क्षमा करेंगे"।

राजा के गिरफ्तार होने के पौन घटा पीछे पोपहम की फौज की दो ग्रेनेडियर कपनी लेकर लेफ्टनेंट स्कॉट आये और मार्कहम ने उनके और स्टॉकर के जिम्मे राजा को छोड कर यह हुक्म दिया कि राजा के आठ दस खिदमतगारो के सिवा और सब आदमियो को वहाँ से हटा दिया जाय। यह भी आज्ञा हुई कि किसी तरह की दग़ाबाजी रोकने के लिये सिपाहियो को उन नौकरो की पहचान करवा दी जाय। राजा की सब माँगो को पूरा करने की आज्ञा हुई।

मार्कहम की बातचीत सुनकर हेस्टिंग्स फिर उन्हें राजा के पास भेजने वाले ही थे कि इतने में राजा का दूसरा आतकित स्वर में पत्र आया। उस पर हेस्टिंग्स ने दिलासा देने को एक पत्र लिखा जिसमें कहा गया था कि राजा से तीसरे पहर मार्कहम मिलने वाले थे। राजा ने इस पत्र के जवाब में हेस्टिंग्स की दिलजमई के लिए धन्यवाद दिया। जिस समय हेस्टिंग्स मार्कहम को समझा बुझाकर राजा के पास भेजने वाले थे उसके पहले ही खबर

[१] कैलेंडर.....६ पत्र २०७

आयी कि रामनगर से वहुत हथियारवद आदमी उतर रहे थे। राजा की गिरफ्तारी का हाल सुनकर उनके अनुयायियो और विरादरी वालो ने शिवाला घाट का महल घेर लिया था औ उनमें वहुत से भीतर घुस गये थे। इसी समय तिलगों की दो कपनियाँ गोली वारूद के साथ पहले से नियुक्त अपने साथियो की मदद पर आयी, लेकिन मकान के चारो ओर हथियारवद आदमियो की इतनी भीड थी कि वे भीतर घुस न सकी।

इसी समय मार्कहम साहव ने चेतराम नामक अपने एक चोवदार को राजा के पास यह खवर लेकर भेजा कि पत्र पाकर हेस्टिग्स उनसे खुश थे लेकिन अगर खून खरावी हुई तो सव मामला विगड जायगा। पर इस वदमाश चेतराम ने राजा से निहायत गुस्ताखी से कहा, "मैं चेतराम हूँ तुम तो सिर्फ चेत सिंह हो। कपनी के एक एक नौकर कपनी के वरावर है। उनमें से एक को भी अगर कोई छूएगा तो मैं तुम्हें रस्सी से वाधकर घसीटते हुए गवर्नर जनरल के पास हाजिर करूगा।" चेतराम की इस हिमाकत को देख कर लोग दग रह गये, पर मनियार सिंह से यह नही देखा गया। उन्होने ललकारा, "देखें किसका अख्तियार है कि राजा को वाधे", इस पर भी उस वदमाश ने जवाव दिया, "चेत राम और चेतसिंह की वात में कौन अहमक दखल देता है?" यह सुनकर वे क्रोध से होठ काट कर और हाथ मलकर रह गये।

इसी अर्से में वाहर शोरगुल मच गया। गोलियाँ चलने लगी। चेतराम ने भी तिलगो को गोलियाँ चलाने को ललकारा और खुद चेत सिंह से लपट पडा जिससे भीतर भी वलवा मच गया। तलवारें चलने लगी और ननकू सिंह नजीव ने एक ऐसा हाथ मारा कि चेत राम के दो टुकडे हो गये। मौलवी अलीउद्दीन कुवरा भी जो राजा का अपमान देखने गये थे मारे गये। तिलगो की दो कपनियाँ जो राजा पर तैनात थी गोली वारूद की कमी और जगह की शिकस्तगी से लड न सकी। चारो ओर से राजा के आदमी उन पर टूट पडे और अफसरो के सहित उन्हें मार गिराया।

मनियार सिंह ने चेत सिंह को सलाह दी कि वे फौरन माधोदास के वाग़ में जाकर हेस्टिग्स को गिरफ्तार करें, क्योकि उस समय उनके पास कुछ मामूली सी फौज थी परतु उन्होने यह सलाह न मानी और वख्शी सदानद की सलाह से वे रामनगर भागे। उस समय गगा वाढ पर थी और पानी शिवाले घाट की खिडकी के नीचे तक पहुच गया। जिस पर खिडकी से पगडी का कमद लगाकर के वे उतर गये। उनके साथ उनके आदमी भी रामनगर चले गये। शिवाले का मकान मदद के लिए आयी तिलगो की एक कपनी के जिम्मे रह गया। शहर में भी भारी वलवा उठ खडा हुआ। लूट मच गयी और अग्रेज और उनके साथी पिटने लगे।

इसी वीच में मेजर पोपहम अपनी वाकी फौज लेकर शिवाले घाट पर आये और वहाँ से लौट कर उन्होने हेस्टिग्स को खवर दी कि वहाँ दो चार के सिवा वाक़ी सभी मारे गये हैं और स्टॉकर, स्कॉट और साइक्स तीनो लडाई में काम आये है। लेफ्टिनेंट विरेल जिन्हें वलवे की खवर के पेश्तर भेजा गया था मकान के भीतर घुसने के पहले ही साथियो सहित मारे गये थे। उनसे राजा के वचे खुचे आदमियो से लडाई हुई जिसमें दोनो तरफ के

आदमी काम आये। पोपहम शिवाला घाट पर एक कंपनी तिलगो की एक सवालट्रन के अधिकार में छोड आये।

चेतसिंह के भागने पर शहर में जो बलवा हुआ उसे दबाने के लिये हेस्टिंग्स ने औसान सिंह को नायब बनाया और राजा की जमींदारी के विषय में अंतिम निर्णय होने तक प्रबंधक नियुक्त किया। शहर और बाहर तमाम जिलो में इनका ढिंढोरा पिटवा कर परवाना जारी कर दिया गया। ढिंढोरे का मसविदा यह था, "चूंकि राजा चेत सिंह ने कपनी के विरुद्ध बगावत करके उसके कई अफसरो को मारा है, इसलिए बनारस गाजीपुर और जौनपुर पर से उनका हक्क खतम हो जाता है। औसान सिंह को गद्दी का काम देखने के लिये नियुक्त किया जाता है। बाद में हिंदू धर्म के अनुसार गद्दीदार के प्रश्न का निर्णय किया जायगा। जमींदारो और आमिलो को आगाह किया जाता है कि औसान सिंह का हुक्म न मानने वाला बागी समझा जायेगा।"[1] साथ ही साथ मिर्जापुर से पोपहम की फौज और दानापुर से एक तिलगी पलटन आने का हुक्म दिया।

राजा चेत सिंह रामनगर पहुँच कर फौरन अपने परिवार के साथ लतीफपुर के किले को भागे। केवल रामनगर के किलेदार गजराज सिंह पहरेदारो के साथ किले में रह गये। रामनगर का किला करीने से न बना होने पर भी काफी मजबूत था। और चेत सिंह ने उसमें दो तीन मिट्टी के बुर्ज जोड कर उसे और मजबूत बनवाया था।

इस समय हेस्टिंग्स के पास बहुत थोडी फौज थी। चार कम्पनी तिलगे उनके साथ थे और छह कम्पनी तिलगे मेजर पोपहम के, जिनमें से शिवाले घाट की लडाई में बयासी आदमी मारे गये थे और तिरानबे घायल हुए थे। हेस्टिंग्स ने स्वय लिखा है कि अगर इस समय चेत सिंह भागे न होते और माधोदास के बगीचे पर हमला बोल देते तो हेस्टिंग्स जरूर मारे जाते और इस तरह चारो ओर बगावत फैल जाती।[2]

स्थिति कुछ शान्त होने पर राजा चेत सिंह के रामजियावन नाम के एक सरदार दो हजार आदमियो के साथ रामनगर के किले में आये। इस पर हेस्टिंग्स ने पोपहम की मिर्जापुर वाली फौज को जिसमें सिपाहियो की चार कम्पनियाँ, गोलदाजो की एक कम्पनी और फ्रेंच रेंजर्स की एक कम्पनी थी रामनगर पर कूच करने की आज्ञा दी और चुनार के किले से लेफ्टिनेंट कर्नल ब्लेयर को भी एक बटालियन सिपाहियो के साथ रामनगर पर बढने का हुक्म हुआ। गरज यह थी कि सामान से लैस होने पर इस फौज की कमान पोपहम सभालेंगे। मेजर पोपहम ने मिर्जापुरवाली अपनी बाकी फौज के कमाडर कैपटन मेफ्रे को यह सलाह दी थी कि वे किसी-न-किसी तरह लडाई में न जुट पडे। पोपहम ने लडाई के लिए रामनगर का मैदान चुन रक्खा था, पर चुनार से तोपखाना आ जाने पर वे यह युद्ध छेडना चाहते थे लेकिन मेफ्रे ने यह बात न मानी और रामनगर पर चढाई कर दी। राजा के आदमियो ने खिडकियो और छतो से गोलियाँ

---

[1] केलेंडर......६, पत्र २१२

[2] फॉरेस्ट, उल्लिखित, पृ० १६०

चलानी शुरू कर दी। इस लडाई में १०७ आदमी मारे गये और ७२ जख्मी हुए। मेफ़े को भी अपनी जान देनी पडी। बाक़ी फौज ने चुनार भाग कर अपनी जान बचायी। यह घटना २० अगस्त को घटी।

इस घटना से बनारस में बडी गडबडी मची और हेस्टिंग्स को यह विश्वास हो गया कि बाक़ायदा लडाई शुरू हो गयी थी। उसी समय हेस्टिंग्स ने कम्पनी के फ़ौजी अड्डे पर खबरें भेजी लेकिन अधिकतर ये खबरें रास्तो की गडबडी से अपने गन्तव्य स्थानो तक नही पहुँच सकी क्योकि बनारस के चारो ओर बलवा था और बिहार और अवध के जमीदार चेतसिंह का पक्ष ले रहे थे। सबसे बडी मुश्किल तो यह थी कि उनके पास केवल तीन हजार रुपये बच गये थे और उन्हें तिलगो ना पाँच महीनो का वेतन देना था। २१ अगस्त को मेकड्यूगल के अधिकार में फौज की एक बटालियन पहुँची। लेकिन हेस्टिंग्स का समय बहुत बेचैनी से गुजर रहा था क्योकि उन्हें बहुत स्रोतो से खबरें मिल रही थी कि रामनगर में हेस्टिंग्स के डेरे, माधोदास के बाग पर धावा बोलने की तैयारी हो रही थी। माधोदास का बाग बनारस के उपनगर के बीच में था और उसमें एक अहाते के अदर कई अलग अलग इमारतें थी। यह अहाता चारो ओर पेडो और इमारतो से घिरा था और इसलिये यहाँ मुक़ाबला भी नही किया जा सकता था। हेस्टिंग्स को खबर मिली की धावा २१ अगस्त को होने वाला था और उसी दिन गगा नावो से पट गयी। अपनी फौज की कमी के कारण तथा मेजर पोपहम और दूसरे अफ़सरो की सलाह से हेस्टिंग्स ने चुनार भागने का निश्चय किया। उनकी छोटी फौज चल पडी और रात भर चल कर सबेरे चुनार पहुँच गयी। यह बात समझ में नही आती कि चेत सिंह के आदमियो ने उस समय भी हेस्टिंग्स पर हमला क्यो नहीं बोल दिया। अगर वे ऐसा करते तो साहब बहादुर को जान के लाले पड जाते। जो भी हो हेस्टिंग्स के भागने से बनारस वालो को एक कहावत मिल गयी जिससे उनकी विनोदप्रियता प्रकट होती है। कहावत है—घोडे पर हौदा, हाथी पर जीन, जल्दी से भागा वारेन हेस्टीन।

हेस्टिंग्स ने अपने चुनार भागने के सबध में बेनीराम पडित और बिसभर पडित की बडी कृतज्ञता प्रकट की है। बेनीराम पडित बरार के राजा के वकील थे और हेस्टिंग्स से रस्म के अनुसार मुलाक़ात करने आये थे। जब उन्होने हेस्टिंग्स की छोटी सी फौज को भागते देखा तो वे फौरन उसके साथ हो लिये और हेस्टिंग्स के समझाने पर भी नही लौटे। चुनार में हेस्टिंग्स को रसद के लिये बडी मुसीबत उठानी पडी। लेफ्टिनेंट कर्नल ब्लेयर ने चुनार के महाजनो से जबर्दस्ती अढाई हजार रुपये वसूल किये, जो सिपाहियो में बाट दिये गये।

चुनार में बेनीराम पडित ने बनारस आने पर हेस्टिंग्स को एक लाख रुपये देने का वादा किया। हेस्टिंग्स ने इनकी बात मान कर एक लाख की हुडी कोटू बाबू के नाम इनको कोठी पर स्वीकार कर ली। कोटू बाबू, जो हेस्टिंग्स के दीवान थे, बनारस ही में रह गये थे। हेस्टिंग्स ने उन्हें पत्र लिख कर गोपाल दास साहु से सलाह लेने को कहा कि चुनार कैसे रुपया लाया जाय। लेकिन कोटू बाबू का पता नही लगा और

गोपाल दास पकड कर लतीफ़पुर पहुँचा दिये गये थे। कुछ समय बाद कोटू बाबू की भी वही दशा हुई। बनारस लौटने के बाद हेस्टिंग्स ने कपनी के नाम पर यह हुडी भुनाई।

इसी बीच में हेस्टिंग्स को राजा चेत सिंह का एक पत्र मिला जिसमें उन्होंने अपनी वफ़ादारी प्रकट की थी और बलवे का कारण कपनी के एक अदने नोकर की गुस्ताखी बताई। थी हेस्टिंग्स ने इस पत्र का कोई जवाब नही दिया क्योकि उनकी राय में यह लडाई रोकने का झूठा बहाना था। हेस्टिंग्स का कहना है कि उसे पीछे मालूम हुआ कि चेत सिंह तमाम रजवाडो की मदद से लडाई की तैयारी कर रहे थे और अग्रेजो को हिंदोस्तान से निकाल देने के लिए सपना देख रहे थे।

उसी समय अवध के नवाब आसफउद्दौला हेस्टिंग्स की मदद के लिये रवाना हुए। हेस्टिंग्स ने पहले तो उन्हें आगे बढने से रोकने के लिये समझाना चाहा पर जब वे न माने तो उनसे चुनार में मिलना स्वीकार किया। हेस्टिंग्स ने नवाब की बदनीयती की बात सुनी थी। उस समय गोरखपुर और बहराइच तक बलवे की आग पहुँच चुकी थी और नवाब की मा और दादी चेतसिंह की तरफ़दारी कर रही थी। नवाब के मातहत कुछ अग्रेजो को लोगो के मारा पीटा था और कर्नल हेने किसी तरह अपनी जान बचाकर भाग निकले थे। पर इन सब बातो के होते हुए भी हेस्टिंग्स नबाव से मिले और साहब सलामत के बाद नवाब रुखसत हुए।

उसी समय कर्नल मॉर्गन से जो कम्पनी के कानपुर के फौजी अड्डे के अफसर थे हेस्टिंग्स ने फौजी मदद माँगी। पर उनके पास उनका यह पत्र नही पहुँचा। फिर भी आदमी की जबानी बनारस के बलवे का समाचार सुन कर उन्होने अपनी फ़ौज का बडा हिस्सा बनारस के लिए रवाना कर दिया। लखनऊ के रेज़िडेंट ने भी खबर पाते ही डेढ़ लाख रुपया और फौज भेज दी और इस तरह से हेस्टिंग्स के पास चेत सिंह से लडने के लिए काफ़ी रुपया और फ़ौज हो गयी।

२९ अगस्त को कम्पनी की फौज ने चुनार के पास सीकर के एक छोटे से क़िले पर आक्रमण किया और चेतसिंह की सेना को हराकर बहुत सा अनाज पाया। ३ सितबर को कम्पनी की फौजो ने पतीता के किले पर चढाई की। राजा की फ़ौज को इसका पता चल गया और वह आगे बढकर लडने को तैयार हो गयी। लडाई आरम्भ होने पर राजा के सिपाही खूब डट कर लडे।

लतीफपुर और पतीता के किलो में राजा की बडी सेना थी पर जगलो से वहाँ तक पहुँचना कठिन था। हेस्टिंग्स का इरादा पहले रामनगर के क़िले को लेना था। इससे रामनगर की हार का बदला मिल जाता और बनारस शहर भी हाथ में आ जाता। इस लडाई लिए तोपखाने का भी प्रबन्ध हुआ पर मेजर पोपहम को बुद्धू खाँ नाम के एक आदमी ने सलाह दी कि पहले लतीफपुर और पतीता लेकर सुक्रत के रास्ते पर अधिकार कर लेना चाहिए। मेजर पोपहम ने इस सलाह को बहुत पसन्द किया। उन्होने फौज के दो भाग

करके, १५ वी सितम्बर को मेजर क्रेब के अधीन एक भाग को सुकृत भेजा और स्वय बाक़ी फ़ौज और तोपखाने के साथ पतीते पर चढ़ाई करने के लिए आगे बढे। रास्ता बहुत खराब था फिर भी २० तारीख को मेजर रॉबर्ट के अधीन सेना ने किले पर धावा बोल दिया। कुछ लडाई होने के बाद राजा के सिपाहियो को हार खानी पडी। उधर सुकृत के रास्ते पर भी अग्रेजी फौज को सफलता मिली। अपनी हार का समाचार सुनकर चेत सिंह बहुत निराश हुए और लतीफ़पुर से विजयगढ चले गये। उनकी तमाम फौज बिखर गयी और इस तरह लडाई का पहला अध्याय समाप्त हुआ।

पतीता और लतीफपुर की फ़तह के बाद हेस्टिंग्स बनारस लौट आये और वहाँ एक इश्तिहार द्वारा चेतसिंह और सुजानसिंह के सिवा बाकी उनके सब साथियो को क्षमा दे दी। पहला इश्तिहार ४ सितम्बर, १७८१ का है जिसका आशय है—"राजा चेत सिंह ने बग़ावत करके कुछ अग्रेज अफसरो और सिपाहियो को कत्ल किया है और इसलिए बग़ावत का क़सूरदार होने के कारण उसका और उसके भाई सुजान सिंह का अथवा उनके वशवरों का बनारस की गद्दी पर कोई हक़ नहीं रह जाता। अगर ज़मीदार, नागरिक, रियाया और आमिल उसका साथ देंगे तो उन्हें सजा मिलेगी। लोगो को अपने घरों को लौट जाने और अपने कामो में लगने को कहा जाता है। चेतसिंह और सुजान सिंह के सिवा बनारस के बाशिन्दो, ज़मीदारो और आमिलो को आम माफी दी जाती है पर इस शर्त पर कि वे एक महीने के अन्दर गवर्नर जनरल अथवा मेजर पोपहम के सामने हाज़िर हो। गोपीगज जहाँ फ़िसाद हुआ था नेस्तनाबूद कर दिया जायगा तथा वहाँ के उन बाशिन्दों को जिन्होंने लूट और खून में हाथ बटाया था, सज़ा दी जायगी बनारस में भी जिन आदमियो ने लूटपाट और खून किये थे उन्हें दण्ड दिया जायगा"।[1]

राजा बलवन्त सिंह के नाती महीपनारायण सिंह को हेस्टिंग्स ने गद्दी पर बैठाया। उस समय महीप नारायण सिंह की उमर १९ साल की थी इसलिए ज़मीदारी का सब काम चलाने के लिए उनके पिता दुर्गविजय सिंह नायब मुक़र्रर हुए। ज़मीदारी की मालगुज़ारी बढाकर चालीस लाख रुपये कर दी गयी और उनसे तमाम दीवानी और फ़ौजदारी के अख्तियार ले लिए गये। इसका कारण यह था कि जब से राजा चेत सिंह का बनारस पर अधिकार हुआ तब से फ़ौजदारी और दीवानी में कोई न्याय नही होता था। राजा के भाईबन्द और बनारस के वे महाजन जो मालगुज़ारी के समय राजा को कर्ज़ देते थे और अपनी मनमानी करते थे उन पर किसी तरह का दावा नहीं चल सकता था। हज़ार अपराध करने पर भी ब्राह्मणो को सजा नहीं मिलती थी। इस तरह बनारस में चारो ओर अत्याचारो का जोर बढ गया था। बदमाशो के डर से जान-माल बचाना मुश्किल था। राजदण्ड का किसी को भय न था। हेस्टिंग्स के पास बनारस के नागरिको ने यह सब रोकने के लिए अदालत और क़ानून जारी करने के लिए दरख्वास्त दी। हेस्टिंग्स ने इस प्रार्थना पर पचीस सौ महीने की तनख्वाह पर अली इब्राहीम खाँ को फौजदारी अदालत का चीफ़ मेजिस्ट्रेट नियुक्त किया। ५०० रुपये मासिक पर उनके नीचे एक नायब

---

[1] केलेण्डर ६, पत्र २३३

भरती हुआ और उनके नीचे एक कोतवाल। एक दारोग़ा, तीन मौलवी और दूसरे कारिंदो को ३०१८॥) तक तनख्वाह में रखने का अली इब्राहीम खाँ को हुक्म हुआ। दीवानी तजवीज के लिए ५००) तनख्वाह पर दारोगा और उसके तावे में १६००) रुपये तनख्वाह में और सब कारिंदे मुक़र्रर हुए। जुमला अदालती, दीवानी और फौजदारी के बन्दोबस्त करने में ७०३५॥) और इत्तफाकिया खर्च के लिए १००) महीना नियत किया गया और टकसाल का बन्दोबस्त कम्पनी की तरफ से रेजिडेंट को सुपुर्द हुआ। राजा महीप नारायण से टकसाल के सब अधिकार ले लिये गये और उन्हें आज्ञा दी गयी कि बनारस की टकसाल वे मार्कहम को सुपुर्द कर दें।[1]

बनारस में दीवानी अदालत और पुलिस का ठीक तरह से प्रबंध होने के लिये १२ नवंबर १७८१ को हेस्टिंग्स ने एक परवाना जारी किया।[2] जिसमें यह कहा गया था कि बनारस में बहुत दिनो से अदालत और पुलिस का ठीक प्रबंध न होने से गवर्नर जनरल ने एक चीफ मेजिस्ट्रेट नियुक्त करने का इरादा किया है और उन्हें इस बात के पूरे अधिकार दिये जिससे वे लोगो की रक्षा कर सकें (देखिए परिशिष्ट द्वितीय)।

राजा चेत सिंह विजयगढ़ पहुँच कर वहाँ से अपनी दौलत ऊँटो और हाथियो पर लाद के रीवाँ की तरफ भागे और अपने घर की तमाम औरतो को विजयगढ़ ही में छोड गये। रीवाँ से चेतसिंह पन्ना भागे। रास्ते में उनकी बहुत सी दौलत लुट गयी और जिस इलाके में वे भागे वहाँ वालो को रिश्वत भी देनी पडी। इधर पोपहम की फ़ौज ने विजयगढ़ की ओर कूच किया। चेत सिंह की माता पन्ना ने वारेन हेस्टिंग्स को एक पत्र लिखकर इस शर्त पर कि उनके ऊपर कोई हाथ न लगावे क़िला खाली कर देने का वादा किया। पोपहम ने अपनी राय के साथ यह पत्र वारेन हेस्टिंग्स के पास भेज दिया। वारेन हेस्टिंग्स के जवाब से रानी के संबध में उसका पूरा मनसूबा जाहिर हो जाता है "तुम्हारा कल के तारीख का पत्र मैंने अभी पाया। मेरी कल की चिट्ठी से रानी के विषय में मेरे अभिप्राय का तुम्हें पता चला होगा। मेरी राय में उनकी बेइज्जती की बात को छोड कर, उनकी और कोई शर्त मंजूर नही होनी चाहिए। हमें जो खबर मिली है अगर वह सच है तो तुम रानी के साथ कोई शर्त न करो, न उनकी किसी बात पर राजी हो। इससे किला आप से आप तुम्हारे हाथ आ जायेगा। अगर बिना तलाशी लिये, तुमने रानी को छोड दिया तो मेरा विचार है कि वह तुम सब को ठग कर बहुत माल ले जायगी। लेकिन इस संबध में मुझे कुछ कहने की जरूरत नही है। जो तुम उचित समझो करो। लेकिन मुझे बडा अफसोस होगा अगर तुम्हारे सब अफ़सर और तिलंगे अपने हक़ों में किसी प्रकार ठग लिये जायँ ··· पर रानी द्वारा कोई परगना या कोई जमीन किसी जमीदार के साथ बंदोबस्त करने अथवा उनके गुजारा के लिये किसी तरह के प्रबंध की शर्तों को मानने में हम असमर्थ हैं।"

इस खत कितावत के बाद यह शर्त मंजूर हुई कि रानी असबाब और दौलत समेत

---

[1] केलेण्डर ·६, पत्र ३१२

[2] केलेण्डर ·· ··६, पत्र २९२

क़िला छोड देंगी और उनकी और उनके नौकरों की तलाशी न ली जायगी। लेकिन उनके क़िले के बाहर निकलने पर, पोपहम और उनके आदमियों ने रानी के जवाहरात छीन लिये और उनकी वेइज्जती की। विजयगढ के किले में से तेइस लाख सत्ताइस हजार आठ सौ रुपये मिले, और फौज ने यह लूट आपस में वाँट ली। वारेन हेस्टिंग्स ने उनसे यह रुपया लौटाने की लाख कोशिश की पर उनकी एक न चली।

विजयगढ के किले से भागने के वाद चेत सिंह का फिर वनारस के इतिहास से कोई सीधा सवध नहीं रह जाता। चेत सिंह ने महादजी सिंधिया की मदद से वनारस पर अधिकार जमाने की वहुत कोशिश की पर उसमें वे सफल न हो सके। इनकी मृत्यु १८१० में हो गयी।

चेत सिंह के अन्तिम दिनो का इतिहास जानने के पहले हमें १८वीं सदी के अन्त की कुछ राजनीतिक चालों को जान लेना आवश्यक है। हेस्टिंग्स पेशवा से सुलह चाहते थे और इस सम्वन्ध में सिंधिया के साथ कम्पनी की सुलह का समाचार सुनकर उन्हें वडी प्रसन्नता हुई। नरवर में इस सन्धि पत्र पर कर्नल म्योर ने १७८१ में हस्ताक्षर किया। सिंधिया ने इस सुलह के वाद पेशवा के साथ अग्रेजो की सुलह जल्दी ही करा देने का वादा किया। सुलह जल्दी करने के लिए हेस्टिंग्स ने डेविट एडरसन को सिंधिया के पास ५ नवम्वर १७८१ को वनारस भेजा। इटावा में एडरसन और कर्नल म्योर की भेंट हुई और सव वात समझ लेने के वाद वे सिंधिया की तरफ चले।

इसी वीच चेत सिंह ने सिंधिया के पास अपने एक विश्वासी दूत को भेज कर उनके सामने एक वडी फौज के साथ अग्रेजो से लडने का प्रस्ताव रक्खा और खुद भी सिंधिया से दतिया के पास नवम्वर १७८१ में जा मिले। सिंधिया को चेत सिंह की दौलत का पता था और इसीलिए उन्होंने उनकी वडी आवभगत की। कर्नल म्योर के ५ और ६ दिसवर १७८१ के पत्रो से चेत सिंह के वारे में निम्नलिखित वातो का पता चलता है। चेत सिंह ने महादजी सिंधिया से शिवाजी और अम्वाजी को वनारस पर धावा वोलने की आज्ञा चाही। जव सिंधिया ने यह वात मान ली तव राजा ने उनकी सेना की वाकी तनख्वाह और भविष्य में राजा के साथ देने वाली सेना की तनख्वाह देने का वादा किया। म्योर को इस वात का भी पता चला कि सिंधिया की नागा फौजें चेतसिंह के साथ हो ली थीं। ६ दिसम्वर के सिंधिया के एक पत्र से म्योर को पता चला कि वे राजा चेतसिंह की सिफ़ारिश करना चाहते थे।[१]

४ नवम्वर १७८१ को हेस्टिंग्स ने सिंधिया के पास एडरसन के जाने की खवर भेज दी लेकिन सिंधिया ने पूना की आज्ञा के विना उनसे मिलने को इनकार कर दिया। इसी वीच उन्होंने म्योर को एक पत्र लिखा जिसमें सिंधिया से चेतसिंह के मिलने की वात थी और इस वात की प्रार्थना थी कि हेस्टिंग्स राजा की भलाई का खयाल रक्खेंगे। कर्नल म्योर ने इस पत्र के उत्तर में ६ दिसम्वर १७८१ को एक पत्र भेजा जिसमें कम्पनी के शत्रु

[१] इंडियन हिस्टोरिकल रेकर्ड्स् कमीशन, प्रोसीडिंग्स ११ (१९२८), पृ० १६८–१७२

चेतसिंह को आश्रय देने का उलाहना था। हेस्टिंग्स ने भी ऐसा ही एक पत्र सिंधिया के पास लिखा।

ऐसा पता चलता है कि सिंधिया द्वारा चेत सिंह को आश्रय देने वाली घटना में हेस्टिंग्स ने सिंधिया का शत्रुभाव नही माना। अपने १२ दिसम्बर १७८१ के एक पत्र में उसने एडरसन को इस बात की सूचना दी कि अंग्रेजो के साथ सिंधिया की टालमटोल इसलिए थी कि उनकी पूना के प्रति वफादारी थी और उन्हें चेतसिंह की दौलत का लालच था। इसमें एडरसन को यह भी सलाह दी गयी थी कि अगर पूरी कैफियत देने के बाद भी सिंधिया न मानें तो एडरसन वापस चले आयें।

कुछ दिनो बाद सिंधिया ने २३ जनवरी १७८२ को एडरसन से भेंट करना स्वीकार कर लिया। इस भेंट में महादजी ने चेतसिंह की प्रार्थनाओ को न मानने का वादा किया। एडरसन को हेस्टिंग्स ने यह भी आदेश दिया कि वह चेतसिंह के पडाव से हट जाने पर सिंधिया से मिलने की शर्त पर अधिक जोर न दे।

एडरसन और महादजी की भेंट का नतीजा अच्छा निकला। सिंधिया की मदद से अंग्रेजो ने पेशवा के साथ दिसम्वर १७८२ में सालवी की संधि की। लेकिन चेत सिंह के मामले में महादजी कुछ न कर सके और इसलिये उन्होंने दूसरे तरीक़ो से ही राजा का परितोप करने का निश्चय किया।

एडरसन ने ८ मई १७८३ के अपने एक पत्र में हेस्टिंग्स को लिखा कि सिंधिया की प्रार्थना पर भी उसने हेस्टिंग्स को चेत सिंह की सिफ़ारिश में लिखने से इनकार कर दिया। बहुत ख़त-किताबत के बाद भाऊ बक्शी एडरसन से मिले और राजा के बारे में एडरसन के मत से सहमत होकर राजा की दूसरी तरह से मदद करने का निश्चय किया।

अपने २० मई १७८३ के एक पत्र में एडरसन लिखता है कि सिंधिया ने चेत सिंह को दस लाख सालाना आमदनी की एक जागीर जिसमें भिंड और कछवागढ भी शामिल थे देने का निश्चय कर लिया था। १० जून के एक दूसरे पत्र में एडरसन ने फिर खबर दी कि नवाब वजीर की रियासत के पास होने से चेतसिंह ने भिंड लेना कबूल नही किया और उसकी जगह सिंध नदी के पास विजयगढ़ लेना चाहा। इसी बीच में सिंधिया ने जागीर घटाकर पाँच लाख की कर दी और असल में तो उस जागीर की आमदनी दो या तीन लाख से अधिक नही थी।

हेस्टिंग्स के अवसर ग्रहण करने पर चेतसिंह को पुन बनारस की गद्दी प्राप्त करने की आशा हुई। अपने २३ मार्च १७८५ के एक पत्र में एडरसन लिखते है कि मिर्ज़ा रहीम बेग और दीवान माधोराव ने हिम्मत बहादुर से सलाह करके सिंधिया को इस बात का पता लगाने पर राज़ी कर लिया कि हेस्टिंग्स के बाद के गवर्नर जनरल के शासन काल में चेतसिंह के लिये कोई आशा थी अथवा नही। लेकिन यह बात कुछ आगे नही बढ़ पायी।

चारो तरफ़ से नाउम्मीद होकर चेतसिंह ने एडरसन से सीधी बातचीत चलानी चाही पर एडरसन ने इससे इनकार कर दिया। अपने २५ जुलाई, १७८५ के एक पत्र

में एडरसन लिखता है कि चेतसिंह का सब धन समाप्त हो जाने पर किस तरह सिंधिया उनसे बेरुखी का बरताव करने लगे थे और कैसे उन्हें झूठी आशाओं में फांस रक्खा गया था। इसके बाद चेतसिंह का नाम इतिहास से लुप्त हो जाता है।

लाला सेवकराम कलकत्ते में नाना फडनवीस के वकील थे। इनका हेस्टिंग्स के साथ बराबर बनारस आना होता रहा और अपनी इन यात्राओं का वर्णन ये बराबर नाना के पास भेजते रहे। चेतसिंह वाली घटना के संबंध में उनके दो पत्र महत्व के हैं। इन पत्रो से तत्कालीन घटनाओं पर तो कोई विशेष प्रकाश नहीं पडता पर इतना अवश्य पता चलता है कि दूसरो की दृष्टि में इस घटना का क्या महत्त्व था और हेस्टिंग्स उस समय कितने परीशान थे। पहला पत्र तो बनारस की घटना का सरसरी तौर से वर्णन देता है।[१] पत्र का मज़मून निम्नलिखित है —

"बनारस श्रावण वदी १० को पहुँचकर उसने चेत सिंह के साथ बेइमानी बरती पर ईश्वरेच्छा से तत्काल दुर्दशाग्रस्त होकर रात्रि के समय उसे सात कोस चुनार के क़िले में भागना पड़ा। उसके साथ भोसले के वकील बेनीराम पत और बिसभर पत थे।

'चेत सिंह ने तीन सौ गोरी फौज और एक तिलगी पलटन को मार काट कर बडे साहब को बहुत सताया और मुल्क में बग़ावत फैल गयी। परतु नवाब वज़ीर जिसकी करनी सारे देश में विदित है पाँच हजार सवार और सात पलटन लेकर आया और बडे साहब की जान बचायी। चेत सिंह घबराकर पचास हाथी और दो सौ ऊँटो पर रुपये और मुहर लाद कर भागा। उसके साथ में पाँच हजार प्यादे और सवार थे। उसने एक वकील नाना साहब और दो वकील महादजी शिंदे और अहल्याबाई के पास भेजे

"पौष कृष्ण १३ को खबर मिली कि चेत सिंह महादजी के पास पहुँच गये है। सिंधिया ने तीन कोस आगे अपने दीवान को भेजकर उनकी आवभगत की और उनकी कुशल पूछकर पोशाक और जवाहरात भेंट कर लदकर के ठहरने का प्रबंध किया और उनको ढाढस दिया। बडे साहब ने अपने एलची इद्रसेन (एडरसन) को लिखा कि वह शिंदे से भेंट करे और उसने इटावा से कूच करके ७ मुहर्रम को शिंदे से मुलाकात की। बडे साहब ने बेनीराम को एक लाख रुपये इनाम और पचीस हज़ार सालाना की जागीर दी और उनके भाई बिसभर पत को पचास हज़ार खर्च देकर नागपुर भोसले के पास इसलिए भेजा कि उनके मार्फत आपके साथ सलाह कर सकें"।

लाला सेवकराम के दूसरे पत्र से जो ७ जनवरी १७८२ को बनारस से लिखा गया, वारेन हेस्टिंग्स की बनारस से रवानगी का पता चलता है। संभवत जब बनारस में गडबडी फैली हुई थी, तब लाला सेवकराम पटने लबे पड गये थे और ठीक उस मौके पर पुन हाज़िर हो गये जब वारेन हेस्टिंग्स बनारस से रवाना होने वाले थे। इस पत्र में हेस्टिंग्स की रवानगी का बहुत सुदर वर्णन है। पत्र का मजमून निम्नलिखित है —[२]

---

[१] इतिहास संग्रह, अप्रैल १९०९, पृ० ११–७२

[२] इतिहास संग्रह, उल्लिखित, पृ० ७३–७४

"पटने ढाई महीने ठहरने के बाद किराये की नाव पर मैं बनारस आया। वहाँ मणिकर्णिका पर स्नान करके विश्वेश्वर और अन्नपूर्णा की अराधना की और ब्राह्मणो को दक्षिणा बाँटी। चन्द्र ३ मोहर्रम को बडे साहब से भेंट की। बडे रजीदा थे। मुझसे पूछा—क्या कहना है? इतने दिनो कहाँ थे। मैंने उत्तर दिया—यहाँ दगे फसाद की वजह से पटना था और लौटते ही आपके पास आया हूँ। कुछ न कहकर पान अतर देकर विदा किया। उसी रोज मैंने देखा कि बीबी और बडे साहब का माल असबाब नाव पर चढ रहा है। मुशी वगैरह ने कहा कि दो चार दिनो में कलकत्ते जाने वाले हैं। चन्द्र ११ मुहर्रम को नवाब वजीर ने दो चाँदी की सजी पलगें, चाँदी की अम्बारियो सहित दो हाथी, एक पालकी और पाँच घोडे बडे साहब के पास भेजे, जिन्हें राजा गोविन्द राम वकील ने हाजिर किया। बडे साहब और बीबी रात दिन नाव पर रहते थे और दूसरे तीसरे बाग़ (माधवदास सामिया) में आकर दरबार करते थे। विजयगढ हस्तगत हुआ वहाँ से तीस लाख नकद, बीस लाख का कपडा और गल्ला तथा बारूद और गोले हाथ लगे। राजा की माँ और उनकी औरतो को पाँच लाख देकर काशी के राजमहल में रक्खा चन्द्र १३ मुहर्रम को बेनी राम ने नाव पर बडे साहब से भेंट की। एक पोशाक, मोती का कठा, सरपेंच और जिगा खिल्लत में देकर उनसे बातचीत की। लोगो का विश्वास है कि मुधाजी भोसले ने बेनीराम को हटा दिया है। अन्त में सेवक राम विनती करते हैं कि कश्मीरी मल का ३००० कर्ज़ हो गया है"।

चेत सिंह के मामले को लेकर इतिहासकारो और इगलैण्ड के राजनीतिज्ञो में काफ़ी बहस रही। एक पक्ष वारेन हेस्टिंग्स के चेत सिंह के प्रति किये गये व्यवहार का समर्थन करता था और दूसरा पक्ष इसका विरोध। समर्थक पक्ष का कहना था कि बनारस पर चेत सिंह का कोई हक़ न था और अग्रेज उनकी मदद न करते तो अवध के नवाब उनकी सब मिलकियत जब्त कर लेते और राजा का किया धरा कुछ न बन पडता। वारेन हेस्टिंग्स भी खुद कम्पनी का कब्जा बनारस पर कर सकते थे क्योकि बनारस का प्रबध अवध के नवाब ने अग्रेजो के हाथ कर दिया था। फिर भी हेस्टिंग्स ने चेत सिंह को इसलिए गद्दी पर बैठाया कि वे उनके आडे बेडे में काम आ सकें। पर ऐसा न करके चेत सिंह अपनी मनमानी करते रहे और अपने व्यवहारो से अपने मददगार वारेन हेस्टिंग्स को काफी तकलीफ पहुँचाई।

चेत सिंह से लडाई के समय माली मदद माँगने के सम्बन्ध में इस पक्ष का कहना है कि हिन्दोस्तान की तो यह प्रथा थी कि लडाई के समय करद जान माल से केन्द्र की सहायता पहुँचावें। वारेन हेस्टिंग्स ने रुपये माँगकर कोई अनुचित नही किया। चेत सिंह के साथ कबूलियत में ऐसी रकम का उल्लेख न होना विरोध पक्ष की राय में कोई विशेष बात नही है, क्योंकि कबूलियत के पट्टे में यह भी नही लिखा था कि मालगुजारी के सिवा उनसे कोई रकम वसूल नही की जा सकती थी।

समर्थक पक्ष का यह भी कहना है कि चेत सिंह कम्पनी को आसानी से हर साल पाँच लाख रुपये और समय पर एक हजार सवार दे सकते थे। बाद में वे आसानी से हेस्टिंग्स द्वारा किये गये पचास लाख रुपये जुर्माने को भी अदा कर सकते थे क्योकि उनके

खजाने में तीन करोड से अधिक रकम थी और कम्पनी को मालगुजारी देने के बाद भी उनको १४–१५ लाख की बचत थी।

कुछ लेखकों का कहना है कि औसान सिंह को कैद से छुड़ाकर और उन्हें चेत सिंह से जागीर दिलवाना हेस्टिग्स का अन्याय था। लेकिन समर्थक पक्ष का कहना है कि हेस्टिंग्स को इस तरह का हुक्म जारी करने का पूरा अधिकार था क्योंकि पट्टा क़बूलियत में यह साफ़-साफ़ लिखा था कि चेत सिंह अपनी रियाया पर जुल्म न करेंगे। अगर हेस्टिंग्स की निगाहों में उन्होंने औसान सिंह पर जुल्म किया तो इसका प्रतिकार करने का उन्हें पूर्ण अधिकार था।

हेस्टिंग्स के समर्थक यह मानते हैं कि जब चेत सिंह ने उनके पाँव पर अपनी पगडी रख दी तो उसे ठुकराना अनुचित था तथा राजा को उनके मकान में क़ैद करने की बात गलत थी। लेकिन इन बातों का भी वे इस बुनियाद पर समर्थन करते हैं कि चेतसिंह ने कम्पनी के साथ बेईमानी बरती थी और अगर इस बेईमानी के फलस्वरूप हेस्टिंग्स ने उनके साथ कडाई का व्यवहार किया तो कोई अनुचित नहीं था।

हेस्टिंग्स के समर्थक यह मानते हैं कि चेत सिंह वाले मामले में सब दोष चेत सिंह और औसान सिंह का था, हेस्टिंग्स इसमें निर्दोष थे। इस घटना की जड वे औसान सिंह का मुर्शिदाबाद जाना मानते हैं। औसान सिंह के मुर्शिदाबाद जाते ही चेतसिंह को यह डर पैदा हुआ कि औसान सिंह, जिन पर वारेन हेस्टिंग्स की कृपा थी, कहीं राजा की उनसे चुगली न करें। उस समय गवर्नर जेनरल की काउंसिल में भी वैमनस्य चल रहा था और इस बात की सम्भावना थी कि अगर हेस्टिंग्स अपने पद से हटे तो क्लेवरिंग गवर्नर-जनरल होंगे।

इस भविष्य को सोचकर ही चेत सिंह ने शंभूनाथ को बनारस से क्लेवरिंग के पास भेजा। लेकिन जैसे ही हेस्टिंग्स को औसान सिंह से यह खबर मिली वे राजा पर निहायत नाराज हुए और उसी दिन से हेस्टिंग्स का चेत सिंह के प्रति अविश्वास बढने लगा। इस अविश्वास को तूल देने वालों की कमी न थी। हेस्टिंग्स और मार्कहम के साथ औसान सिंह और दोनों मौलवी थे और चेत सिंह के साथ बहुत से बदमाश और खुशामदी। चेत सिंह और हेस्टिंग्स का पारस्परिक अविश्वास बढता ही गया और उसी के फलस्वरूप राजा को बनारस छोड कर भाग जाना पडा।

अगर ध्यानपूर्वक देखा जाय तो चेत सिंह वाले मामले में हेस्टिंग्स की सरासर जबर्दस्ती थी। इसमें शक नहीं कि चेत सिंह को गद्दी पर बैठाने का बहुत कुछ श्रेय हेस्टिंग्स को था पर इसके माने तो यह नहीं हो सकते कि गद्दी पर बैठाने के बाद क़बूलियत पट्टे को ताख पर रखकर हेस्टिंग्स चेत सिंह के साथ मनमाना व्यवहार करें। चेतसिंह कोई बहादुर आदमी नहीं थे। बात बात पर वे गवर्नर जनरल की खुशामद करने को तैयार थे फिर भी हेस्टिंग्स ने उनके साथ अपमानजनक व्यवहार किया। यहाँ तक कि रेजिडेंट के मुँह लगे भी उनकी बेइज्जती करने में नहीं चूकते थे। लेकिन १८वीं सदी में बुजदिल होना पाप था और उसी का दंड चेत सिंह को भोगना पडा। बनारस की

बगावत के बाद अगर वे ठीक तरह से अपनी सेना का सचालन कर सकते, तो शायद हेस्टिग्स को अपनी जान खोनी पडती और इसका नतीजा भारतवर्ष के इतिहास पर क्या होता, कहा नही जा सकता। पर चेत सिंह तो भागते ही रहे। बिजयगढ़ के किले में अपनी स्त्रियो को छोड कर भागना तो अत्यन्त कायरता थी।

कैंब्रिज हिस्ट्री के लेखको ने भी चेतसिंह के मामले में वारेन हेस्टिग्स की नीति ग़लत मानी है।[1] उनकी राय में राजा से जबर्दस्ती रुपये वसूलने में सख्ती बरती गयी। १७७९ में चेत सिंह ने प्रार्थना की कि कर केवल उसी साल के लिये रहे, तब उनकी ढिठाई का बदला उनसे किश्तो की जगह एक मुश्त रकम माग कर निकाला गया। जब चेत सिंह ने रक़म अदा करने के लिये ६–७ महीनो की मुहलत चाही, तब उनसे कहा गया कि रक़म फौरन अदा न करने पर यह मान लिया जायगा कि उन्होने रकम देना ही नामजूर कर दिया। जब चेत सिंह ने पट्टा कबूलियत की दुहाई दी तो उनके राज में सेना को बढने का आदेश दिया गया, सो भी उन्ही के खर्च पर।

१७८० में जब चेत सिंह पाँच लाख की रक़म की अतिम किश्त अदा कर चुके तो उन्हें दो हजार सवार भेजने का आदेश हुआ गोकि जब १७७५ में वे बनारस के राजा हुए तो उन्हें केवल २००० सवार रखने का आदेश हुआ और सो भी उनका रखना न रखना उन पर मुनहसर था। रो-पीट कर चेत सिंह ने ५०० सवार और ५०० सिपाही कपनी की सेवा में भेजने का निश्चय किया, पर इस सबध में उनके पत्र का कोई उत्तर नही मिला।

राजा ने बक्सर में हेस्टिग्स के पैरो पर अपनी पगडी तक रख दी पर हेस्टिग्स ने उसका भी खयाल न करके और उसे ठुकराकर उसकी बेइज्जती की। चेत सिंह कोई मामूली जमीदार तो थे नही और इस बात को हेस्टिग्स ने स्वय स्वीकार किया है, फिर भी उनकी बेइज्जती एक मामूली आदमी की तरह की गयी।

यह बात निश्चित सी है कि राजा के दिमाग़ में बग़ावत की बात तब तक नही घुसी थी जब तक उनके अपमान से क्षुब्ध होकर उनकी सेना ने बग़ावत नही कर दिया। हेस्टिग्स का व्यवहार चेत सिंह के प्रति प्रतिहिंसा युक्त था। १७८० में पाँच लाख की तीसरी माँग के बाद चेत सिंह ने अपने एक निजी दूत को कलकत्ता भेजकर हेस्टिग्स को दो लाख की नजर दी। पहले तो हेस्टिग्स न इस रक़म को ठुकरा दिया पर बाद में सिंधिया के विरुद्ध सेना भेजने की तैयारी में रुपये की जरूरत से बिना कौसिल के जाने रुपये ले लिये और पूछने पर यह बतला दिया कि वे उनकी निजी जायदाद से आया था। लेकिन यह समझना मुश्किल है कि कैसे एक विचारयुक्त और साधारण सहानुभूति वाला आदमी एक दूसरे आदमी से दो लाख की रक़म लेकर, फौरन ही उससे पाँच लाख की दूसरी रक़म माँगे और प्रार्थी को सेना भी देने को मजबूर करे और उसके ऐसा न करने पर उसके ऊपर पचास लाख का जुर्माना ठोक दे। हेस्टिग्स के इस व्यवहार से साफ पता चलता है कि चेत सिंह द्वारा क्लेवरिंग के पास दूत भेजने की बात वे नही भूले थे और राजा से उसी का बदला निकाल रहे थे।

---

[1] केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इडिया, भा० ५, पृ० २९५ से

राजनीतिक आधारो पर भी चेत सिंह वाले मामले में हेस्टिंग्स का व्यवहार ठीक नहीं जँचता। उसे रुपये की सख्त जरूरत थी, वह भी उसे नही मिला इतना ही नही उसनें मुफ्त में ही अपनी जान भी खतरे में डाली। अँकड में आकर राजा को क़ैद करने से ही उसने बनारस के लोगो में बगावत फैलायी। राजा अपना धन दौलत लेकर भाग खडे हुए और जो कुछ बाक़ी बचा उसे सेना ने विजयगढ में लूट लिया, उलटे कम्पनी को इस लडाई के खर्चे का पूरा भार उठाना पडा। बाद में हेस्टिंग्स शेखी बघारते थे कि उन्होने २२ लाख लगान वाली ज़मीदारी खोकर ४० लाख लगान वाली ज़मीदारी प्राप्त की लेकिन यह सब तो भविष्य की बात थी और वास्तव में तो दुर्भिक्ष पड जाने से तो कुछ दिनो तक बहुत कम मालगुज़ारी वसूल हो सकी। इस बात के सबूत हैं कि कर की अधिकता और दूसरी लूटो से बहुत दिनो के बाद बनारस की अवस्था सुधर सकी।

जो भी हो एक बात माननी ही पडेगी कि हेस्टिंग्स ने बनारस ले लेने के बाद वहाँ की न्याय व्यवस्था को बहुत कुछ सुधारने की कोशिश की। १८वी सदी के उत्तर भारत में अराजकता का पूरा ज़ोर था और उसकी वजह से न्याय व्यवस्था कायम रखना आसान काम न था। कम से कम बलवन्त सिंह और चेत सिंह के समय तो अपराधो की सख्या बहुत अधिक बढ गयी थी और गुडो और पडो की बदमाशियो के मारे नाको में दम था। राजा के रिश्तेदार और बनारस के वे महाजन जो राजा को अग्रेजो की मालगुज़ारी अदा करते समय रुपये उधार देते थे प्रजा के साथ मनमाना व्यवहार करते थे और उन्हें किसी प्रकार के राजदड का डर न था। अपनी पवित्रता की आड में ब्राह्मण भी भयकर से भयकर अपराध करते थे, क्योकि उन्हें इस बात का विश्वास था कि उन्हें दड नही मिलेगा।[1]

इन बुराइयो से छुटकारा पाने के लिए वारेन हेस्टिंग्स ने 'पुलिस और फ़ौजदारी और दीवानी मुक़दमो के लिए अलग-अलग विभाग खोले और उन सब विभागो को अली इब्राहीम खाँ के मातहत कर दिया। अली इब्राहीम खाँ ईमानदार आदमी थे और हेस्टिंग्स के साथियो ने इस नये प्रबन्ध को बहुत सराहा और उन्हें लिखा, "आपकी यात्रियो की रक्षा और आराम की तरफ दृष्टि, आपके द्वारा उन करो का उठा दिया जाना जिनसे रिश्वती सरकार के समय प्रजा पीडित थी—इन दोनो से आपकी ख्याति बढती है। राजनीतिक दृष्टिकोण से भी आपका प्रबन्ध उचित ही है और उसका अच्छा नतीजा मिल सकता है। गगा से कन्याकुमारी तक सारा हिन्दोस्तान पुलिस सम्बन्धी नियमो में रस लेगा और उसे बनारस की पाठशालाओ में व्यवस्थित और शान्तिमय वातावरण देखकर आनन्द होगा। बडे-बडे अगुआ मरट्ठे जिनसे हम लड रहे हैं, वे भी बनारस को धार्मिक पवित्रता का घर मानते हैं। इन कारणो से हम आपसे प्रार्थना करेंगे कि आपने जो क़ानून बनारस में चलाये हैं वे भिन्न-भिन्न भारतीय भाषाओ में छाप दिये जायँ। थोडे ही दिनो में ये चारो ओर भारत में फैल जायेंगे और लौटते हुए यात्रियो के बयान से हिंदुओ को मालूम हो जायेगा कि हमारी शासन व्यवस्था कितनी सरल है"।[2] ● ●

---

[1] फॉरेस्ट, उल्लिखित, भाग १, पृ० २२९–२३० [2] वही, पृ० २३०–३३

पांचवाँ अध्याय

मराठे और बनारस (१७३४-१७८५)

महाराष्ट्र ब्राह्मणो के लिए काशी अकबर के राज्यकाल से ही परम पवित्र तीर्थ बन , गयी। महाराष्ट्र पडित काशी में यात्रा के लिए ही नही आते थे, बहुत से तो वहाँ सदा के लिए बस गये और अपने पाडित्य से बनारस का नाम ऊँचा करते रहे। जान पडतां है, पेशवाई आरम्भ होने पर महाराष्ट्र और बनारस का सम्बन्ध और दृढ हुआ और बहुत बडी सख्या में महाराष्ट्र ब्राह्मण काशी यात्रा के लिए आने लगे और पेशवा भी बनारस के सुधार में काफी रुपये खरचने लगे। बहुत से महाराष्ट्र ब्राह्मण तो पूना की वृत्ति से अपना गुजारा करते और पेशवाओ के कल्याण के लिए पूजापाठ करते रहते थे। इन ब्राह्मणो के रहने के लिए पेशवाओ ने बहुत सी ब्रह्मपुरियाँ बनवायी और उनकी स्नान पूजा की व्यवस्था के लिए बहुत से घाट भी बनवाये। धीरे-धीरे जब उत्तर भारत से पेशवाओ का सम्बन्ध बढा तब उनकी यह इच्छा प्रबल होती गयी कि किसी तरह त्रिस्थली यानी काशी प्रयाग और गया उनके अधिकार में आ जायँ। इसके लिये उन्होने बहुत प्रयत्न भी किया पर अनेक राजनीतिक उलझनो के कारण ये तीनो शहर उनके क़ब्जे में न आ सके। इतना ही नही इन तीर्थों की ले लेने की उत्कट इच्छा से मराठो को आगे चल कर बहुत नुकसान भी पहुँचा क्योकि रुहेले और अवध के नवाब, इन दोनो में पुश्तैनी वैर भाव होने पर भी इस बात पर दोनो एक मत थे कि किसी प्रकार मराठे गगा के दक्षिण में ही रहें, क्योकि इसमें उन दोनो के राज्यो की रक्षा थी। शायद शुजाउद्दौला पानीपत की लडाई में अब्दाली का हरगिज साथ न देते, अगर उन्हें इस बात का डर न होता कि मराठो की उनके राज्य पर आँख है। अग्रेजो के हाथ में बिहार और बनारस आने पर तो मराठो को त्रिस्थली से सदा के लिए हाथ धो देना पडा।

बाजीराव प्रथम (१७२०-१७४०) के समय में ही पूना और बनारस में दृढ सबध स्थापित हो चुका था। पेशवा दफ्तर में सदाशिव नाइक जोशी के, जो शायद बाजीराव प्रथम के बनारस में कारभारी थे, १७३४-३५ ईस्वी के कई पत्र है जिनसे पूना और बनारस के सबध पर काफ़ी प्रकाश पडता है। लेकिन इन पत्रो में केवल घाटो, ब्रह्मपुरियो इत्यादि के बनाने के ही उल्लेख है, उनसे यह नहीं पता चलता कि बाजीराव प्रथम की बनारस पर निगाह थी।

सदाशिव नाइक जोशी का ८-८-१७३५ का एक पत्र बाजीराव प्रथम और चिमना जी आपा के नाम है।[1] इस पत्र में सदाशिव नाइक ने कई प्रश्नो का समाधान किया है और घाट इत्यादि बनवाने में अपनी कठिनाइयो का भी उल्लेख किया है। शायद पेशवा ने ब्रह्मपुरी बनवाने के लिये नाइक को लिखा था पर उसके लिये बडी जगह नही मिलती

[1] पेशवा दफ्तर, ३०, १३१

थी। बनारस के फ़ौजदार रुस्तम अली उस समय जरासध घाट पर मीर घाट के नाम से पुश्ता बनवा रहे थे। उसके लिये सब इमारती सामान ख़रीद लिया जाता था और इससे दूसरे लोग कोई इमारती काम अपने हाथ में नहीं ले सकते थे। सदाशिव नाइक के कथनानुसार उस समय बनारस का किराया दुगुना हो गया था और इसका कारण बनारस में नागरो का आकर बस जाना था। सदाशिव ने पेशवा की ओर से वृद्धकाल के पास एक बाग़ लिया था जिसमें चहारदीवारी खिंच गयी थी और पूरा बाग थोडे ही दिनो में बन कर तैयार होने वाला था। यह बाग़ इतना बडा था कि उसमें एक हज़ार ब्राह्मण एक पंक्ति में बैठकर भोजन कर सकते थे। पेशवा ने काशी में घाट बाँधने की आज्ञा भेजी थी। सदाशिव नाइक ने अपनी राय से पचगगा, मणिकर्णिका और दशाश्वमेध पर घाट बाँधना निश्चित किया था और उसमें दशाश्वमेध और मणिकर्णिका के घाट तो बन भी चुके थे। पचगगा का घाट भी श्रीपत राव नाम के किसी सज्जन ने बनवा दिया था। ब्रह्मनाल घाट न बँध सका इस की भी चर्चा सदाशिव करते है।

अपने दूसरे पत्र के आरभ में[1] सदाशिव पहले पत्र की तरह ही घाटो के उल्लेख करते हैं। इस पत्र से यह भी पता चलता है कि मदाकिनी (मैंदागिन) के तीर वाले बगीचे का रक़बा तीन बीघा था और इसमें यात्रियो के रहने की व्यवस्था थी। इस पत्र से यह भी पता चलता है कि नारायण दीक्षित बनारस पहुँच गये थे और उनके रहने के लिए सदाशिव नाइक ने घर का प्रबध कर दिया था।

अपने तीसरे पत्र में भी सदाशिव नाइक बनारस के घाट इत्यादि की चर्चा करते है।[2] पत्र से यह भी पता चलता है कि नाइक जी किसी बखेडे में फँस गये थे और केशव राव और नारायण राव ने अभयपत्र भेजकर उनकी रक्षा की थी। ग्यारह ब्रह्मपुरियो के बारे में भी वे लिखते है कि नागेश मदिर और यज्ञेश्वर घाट तक की ज़मीन तो उनके क़ब्जे में थी और बाक़ी जगह मिल जाने पर ग्यारहो ब्रह्मपुरियाँ और मठ भी बन जाने को थे। लेकिन उन्होंने इन सब इमारतो का खर्च एक लाख कूता था। इस पत्र से यह भी पता चलता है कि १७३० में मणिकर्णिका घाट बना। इस घाट के बनने में रुपया तो बाजीराव का लगा और महाराष्ट्र के यात्री ऐसा मानते भी थे, पर गगापुत्र और अवरद (?) ऐसा मानने को तैयार नही थे। सदाशिव इस बखेडे को दूर करने के लिये बादशाह के पास से एक पत्र चाहते थे। वे बादशाह से काशी के अमीन के नाम एक पत्र भी चाहते थे जिससे बिना अडचन के जल्दी से काम हो सके। इस पत्र में सदाशिव बनारस के फौजदार रुस्तम अली की भलमनसाहत की भी प्रशसा करते है।

अपने चौथे पत्र[3] में भी जिस पर कोई तारीख नही है सदाशिव नाइक बनारस में उपद्रव का जिक्र करते हैं। बहुत सभव है कि इसका सकेत सआदत अली और मीर रुस्तम अली की अनबन हो। इसके बाद वे कामकाज की बात लिखते है। नागेश और

---

[1] पेशवा दफ्तर, ३०, २८०

[2] पेशवा दफ्तर, १७, ३६

[3] पेशवा दफ्तर, १८, ३६

यज्ञेश्वर घाट के बीच की एक तिहाई जमीन तो नाइक के हाथ में आ गयी थी और उन्हें उम्मीद थी कि काम लग जाने पर बाकी जमीन भी उनके हाथ लग जायगी। वहाँ सन्यासियों के बगल में भी इसके लिये मठ और ग्यारह ब्रह्मपुरियाँ बनाने का उनका इरादा था। मणिकर्णिका के बगल में भी इसके लिये जमीन मिल सकती थी पर वहाँ ब्रह्मपुरियाँ और घाट बनाना इसलिये वृथा था क्योकि मणिकर्णिका को छोड कर कोई वहाँ स्नान नही करता था। इस पत्र से यह भी पता चलता है कि सिद्धेश्वर के दाहिने ओर वाले घाट पर उस समय तक घाट नही बना था। वहाँ केवल एक मठ था। पत्र से यह भी विदित होता है कि मणिकर्णिका से ब्रह्मनाल वाली सडक उस समय नही थी और उस स्थान पर १७३५ के करीब पचास साठ गज लबी ब्रह्मनाली थी। इसको पाटने अथवा बाँधने में लाख रुपये का खर्च था और नाइक जी की राय इतना रुपया लगाने की नही थी।

१७३४ ईस्वी में नारायण दीक्षित पाटणकर का बनारस आना भी एक विशेष घटना हुई। इनके साथ इनके छोटे पुत्र बालकृष्ण दीक्षित भी आये। नारायण भट्ट अपनी साधुता और चरित्र के लिए सारे महाराष्ट्र में विख्यात थे और पेशवा बालाजी विश्वनाथ इन्हें अपना गुरु मानते थे। जैसे ही उनकी काशी यात्रा का समाचार फैला, हजार बारह सौ आदमी उनके साथ हो लिए। यात्रा में उनके आराम का सारा प्रबध औरगाबाद के सूबेदार के दीवान बीसा मोरा ने कर दिया। प्रयाग और गया होकर नारायण दीक्षित बनारस पहुँचे। वहाँ बीसा मोरा द्वारा भेजे गये पचास हजार रुपये उनको मिले, लेकिन नारायण दीक्षित ने रुपये औरगाबाद लौटा दिये और बाद मे बहुत अनुनय विनय के बाद उसे दान में व्यय करने के लिए स्वीकार किया। अपने २७-१०-१७३४ के पत्र में नारायण दीक्षित[१] ने पत प्रधान को अपने काशी पहुँचने का समाचार दिया। पत्र से पता चलता है कि बाजीराव की यह इच्छा नही थी कि नारायण दीक्षित बनारस जायँ, पर नारायण दीक्षित ने चित्त की प्रेरणा से ही ऐसा किया।

बाजीराव की माता राधाबाई ने १७३५ में काशी यात्रा की और बहुत दान पुण्य भी किया। वहाँ उन्होने उमानाथ पाठक को अपना तीर्थ पुरोहित बनाया तथा बाजीराव और चिमाजी आपा और उनके वशधरो को इन्ही के पूजने का आदेश दिया।[२] राधाबाई की काशीयात्रा का कुछ विवरण हमें नारायण दीक्षित के २६-१२-१७३५ के बाजीराव और चिमाजी आपा के नाम के एक पत्र में मिलता है। "माता जी राधाबाई कार्तिक सुदी १२ को यहाँ आयी। त्रयोदशी से तीर्थविधि शुरू हो गयी। कार्य समाप्त करके उनकी सवारी गया गयी। यहाँ के दान धर्म के बारे में लिखना ठीक नहीं, और लोगो से इसका पता आपको चल जायगा। हमसे इस बारे में वह कुछ नही पूछती थी। पाँच पचीस विद्वानो को उत्तम दान मिला और इससे लोकोत्तर कीर्ति हो गयी, लेकिन महाराष्ट्र ब्राह्मणो में से किसी को एक छदाम भी न मिली। चितपावन ब्राह्मणो में से पाँच सात

[१] पेशवा दफ्तर, ३०,११०

[२] पेशवा दफ्तर, ९,२५

को दस रुपये और दूसरो को एक दो रुपये मिले। दस पाँच आदमियो को कुछ नही मिला। इतना होने पर भी बाई के दानधर्म का हम आसरा लगाएँ, तो हमें काशी छोडकर देश लौट जाना पडेगा।" जान पडता है, नारायण दीक्षित महाराष्ट्र के ब्राह्मणो के हाथ कुछ रकम न लगने से काफी रुष्ट हुए। शायद फुसलाकर गहरा माल गगापुत्र ले मरे और दूसरे मुँह ताकते रह गये।

नारायण भट्ट ने काशी के अपने जीवन में बहुत से धर्म कार्य किये। ब्रह्मेश्वर के मन्दिर के पास मल्लाहो की एक छोटी बस्ती थी पर कोई घाट न था। यहाँ नारायण भट्ट ने महाराष्ट्र ब्राह्मणो के लिए घर बनाने के लिए जमीन ली और दो घाट ब्रह्माघाट और दुर्गाघाट और अपने लिए एक बडा मकान बनवाया। आज दिन तक जिस महल्ले, में उनका मकान था उसे नारायण दीक्षित की गली कह कर पुकारते है। मल्लाहो से जमीन खरीद कर उन्होने मुफ्त में जमीन और रुपये देकर ब्राह्मणो के घर बनवाये। बोडस, चितले, पाटणकर, और वझे कुलो के मकान उसी समय के है। इस महल्ले को दीक्षितपुरा अथवा ब्रह्माघाट कहते है और बाद में यही प्रतिनिधि सागलीकर, रामदुर्गकर और नाना फडनवीस ने इमारतें बनवायी।[1]

ऊपर हम कह आये है कि बाजीराव प्रथम का विचार शायद बनारस को मराठा साम्राज्य में सम्मिलित करने का नही था, पर बालाजी बाजीराव (१७४०–१७६१) की तो यह पूरी इच्छा थी कि बनारस किसी तरह उनके हाथ लग जाय। इस विचार के सबध में हम आगे चल कर कुछ और कहेंगे। यहाँ तो हम बालाजी बाजीराव द्वारा बनारस पर इच्छित चढाई का हाल देंगे और यह दिखलायेंगे कि किस तरह नारायण दीक्षित के समझाने से पेशवा अपनी इच्छा से विरत हुए। १७४२ में बालाजी बाजीराव ने मिर्जापुर में अपनी सवारी रोक कर बनारस ले लेने की इच्छा की। जब अवध के नवाब सफ़दर जग को यह पता लगा तो उन्होने बनारस के पडितो को इकट्ठा करके बालाजी बाजीराव के बनारस आने के पहले ही उन्हें मार डालने की धमकी दी। बेचारे ब्राह्मण क्या करते, नारायण दीक्षित की अधीनता में वे पेशवा के पास पहुँचे और उसे लौट जाने के लिए मना लिया। इस घटना की ऐतिहासिकता का प्रमाण रावबहादुर पारसनीस को पेशवा की दैनिकी से भी मिला है। उससे यह पता लगता है कि पहली जून १७४२ को पेशवा ने मिर्जापुर में पडाव डाला था लेकिन उसके आगे वे नही बढे।[2] इस घटना पर प्रकाश डालने वाला कायगाँवकर दीक्षित के दफ्तर में २७ जून १७४२ का एक पत्र है[3] जिसका मजमून निम्नलिखित है —

"मल्हारराव का विचार ज्ञानवापी मस्जिद को गिराकर पुन विश्वेश्वर मन्दिर बनाने का हुआ। पर पच-द्राविड ब्राह्मण इसलिए चिंतित हुए कि यह मस्जिद अगर बादशाह के हुक्म के बिना गिरायी गयी, तो बादशाह क्रुद्ध होकर ब्राह्मणो को मार डालेगा। इस प्रान्त

---

[1] वामन बालकृष्ण दीक्षित, नारायण दीक्षित पाटणकर, पृ० २८–३०, बबई १९२५

[2] इतिहास सग्रह, जून १९१०, पृ० ४४

[3] राजवाडे, उल्लिखित, भाग ३, पृ० ३५४

में यवन प्रवल है। सवके चित्त में यह वात ठीक नही जँचती। दूसरी जगह मन्दिर वनाना अच्छा है। ब्राह्मण सोचते है कि घोर दुर्दशा होगी। मना करने वाला कोई नही है और मना करने से देवस्थापना को रोकने का दोष होगा। जो विश्वेश्वर को भावेगा वही होगा, चिन्ता करने से क्या लाभ। अगर मस्जिद गिरने लगेगी तो सव ब्राह्मण मिल कर विनती पत्र भेजेंगे, ऐसा विचार है।"

ऊपर के पत्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि काशी के ब्राह्मण ज्ञानवापी मस्जिद गिराकर पुन विश्वेश्वर के मन्दिर की स्थापना के सम्वन्ध में दुविधा में थे। एक ओर तो धर्म का प्रश्न था और दूसरी ओर जान का। वेचारे ब्राह्मणो ने जान को धर्म से अधिक मूल्यवान समझा और अपना मनसूवा दिल ही में लिए हुए वालाजी वाजीराव वापस लौट गये।

नारायण दीक्षित की मृत्यु १४-१०-१७४८ को काशी में हुई। उनकी अनेक सत्कृतियो में आज भी तीन सत्कृतियाँ उनकी परोपकार वृत्ति की साक्षी है—(१) सूर्योदय से सूर्यास्त तक सव व्यवहार के लिए दीक्षित जी ने ब्रह्माघाट, दुर्गाघाट और त्रिलोचन घाट वनवाये।[1] (२) हरिश्चन्द्र घाट को भरवाया और मणिकर्णिका घाट पर श्मशान भूमि की योजना की। यहाँ पर डोमो का पहले से हक होने से वे लोगो को वहुत सताते थे। दीक्षित जी ने सवके सुभीते के लिए डोमो का कर सवके लिए साढे छह आना निश्चित कर दिया। (३) गगा पर स्नानार्थियो और कपडे धोने वालो की भीड से स्नान-सध्या में ब्राह्मणो को वहुत तकलीफ होती थी। इसे दूर करने के लिए उन्होने ब्रह्माघाट, दुर्गाघाट और त्रिलोचन घाट पर दूर-दूर तक सीढियाँ वनवा दी, उन पर तख्ते लगवा दिये और तख्तो पर छाया के लिए छतरियाँ लगवा दी गयी। दूसरे घाट वालो को भी ऐसा करने के लिए प्रोत्साहित किया गया।[1] नारायण दीक्षित ने एक गोशाला भी वनवायी। इस गोशाला के एक भाग में अव श्री राम और दूसरे भाग में सरस्वती के मन्दिर है। इन मन्दिरो को सावलिया राम ने वनवाया। उन्होने यह नियम भी चलाया कि मधुकरी माँगने के लिए सन्यासी घर-घर न जायँ, वल्कि एक स्थान पर खडे रहें और जिन्हें मधुकरी देना हो आकर दे दें।

नारायण दीक्षित ब्राह्मण भोजन भी खूव डटकर कराते थे। वालाजी वाजीराव के नाम उनके एक पत्र[2] से इसका वखूवी पता चलता है। ब्राह्मण भोजन इतने होते थे कि वरतन चार महीनो से अधिक टिक नही सकते थे। यह दुर्दशा देखकर कृष्णराव महादेव ने पचास वरतन देना मजूर कर लिया था। उन्होने वरतनो को कल्याण से पूने तक तो पहुँचा देने का भार लिया था, पर उसके आगे काशी तक उन वरतनो को पहुँचा देने का भार नारायण दीक्षित ने वालाजी वाजीराव पर लाद दिया। दीक्षित जी ने भोजन के साथ दक्षिणा का भी नियम वाँध दिया था। सादे भोजन के साथ दक्षिणा आध

[1] वामन वालकृष्ण दीक्षित, उल्लिखित, पृ० ४८-४९

[2] पेशवा दफ्तर, १८, १७८

आना, पूरण पोली के साथ एक आना, पकवान के साथ दो आने और आगे पाँच पक्वान्न तक प्रत्येक पकवान के दो आने के हिसाव से दक्षिणा वाँध दी गयी।[१]

नारायण दीक्षित की कथा से हमें पता चल गया होगा कि १८वी सदी की काशी में महाराष्ट्र ब्राह्मण किस तरह से चैन की वसी वजाते थे और किस तरह पेशवो से येन केन प्रकारेण दान दक्षिणा वसूल करते थे। लेकिन इन भोजन भट्टो में चरित्र नही था, न त्याग की कोई भावना ही थी। वालाजी वाजीराव ने १७४२ में वनारस दखल करने का प्रयत्न किया पर काशी के ब्राह्मणो की कमजोरी के आगे उनकी एक न चली और उन्हें वापस चला जाना पडा। पर वालाजी वाजीराव ने अन्त तक त्रिस्थली पर अपना अधिकार करने का विचार नही छोडा और वे वरावर उत्तर भारत में अपने सरदारो को इस सवध में प्रयत्न करने के लिए लिखते रहे। मल्हार राव होलकर ने अपने १५–८–१७५४ के एक पत्र में[२] पेशवा को इस वात का विश्वास दिलाया कि वनारस और प्रयाग को दखल करने की आज्ञा का उन्हें स्मरण था और उन्होने गगाधर यशवत को, इस सवध में सन्धि करने को भेजा था। पत्र का मजमून निम्नलिखित है —

" आपने हरी के हाथ जो पत्र रवाना किया वह २३ माह ज्ञिनहूस को मिला और उससे वडा सन्तोष हुआ। प्रयाग और काशी के विषय में वारम्वार लिखता हूँ पर कोई उत्तर नही आता। ग़ाज़िउद्दीन खाँ की वज़ीरी हो गयी है और वे दिल्ली पहुँच गये है। दोनो कार्य अवश्य कर दें एव उसकी सूचना दें ऐसा मैंने उन्हें लिखा है। यहाँ से स्वामी का खिदमतगार हरि गगाधर पत के पास मथुरा गया था। वहाँ ग़ाज़िउद्दीन खाँ व ठाकुर सूरजमल आदि थे। प्रयाग के विषय में सर्वदा राजश्री गगाधर यशवत के पास पत्र जाते है। दिल्ली का वन्दोवस्त हो जाने पर दोनो काम पूरे हो जायेंगे।"

वासुदेव दीक्षित के रघुनाथ पत दादा के नाम १७५४ के एक पत्र[३] से भी ऐसा भास होता है कि जैसे ग़ाज़िउद्दीन ने वनारस का वन्दोवस्त पेशवा के साथ कर दिया हो। वासुदेव दीक्षित ने इस वारे में कई पत्र वलवन्त सिंह को भी लिखे पर इसका कोई नतीजा नही निकला।

सिंधिया के दीवान रामाजी अनन्त के नाम २३ फरवरी १७५९ को वालाजी वाजीराव ने एक पत्र लिखा। इस पत्र में और वातो के सिवा काशी और प्रयाग हस्तगत करने की भी वात है। पेशवा लिखते है, "शुजाउद्दौला से भी दो तीन वातें तय करनी है। उनमे वनारस, अयोध्या और इलाहावाद ले लो। दादा को (१७५७ में) उन्होंने वनारस और अयोध्या देने का वादा किया था, इलाहावाद की वात अभी चल रही है। अगर इस वात पर भी आसानी से समझौता हो सके तो कर लो"।[४]

---

[१] वामन वालकृष्ण दीक्षित, वही पृ० ५०

[२] पेशवा दफ्तर, २७,११४

[३] पेशवा दफ्तर, २७, २०९

[४] ऐतिहासिक पत्रे, यादी वगैरे, १६६

दत्ता जी और जनकोजी सिंधिया के नाम अपने २१ मार्च १७५९ के एक पत्र में भी वालाजी वाजीराव इस ओर इशारा करते हैं, "इमादुलमुल्क का दिल सच्चा नही है। मसूर अली खाँ के वेटे (शुजाउद्दौला) ने वजारत मिलने पर ५० लाख देने का वादा किया है। अगर मै तुम्हें इस अदला-वदली की आज्ञा दू तो तुम लाहोर से लौटने पर इसे सम्पन्न करना। इसके पहले जव दादा दिल्ली के पास थे तो मसूर अली खाँ के वेटे ने अपने मन में हमें वनारस दे देने का वादा किया था। अगर उसे हम वजीर वना दें तो उसे वनारस और इलाहावाद के साथ-साथ पचास लाख रुपया देना होगा। अगर वह वनारस इलाहावाद न देना चाहे और पचास लाख देने में दो तीन वर्ष का समय चाहे तो उसे वजीर मत वनाना। ५० लाख और कम से कम इलाहावाद वह दे दे तो उसे वजीर वना देना।

"अगर तुम वादशाह और वजीर के साथ वरसात के वाद वगाल जा सको तो इसका वडा प्रभाव पडेगा और वहुत से रुहेले जमींदार हमारी तरफ हो लेंगे। यहाँ से वुदेलखड होते हुए दादा इलाहावाद की तरफ जायँगे। तुम दोआव से कूच कर देना, और इस तरह हमारी वडी ताकत से तुम्हें अचानक इलाहावाद ले लेने में सुविधा होगी। इसके वाद अगर दोनो ओर से घिर कर शुजाउद्दौला वनारस और इलाहावाद तथा नजर की एक वडी रकम देने का वादा करे तो तुम वादशाह और वजीर को उसे वख्शी नियुक्त करने पर राजी कर लेना। काम करने का यह दूसरा जरीया है। काम करने का तीसरा जरीया यह है कि अगर वजीर दिल्ली से विहार जाने को राजी न हो, तव तुम शुजा से मिल जाना और उससे वनारस और इलाहावाद ले लेना, पर नक़द रुपये मत माँगना। आधा वगाल और विहार देने का उससे वादा कर लेना और उसे अपने साथ लेकर वगाल दखल कर लेना और वहाँ से गहरी रक़म वसूल करना"।[1]

काशी और प्रयाग दखल करने के सम्वन्ध में राजा केशवराज ने भी ३०-६-१७५९ को एक पत्र वालाजी वाजीराव को लिखा[2] जिससे पता लगता है कि दिल्ली के वजीर किस तरह काशी और इलाहावाद की सनद मराठो के नाम लिखने में आनाकानी कर रहे थे और भीतर-भीतर शुजाउद्दौला का साथ दे रहे थे। पत्र का मजमून निम्नलिखित है —

" ... हिंदोस्तान से वहुत सी अर्जियाँ आयी है कि प्रयाग, काशी और गया, इन तीर्थों के स्वाधिकार होने पर तीर्थस्थली की यात्रा निरुपद्रव हो जावेगी। इन तीर्थों में यवन सचार के सवध में सेवक की अर्जी के वारे में आज्ञा हुई थी कि राजश्री जनकोजी और दत्ताजी शिंदे सारे काम के लिए उस प्रात में है और उन्ही को सूचना भेजी जानी चाहिए। सरदार सदैव उन्ही के पास पत्र और सूचनाएँ भेजते है। यह मानकर प्रयाग और काशी का पैग़ाम वजीर से किया और उन्होने उनकी सनदें हम लोगो को लिख देने को कहा। पर वजीर, शुजाउद्दौला नाजिम अवध, जिनके अधिकार में काशी और प्रयाग है, के पक्ष में है, इसीलिए वे सनद देने में आनाकानी करते है। आप प्रवल है।

---

[1] वही, १६७

[2] पेशवा दफ्तर, २७,२४०

सनद की कोई आवश्यकता नहीं है। देश कब्जा करना हो तो कर लें। शुजाउद्दौला ने यह आश्वासन दिया है कि वह अपनी बात रक्खेगा और सरदार भेजने से वह समझ लेगा। आप निश्चिन्त रहिए। उसे हमारे सिपाहियों और तोपखाने की बहुत जरूरत है। उसके प्रान्त में जाने के लिए हमें गगा पार उतरना पड़ेगा। बरसात के पहले वहाँ जाना मुश्किल है। रोहिला कहते है कि हमारा प्रान्त गगा के पार है और हम रास्ता दे देंगे लेकिन अहमद खाँ बगश का इलाका गगा के पार नहीं, वस्तुत इस पार है। वह कहता है कि वह हमें गगा उतर जाने देगा। वह हमारा मित्र है।"

इस पत्र से यह पता चलता है कि मराठो का विश्वास था कि रुहेले और शुजाउद्दौला उनके मित्र थे और बनारस और इलाहाबाद दखल करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। पर बात उलटी थी। शुजाउद्दौला और रुहेले हर्गिज यह नही चाहते थे कि उनके प्रातो में मराठो का किसी तरह का प्रभाव बढे। शुजाउद्दौला का अहमद शाह अब्दाली का मराठो के विरुद्ध साथ देना इस बात की पुष्टि करता है।

जो भी जो यह तो निश्चय है कि १७६१ में पानीपत की लड़ाई में मराठो की हार के बाद बनारस और इलाहाबाद दखल करने की उनकी इच्छा सदा के लिए लुप्त हो गयी और अग्रेजो द्वारा बिहार और बनारस पर अधिकार कर लेने पर यह सवाल ही नहीं उठता था। फिर भी यह बात नहीं कि मराठो ने पूरी तरह से बनारस और प्रयाग पर दखल जमाने की आशा छोड दी थी। वे इस सम्बन्ध में चेत सिंह से मिलकर बराबर साजिश करते रहे, नाना फडनवीस की भी यह उत्कट इच्छा थी कि बनारस उनके दखल में आ जावे। पर अग्रेजो ने उनकी एक न चलने दी।

माधवराव बल्लाल (१७६१–१७७२) के समय थोडो खडेराव के दो पत्रों से बनारस की तत्कालीन अवस्था पर काफी प्रकाश पडता है। इन पत्रों से यह भी पता चलता है कि अग्रेजों द्वारा बनारस दखल हो जाने पर भी मराठो को इस बात की उम्मीद थी कि उस समय की राजनीतिक परिस्थिति में, लोगों को मिला कर, वे बनारस पर अपना अधिकार जमा सकते थे। इन पत्रों से यह भी पता लगता है कि उस समय बनारस की यात्रा में नाना तरह के क्लेश उठाने पडते थे और जकात भरनी पडती थी।

थोडो राव ने एक पत्र माधवराव के नाम ३–१–१७६६ को लिखा।[१] पत्र का मजमून निम्नलिखित है—

"गत वर्ष बादशाह और फिरगियो ने सबसे दड में रुपये वसूल किये। उसी समय सेवक से और सब ब्राह्मणो से जबर्दस्ती रुपया वसूल किया गया। यह समाचार तफ़सील-वार लिख कर सेवक ने भेज दिया था। अभी यहाँ फिरगी है। फिरगियो के साथ नवाब शुजाउद्दौला है और राजा बलवन्त सिंह देश पर राज्य कर रहे हैं और रुपये वसूल करके फिरगियो को दे देते हैं। काशी यात्रा में आने वालो से जकात और बहुत से कर वसूल किये जाते हैं और उन्हें बहुत तकलीफ़ दी जाती है। इस आपत्ति का वर्णन पत्र

[१] पेशवा दफ्तर, २९, ११०

में नही किया जा सकता हूँ। सरकार के कारिन्दो को इसका पूरा पता हूँ। कृपा कर पत्र द्वारा एसा इतजाम कर दें कि यात्रा में आने जाने में मुझे उपद्रवो का सामना न करना पडे। जिस कार्य के लिए मुझे सरकार ने भेजा है, उसे करने दें। गोष्ठी विषयक कोई उपद्रव न होने दें। जो रुपया दड में वसूल किया गया है उसे लौटा दें। इस प्रकार के सिफारशी पत्र वादशाह को, फ़िरगियो को, शुजाउद्दौला को और राजा वलवन्त सिंह को भेजने में स्वामी समर्थ हैं। आपकी सवारी वरार में आयी है यह सुनकर लोग यहाँ आ रहे है और राज कारण से वे लोग सेवक से मिल रहे है। शुजाउद्दौला और उनके दीवान ने स्वामी के नाम जो थैला दिया था वह गोविन्द दादाजी, भोजराज शकर और आत्माराम रगनाथ नाम के कारकुनो के हाथ स्वामी के पास भेज दिया हूँ। फिरगियो के सवध में सव राजे रजवाडे सेवक के ऊपर रुजू हैं। जो आप लिखेंगे उनसे कह दिया जायगा। फिरगी कलकत्ता के पूर्व में हैं। तुहफा और वीस-तीस हजार पलटन के साथ फरासीसी जहाज दाखिल हो गये हैं। इसी विषय की यहाँ चर्चा हो रही है। फरासीसी जबर्दस्त लडाकू है। फिरगियो ने काफी मुल्क ले लिया है और दो सूबो को मार कर मटियामेट कर दिया है इसीलिए उनको वहुत गर्व हो गया है। ऐसे समय आपकी सवारी आयी तो विचार हुआ कि शायद किसी एक दल का साथ देकर वगाल आप सहज ही में ले लेंगे, अथवा नवाव का साथ देकर वादशाह से वन्दोवस्त कर लेंगे। वादशाह का कुछ भी जोर नही है। आपको दिल्ली का तख्त मिलेगा ऐसा योग दिखता है। परन्तु अभी वगाल सर कर के दिल्ली जाना चाहिए। वगाल में सव जगह गडवडी फैली है। चारो ओर से सरकार की फौज आ जाने से वगाल सहज ही हाथ लग जायगा। अभी कुछ फौज कटक प्रान्त में भोसले के अधिकार में है और शिवभट भी वही हैं। उनके पास से सरकारी वीस हजार फ़ौज आ जाय तो खास सरकार की सवारी काशी की तरफ आवे। अन्तर्वेदी से होलकर और शिन्दे के आने पर सहज ही वगाल हाथ लग जायगा।"

उपर्युक्त पत्र में धोडो खडेराव ने लम्बी उडान ली है। अग्रेजो द्वारा सवको हारते देखकर भी वे पेशवा से हराये जाने का सपना देख रहे थे। पर उपर्युक्त पत्र के करीव दो वरस के वाद एक दूसरे पत्र में वे माधवराव से प्रार्थना करते है कि अग्रेजो से मिलकर त्रिस्थली का वादशाह से प्रवध करा लेना ठीक होगा। पत्र १–११–१७६७ का है और उसका मजमून निम्नलिखित है :—

"जो राजकीय समाचार सेवक को पता लगा वह लिखकर भेज दिया, इस सवध में स्वामी की जो मरजी होगी वही ठीक है। काशी, प्रयाग और गया, सहज ही स्वामी के हाथ लग सकते हैं। जिस समय आपका और अग्रेजो का स्नेह होगा उसी समय सहज ही पूर्वी लाहौर का हरिद्वार परगना वादशाह से मांगने पर मिल जायगा और वे आपको त्रिस्थली भी दे देगें। अग्रेज भी इसे मजूर कर लेंगे इसमें शक नही। मुख्य गोष्ठ राजा वलवन्त सिंह आपके वडे एक निष्ठ है। यह सव समाचार धनराज दीक्षित और नीलो-गोपाल कहेंगे। शुजाउद्दौला का कोई जोर नही रह गया है। वह नाम मात्र का नवाव है जो फिरगी कहेंगे वही करेगा। उसकी राजा वलवन्त सिंह से वहुत दिनों की लडाई

है। बादशाह अन्तर्वेद से लौट कर बैठा देंगे, उस समय सहज ही में अन्तर्वेद आपके हाथ में आ जायगा और अग्रेज क़िला आपको दे देंगे। इस सबब में नीलो पन्त ने अग्रेजो से पूरी बात की है। त्रिस्थली के बारे में लिखा पढ़ी दिल्ली में होगी, ऐसा अग्रेजो ने करार किया है। जिस समय आप और अग्रेज दिल्ली जायेंगे उसी समय त्रिस्थली आपकी हो जायगी। इसमें कुछ भी सन्देह नही है। परन्तु स्वामी को फौज और तोपखाना लेकर फौरन आना चाहिए। हुजरात (घोडसवार) अच्छे आने चाहिएं। हुजरातो के बिना काम नही होता ऐसा सब मानते है। आपका भी ऐसा अनुभव है सारांश यह है कि काशी के बडे बडे तपस्वी यह कहते है कि अपनी फ़तह होने के लिए आप काशी में अनुष्ठान करवावें"।[1]

पर घोडो खडेराव की उपर्युक्त कल्पना भी केवल काग़जी ही थी। बनारस को अग्रेज अपने हाथ से निकल जाने के लिए बिलकुल तैयार न थे।

चेतसिंह के प्रकरण में हम दिखला चुके है कि किस तरह मराठे काशी लेने में उनकी मदद चाहते थे पर उसने कुछ किया कराया नही, और चेत सिंह के बाद तो नाना फडनवीस केवल अग्रेजो से बनारस के बारे में प्रार्थना ही कर सकते थे। नाना फडनवीस को इस बात का पूरा पता चल गया था। कि बनारस उनके हाथ आने से रहा। मराठे अपने वकीलो द्वारा हमेशा इस बात की कोशिश करते रहे कि मुसलमानो को मुआवजा देकर ज्ञानवापी की मस्जिद पर पुन विश्वनाथ का मन्दिर बन जाय पर इसमें भी उन्हे सफलता न मिली। नाना फडनवीस के समय महाराष्ट्र और बनारस के सबब में हम आगे चल कर कुछ कहेंगे।

कुछ मराठी पत्रो से पता चलता है कि चेत सिह के राज्य काल में यात्रियो की तकलीफ बहुत बढ गयी थी। एक तरफ़ तो उनसे तरह तरह के कर वसूल किये जाते थे और दूसरी ओर गगापुत्र और पडे उनको नोचते खसोटते थे। रघुनाथ राव (१७७३–१७९६) की माता येसूबाई ने अपने पुत्र के नाम एक पत्र में गया और काशी के मार्ग के कष्टो का वर्णन किया है।[2] कामदार खाँ नामक किसी अमले ने उनसे चौकी पर प्रति मनुष्य सवा नौ रुपये वसूल किये और जब साढे तीन हज़ार बाक़ी रह गया तो येसू बाई के साथी विश्वनाथ भट वैद्य को कैद कर लिया। बाद में जब रुपया भेजा गया तो गढी के सिपाहियो ने उसे लूट लिया और आदमियो को मारा। फिर से जब कामदार खाँ को रुपये दिये गये तो वैद्य छूट कर आये। इसके बाद राजा सुमेरशाह ने हर आदमी से अठन्नी वसूल की। मार्ग में दाऊनगर वगैरह जो भी चौकियाँ पडी वहाँ गगा उतरने का प्रत्येक आदमी से एक रुपया कर लिया गया। काशी के फ़ौजदार नन्दराम ने तो चार महीने व्यवहार किये हुए कपडो पर भी नये कपडे की ज़कात ली। पेशवा का पत्र दिखलाने पर भी उसका कोई असर लोगो पर नही पडता था।

---

[1] पेशवा दफ्तर, २१, १९२

[2] पेशवा दफ्तर, १८, १४७

काशी, गया और प्रयाग के गगापुत्रो और पडो की जोर जबर्दस्ती की बात महीपत राव कृष्ण चादवडकर ने अपने अपने पत्रो में की है। पहला पत्र जिस पर २०–७–१७७२ तारीख है माधवराव के नाम है[1] जिसमें उनसे बनारस में दान दक्षिणा देने के बारे में और भाईराम वैद्य की दवा भेजने के सम्बन्ध में पूछा गया है। माधवराव उस समय बीमार थे और विचारे चादवाडकर चाहते थे कि जिस तरह से हो वे अच्छे हो जायँ। गगापुत्रो के झगडे झझट के बारे मे भी इस पत्र में इशारा है। पत्र का मजमून निम्नलिखित है —

"रुपया तो सीमित है पर ब्राह्मण अनगिनत है, गगापुत्र काफी तकलीफ दे रहे है लेकिन ब्राह्मण अपने मोर्चे पर डटे है। राजा चेत सिंह और उनके दीवान भाईराम ने मामला तै कर देना चाहा पर गगापुत्र तीर्थ पर सदा के लिए अपना अधिकार चाहते है और दान दक्षिणा में अपना साझा। इसके लिए वे कट मरने के लिए भी तैयार है। राधाबाई की अस्थि पर वे खूब लडे • ।"

"भाईराम विद्वान और ब्राह्मण भक्त होने के साथ ही कुशल वैद्य भी है • वे आपकी आज्ञा मिलने पर दवा भेजने को तैयार है।"

अपने एक दूसरे पत्र में भी महीपतराव कृष्ण चादवाडकर गगापुत्रो प्रयागवालो और गया वालो के नाम कलपे है।[2] "पूना के चारो ओर खबर फैल गयी है कि श्रीमत (रघुनाथराव ?) कैलासवासी राव साहब की अस्थि लेकर जा रहे है। यह सुनकर गयावाल, कासीकर, गगापुत्र और प्रयागवाल आकर आशीर्वाद देने लगे और कहने लगे कि श्री विश्वेश्वर की कृपा से हमारा भाग्य खुल गया है। दक्षिणा वगैरह की अच्छी व्यवस्था करवा दीजिए जिससे कोई टटा न पडे। ऐसा कहने सुनने पर हमसे उनसे मुठभेड हो गयी और कुछ के सिर फूटे।" • •

---

[1] पेशवा दफ्तर, २२, १४६

[2] पेशवा दफ्तर, २२, १९२

छठा अध्याय

महीपनारायण सिंह

चेतसिंह के भागते ही वारेन हेस्टिंग्स ने औसान सिंह को बनारस का प्रबंधक नियुक्त किया पर जान पड़ता है वारेन हेस्टिंग्स उनसे जल्दी ही नाराज़ हो गये और १७ नवम्बर १७८१ के अपने एक पत्र में[1] उन्होंने औसान सिंह को फौरन बनारस और रामनगर छोड़ कर सैदपुर चले जाने का हुक्म दिया। उसी दिन[2] उन्होंने दुर्गविजय सिंह को औसान सिंह की इस बात की शिकायत लिखी कि वे हेस्टिंग्स के बनारस संबंधी इरादों में बाधक थे। दुर्गविजय सिंह को हेस्टिंग्स ने इस बात का भी हुक्म दिया कि वे औसान सिंह द्वारा नियुक्त कारिंदों को बरखास्त करके अपने आदमियों को वहाँ लगा दें। १७८२ के आरम्भ में दुर्गविजय सिंह ने ऐसा ही किया पर इससे बड़ी गड़बड़ी मची। राजा महीप नारायण सिंह अपने १४ अप्रैल १७८२ के पत्र में गवर्नर जेनरल को लिखते हैं कि जगतदेव सिंह ने अपने हाली-मोहालियों को हर जगह अमीन मुक़र्रर कर दिये। वे अब अपनी वसूल रक़म को चालू साल की जमा बतलाना चाहते थे, गो कि रैयत ने इसमें गत वर्ष की बक़ाये की रक़म जमा की। बनारस में ऐसा कायदा नहीं था। बक़ाया रक़म को बक़ाया दिखलाना चाहिए था। राजा ने इस बात की भी प्रार्थना की कि अली इब्राहीम खाँ को बाबू दुर्गविजय सिंह द्वारा जमा की हुई रकम के हिसाब को जाँचने का हुक्म दिया जाय और राजा के मुत्सद्दियों से बकाये की रक़म का अहवाल पूछा जाय।

अपने १८ अप्रैल, १७८२ के एक पत्र में दुर्गविजय सिंह ने कुछ घटनाओं से परीशान होकर उन्हें रोकने के लिए गवर्नर जनरल के ज़रीये मार्कहम की मदद चाही।[3] घटना इस प्रकार थी। दाऊद नगर के बसन्तराय ने १९ दिसम्बर १७८१ में गोपालपुर के कुछ खेत के लिए एक क़बूलियत लिखा और पीताम्बर बाबू उनकी ज़मानत पड़े। बनारस के सरिश्ता को क़बूलियत देकर बसन्तराय गोपालपुर चले गये। बाद में उन्होंने एक अर्ज़ी दी कि लाल बोधसिंह उनके कामों में दखल देते थे और उनके बन्दोबस्त में हेरफेर करते थे और यह पता लगने पर कि बसन्तराय उनकी शिकायत करने वाले थे, उन्होंने उन्हें क़ैद कर लिया। यह समाचार पाकर दुर्गविजय सिंह ने शेख अब्दुल्ला को गोपालपुर भेजकर बसन्तराय और बोधसिंह को बनारस भेजने को कहा। शेख ने वहाँ जाकर बसन्तराय को छुड़ा दिया। इस पर बोधसिंह ने अपने वकील गुरदयाल को दुर्गविजय सिंह के पास भेजा। इस आदमी ने कहा कि उसका मुवक्क़िल पीताम्बर बाबू के ज़मानतनामे के अनुसार गोपालपुर के ठीके में भागीदार था। इस पर दुर्गविजय सिंह ने कहा कि

---

[1] केलेंडर ·····६ पत्र २९६

[2] केलेंडर ·· ६, २९७

[3] केलेंडर······६, ४५९

उनकी पचास हजार की जमानत जवानी थी और इसलिए बन्दोवस्त में कोई हेर-फेर नही हो सकता। इसके बाद वसन्तराय और लाला खुद बनारस आये और बसन्त से चैत की किश्त माँगी गयी। वह गोपालदास के यहाँ से तीन हजार की हुडी लाया पर इससे पूरे पाँच हजार जमा करने को कहा गया। वह रुपये का प्रवध करने गया, पर रास्ते में ही बोधसिंह के आदमियो ने उसे गिरफ्तार करके बोधसिंह के डेरे में कैद कर दिया। इसके बाद वसन्तराय के वकील शिवपाल ने इस घटना की दुर्गविजय सिंह को खबर दी और उन्होंने लाला के वकील गुरदयाल से वसन्तराय को फौरन हाजिर करने को कहा। इस पर वकील ने फिर मालजामिनी की बात चलायी, तब दुर्गविजय सिंह ने जमानतनामा खारिज करके उसे लौटा दिया। वकील ने उसे लाला मक्खन लाल के पास रख दिया और वसन्त को दूसरे दिन हाजिर करने का वादा किया लेकिन उसने ऐसा किया नही। बोध सिंह बुलाने पर भी नही आया। इसके बाद शोभा पाडे बोध सिंह के पास उन्हें समझा-बुझाकर वसन्त को छुडाने गये। पर छोडना तो दूर रहा बोध सिंह ने कडा रुख अपनाया। दुर्गविजय सिंह को जब यह पता लगा तो उन्होंने बुनियाद सिंह मुत्सद्दी और बख्शू सिंह को बसन्त सिंह को छुडाने भेजा ये दोनो वहाँ पहुँचे ही थे कि बन्दूक दगने की आवाज आयी जिससे दो सरकारी आदमी जख्मी हुए और एक तीसरा बाहरी आदमी मारा गया। इस पर भी दुर्गविजय सिंह के आदमियो ने हिदायत के अनुसार बदला लेने से अपने को रोका।

उस समय दुर्गविजय सिंह लगान वसूली के सबध में पिशाच मोचन पर ठहरे हुए थे। जैसे ही उन्होने इस गडबड की खबर सुनी उन्होने मार्कहम साहब को खबर देनी चाही लेकिन उसी बीच में मार्कहम के पास से खबर आयी कि दुर्गविजय सिंह के आदमियो ने नगर के एक आदमी को मार डाला था और उनका हुक्म था कि मुजरिम और उसके साथ-साथ बुनियाद सिंह और शोभा पाण्डे उनके पास भेज दिये जायँ। उनकी आज्ञा मान ली गयी। दोनो जख्मी आदमी भी भेजे गये और एक पत्र में दुर्गविजय सिंह ने घटना की सब कैफियत लिखी। जब बुनियाद, शोभा पाडे और बख्शू मार्कहम के पास पहुँचे तो उन्होने इन्हें गारद में कर दिया और दुर्गविजय सिंह को इन पर अदालत में मुकदमा चलाने को कहा और यह भी लिखा कि दुर्गविजय सिंह को कानूनन नगर में अपने आदमियो को भेजने का कोई अधिकार न था। जवाब में दुर्गविजय सिंह ने लिखा कि कम्पनी की मालगुजारी वसूल करने के लिए उन्हें सब जगह काम करना पडता था। कम्पनी की मालगुजारी के एक ठीकेदार के बनारस में गिरफ्तार होने से उन्हें बुनियाद और बख्शू को उसे छुडाने के लिए भेजना पडा और उन्हें इस बात की सख्त मुमानियत कर दी गयी कि वे किसी तरह की जबर्दस्ती न करें। बोध सिंह ने ही एक आदमी को मारा और दो आदमियो को घायल किया और इसलिए इसकी जाँच होनी चाहिए। दूसरे दिन तीनो आदमी फौजदारी अदालत के सामने हाजिर किये गये। इस पर दुर्गविजय सिंह स्वय मार्कहम से मिले और उन्होने कहा कि फ़ौजदारी अदालत में उनके आदमियो

---

[१] केलेंडर ६, पत्र ४६७

पर मुकदमा चलने और सरे आम यह एलान होने से कि वनारस उनके अधिकार में नही था, उनकी वडी वेइज्जती होगी। हेस्टिंग्स ने भी उन्हें भरोसा दिया था कि वनारस से मालगुजारी वसूल करने का काम हो सकता था। इसलिए मार्कहम स्वय दुर्गविजय सिंह के सवध के मुकदमे सुनें।

दुर्गविजय सिंह के उपर्युक्त पत्र का उत्तर वारेन हेस्टिंग्स ने अपने २७ अप्रैल १७८२ के पत्र में दिया। उन्होने दुर्गविजय सिंह को लिखा कि फौजदारी का मुकदमा होने से इसका अली इब्राहीम की फौजदारी अदालत में जाना आवश्यक था और फिर ऐसे वाकये न हो इसलिए कसूर वालो को सजा मिलनी भी जरूरी थी। वनारस के पुलिस प्रवध के बारे में भी इस पत्र में हेस्टिंग्स ने कुछ वातें लिखी जिसके अनुसार कोई खूनी अथवा डकैत अगर वनारस में गुनाह करके राजा के इलाके में भाग जावे तो वनारस के जज उसे गिरफ्तार करने के लिए स्वय अपने आदमी न भेजकर दुर्गविजय सिंह से उस आदमी को गिरफ्तार करने को कहें। इसी तरह अगर राजा के इलाके से कोई गुनहगार वनारस शहर भागे तो दुर्गविजय सिंह को उसे गिरफ्तार करने के लिये वनारस के जज के पास लिखना आवश्यक था। जज का यह कर्त्तव्य था कि वह उसे गिरफ्तार करके उनके पास भेज दे।

इसमें शक नही कि दुर्गविजय सिंह की नायवी में वनारस में गुडई काफी वढ गई थी। हेस्टिंग ने अपने २५ अप्रैल १७८२ के एक पत्र में इसकी शिकायत की।[१] पत्र से पता चलता है कि डाकुओ के एक गिरोह ने वनारस में डाका मार कर वाईस नागरिको को जान से मार डाला और एक दूकान मे २००० रु० लूट कर वे मुफस्सिल में भाग गये। वारेन हेस्टिंग्स ने फौरन इन डाकुओ को पकडने और अली इब्राहीम की अदालत में हाजिर करने का आदेश दिया। अपने १५ अगस्त १७८२ के पत्र में[२] दुर्गविजय सिंह ने लिखा कि वनारस में अली इब्राहीम की हुकूमत होने से गुनहगारो को वनारस जाकर पकडने में असमर्थ थे। फिर भी उन्होने जमीदारो से डाकुओ को खोजने को कहा और उनसे ताजे मुचलके भी लिये। डाकुओ को पकडने के लिये १०० रु० नकद और १०० वीघे जमीन का इनाम भी रक्खा पर नतीजा कुछ न निकला।

लेकिन दुर्गविजय सिंह पर इन हिदायतो का कुछ असर न पडा और वनारस में दुर्गविजय सिंह के आदमियो का और जुल्म वढता ही गया। अपने १५ जून १७८२ के पत्र में हेस्टिंग्स ने दुर्गविजय सिंह का इस ओर ध्यान दिलाया।[३] इस पत्र में उन्होने मार्कहम द्वारा दुर्गविजय सिंह के आमिलो के अत्याचार का उल्लेख किया और कहा कि अभी तक मार्कहम की शिकायतो की इसलिये नोघ नही ली कि उन्होने समझा कि नया-नया काम होने से यह सव कुछ हुआ होगा और वे मार्कहम की सलाह से अपने को सुधार लेंगे, पर शिकायतें वढती ही गयी। इन सव वदमाशियो में से वहुत सी की जड में जमानियाँ, भदोही, चौहारी, केराकत और सोराँव परगनो के शासक जालिम सिंह थे। तीन साल

---

[१] केलेंडर ६, पत्र ४६६

[२] केलेंडर ६, पत्र ५७९

[३] केलेंडर ६, पत्र ५५३

पहले यही जालिम सिंह चेत सिंह का एक लाख रुपया लेकर भागे थे। दूसरी गडबडियो में राजा, शकर मऊ में गडबड मचा रहे थे, भगवत राव सँदावाद में और बुनियाद सिंह कुडा में। हेस्टिंग्स ने दुर्गविजय सिंह को इन आदमियो को गिरफ्तार करके बनारस लाकर रेजिडेंट द्वारा नियुक्त भले आदमियो के सामने इनकी चाल-चलन की गहरी जाँच का आदेश दिया, और इनके अपराध साबित होने पर घोर दड देने का भी आदेश दिया। जब तक मुक़दमे की कार्रवाई हेस्टिंग्स स्वय पढ न लें तब तक मुजरिमो को बद रखने का भी हुक्म हुआ। इस पत्र में हेस्टिंग्स ने दुर्गविजय सिंह को मन लगाकर मेहनत के साथ राज प्रबन्ध चलाने की भी सलाह दी क्योकि मालगुजारी की किश्तें न अदा होने पर, प्रजा पर अत्याचार होने पर और राज की जायदाद में कमी आने पर दुर्गविजय सिंह ही इस सबके जिम्मेदार समझे जायगे।

उपर्युक्त गडबडियो से और शायद दुर्गविजय सिंह की बेईमानी से कपनी की मालगुजारी किश्तो में वादा खिलाफी होने लगी। मार्कहम ने जाँच की तो पता चला कि दुर्गविजय सिंह ने मालगुजारी वसूल करके स्वय हडप ली थी। वारेन हेस्टिंग्स को जब यह पता चला तो उन्होने मार्कहम को दुर्गविजय सिंह की गिरफ्तारी का आदेश दिया और उनके अनुसार दुर्गविजय सिंह और उनके साथी गिरफ्तार कर लिये गये। बाद में जाँच से पता लगा कि कपनी का राजा के जिम्मे छह लाख निकलता था जिसमें चार लाख तो रैयत से वसूल ही नही हुए थे। बाक़ी दो लाख में पचास हजार कपनी को मिले थे और बाकी दुर्गविजय सिंह ने खरच डाले थे। इस घटना के बाद राजा महीपनारायण सिंह ने वारेन हेस्टिंग्स को १५ दिसबर १७८२ को एक पत्र लिखा[1] जिसमें उन्होने इस बात की शिकायत की कि दुश्मनो के बहकाने पर मार्कहम ने बकाया लगान की वसूली नही होने दी और दुर्गविजय सिंह को नाकाबिल करार दिया। दुर्गविजय सिंह ने तो कई बार कहा कि थोडी सख्ती से बकाया लगान वसूल हो सकती थी और चलते साल के लिये नया बदोबस्त हो सकता था पर उसकी बात नही मानी गयी और उसी की वजह से लगान बकाया पड गयी। मार्कहम साहब ने दुर्गविजय सिंह पर रकम गबन करने का दोष लगाया इस पर उन्होने अपने ऊपर लगे आरोप की जाँच-पडताल की प्रार्थना की। लेकिन मार्कहम ने कोई जाँच-पडताल न करके चालू साल के लिए अपने मुत्सद्दी और खजाची नियुक्त कर लिये। १० नवबर, १७८२ को उन्होने एक अग्रेज अफसर के मातहत तिलगो की दो कपनी रामनगर भेजी और उन्होने दुर्गविजय सिंह को गिरफ्तार करके मुत्सद्दियो और खजाचियो को हटा दिया और कागज-पत्र मार्कहम के पास भेज दिये गये। महीप-नारायण सिंह से यह कहा गया कि गवर्नर जनरल दुर्गविजय सिंह की जगह बाबू जगतदेव सिंह की नियुक्ति करना चाहते थे जिससे चालू साल के काम में बाधा न पडे। इस सबध में वृद्धा रानी (गुलाब कुँवर) से भी राय लेने की बात कही गयी। पर वृद्धा रानी की राय थी कि महीपनारायण स्वय अपना कारबार देख सकते थे और जगतदेव के नायब नियुक्त होने की कोई जरूरत नही थी, लेकिन इसके पहले आवश्यकता इस बात की थी

---

[1] केलेंडर··· ६, पत्र ६४१

कि दुर्गविजय सिंह के गुनाहो की जाँच-पडताल की जावे और अगर वे क़ुसूरवार सावित न न हो तो उन्हें छोड दिया जाय। मार्कहम ने इसके वाद उन्हें गवर्नर जेनरल को, लिखने को कहा। इस पत्र में महीपनारायण सिंह ने इस वात की प्रार्थना की कि दुर्गविजय सिंह के अपराधो की जाँच के लिये एक अमीन नियुक्त हो, मार्कहम वसूली में दखल न दें और ठीकेदारो की सहायता न करें। पर इस लिखा-पढी का कोई नतीजा नही निकला और दुर्गविजय सिंह की जेल ही में मृत्यु हो गयी।

दुर्गविजय सिंह के वाद जगतदेव सिंह नायव नियुक्त किये गये पर अकेले उनका कोई अधिकार न था। वे रेजिडेंट की आज्ञानुसार ही राज-काज का काम चलाते थे। जगतदेव सिंह के कुछ रोज काम करने के वाद मार्कहम छुट्टी पर चले गये और उनकी जगह वेन फाउक वनारस के रेजिडेंट हुए। उनके समय में भी जगतदेव सिंह साविक़ दस्तूर कपनी की मालगुज़ारी की किस्तें अदा करते रहे, पर रैयत पर भयकर अत्याचार होने लगे और किसी को यह खयाल नही रहा कि फाउक से और जगतदेव सिंह से भी नही वनती थी। जगतदेव सिंह ने अपने एक पत्र[1] में हेस्टिंग्स से शिकायत की कि कपनी की चालीस लाख रुपये मालगुज़ारी अदा करने पर भी फाउक उनसे खुश नही थे और आमिलो को मालगुज़ारी न देने के लिए उसकाया करते थे और उनका साथ देने वालो में राजा, दुर्गविजय और औसान सिंह थे।

सन् १७८४ में वनारस में क्या पूरे युक्त प्रान्त में भयकर अकाल पडा और प्रजा खाने के विना मरने लगी। एक मराठी पत्र में इस अकाल की भयकरता का अच्छा वर्णन है पत्र का मज़मून निम्नलिखित है —

"इस प्रान्त में आर्द्रा से श्लेषा तक काफी पानी पडा। इससे ज्वार-वाजरे की फसल वोई गयी। पानी मघा नक्षत्र से वन्द हो गया। वाजडा उजड गया और आगे रवी की भी फसल नही वोयी जा सकी। मुल्क आधा लुट गया। लोग कगाल हो गये और अकाल पड गया। लश्कर (ग्वालियर) में मँहगी वढ गयी। अन्न का भाव आज तेरह सेर के करीव है। यही गति अन्तर्वेद, दिल्ली, लाहौर और काश्मीर तक है। लोग दक्षिण की ओर भाग रहे हैं। हज़ारो लाखो भिखारी लश्कर आये है और वहाँ से मालवा जा रहे हैं। अन्न मिलता नही इससे मनुष्य भूखे मर रहे हैं और वीमारी फैल रही है। लखनऊ और काशी की भी यही दशा है। लखनऊ में कगाल भर गये है और उनकी वस्ती में मिर्ज़ा अमानत प्रत्येक मनुष्य को दो पैसे रोज देते है"।[2]

इसी अकाल के जमाने में हेस्टिंग्स आसफुद्दौला की मुलाकात के लिए फरवरी १७८४ में कलकत्ते से लखनऊ के लिए रवाना हुए। रास्ते में वे पाँच दिनो तक वनारस ठहरे और लखनऊ जाकर वहाँ से २ अप्रैल को उन्होने वनारस के वारे में एक लम्वा पत्र

---

[1] केलेंडर, ६, पत्र ९५६

[2] इतिहास सग्रह, अगस्त-अक्टोवर, १९१२, पृ० ४–५

व्हीलर और अपनी कौंसिल को भेजा। इस पत्र से १७८४ में बनारस की भयकर दुर्दशा का पूरा पता चलता है। पत्र यो है।[1]

"लखनऊ जाते समय रास्ते में बक्सर से बनारस तक प्रजा अपने दुखो का वर्णन करते हुए हमारे पीछे-पीछे आयी और इससे मुझे बडा क्लेश हुआ। इसीलिए सेना को छोडकर मैं उनके बारे में अधिक जानने के लिए बनारस गया और वहाँ पाँच रोज़ रह कर वहाँ का हाल आपको लिखता हूँ। इसलिए मुझे और भी दुख एव अफ़सोस हुआ कि मैं उनके दुख में किसी तरह कमी नही कर सकता था। प्रबध से सबको राज़ी रखना मुश्किल है यह सोचकर मैंने समझा था कि कोई कोई ही नाराज़ होगा पर लोग यहाँ तक दुखी होगे इसकी मुझे उम्मीद न थी। बहुत दिनो से सूखा पडने से प्रजा को घोर कष्ट हुआ पर उससे भी अधिक कष्ट हमारा विश्वास है उन्हें ज़मीदारी के कुप्रबन्ध से उठाना पडा। बहुत सी दरख्वास्तें मुझे मिली उनसे पता चला कि आमिल और ठीकेदार, जाली पैमाइश करके उससे कही ज्यादा वसूलते थे जिनसे खेत की उपज की आधी लगान लेने की बात थी। जिन असामियो के साथ रुपये में लगान नियत है उनसे रुपये न लेकर खेत की उपज से भी अधिक रकम वसूल करते हैं। रैयतो पर इस ज़बर्दस्ती से भविष्य में खेती-बारी पर बहुत बुरा असर पडेगा।

"असल में इस प्रदेश में रियाया की मेहनत पर महसूल लगता है क्योकि यहाँ कोई खेत नही है जिसे रैयत कुँआ खोदकर अथवा नाला या नदी के पानी से बडी मेहनत के साथ न सीचते हो। लोग अपने गुज़ारे के लिए ही इतनी मेहनत से अन्न पैदा करते है। अगर उन्हें इस बात का पता होता कि ज़मीदार उनकी सब पैदावार मुक़र्रिरी लगान में वसूल कर लेंगे तब वे क्यो इतनी मेहनत से खेती करते। इसलिए अगर यह प्रबध बदला न गया और कुछ रोज़ पानी न बरसा तो कोई खेती न करेगा। इससे मालगुज़ारी न अदा होगी और लोग भूखो मरेंगे। किसी को क्या इतनी गरज़ है कि दूसरे के लिए इतनी मेहनत करे। यह सब नायब के बदइन्तज़ामी में हुआ है, इसमें आमिलो की कुछ क़ुसूर नही है। नायब ने मुझसे कबूल किया है कि उसका यह सब करने का मतलब किसी सूरत से मालगुज़ारी इकट्ठा करना था। इसलिए उन जगहो की मालगुज़ारी की कमी जहाँ या तो अच्छी फसल नही हुई या ज़मीन परती रह गई, उसने उन जगहो से पूरी की जहाँ लोगो ने अपनी मेहनत से अच्छा अनाज पैदा किया। नायब ने मुझसे ही नही एडरसन से भी यही बात कही। हम दोनो की राय है कि ऐसा करने से भविष्य में गहरी हानि की सम्भावना है।

"व्यापारिक वस्तुओ का अपना मनमाना दाम लगा कर ज्यादा महसूल वसूल करने से, एक ही माल पर दोहरा महसूल यानी व्यापारी और खरीददार दोनो से महसूल वसूल करने से, व्यापारियो पर अत्याचार और उनसे झगडा होता है और व्यापारी सदा अप्रसन्न रहते हैं। ऐसे दो एक मामले मेरे सामने ही हुए। इसमें आश्चर्य नही कि बाहरी व्यापारी बनारस में नही आना चाहते और हर साल यहाँ का व्यापार घट रहा है।

[1] फारेस्ट, वही ३०५–०६

"इसके सिवा भी हमें वहुत सी खरावियो का पता लगा है जिसका मैं अभी बयान नही करना चाहता। इनमें से वहुत सी खरावियाँ तो रेजिडेंट की मदद से दूर हो जायँगी लेकिन उनमें से एक का उल्लेख जो जाँच पर मुझे सही मालूम हुआ, मैं यहाँ करूँगा। यह एक ऐसी बात है जिससे हम सबकी वदनामी होती है।

"जब कि मैं वक्सर में था तो मैंने रेजिडेंट से नायव को यह समझा देने को कहा था और मैं खूब जानता हूँ कि उन्होंने ऐसा ही किया कि जिधर से हमारी सवारी जाय उस तरफ के तमाम गाँवो में वह अपने विश्वासपात्र आदमी रख दें जो वहाँ की प्रजा को अच्छी तरह समझा सकें और अगर जरूरत हो तो उनकी रक्षा के लिए चौकी पहरा भी लगाने का भरोसा दें जिससे लोग अपना घर द्वार छोडकर न भागें। मैंने भी नायव को खुद यह सब समझा दिया था और मेरा क्या तात्पर्य था यह भी उसे मालूम था। यह सब समझा कर अपने कूच करने के पहले ही मैंने यह सब प्रबंध करने को उसे आगे रवाना कर दिया, लेकिन मुझे इसका अफसोस है कि जब हमने कूच किया, तब हमने रास्ते में दोनों तरफ के गाँव उजाड पाया और वहाँ हमें कोई आदमी नही दिखलाई दिया।

"बक्सर की इस सीमा से उस सीमा तक बराबर में उजाड गाँव देखता चला आया, जो घोर दुख का विषय है। लेकिन मुझे इसका पता नही चला कि यह सब उस फ़ौज के (जो हमारे पहले गयी थी) आदमियों की रसद के लिए हुआ अथवा मेरी ही लश्कर ने यह सब किया। अथवा गाँव वालों की रक्षा के लिए किसी के न रहने से वे सब डर के मारे स्वय अपनी घर गृहस्थी छोडकर भाग गये। हमारे देश के आदमियों का भी इसमें कोई दोष नहीं है। जब जमुनिया परगने के दर्रारा नाम के एक बडे गाँव में हमारा डेरा पडा था तब बहुत से आदमी मेरे पास आये और नालिश की कि पहले का आमिल उन्हीं के गाँव का रहने वाला था और सब गाँव वाले उसे मानते थे। जब कोई फौज इधर से जाती थी तब वह स्वय वहाँ रह कर प्रजा की रक्षा करता था और देखता था कि उन पर किसी तरह का जोर जुल्म न होने पावे। वह आमिल तबदील कर दिया गया और नया आमिल फौज की अवाई सुनकर पहले खुद ही भाग जाता है, इसीलिए रैयत की हिफाजत के लिए किसी के न रहने से वे लोग भी अपने घर छोड कर भाग जाते हैं। पीछे से खाली मकान देख कर जिसकी खुशी में आया वह सब लूट पाट लेता है।

"इस बात से हमें पता चला कि वास्तव में अत्याचार इसी तरह हुए हैं। सेनापति तो सब तरह से सेना को लूट पाट से रोकना चाहते है पर जब उनसे लूट रोकने तथा फ़रियाद करने वाला और गवाही देने वाला ही कोई नही रह जाता तब यह सब उपद्रव रोकना बहुत मुश्किल हो जाता है। यह सब बद-इतजामी नायब की वजह से हुई है और उसे दूर करना मैं बहुत उचित समझता हूँ। अगर मुझसे हो सकता तो मैं उसी समय उसको जवाब देकर ऐसा प्रबंध करता कि जिससे पीछे कभी ऐसी वदइतजामी न रह जाती। अगर नायब पर जवाबदेही का डर न रहेगा तो यह चीज कभी नही रुक सकती क्योंकि बाद में जो भी उसकी जगह आवेगा, वह भी ऐसा ही करेगा। खास करके इस काम के लिये अधिक आदमी भी नहीं मिलते।

"पहले नायब दुर्गविजय सिंह को मैंने ही मुकर्रर किया था। उनकी विद्याबुद्धि उतनी ही थी जितनी उस पद के उम्मीदवारो की होनी चाहिए। राजा के साथ उनका सबंध होने से मैंने नायबी के लिये उन्हें पसद किया क्योकि उससे बढकर उनके लडके की भलाई और कौन कर सकता था लेकिन उन्होने हमारा विश्वास खो दिया और रेजिडेंट को उनकी जगह दूसरे को रखने की सलाह देनी पडी। मेरे कहने के अनुसार बोर्ड ने इन्ही जगरदेव सिंह को बहाल किया गोकि इन्हें न तो मैं जानता था न बोर्ड के सदस्य ही जब तक मार्कहम साहब काम पर थे उनके डर से नायब अपनी मनमानी नही कर सकता था। मैंने सुना है कि वह निर्दयी और लालची भी है। बनारस शहर छोडकर नायब अपनी खुशी के अनुसार चाहे जो करता है, कही कोई क़ानून नही है। राजा को कोई अधिकार नही है और नायब कागजातो में उनका नाम भी नही लिखता। राजा के विषय में एक दूसरी चिट्ठी लिखूगा।"

सन् १७८४ में बनारस के इतिहास मे एक और घटना घटी और वह थी शाहआलम के बडे पुत्र और दिल्ली की गद्दी के अधिकारी मिर्जा जवाँ बख्त जहाँदार शाह का बनारस आना। जवाँ बख्त का जन्म १७४० के करीब हुआ था। १७६१ में उन्होने पानीपत के युद्ध में योग दिया। विजयी अब्दाली जब दिल्ली की ओर बढा उसी समय आलमगीर दूसरे का उसके वजीर ने खून कर डाला। ऐसे समय अगर अब्दाली चाहता तो दिल्ली की गद्दी पर खुद बैठ सकता था लेकिन उसने बिहार में भगोडे की तरह चक्कर मारते हुए शाह आलम को गद्दी पर बैठने को कहा और उनके बिहार से आने तक के समय के लिये जवाँ बख्त से सल्तनत का कामकाज सभालने को कहा।[१] जवाँ बख्त दस बरस तक इस तरह कागजात सभालते रहे और अपने पिता के लौटने पर पुन अपने स्थान पर चले गये।

अफ़ासियाब खाँ के पतन के बाद मिर्जा मुहम्मद शफ़ी शाह आलम के वजीर हुए पर अमीरो के प्रति उनके रूखे व्यवहार से रुष्ट होकर जवाँ बख्त नाराज अमीरो की गुट के अगुआ बन बैठे। अपने विरुद्ध षड्यन्त्र का पता पाकर मिर्जा शफी अपनी जान बचाकर भागे और ऐसा जान पडा कि जवाँ बख्त वजीर होकर राजकाज की बिगडी हालत को सुधारेंगे। लेकिन शफी और अफ़ासियाब के हाथ मिला लेने के कारण यह इच्छा पूरी नही हो सकी। शफी पुन वजीर बन बैठे और जवाँ बख्त के बुरे दिन आ गये। बाद में अफ़ासियाब ने शफ़ी को मरवा डाला और उसके बाद वह जवाँ बख्त के साथ बहुत कडाई से पश आने लगा।

इसी बीच दिल्ली में खबर मिली कि हेस्टिंग्स लखनऊ आये हुए थे। उनसे सहायता पाने के लिये १४ अप्रैल १७८४ को जवाँ बख्त भेस बदल कर लखनऊ चल दिए। जैसे ही उनके लखनऊ भागने की खबर दिल्ली में मिली, शाह आलम ने अथवा यो कहिए कि अफ़ासियाब ने उनकी ओट में हेस्टिंग्स और आसफउद्दौल्ला को उन्हें फौरन ही वापस भेज देने को कहा। जवाँ बख्त के नाम अपने २३ अप्रैल १७८४ के एक पत्र[२] में हेस्टिंग्स,

---

[१] एफ० ए० एस० अब्दुल ग़नी, प्रिंस जवाँ बख्त जहाँदार शाह, इडि० हि० रे० क० १४ (१९३१)

[२] केलेंडर ...६, पत्र १०५०

शाह आलम के इस रुक्के का उल्लेख करते हैं, जिसमें उन्हें जवाँ वख्त को दिल्ली भेज देने का आदेश था और अगर वे महादजी सिंधिया के पास हों तो अपने प्रभाव से वहाँ से भी उन्हें दिल्ली भिजवाने की प्रार्थना थी। पत्र में शाह आलम की आज्ञा के अनुसार गवर्नर जेनरल ने जवाँ वख्त की अभ्यर्थना करने में भी अपनी असमर्थता दिखलायी। हेस्टिंग्स ने अपने २४ अप्रैल के पत्र में[1] शाह आलम को लिखा कि उन्हें इस बात का पता लगा था कि गंगा पार करके शाहजादा लखनऊ आ रहे थे। उन्होंने जवाँ वख्त को यह लिखा दिया था कि वे लखनऊ नवाब से मिलने आये थे और बादशाह की आज्ञानुसार वे उनकी अभ्यर्थना करने में असमर्थ हैं। १ मई १७८४ के अपने एक पत्र में[2] वारेन हेस्टिंग्स ने शाह आलम को लिखा कि जवाँ वख्त के विश्वास दिलाने पर कि उनकी मनशा बादशाह के विरुद्ध जाने की कदापि नहीं थी। हेस्टिंग्स ने नवाब की सलाह से जवाँ वख्त के स्वागत का प्रबंध किया और स्वयं नवाब के साथ आगे बढ़कर उनका स्वागत किया। लखनऊ में जवाँ वख्त ने हेस्टिंग्स से फौजी सहायता की बात चलायी, पर कलकत्ते को यह बात मंजूर नहीं थी। अपने २२ मई के एक पत्र में[3] हेस्टिंग्स ने शाह आलम से जवाँ वख्त की सिफारिश की और कुछ शर्तों पर उनके दिल्ली जाने की बात कही। हेस्टिंग्स की कोशिशों से जवाँ वख्त के लौटने पर उन्हें रोहतक और सिधाना की जागीरें देने का वादा किया। बनारस से जवाँ वख्त फर्रुखाबाद होकर दिल्ली की ओर चले और हेस्टिंग्स ह्वीलर की मृत्यु का समाचार पाकर कलकत्ता वापस चले गये।

हेस्टिंग्स के बनारस से लिखे एक पत्र से पता चलता है[4] कि जवाँ वख्त के मामले को तय करने की कई सूरतें उनके सामने थीं जैसे (१) उन्हें शाह आलम के पास वापस भेज देना, (२) उन्हें बनारस छोड़ देना, (३) उन्हें अपने साथ कलकत्ते लेते जाना। लेकिन पहली दो बातें वे नहीं करना चाहते थे और जवाँ वख्त को बनारस में छोड़ने का अर्थ था वहाँ गड़बड़ मचवाना। अंत में उन्होंने जवाँ वख्त को दिल्ली लौट आने की सलाह दी और वे २८ अक्टूबर को बनारस से दिल्ली जाने के लिये तैयार भी हो गये।[5]

बनारस में शाहजादे की अवाई और वारेन हेस्टिंग्स के साथ उनकी बातचीत का सुन्दर वर्णन नाना फड़नवीस के वकील लाला सेवकराम ने अपने ११ नवंबर १७८४ के एकपत्र में किया है।[6] पत्र का मजमून इस प्रकार है —

"बड़े साहब जिस मसूबे से लखनऊ गये उसके अनुसार उन्हें नवाब वजीर से करोड़ डेढ़ करोड़ रुपये मिले। परंतु दिल्ली जाकर बादशाह से मिलने का इरादा महादजी के रोड़े अटकाने से पूरा न हो सका। हर तरह से मिर्जा जवाँ वख्त और रोहिल्लों, नवाब

[1] केलेंडर ६, पत्र १०५१

[2] केलेंडर ६, पत्र १०६६

[3] केलेंडर ६, पत्र ११०७

[4] ग्लाइग, वारेन हेस्टिंग्स, पृ० २००-०१

[5] ग्लाइग, वही, पृ० २११

[6] इतिहास संग्रह, अप्रैल, १९०९, ७५, ७७

वज़ीर तथा और छोटे बडो ने शाहजादा से उनकी सुलह करा दी। चन्द्र ७, ज़िलकाद को वडे साहव ने शाहज़ादे से एक घडी वात चीत की और नवाव के भाई सआदत अली खाँ से उनकी भेंट कराई। उन्होने शाहज़ादे को ५१ मुहरें नज़र में दी। वडे साहव ने पोशाक, सरपेंच, जिगा, मोती का कठा, हाथी, घोडा और तलवार भेंट दी। औरो ने भी पोशाकें और घोडे भेंट किये। उसी दिन वडे साहव ने शाहज़ादे की सवारी निकलवायी और खवास की जगह नवाव को वैठाया, ज्ञानवापी, जहाँ आलमगीर ने विश्वेश्वर का मंदिर तोडकर मस्जिद वनवायी थी, वहाँ ले जाकर नमाज़ पढवायी। दूसरे दिन विजया-दशमी का मेला दिखलाने के लिये वडे साहव शाहज़ादा, नवाव सआदत अली खाँ, इब्राहीम अली खा, अकवर अली खाँ, अपने मामा और अन्य दस वारह अंग्रेजो के साथ वरावर हाथी पर वैठ चित्रकूट के मैदान में गये। वहाँ श्री रामचन्द्र की लीला होती थी।"

उस समय जान पडता है, वारेन हेस्टिंग्स को रुपये की वडी आवश्यकता थी। पत्र का लेखक कहता है, "किसी गप्पी ने कह दिया कि चेत सिंह के दीवान की हवेली में दो करोड रुपये गडे है। वडे साहव ने सात दिन तक चौकी वैठाकर हवेली खुदवायी पर कुछ हाथ न लगा। शहर के व्यापारियो में घवराहट है। सरकार को वहुत देना है। सारे मुल्क में काशी तक दो कपो में करीव पन्द्रह वीस हजार तिलगी फौज है, उसे आठ महीने से तनख्वाह नही मिली है।"

हेस्टिंग्स द्वारा गडा घन खोदवाने की वात सेवकराम की निरी कल्पना नही थी, इसका पता हेस्टिंग्स के ७ अक्टूवर १७८४ के अली इब्राहीम खाँ के नाम एक पत्र से लगता है।[1] इस पत्र में कहा गया है कि किसी गुलाम मुर्तजा ने गवर्नर जेनरल से यह कह दिया कि चेत सिंह का वहुत सा माल असवाव वूढी भगत के मकान में गडा था। इस पर हेस्टिंग्स ने अली इब्राहीम को इस वात की सचाई का पता लगाने को कहा। वाद में उन्हें अली इब्राहीम के सूरत हाल और दूसरे लोगो से पता चला कि वात झूठी थी। हेस्टिंग्स ने गुनहगार को अदालत के सुपुर्द करने की आज्ञा दी और इस वात का सवूत मिलने पर कि गुलाम मुर्तजा ने यह वात वूढी भगत से दुश्मनी निकालने के लिये फैलायी थी उसे गहरी सज़ा देने की आज्ञा दी।

इसके वाद पुन सेवकराम वनारस का समाचार लिखते है, "चन्द्र २२, को अफ़ासियाव खाँ का पत्र वडे साहव के पास आया जिसमें उन्होने शिकायत की थी कि शाहज़ादा को वुलाकर फसाद कराने की जिम्मेदारी वडे साहव पर थी और अगर पत्र पाते ही उन्होने शाहज़ादे को न भेजा तो आपस में विगाड होगा। वडे साहव उसी दिन शाहज़ादे को चुनार का किला दिखाने ले गये और वहाँ छोटे वडे कामो का एक दिन में वन्दोवस्त करके दूसरे दिन वापस आ गये, आते ही भाऊ वक्शी को वुलाकर शाहजादा और एण्डरसन के साथ सलाह मशविरा किया। यह निश्चय पाया कि कर्नल पॉली साहव पाँच तिलगी पलटन और तोपखाने के साथ शाहज़ादे को नवाव वज़ीर के पास पहुँचा दें। पॉली साहव ने लखनऊ के अधिकारियो को लिखा कि शाहज़ादे के खर्च का वन्दोवस्त

---

१ केलेंडर ६, पत्र १३६७

करके उनको कानपुर कम्प के अधिकारी कर्नल रन के पास भेज दें। भाऊ की अनुमति से सिंधिया को लिख दिया कि शाहज़ादे को भेजा जा रहा है। अगर वे बादशाह को अकबराबाद का सूबा शाहज़ादे को देने को राज़ी कर सकें, तो पचीस लाख अंग्रेज उन्हें देंगे। चन्द्र २, माहे ज़िलहिज्ज को कलकत्ते में ह्वीलर साहब की मृत्यु का समाचार पाकर बडे साहब बहुत घबराये। चन्द्र ६, ज़िलहिज्ज को वे शाहज़ादा और भाऊ बख्शी से मिले तथा बडे साहब, भाऊ, शाहज़ादा और एण्डरसन ने एक पहर तक आपस में सलाह मशविरा करके शाहज़ादे को जाने को कहा। शाहज़ादे को रोज़ाना खर्च एक हज़ार मिलता था, उसके मद में उन्हें कश्मीरीमल से पचास हज़ार दिलवाया गया। भाऊ ने तीन पहर रह कर हिसाब किताब और सरकारी मामलो की सफाई चाही पर कुछ हुआ नही। भाऊ के हाथ यह समाचार भेजकर कि अंतर्वेदी का बन्दोबस्त आपके हाथो होगा उन्होने महादजी की दिलजमई की। भाऊ को आज्ञा देते समय पचास हज़ार रुपये दिये तथा और लोग विदा किये गये। मुझे देखकर कहा—तुम्हारे धनी ने किस मतलब से तुम्हें मेरे पास रख छोडा है? चार पाँच वर्षों मे कोई कागज़ पत्र नही आया। तुम पूना जाओ। हमारे साथ कलकत्ता मत चलो। मैंने जवाब दिया—आपने हिसाब किताब की बात नहीं की। यह सुनकर बिना पान दिये गुस्से मे उठ गये और नाव वालो को बुलाकर छह दिनो में कलकत्ता पहुँचाने पर उन्हें हज़ार रुपये इनाम के मिलेंगे। रात में भाऊ को बुलाकर चार घडी बातचीत की और आधी रात में चार आदमियो को साथ लेकर कलकत्ता चल दिये। चन्द्र ८ को एण्डरसन डाक से गये। चन्द्र १०, को शाहज़ादा ने ईद की नमाज़ पढकर अपने मामा अकबर अली खाँ को आगे रुखसत किया और खुद चन्द्र १४ को कूच कर सात कोस की मजिल तय किया। काशी के राजा महीपनारायण, दीवान अजायब सिंह, अली इब्राहीम खाँ और स्कॉट साहब ने दो मजिलो तक शाहज़ादे का साथ दिया। भाऊ बख्शी बनारस रह गये। उनके हिसाब किताब का राज कुछ साहूकारो और दरबारियो से पूछने पर खुला। एक करोड बडे साहब ने अतर्वेद और रुहेलखण्ड के मामले तय करने के लिये वादा किया। उसमें ४० लाख रुपये तो दिये और बाकी रुपयो के लिये भाऊ को काशी बुलाया। वहाँ रुपयो का बन्दोबस्त न हो सका और इसलिये भाऊ से चार सौ रुपये रोज़ ठहरा कर उन्हें बनारस रोक रक्खा और खुद कलकत्ता जाकर रुपये भेजने का वादा किया। करोड रुपये में ६० लाख श्रीमान् की सरकार का, ३० लाख महादजी का और १० लाख दरबार का होता है। कोई कहता है कि डेढ करोड पर मामला तय हुआ। महादजी आपको सविस्तर लिखेंगे।"

लेकिन जहाँदार शाह का मामला यहीं से तय नहीं होता। १९ नवबर १७८४ के अपने एक पत्र में[१] उन्होने हेस्टिंग्स को लिखा कि उन्हें इस बात की खबर मिली कि अफ़ासियाब खाँ का खून हो गया इसलिए बादशाह की मदद के लिये अंग्रेजी फौज की उन्होंने मदद चाही। उन्होने यह भी लिखा कि महादजी सिंधिया शाह आलम के पास थे। अपने १९ नवबर के पत्र में[२] वारेन हेस्टिंग्स ने जवाँ बख्त को फर्रुखाबाद जाकर

[१] केलेंडर ६, पत्र १४७३

[२] केलेंडर... ६, पत्र १४७६

तब तक ठहरने की सलाह दी जब तक उनके दोस्तो को यह इतमीनान न हो जाय कि उनका दिल्ली जाना निरापद है। लेकिन जहाँदार शाह के २० नववर[१] के पत्र से पता चलता है कि जवाँ वख्त ने फर्रुखाबाद न जाकर लखनऊ ठहरने का तब तक निश्चय कर लिया था जब तक दिल्ली का मामला साफ न हो जाय। लखनऊ में काफी दिनो तक ठहरने के कारण जवाँ बख्त और आसफउद्दौला में मनमुटाव हो गया। २७ सितवर १७८६ को जहाँदार शाह ने मि० ग्राट को लिखा कि उन्होने बनारस आने का पक्का इरादा कर लिया था और इसके वास्ते माधोदास के वाग की मरम्मत करके तैयार कर दिया जाय।[२] १७ अक्टूबर १७८६[३] को जहाँदार शाह ने कार्नवालिस को लिखा कि कलकत्ता न आने के वारे में उन्हें कॉर्नवालिस का पत्र मिला। वे केवल अपना और मुगल साम्राज्य का हाल सुनाने के लिए कलकत्ते आने वाले थे। अब गवर्नर जेनरल की आज्ञानुसार वे बनारस में ही उनसे भेंट करेंगे। जहाँदार शाह के १ अक्टूबर, १७८६ के एक दूसरे पत्र से पता चलता है कि उनके बनारस आने पर जेम्स ग्राट उनके स्वागत के लिये आये और उन्हें नजर पेश की। इसे पत्र में उन्होने इस वात की भी प्रार्थना की कि बहुत जरूरी कामो के होते हुए.भी कॉर्नवालिस उनसे मुलाकात करेंगे।[४]

करीब एक साल के बाद ४ सितवर १७८७ को जहाँदार शाह ने पुन कॉर्नवालिस को एक पत्र लिखा[५] जिसमें पुन उन्होने अपना दुखडा रोया है। वे लिखते है कि अमीरुद्दौला हैदर बेग खाँ के बुरे बरताव से उन्हें लखनऊ छोडना पडा। पहले तो महीपनारायण सिंह ने उनकी खातिर की लेकिन वाद में तो उन्होने अपने नौकरो का उनके यहाँ आना जाना भी बन्द कर दिया और कपनी से मिलती उनकी पेंशन भी वद करा दिया। ग्राट के विरुद्ध राजा की शिकायतें भी झूठी थी। यह सुनने पर कि ग्राट ने अपने पद से इस्तीफा दे दिया है, राजा ने कुल्ब अली खाँ, मेंहदी अली खाँ, राय चपतराय और उमराव सिंह को जहाँदार शाह के सामने से पकड मगवाया और उन्हें सख्त सजा दी।

सितंबर १७८७ में कार्नवालिस बनारस पहुँचे। नाना फडनवीस के वकील लाला सेवक राम के एक पत्र से[६] पता चलता है कि बक्सर में राजा महीप नारायण सिंह, शाहजादा की तरफ से नवाब अकबर अली खाँ, नवाब इब्राहीम अली खाँ और शहर के दूसरे मातबर आदमियो ने उनका स्वागत किया। काशी पहुँच कर वे सिकरौल छावनी में ठहरे। बनारस पहुँचने के दूसरे दिन कॉर्नवालिस ने कर्नल रॉस, मि० कॉकरेल, मि० चेरी, तथा मि० डकन के साथ जहाँदार शाह से मुलाकात करके उनको नजर दी। शाहजादे ने अपनी खास पोशाक,, सरपेंच, जिगा, जवाहर और मोती कठा तलवार, हाथी,

[१] केलेंडर ६, पत्र १४८०
[२] केलेंडर ७, पत्र ७०२
[३] केलेंडर ७, पत्र ७८५
[४] केलेंडर ७, पत्र ८०१
[५] केलेंडर ७, पत्र १६२७
[६] इतिहास सग्रह, नववर-दिसवर, १९१५, जनवरी १९१६, पृ० २०-२३

घोड़ा और पालकी कार्नवालिस को और ७-७ नग की पोशाकें दूसरे अंग्रेजों को देकर उन्हें रुखसत किया। इस मुलाक़ात के दूसरे दिन शाहज़ादा की सवारी कॉर्नवालिस के डेरे पर गयी जहाँ उनको पांच नग जवाहरात और २५ विलायती सौगातें पेश की गयीं। नवाब अकबर अली खाँ ने भी शाहज़ादे को भेंट दी। एक पहर तक कॉर्नवालिस और शाहज़ादे में बातचीत हुई जिसका तात्पर्य था कि शाहज़ादे को अकबराबाद का क़िला मिल जाय क्योंकि इसी शर्त पर हेस्टिंग्स ने उन्हें बुलाया था। लेकिन कॉर्नवालिस ने उन्हें यह साफ़ साफ बता दिया कि विलायत के हुक्म के बिना वे ऐसा करने में असमर्थ थे। शाहज़ादे ने खर्च की कमी बतलायी और नवाब वज़ीर से कोरा और जहानाबाद उनके ज़िम्मे बन्दोबस्त करवा देने को कहा। कॉर्नवालिस ने नवाब वज़ीर से ऐसी सिफारिश कर देने को कहा। काशी पहुँचने के चौथे रोज़ सारे शहर के साहूकार और मातबर लोग कॉर्नवालिस की सेवा में आये और उन्हें नज़रें दीं। पाँचवे रोज वे नाव से इलाहाबाद चले गये।

तीन सितम्बर, १७८७ के अपने एक पत्र में कॉर्नवालिस ने सुप्रीम काउंसिल के सेक्रेटरी मि० एडवर्ड हे को लिखा कि शाहज़ादा को उन्होंने भली भाँति समझा दिया कि उन्हें कम्पनी अथवा नवाब वज़ीर से रुपये अथवा सेना की सहायता की उम्मीद अपने पिता की राज्यसत्ता पुन क़ायम करने में न करनी चाहिए। साथ ही साथ कॉर्नवालिस ने शाहज़ादे को इतना विश्वास दिला दिया कि अगर बदकिस्मती से उन्हें पुन शरणागत होने की आवश्यकता पड़ी तो कम्पनी के राज्य में उनकी रक्षा की जायगी।[1]

इन्हीं दिनों जहाँदार शाह को पुन अपने अधिकारों की स्थापना के लिए अवसर मिला और उस अवसर का लाभ उठाकर उन्होंने अपने पिता शाह आलम को गुलाम कादिर को पदच्युत करने की सलाह दी। इस सम्बन्ध में जहाँदार शाह कॉर्नवालिस से, जो उस समय लखनऊ में थे, मिले और उनसे मदद चाही, पर कॉर्नवालिस ने मदद देने से साफ़ इनकार कर दिया। इस पर जहाँदार शाह दिल्ली पहुँचे पर यहाँ भी उनकी बदकिस्मती ने उनका पीछा न छोड़ा और उन्हें झूठी शिकायतों का शिकार होकर आगरे लौट आना पड़ा। यहाँ से उन्होंने पुन कॉर्नवालिस से आर्थिक सहायता के लिये प्रार्थना की पर उसका कोई नतीजा न निकला। इस पर निराश होकर उन्होंने सदा के लिये राजनीति से अपना सम्बन्ध तोड़ लेने का निश्चय कर लिया। वे पुन लखनऊ लौट आये। वहाँ उनको तीन लाख की पेंशन मुकर्रर करके राजमहल में बस जाने को कहा गया। पर राजमहल के रास्ते में वे बनारस में बीमार पड़े और ३१ मई, १७८८ को उनका वहीं देहान्त हो गया।[2]

जहाँदार शाह के मामले पर बनारस के कागज़ातों से कुछ और प्रकाश पड़ता है। १२ अप्रैल १७८८ को लखनऊ के रेज़िडेंट श्री ई० ओ० आइव्स ने कॉर्नवालिस को इस

---

[1] करेस्पोंडेन्स ऑफ चार्ल्स, फर्स्ट मार्क्विस कॉर्नवालिस, भाग १, पृ० २८३ लंडन १८५९

[2] हिं० रे० क० प्रो० १४ (१९३७), पृ० ३८-४५

बात का समाचार दिया कि नवाब वज़ीर ने समझाने बुझाने पर भी जहाँदार शाह की पेंशिन घटा दी थी और वे जहाँदार से दोस्ती के लिए तैयार न थे। जब आइन्स ने मियाँगज में कॉर्नवालिस की अर्जदाश्त दी तो वे राजमहल में रहने को तैयार नही हुए तथा बरसात मियाँगज में ही ठहरने का इरादा प्रकट किया पर समझाने बुझाने पर चुनारगढ में रहने को तैयार हो गये। अपनी पेशकश घटने से भी वे नाराज़ थे। आइन्स ने उन्हें १५,००० रु० खर्च के लिए दिये। जहाँदार लखनऊ लौट गये जहाँ नवाब वज़ीर ने उन्हें नज़र पेश की।[१] पर कॉर्नवालिस जहाँदार से प्रसन्न नही थे। अपने १३ अप्रैल, १७८८ के पत्र में उन्होने आइन्स को लिखा कि वे जहाँदार को समझा दें कि जो पेशकश मिले उसी में अपना गुज़ारा करें अपनी पुरानी शान शौकत भूल जायें। कॉर्नवालिस उन्हें बनारस में ठहराने के लिये तैयार नही थे। इधर बनारस के रेज़िडेंट के पास जहाँदार शाह ने समाचार भेजा कि उनके बनारस ठहरने का बन्दोबस्त किया जाय। रेज़िडेंट ने उन्हें लिख भेजा कि गवर्नर जेनरल के आज्ञानुसार वे उनके ठहरने का प्रबन्ध शिवाला में करने में असमर्थ थे। अपने १४ अप्रैल के पत्र मे आइन्स ने पुन उनसे राजमहल जाने का अनुरोध किया। अप्रैल १६, १७८८ के एक पत्र में आइन्स ने कॉर्नवालिस को सूचित किया कि जहाँदार के लखनऊ जाने से नवाब वज़ीर बहुत नाराज़ थे। स्वय जहाँदार शाह भी बनारस जाने को उत्सुक थे। कॉर्नवालिस ने अपने २२ अप्रैल १७८७ के पत्र में लिखा कि वे नही चाहते थे जहाँदार बनारस या कलकत्ता जायें। राजमहल के रास्ते में वे सासाराम में ठहर सकते थे। जहाँदार बनारस आये पर जल्दी ही उनकी मृत्यु हो गयी।

जहाँदार शाह की मृत्यु के बाद बादशाही परिवार की वृत्ति २५,००० महीने से घटा कर १७,००० महीने कर दी गयी। इसमें से मिर्ज़ा शिगुफ्ता बेग को ४,०००, जहाँनाबादी बेगम को २,००० और कुतलुग़ सुल्तान बेगम को ११,००० महीनवारी बाँध दी गयी। कुतलुग सुल्तान बेगम को मुजफ्फरबख्त को २,००० महीना देने का आदेश हुआ पर इससे नाराज होकर वे दक्खिन भाग गये और फिर वापिस आकर फर्रुखाबाद में बस गये जहाँ उन्हें ७५० रु० मासिक मिलते रहे। इसके बाद का जहाँदार शाह के वश का इतिहास पारिवारिक कलह का है (बनारस अफेयर्स, भाग २, पृ० ५२ से) और उसके घटते प्रभाव और पेंशन का है।

हम ऊपर कह आये हैं कि जगरदेव सिंह के बनारस की नायबी से हटा देने पर अजायब सिंह बनारस के नायब बनाये गये और वे बनारस के रेज़िडेंट के कहे मुताबिक बनारस राज का कारबार चलाने लगे। अजायब सिंह की मृत्यु १७८७ के अप्रैल में हो गयी। कॉर्नवालिस के नाम अजायब सिंह के पुत्र शिवप्रसन्न सिंह के १८ अप्रैल १७८७[१] के एक पत्र से पता चलता है कि उनके पिता की मृत्यु के बाद राजा के आदमी उनसे नायबी की मुहर माँगने आये पर शिवप्रसन्न सिंह ने मुहर फौरन न देकर १५ दिन बाद देने को कहा। पर ५ अप्रैल को स्वय बनारस के रेजिडेंट, ग्राट, बनारस की टकसाल के दारोग़ा

[१] केलेंडर ७, पत्र १२९३

नवाब शेर जग के साथ आये और अपने आदमियो को मुहर और राज के कागज़ातो को छीन लेने की आज्ञा दी। राजा महीप नारायण के २ मई के पत्र से पता चलता है[1] कि ग्राट ने शकर पडित को बनारस का नायब १६ अप्रैल को मुक़र्रर करके यह हुक्म जारी कर दिया था कि बिना शकर पडित की मुहर के और ग्राट के हुक्म बिना रियासत का कोई कारबार नही चला सकता था। राजा ने कॉर्नवालिस से इस पत्र में शिकायत की कि राज्य का प्रबध वे स्वय करते थे और दो बरस पहले से तो नायब की मुहर लगाने की प्रथा तक उठ गयी थी फिर ग्राट ने ऐसा क्यो किया। ● ●

---

[1] केलेंडर॰ ॰ ७, पत्र १३१९

सातवाँ अध्याय

डंकन और बनारस

जोनेथन डकन की रेज़िडेंटी के समय बनारस में अनेक सुधार हुए। अपनी कार्य कुशलता और सहानुभूति से डकन बनारस में इतने प्रसिद्ध हो गये कि १८वीं सदी के अंत में डकन के वडे भाई कहावत से लोगो की यह मशा प्रकट होती थी कि डकन से वढकर कोई नही था। डकन ने बनारस की रेज़िडेंटी ५ अक्टूबर १७८७ को सँभाली। डकन ने आते ही जो पहला काम किया वह बनारस की नायवी को खतम करके राजा महीप नारायण को राजकाज सुपुर्द कर देना था।

कॉर्नवालिस ने डकन की नियुक्ति वहुत सोच समझ कर की थी क्योकि उन्हें इस वात का पूरा पता था कि बनारस के रेज़िडेंटो की उनकी तनख्वाह के अलावा कितनी ऊपरी आमदनी थी। हेनरी डुडास के नाम अपने १४ अगस्त १७८७ के एक पत्र में उन्होने अपना विचार प्रकट किया कि विना किसी अधिकार के भी बनारस के रेज़िडेंट को अपनी मनमानी करने का पूरा अधिकार था। कहने को तो उसकी तनख्वाह एक हज़ार महीने की होती थी पर सव ले दे कर उसकी आमदनी चार लाख साल होती थी साथ ही साथ व्यापार पर उसका एकजाई अधिकार होता था और वह जिसे चाहे परवाना इत्यादि दे सकता था। इसीलिये ग्राट को हटाकर कॉर्नवालिस ने ईमानदार और सच्चरित्र डकन को उसकी जगह नियुक्त करने का निश्चय किया।[1] डकन के प्रति कॉर्नवालिस का भरोसा सच साबित होने की सूचना कॉर्नवालिस के कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स के नाम १६ नवम्बर १७८७ के एक पत्र से मिलती है।[2] डकन ने राजा की थोडी सी परीक्षा करके यह देख लिया कि वे विना किसी की सहायता के स्वय ज़मीदारी का काम चला सकते थे। राज्याधिकार देने पर राजा महीप नारायण ने डकन से इस वात का वादा भी किया कि अपनी प्रजा के कल्याण के लिये उनसे जो कुछ भी हो सकेगा करेंगे। इस सवध में राहदारी और ऐसे ही कर जिससे व्यापार में वाधा पडती थी, आमदनी में काफी कमी होने पर भी उठा देने तथा सच्चरित्र आदमियो को तीन लाख तक की जागीरें देने और न्याय व्यवस्था की ओर भी अधिक ध्यान देने का वादा किया।

करीव नवम्बर १७८७ में बनारस में एक घटना और घटी और वह थी बनारस के महाजनो, ओहदेदारो और पडितो द्वारा हेस्टिंग्स को जिन पर विलायत में मुकदमा चल रहा था चार मानपत्रो का दिया जाना था (परिशिष्ट तृतीय)। पहले मान पत्र में बनारस के राजा सहित २७७ रईसो तथा अधिकारियो इत्यादि के दस्तखत है। इसमें हेस्टिंग्स को

---

[1] केलेंडर ७, पत्र १७४२

[2] करेसपाडेंस ऑफ चार्ल्स, फर्स्ट मार्क्विस ऑफ कॉर्नवालिस, भाग १, पृ० २७०-७१

[3] करेसपाडेन्स, वही, पृ० ३०२

बुद्धिमत्ता, कार्यकुशलता और शराफत की चर्चा की गयी है। चौथा मानपत्र नयी पट्टी के महाजनो का महाजनी अक्षरो में और हिंदी भाषा में था और इससे पता चलता है कि बनारस में महाजनो की निगाह में हेस्टिंग्स की बडी इज्जत थी। दूसरा और तीसरा मानपत्र बनारस के पडितो ने दिया। हम बनारस के इतिहास में इन मानपत्रो का इसलिये और अधिक महत्व है, क्योकि इनसे हमें बनारस के बहुत से पडितो और व्यापारियो के नाम मिलते है तथा हमें उनका समय ठीक करने में एक निश्चित आधार भी मिल जाता है। बनारस के महाजन, सौदागर, व्यापारी जो वहाँ के रहने वाले थे अथवा आकर बस गये थे, उन्होने अपने प्रमाण पत्र में[1] लिखा कि हेस्टिंग्स साहब ने न तो किसी को गारत किया न रिश्वत ली, न किसी की इज्जत बिगाडी। जबर्दस्ती से उन्होने किसी की जायदाद पर भी अधिकार नही जमाया, न अपने जुल्मो से उन्होने देश को बरबाद ही किया। उन्होंने सदा मेल मिलाप की कोशिश की और मीठे वचनो से लोगो को खुश रक्खा और शहर में न्याय का समुचित प्रबध किया। दस्तखतो से पता चलता है कि नगर सेठ चतुरभुजदास, साहु रामचन्द, फतहचद साहु, मनोहरदास साहु, कश्मीरीमल इत्यादि बनारस के प्रसिद्ध साहूकारो में थे।

दूसरा प्रमाणपत्र बनारस के राजा, ओहदेदारो और हाली मोहालियो की तरफ से था।[2] प्रमाणपत्र का साराश यह है कि बनारस के हिंदू मुसलमानो को यह खबर मिलने पर कि विलायत वालो ने गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स पर यह आरोप लगाया है कि उन्होंने यहाँ वालो पर अत्याचार किया, लोगो को गिरफ्तार किया और मुल्क को वीरान कर दिया बनारस वालो ने अपने धर्मों की सौगध खाकर यह बतलाया कि वारेन हेस्टिंग्स ने प्रजा की सदा रक्षा की और उन्हें नुकसान से बचाया तथा उनके साथ न्याय किया। उनकी झूठी शिकायत करने वाले वे ही थे जिनका स्वार्थ उनसे सिद्ध नही हुआ। बदमाशो और गुडो के साथ भी वे सख्ती से पेश आये जिसकी वजह से लोगो को शाति मिली। अत में उन लोगो ने यह भी लिखा कि प्रमाणपत्र में उनके बयान बिना किसी और दबाव के लिये गये है।

ऊपर के दोनो प्रमाण पत्रो में केवल वारेन हेस्टिंग्स की तारीफ ही तारीफ है, पर पडितो के दो प्रमाण पत्रों में वारेन हेस्टिंग्स द्वारा बनारस में किये गये कुछ सुधारो का भी उल्लेख है। पहले पत्र में महाराष्ट्र, गुजरात और खास बनारस के १७८ पडितो के हस्ताक्षर है तथा दूसरे पत्र में ११२ आदमियो के हस्ताक्षर है, जिन्हें ग़लती से बगाली पडित कहा गया है, क्योकि इनमें बगाली कायस्थ, और मैथिल पडित भी थे। दोनो प्रमाणपत्र सस्कृत में है। पर पडितो का प्रमाणपत्र नागरी अक्षरो में है और बगालियो का बगला अक्षरो में। इन दोनो प्रमाणपत्रो में हस्ताक्षर करने वालो ने अपने को राजनीतिक प्रश्नो से बचाते हुए, वारेन हेस्टिंग्स के खास सुधारो की ओर, जिनसे यात्रियो को फायदा पहुँचा

[1] केलेंडर ऑफ पर्शियन करेसपाडेंस, ३१ जुलाई १७८८, पृ० ४३४

[2] वही, जुलाई, १७८८, पृ० ४३२

[3] ए० एस० सेन, टू सस्कृत मेमोरेंडा ऑफ १७८७, जर्नल ऑफ दि गगानाथ झा रिसर्च इस्टिट्यूट, नवबर १९४३, पृ० ३२-४७

जैसे गगापुत्रों की छीना झपटी की रोक थाम, बिना बाधा के धार्मिक कार्य करने की सुविधा, अली इब्राहीम खाँ की बनारस में चीफ मजिस्ट्रेट के पद पर नियुक्ति तथा विश्वेश्वर मंदिर का नौबतखाना बनाना, इत्यादि की ओर ध्यान दिलाया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या ये प्रमाणपत्र लोगो ने अपनी मर्जी से लिखे अथवा उन पर जोर दबाव डालकर वे लिखवाये गये। अली इब्राहीम खाँ ने ये चारो प्रमाणपत्र डकन साहब के पास भेजकर उनसे प्रार्थना की कि वे उन्हें कपनी के डाइरेक्टरो के पास भेज दें। लेकिन डकन ने स्वत कुछ करेने से इनकार कर दिया, क्योकि प्रमाणपत्रो का सबध कपनी के किसी काम से नही था। इस पर ये पत्र हेस्टिंग्स के अटरनी मि० टॉमसन के पास भेज दिये गये। मि० टॉमसन ने लॉर्ड कॉर्नवालिस से प्रार्थना की कि अपनी मर्जी से लोगो को हेस्टिंग्स के कामो के बारे में प्रमाणपत्र देने की आज्ञा दी जाय। इस पर कार्नवालिस ने हुक्म दिया कि कपनी के अफसर केवल ऐसे प्रमाणपत्र जो इन्हें दिये जायें टॉमसन के पास भेज सकते थे, पर इस मामले में और किसी तरह की दस्तदाजी करने की मनाही की गयी। इससे यह पता चलता है कि गवर्नर जनरल की इस मामले में कोई दिलचस्पी नही थी और कपनी के अफसर इन प्रमाणपत्रो के मामले में केवल पोस्ट ऑफिस का काम करते थे। डकन का भी रुख इस मामले में तटस्थता का था।

लेकिन अली इब्राहीम खाँ वारेन हेस्टिंग्स के मित्र और कृपापात्र थे। इसलिये यह सभव है कि प्रमाणपत्रो को इकट्ठा करने में उनका हाथ था। डकन के नाम उनके पत्र से भी यह पता चलता है कि इस मामले से उन्हें दिलचस्पी थी। बनारस के हाकिम होने की वजह से वे रईसो, महाजनो तथा पडितो पर अपना प्रसाद डालकर प्रमाणपत्र लिखवा सकते थे और पत्रो की अलकारिक भाषा और अली इब्राहीम की बढ़ा चढाकर तारीफ़ शायद इस ओर इशारा भी करते हैं। लेकिन हस्ताक्षर करने वालो ने अपने प्रमाण पत्रो में राजनीतिक झगडो की कही बात नही आने दी है। उन्होने तो केवल उन्ही बातो की चर्चा की है जो उनके ज्ञान में सही थी। इसलिये यह मान लेने की कोई सभावना नही है कि उन्होने प्रमाण पत्रो पर अली इब्राहीम खाँ के दबाव से दस्तखत किये।

पहला पत्र १६ नवबर १७८७ का है और उसमें काशी के और बाहरी दोनो पडितो ने हस्ताक्षर किये थे, क्योकि वे हेस्टिंग्स की कृपा और शिष्टाचार से सतुष्ट थे। पत्र में इन कृपाओ का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—(१) बडे प्रयत्न से उन्होने चातुर्वर्ण्य के प्रसिद्ध तीर्थ वाराणसी को बसाया और उसको समृद्ध बनाने का प्रयत्न किया। (२) अपने अधिकार में उन्होने पडितो को इज्जत और सुख से बसाया। (३) गगापुत्रों की गुडई के डर से पहले थोडे से ही यात्री काशी आते थे लेकिन हेस्टिंग्स ने उनकी गुडई का प्रतिकार करके और दूसरी रुकावटो को दूर करके यात्रियो को आने की सुविधा कर दी, इससे सब प्रदेशो से काशी में यात्री आने लगे। (४) उन्होने न्याय-प्रिय और कुशल अली इब्राहीम खाँ को बनारस का मजिस्ट्रेट बनाया और पडितो और मौलवियो को हिंदू मुस्लिम कानूनों को समझाने के लिए उनका सहायक नियुक्त किया। अली इब्राहीम ने घूस भी रोक दी और उनके शासन में प्रजा बलवत सिंह और चेत सिंह के शासनकाल से भी कही

अधिक प्रसन्न थी। (५) हेस्टिंग्स ने वनारस दूसरी बार आने पर पडितो की सभा में अपने वचन और मानदान से लोगो को वहुत प्रसन्न किया। (६) उन्होंने विश्वेश्वर के मदिर में नौवतखाना वनवाया। (७) शासन के अच्छे सिद्धान्तो से वे कभी नहीं टिगे और उन्होने अपने भरसक किसी की वुराई भी नही चाही।

ऊपर वारेन हेस्टिंग्स द्वारा नौवतखाना वनवाने का जिक्र है। विश्वनाथ मदिर के एक लेख से[१] पता चलता है कि विश्वेश्वर का यह नौवतखाना, नवाव अजीजुल मुल्क अली इब्राहीम खाँ ने सवत् १८४२ (सन् १७८५) में नवाव इमादुद्दौला गवर्नर जनरल अमीरुल मुमालिक वारेन हेस्टिंग्स जलादत जग की आज्ञा से वनवाया।

हम पीछे कई वार यह कह आये है कि मराठो की काशी पर दृष्टि थी पर पानीपत की १७६१ की लड़ाई के वाद उनकी यह इच्छा कभी भी पूरी न हो सकी। कॉर्नवालिस के शासन काल में तो नाना फडनवीस ने यह अच्छी तरह समझ लिया कि वनारस अग्रेजो के पजे में पूरी तरह आ चुका था और मराठो का उस पर अधिकार होना असभव था। नाना फडनवीस स्वय काशी यात्रा के वडे इच्छुक रहते थे पर अत तक उनकी यह इच्छा पूरी नही हुई। काशी पर उनकी इतनी श्रद्धा थी कि तीर्थ का एक नक्शा जिसमें सव मदिर वने थे उनके पास था और वे उस नक्शे से रोज काशी दर्शन करते थे।[२] नाना फडनवीस ने वनारस में एक पुल वनवाने की भी सोची और इसके लिये करमनासा नदी चुना। भास्कर पत कुटे ने पुल के पाये वनवाने का काम अपने हाथो में लिया लेकिन वालू और पानी के जोर से वे ऐसा न कर सके गोकि इन वखेडो से छुट्टी पाने के लिये उन्होने अनुष्ठान भी कराया। जव नाना फडनवीस को यह सव खवर मिली तो उन्होने काम रुकवा दिया और कलकत्ते से वेकर नाम के एक इजीनियर को वीस हजार देकर काम पूरा करवाया।[3] फिर भी पुल वहुत दिनो तक शायद खडा नही रह सका और राजा पटनीमल ने नौवतपुर के पास १९वी शताब्दी के आरम्भ में पुन करमनासा पर पुल वनवाया जो आज तक चालू है।

कपनी के डाइरेक्टरो के नाम अपने २ अगस्त १७८९ के एक पत्र में कॉर्नवालिस ने लिखा कि डकन के सुप्रवध से वनारस की वस्ती वढने लगी थी। वहुत से दक्षिणी मिर्जापुर में जम गये थे और वे वनारस में घर वनाने के लिये जमीन चाहते थे। नाना फडनवीस ने भी कॉर्नवालिस से वनारस में एक घर वनाने की आज्ञा चाही जिससे वे काशी समय समय पर आकर रह सकें। अपने दीवान महादजी पडित की रिपोर्ट मिलने पर उन्होने ऐसा करना निश्चित किया था।[४]

डकन के समय में मराठो ने इस वात की भी पूरी कोशिश की कि ज्ञानवापी मस्जिद की जगह मुसलमानो को मुआवजा देकर विश्वनाथ का मदिर पुन वना दिया

---

[१] इडि० हि० रे० क० प्रो०, १२ (१९२९), पृ० ६७

[२] इतिहास सग्रह, मई १९०९, पृ० ७२ पाद टिप्पणी

[3] इतिहास सग्रह, फरवरी १९१०, पृ० ३७

[४] रॉस, करेसपोडेन्स ऑफ कॉर्नवालिस, भाग १, पृ० ५४५

जावे।[1] महादजी सिंधिया ने भी इस सबध मे १७८९ में प्रयत्न किया, पर अंग्रेज मुसलमानो से शत्रुता मोल नही लेना चाहते थे, इसलिये कुछ न हो सका। नाना फडनवीस ने टीपू और अग्रेजो की लडाई के समय अग्रेजो की इस शर्त पर सहायता करने का वादा किया कि उसके वदले में वे विश्वनाथ का मदिर पुन अपने प्राचीन स्थान पर हिंदुओ द्वारा वनने दें पर इसका भी कोई नतीजा नही निकला।[2]

शायद विश्वनाथ के प्राचीन मदिर को पुन न लौटाने के कारण वनारस के मराठो और अग्रेजो में दुर्भाव पैदा हो गया। इसका पता जोनेथन डकन के नाम कॉर्नवालिस के १० अगस्त १७९२ के एक पत्र से लगता है (श्री गोविन्द लाल व्यास, वनारस के सग्रह में)। कॉर्नवालिस को डकन के कई पत्रो से पता लगा कि सिंधिया के वकीलो और दूसरे वनारस के महाराष्ट्रो का डकन के प्रति व्यवहार अच्छा नही था। कॉर्नवालिस ने इसे रोकने के लिये मेजर पामर द्वारा सिंधिया और भाऊ वक्शी का ध्यान आकृष्ट किया और इस वात की शिकायत की कि उनके आदमी किसी मुकदमे में अदालत का अपमान करने पर तुले हुए थे। कॉर्नवालिस ने इस वात की भी आगाही कर दी कि वनारस में मराठे अगर भलमनसाहत से न रहे तो अफसरो की वेइज्जती करने पर उन्हें सख्त कैद की सजा मिलेगी। कॉर्नवालिस ने डकन को भी इन लोगो के विरुद्ध कडी कार्रवाई करने का आदेश दिया।

यह कहना ग़लत न होगा कि वनारस में कम्पनी द्वारा अधिकार लेने के पहले जमावन्दी का कोई हिसाव नही था। जमीदार जितनी इच्छा हो, प्रजा से मालगुजारी वसूल करते थे। वलवन्त सिंह नवाव वज़ीर को इसमें से एक मुश्त रकम दे देते थे। वहुत से जमीदार, प्रजा को लूट पाट कर और अपने मालिक को धोखा देकर, जितनी रक़म मिलनी सभव थी वसूल करते थे। जव १७७५ में चेत सिंह ने अपनी जमीदारी के कुछ अधिकार अग्रेजो को दिये, तव भी मालगुज़ारी इकट्ठा करने का काम अपने हाथो में रक्खा। महीप नारायण सिंह के समय में भी यही कायदा चलता रहा। वनारस की मालगुज़ारी दूनी हो गयी पर साथ ही साथ लूट खसोट भी दूनी हो गयी।

१७८७ के ३१ अगस्त को वनारस के रेज़िडेंट वनकर आने पर डकन ने देखा कि मालगुज़ारी सम्वन्धी यह कुप्रवन्ध रोकना आवश्यक था।

१७८८ में डकन ने वनारस की आर्थिक अवनति देखकर उसके सुधार के लिये महाराज वनारस को एक पत्र लिखा। जिसमें आर्थिक व्यवस्था के निम्नलिखित सुधार सुझाये गये। (१) आमिलो के इच्छानुसार नये नये पट्टो की समाप्ति और एक नये तरह के पट्टे का चलन। (२) पट्टे में वटाई के खेतो के नापने के गज की लम्वाई, उस पट्टे में कनकूत के लिए लिखना आवश्यक था। (३) लगान में अन्न देने की निर्ख के सम्वन्ध में किसानो में अक्सर झगडा होता था इसे रोकने के लिए दो फसलो की पैदावार की औसत

---

[1] मराठी रियासत, भाग २, पृ० २५८-५९

[2] भावे, पेशवा कालीन महाराष्ट्र, पृ० ३९४

पर रेज़िडेंट की अनुमति से राजा एक निर्ख़ तय कर सकते थे। (४) बटाई का अन्दाज़ा कानूनगो खेत की पट्टे में लिखे गज़ की पैमाइश करके तथा पैदावार की कनकूत करके कर सकते थे। (५) पट्टे में आमिल और रैयत के बीच में पैदावार के बटवारे का अनुपात निश्चित करना आवश्यक था। (६) पट्टे में नकद लगान देने वाले का नाम लिखना आवश्यक था। (७) १७८७ के बाद से लगे हुए सब आबोआब १७९६ में निश्चित रूप से खतम होना। १७८७ में सब करो को मिला कर, एक मुश्त लगान निश्चित रूप से कायम होना। (८) प्रजा को अत्याचार से बचाने के लिये पट्टे के मसविदे को आमिलो ज़मीदारो और ठीकेदारो में घुमाना ज़रूरी था। इस सुधार के लिये ईमानदार अमीनो की नियुक्ति मि० नीव के मातहत में करना आवश्यक था। रैयतो को इस बात की भी आगाही दे दी जाय कि नये पट्टे चालू होने के पहले वे बकाया मालगुज़ारी अदा कर दें। (९) क़ानूनगो लोगो के लिये जो खास आबोआब होते थे उन्हें बन्द कर दिया जाय, उनकी जगह उनके लिये कोई दूसरा प्रबन्ध कर दिया जाय। (१०) बजर ज़मीन की लगान रैयतो के ज़रूरत के अनुसार तय की जाय। खेती बढ़ाने के लिये बजर जमीन का भी बन्दोबस्त पट्टे के साथ कर दिया जाय। पट्टे की रजिस्ट्री क़ानूनगो के हस्ताक्षर से हो। (११) अमीनो को यह अधिकार दिया जाय कि वह हर एक परगने के काज़ी और चौधरी के हुकूको के बारे में रिपोर्ट भेजें। उनके लिए यह भी ज़रूरी कर दिया जाय कि वे बराबर शजरे भेजते रहें।[१]

इन सुझावो से राजा और रेज़िडेंट के बीच काफी खिचाव पैदा हो गया। राजा इस बहाने से प्रस्तावो को मान कर पट्टा देने में आनाकानी करने लगे कि ऐसा करने से उस साल की वसूली, जिसका सब प्रबंध हो चुका था, न हो सकेगी। इस पर रेज़िडेंट राजा को आज्ञा दी कि वे अपनी वसूली का चिट्ठा भेजें। २ जून १७८८ को रेज़िडेंट ने राजा को लिखा कि नये सुधार प्रजा की भलाई के लिये थे और वे अपने परवाने पर पुनर्विचार करें। इसके पहले राजा के लिये यह आवश्यक था कि वे विरोध लिखित रूप में उनके पास भेजें।[२] २९ जून १७८८ को राजा ने रेज़िडेंट को अपने उस साल की वसूली का चिट्ठा दिखाया, पर रेज़िडेंट को इस बात की दिलजमई थी कि उसकी जो राय थी वह ठीक थी और वह अपने प्रस्तावो को स्वतन्त्र रूप से लागू करने को तैयार था। जब बात यहाँ तक पहुँची तब राजा को स्थिति का ज्ञान हुआ और वे प्रस्तावो को स्वत लागू करने के लिए तैयार हो गये। इस पर रेज़िडेंट ने राजा को ११८७ में नकदी खेतो की मालगुज़ारी की जानकारी इकट्ठा करने तथा जमीन नापने की गजो की लम्बाई निश्चित करने को कहा। आमिलो को हिदायत की गयी कि वे नये सुधार का लोगो में प्रचार करें और अगर कोई उनकी आज्ञा न माने तो उसकी जवाबदेही को वे राजा के मार्फ़त रेज़िडेंट के पास भेज दें। रेज़िडेंट ने राजा को समझाया कि नये बन्दोबस्त का उद्देश्य यह था कि पट्टा में नकदी लगान, पैमाइश का गज़, आबोआब और ज़ाबिताना करो का जिक्र हो और कोई खेत बिना जुते न रहे।

---

[१] शेक्सपियर, नोट्स फ्रॉम दि डकन रेकर्ड्स, पृ० १-५, एलाहाबाद १८७३

[२] वही, पृ० ५–९

क़ानूनगो लोगो को हुक्म दिया कि वे ११९६ हिजरी के लिये पट्टे जारी करें। चौधरियो, काज़ियो और अमीनो से यह कहा गया कि वे लगान क़ायम करने के लिये ११८६ हिजरी के कागज़ात पेश करें। लगान कायम करने में यह बात निश्चय कर ली गयी कि गज़ की नाप तीन दीन इलाही से अधिक हो और बीघा में बीस बिस्वा से कुछ अधिक या कम हो। इस बात पर भी राजा ने एतराज़ किया लेकिन डकन ने अपने वकील को हुक्म दिया कि वे राजा से इस सवाल का सीधा जवाब लावें कि वे कपनी की वसूली का काम हाथ में लेने को तैयार थे अथवा नही। उनके अस्वीकार करने पर रेज़िडेंट स्वय इस काम को हाथ में लेने के लिये तैयार थे। झख़मार कर १२ जुलाई १७८८ के दिन राजा ने रेज़िडेंट के प्रस्तावो को मान कर अमीनो और आमिलो को हुक्म दिया कि वे नये क़ानून को तुरत अमल में लावें। रेज़िडेंट ने उस साल अमीनो के खर्च का भार उठाना स्वीकार कर लिया। बदोबस्त के शुरू होते ही रैयतो ने तरह-तरह के एतराज़ उठाए, जिनका रेज़िडेंट ने ठीक तरह से समाधान किया।

कल्ब अली ने बनारस के कई परगनो के ठीके ले रक्खे थे लेकिन उसे नयी लगान देने में बडी अडचनें पडने लगी। उसने तो यह लगान केवल इसलिए मान लिया था कि उसकी पटरी बनारस के महाजनो से नही बैठती थी। लेकिन इस डर से कि कहीं सब आमिल उनसे लगान घटाने को न कहें, राजा बनारस कल्ब अली की लगान घटाने को तैयार न थे। इसी बीच में राजा बीमार हो गये और रेज़िडेंट को पता लगा कि कल्ब अली दीवालिया बन चुका है। डकन ने उसे छूट देनी चाही पर राजा ने इसे नही माना। इस पर अपनी दिलजमई के बाद रेज़िडेंट ने अली इब्राहीम खाँ को कल्ब अली से यह कहने को कहा कि या तो वह अपने सब ठीके छोड दे, अथवा उन सब पर पचीस हज़ार मालगुज़ारी देना स्वीकार करे। कल्ब अली इस बात को मान गये लेकिन लगान देने में वे असमर्थ थे। इस पर मि० नीव सिपाहियो के साथ लगान वसूल करने भेजे गये और उन्होने दो लाख वसूल किया। कल्ब अली के सत्रह हज़ार रुपये बनारस के महाजनो पर बाकी थे जिन्हें राजा ने मालगुज़ारी में दाखिल करने की आज्ञा चाही और रेज़िडेंट ने उसे स्वीकार भी कर लिया। इसका महाजनो को बडा बुरा लगा और उन्होने इस अपमान का बदला लेने की ठान ली। राजा के खज़ाने में मालगुज़ारी महाजनो के ज़रिए पहुँचती थी। फिर क्या था उन्होने किश्त के पुरज़ो पर तक दस्तखत करने से इनकार कर दिया, जब तक कि रेज़िडेंट उनमें से एक की कोठी में किश्त की रकम जमा न कर दे। महाजनो को इसलिए नाराज़ करना कठिन था, क्योकि उस समय लगान देने की प्रथा दाखिलो में थी, जिनका भुगतान कुछ दिनो में होता था। महाजनो का कर्ज़ होने से से ज़मीदारो को झख़मार कर उनकी शर्तों को मानना पडता था। गडबडी इसलिए और बढ़ गयी थी कि लोगो का राजा महीपनारायण पर विश्वास कम हो गया था पर डकन ने इन सब कठिनाइयो का बहादुरी के साथ मुकाबला किया और रैयत और अफसर दोनो के विरोध होते हुए भी उन्होने अपने सुधारो को आगे बढ़ाया। इस नये बदोबस्त का प्रबन्ध पहले राजा पर ही छोड दिया और उसके खर्च के लिए अमीनो का वेतन भी

[1] शेक्सपियर, उल्लिखित, पृ० ६१

देना स्वीकार कर दिया। कम उपजाऊ परगनों में तक़ावी बाँटने की भी व्यवस्था की तथा क़ानूनगो काज़ी और चौधरियों की मर्यादा भी बढ़ायी।

अली इब्राहीम ख़ाँ के बारे में रेज़िडेंट का बहुत अच्छा विचार था। अली इब्राहीम शहरी अदालत के हाकिम थे लेकिन उस अदालत में माल के मुकदमे लेने का कोई अधिकार न था। अदालत की इस कमी को पूरी करने के लिये ११९६ फ़सली में माल की अदालत स्थापित की गयी और उसमें दो जज नियुक्त किये गये। राजा की मुल्की अदालत भी चलने दी गयी लेकिन इसके फैसलों की अपील रेज़िडेंट के पास हो सकती थी।

७ अक्टूबर १७८८ को डकन ने इस बात का फ़ैसला किया कि उस साल का बन्दोबस्त उसी के हुक्म से हो पर साथ ही साथ उसने राजा से यह भी वादा किया कि पूरी लगान का हिसाब तैयार हो जाने पर वह राजा के अधिकार लौटा देगा। राजा इससे सहमत हो गये। रेज़िडेंट ने इश्तिहार जारी करके तमाम सायरों की लगान नज़राना, कचहरी, खानगी, देवारी और बकायानिग्रारी के कर लगान में शामिल कर दिये (वही पृ० ५६)। इस बन्दोबस्त से कम्पनी की आमदनी में कमी होने की सम्भावना थी इसलिये रेज़िडेंट ने राजा को अपना खर्च घटाने को कहा।

डकन के समय बनारस जिले के ब्राह्मण बड़े उद्दण्ड हो गये थे। इनकी उद्दण्डता रोकने के लिये डकन ने फ़ौरन कार्रवाई की। ये ब्राह्मण बहुधा अपने को घायल कर लेते थे, दूसरों के नाम पर आत्म-हत्या कर लेते या बूढ़ी ब्राह्मणियों से ज़बरदस्ती आत्महत्या करवाते थे। १७ जून १७८९ को एक इश्तिहार निकाल कर डकन ने ब्राह्मणों की ये सब बातें रोक दी तथा इस बात की धमकी दी कि अगर वे ऐसा करेंगे तो उनकी ज़मीन जायदाद जब्द कर ली जायगी।

१७८८ में डकन ने जब नये बंदोबस्त का काम अपने हाथ में ले लेने का निश्चय किया तब उन्होंने तरह तरह के बंदोबस्त को हटाकर के रैयत के साथ एक तरह का पट्टा लिखवाने का निश्चय किया। हर जमाबन्दी में पैदावार का एक खास हिस्सा मालगुज़ारी का दर्ज करना आवश्यक था, तथा नकद मालगुज़ारी चेत सिंह के राज के अंतिम वर्ष की मालगुज़ारी की दर से अधिक नहीं हो सकती थी। पड़ताल के लिए एक निश्चित गज रक्खा गया। हर फसल पर गल्ले की दर नकद में परिणत करने के लिये सरकारी तौर से ज़ाहिर कर दी जाती थी। बँटाई के नियम के अनुसार पैदावार की बाँट रोक दी गयी और उसकी जगह फसल कटने के पहले कनकूत का नियम जारी कर दिया गया। १७७९ के बाद के सब तरह के कर समाप्त कर दिये गये, और उसके पहले के कर मालगुज़ारी में दाखिल कर दिए गये। यह भी निश्चय किया गया कि बक़ाया लगान फौरन चुकता कर दी जाय। बंजर ज़मीन के लिये लगान कम कर दी गयी और यथा सम्भव थोड़ी सी बंजर ज़मीन का प्रबंध हर किसान के साथ कर देने का निश्चय किया गया। खेती बारी बढ़ाने के लिये ऐसा करना आवश्यक था। राजा महीपनारायण ने पहले तो इस बंदोबस्त पर आपत्ति की पर अंत में उन्हें इसे मानना ही पड़ा।[१] कॉर्नवालिस

[१] बनारस गज़ेटियर, भा० १, पृ० १३७–१३८

ने अपने २ नवम्बर १७८९ के एक पत्र में कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स को लिखा कि डकन के ज़रीये राजा महीपनारायण ने स्थायी बदोबस्त के सिद्धान्तो को मान कर अपने तमाम इलाको में दस बरस के लिये यह बदोबस्त करना स्वीकार कर लिया।

इस नये बन्दोबस्त का काम फौरन हाथ में ले लिया गया, पर अभाग्यवश बनारस राज का पैमाना न हो सका। हर एक महाल पर अलग अलग ज़माबन्दी कूती गयी। और इस तरह सब महालो की जमाबन्दी मिला कर परगने की जमाबन्दी तैयार हुई। इसमें मालगुज़ारी वसूल करने के लिये आमिलो और दूसरे कर्मचारियो का दस प्रतिशत बाद करके तथा महाजनो का लहना निकाल कर राजा का हिस्सा आधा निश्चित कर दिया गया। राजा द्वारा कपनी को चालीस लाख मालगुज़ारी देना तय पाया।

लेकिन इस बन्दोबस्त के चलने में काफी परेशानी हुई क्योकि राजा, आमिल और यहाँ तक कि रैयतो को भी इसमें अनेक आपत्तियाँ दीख पडी। इस बन्दोबस्त के चालू करने में ज़मीदार भी मिलने कठिन हो गये क्योकि ऐसे ज़मीदार भी प्राय समाप्त हो चुके थे जिनके साथ बन्दोबस्त करना सभव था। फिर भी इन सब कठिनाइयो के होते हुए भी बन्दोबस्त कर ही दिया गया। १७९३ में इस बात का एलान किया गया कि बन्दोबस्त असामियो के जीवन भर के लिए था पर १७९५ में यह बन्दोबस्त स्थायी कर दिया गया। इस बन्दोबस्त में बहुत सी अच्छाइयाँ होते हुए भी बहुत सी खराबियाँ भी थी। (१) इस बन्दोबस्त में न ज़मीदारियो की पैमाइश ही की गयी न इनकी हद ही बाँधी गयी। (२) मालगुज़ारी की दर स्थायी रूप से ठहरा देना भी कुछ अजीब सी बात थी। (३) सम्मिलित हिंदू परिवार के कुछ सदस्यो के नाम ही ज़मीन का बन्दोबस्त होने से बाकी के प्रति अन्याय हुआ। (४) मालगुज़ारी अदा न करने पर जो ज़मीनें नीलाम पर चढती थी, उन्हें सरकारी अमले खरीद लेते थे, गोकि क़ायदे के अनुसार उन्हें ऐसा करने की सख्त मनाही थी।

दिसम्बर १७८७ में कपनी ने बनारस के व्यापार टकसाल और चुगी पर बार्लो की रिपोर्ट पर निम्नलिखित प्रस्ताव किये। इन प्रस्तावो के अनुसार बनारस और कम्पनी के दूसरे राज्यो के *बीच व्यापार करने वालो की रक्षा का आश्वासन का तथा* रोज़गार बढाने के लिए परवाना देने की भी प्रथा का उल्लेख था। राजा के अफसरो को कंपनी के अफसरो की तरह यह हिदायत दी गयी कि वे चुगी के रजिस्टर रक्खें। बनारस के आयात और निर्यात कर की दर ढाई प्रतिशत निश्चित कर दी गयी। जमींदारी के कर और हुक्मउदूली के दण्ड खतम कर दिये गये। अतर्देशीय कर समाप्त कर दिये गये। व्यापारिक मुक़दमो की सुनवाई के लिए रेज़िडेंट के मातहत एक अदालत स्थापित कर दी गयी।[१]

बनारस की आर्थिक अवस्था की जाँच के लिए १६ मई १७८७[२] में गवर्नर जनरल ने महीपनारायण सिंह को बार्लो की नियुक्ति की बात लिखी।

---

[१] करेसपाडेन्स ऑफ कॉर्नवालिस, भा० १, पृ० ४४३
[२] करेसपाडेन्स ऑफ कॉर्नवालिस, भाग २, पृ० १ से
[३] केलेंडर ७, पत्र १३४८

वार्लो की रिपोर्ट से वनारस की आर्थिक और व्यापारिक स्थिति पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है। १८वी सदी के अन्त में जान पडता है वनारस के व्यापारियो को तरह-तरह की अडचनें उठानी पडती थी। वनारस में कपडे का काफ़ी व्यापार होता था और यहाँ के व्यापारी इसके लिए वाध्य थे कि वे निश्चित समय पर काफी कपडा कपनी को दें। ऐसा करने से व्यापारियो ने इनकार कर दिया क्योकि वे दूर-दूर से ीक समय से माल लाने में असमर्थ थे। साथ ही साथ उन्हें अवध के नवाव के राज्य में काफी गडवडी का सामना करना पडता था। सवके ऊपर उन्हें उन प्रभावशाली अग्रेज व्यापारियो का भी मुक़ावला करना पडता था सरकार जिन्हें हर तरह की सहायता देती थी और वे जव चाहे तव वुनकरो से जवर्दस्ती काम करवा सकते थे। वार्लो ने इस वात की सलाह दी कि कपनी द्वारा कपडा खुले आम वाजार भाव से खरीदा जायं। वयाना देकर भी माल की तैयारी वढाने का सुझाव रक्खा।

जमीदारो और आमिलो द्वारा रास्ते में तरह-तरह के कर वसूल करने से व्यापारियो को अपना माल ले जाने में वडी अडचन पडती थी। रास्तो पर माल ले जाने वालो को हुडीवाल कहते थे जो माल पर लगने वाले कानूनी और गैरक़ानूनी खरचे को अपने माल ले जाने के दर में शामिल कर लेते थे। उनका क़ायदा यह था कि माल लुट जाने पर तो माल मालिक को ही नुक़सानी उठानी पडती थी लेकिन ऐसा होता वहुत कम था।[1] वनारस का मुख्य व्यापार ऐसे माल पर निर्भर था जो वहाँ आकर तुरन्त वाहर भेज दिया जाता था।

कपनी का व्यापार तो अधिकतर वनारस होकर ही गुजरता था। १८वी सदी के अन्त में मिर्जापुर भी व्यापार का एक वडा केन्द्र वन गया और वहाँ दक्खिन-पश्चिम और नेपाल के व्यापारी विलायती और वगाली माल खरीदने के लिए आने लगे थे। इस व्यापार का मूल्य सालाना करीव उनचास लाख रुपया होता था।

१७८१ में नई चुगी की दरें निश्चित कर दी गयी लेकिन इससे वगाल और दक्षिण के व्यापार पर वडा धक्का पहुँचा। चेत सिंह के समय में हर वरधी पर चाहे उस पर कितना ही माल लदा हो समान रूप से चुगी वसूल की जाती थी। १७८१ में वगाल के माल पर पाँच प्रतिशत चुगी लगती थी लेकिन वनारस में माल की कीमत ज्यादा होने पर चुगी की दर प्रति वरधी वीस या पचीस रुपये के वदले सौ रुपये पड जाती थी। इसके ऊपर व्यापारियो को वहुत से गैरकानूनी मदो में भी रुपये देने पडते थे। इस गहरी चुगी के कारण कपडे और रेशम के व्यापारियो को गहरा धक्का लगा। अधिकतर व्यापारियो ने या तो अपना व्यापार ही वन्द कर दिया अथवा अपने व्यापारिक मार्ग को दक्षिण विहार की पहाडियो से फेर दिया। पर इस मार्ग में वडा खतरा था।[2] व्यापारियो की इन कठिनाइयो को देखकर रेशम की चुगी घटाकर ढाई प्रतिशत कर दी गयी। १७८९ में चुगी की यही दर रेशमी कपडो पर भी हो गयी।

---

[1] करेसपाडेन्स ऑफ कार्नवालिस, पृ० १०

[2] वही, पृ० १६

बगाल और दक्षिण के बीच व्यापार करने वालो में मुख्य बनारस और मिर्जापुर के गुसाईं थे जो अपनी ईमानदारी के लिये सारे भारतवर्ष में विख्यात थे। बनारस के गुसाईं बगाल में माल खरीद कर उसे अपनी ही जाति के व्यापारियो को सुपुर्द कर देते थे और ये व्यापारी प्रति वर्ष इस माल को दक्षिण ले जाया करते थे। १७८१ में बनारस में चुगीघर की स्थापना होने पर तथा चुगी की दर पाँच प्रतिशत नियुक्त होने पर इन व्यापारियो ने अपना व्यापार बन्द कर दिया। १७८४ में रवन्ना को बीजक मानकर चुगी की दर कच्चे रेशम पर ढाई प्रतिशत कर दी गयी लेकिन इससे भी गुसाईं व्यापारियो की कठिनाई दूर नही हुई क्योकि उन्हें मिर्जापुर में दुहरी चुगी देनी पडती थी। उनसे एक अजीब तरह का कर भी वसूला जाता था। नागपुर के साथ उनका व्यापार अधिकतर सोना चाँदी का था जो बनारस होकर मुर्शिदावाद माल खरीदने के लिए भेजा जाता था। सोने चाँदी पर भी चुगी लगती थी और इस चुगी का ठीका छह सौ रुपये महीना होता था। इस चुगी को सोना महाल कहते थे और इसके ठीकेदार महाजन से ही गोसाईं हुण्डी ले सकते थे। इससे गोसाईं बहुत ही परेशान थे। गोसाइयो ने ड्रालों से अपने व्यापार की रक्षा के लिये निम्नलिखित प्रस्ताव किये—(१) सोना महाल उठा दिया जाय। (२) रेशमी माल पर चुगी की दर घटाकर ढाई प्रतिशत कर दी जाय। (३) मिर्जापुर में दोहरी चुगी लेने की प्रथा का अन्त कर दिया जाय। (४) मिर्जापुर से बगाल तक के बैल गाडियो पर छह रुपये चार आने प्रति बैलगाडी कर वसूलने की प्रथा बन्द हो। (५) मिर्जापुर से बरार जाने के रास्ते में प्रति बैल छह आने का जो कर लगता था वह बन्द हो। (६) चुगीघर में कच्चा रेशम तौलते समय प्रति बैल पैंतीस लच्छे रेशम वसूलने की प्रथा का अन्त हो,। (७) नाव की तलाशी लेने के लिये एक रुपया चार आने का जो कर लगता था उसका अन्त हो। (८) मिर्जापुर के कोतवाल को आदेश हो कि वे डाकुओ से व्यापारियो के माल की रक्षा करें। (९) कश्मीरी शालो पर कश्मीर के बीजक के अनुसार ही चुगी लगे।[1]

उपर्युक्त करो के सिवा बनारस में और तरह तरह के करो की प्रथा थी, जैसे यात्रियो पर कर, त्योहारो पर कर, नये और मरम्मत किये हुए दरवाजो और खिडकियो पर कर, विधवा विवाह पर कर इत्यादि। इन सब करो के घटाने में डकन का बहुत बडा हाथ था।

बनारस में सर्राफो और महाजनो का इस काल में बहुत प्रभाव था। ये व्यापारियो को ही रुपया नही देते थे वरन् कपनी को भी कर्ज देते थे। डकन के समय १७९५ में बनारस के सूद की दर तीन प्रतिशत से बारह प्रतिशत थी। हुडी या उगाही पर सूद की दर चार प्रतिशत से ऊपर होती थी। दस्तावेज़ पर सूद की दर तेरह से अट्ठारह प्रतिशत होती थी। लेकिन सर्राफी सूद की दर चार आने और छह आने प्रति महीने होती थी। ये सर्राफ व्यापारियो और जौहरियो से आठ आने से एक रुपये प्रतिशत महीने सूद लेते थे।[2]

---

[1] वही, पृ० १८-१९

[2] वही, भाग १, पृ० २६६-६७

इसमें शक नही कि बनारस में चेत सिंह के समय चुगी वसूल करने में बडी धाधली होती थी और चुगी वसूल करने में राजा के आदमी मनमानी करते थे। वारेन हेस्टिंग्स ने अपने १२ जून १७७९ के एक पत्र में[१] राजा का इस बात पर ध्यान दिलाया कि उनके आदमी चौकियो से गुजरने वाले माल पर मनमाने तौर से कर वसूल करते थे जिससे व्यापारियो को बडी तकलीफ उठानी पडती थी और व्यापार में कमी होती थी। गवर्नर जनरल ने इस बात की सलाह दी कि चुगी का बनारस में एक सा निर्ख बाँध दिया जाय, अफसर इस नियम का तदेही के साथ पालन करें और ऐसा न करने पर उन्हें दड दिया जाय। पर इस आदेश का चेत सिंह के आदमियो ने ठीक तौर से पालन किया हो, इसका पता नही चलता क्योकि चेत सिंह के बाद महीप नारायण सिंह जब गद्दी पर बैठे तो वारेन हेस्टिंग्स ने पुन उनसे चुगी के नियमो में सुधार करने की आज्ञा दी।[२] २२ अक्टूबर १७८४ के एक फ़रमान में इस आज्ञा का उल्लेख है। इसमें इस बात की शिकायत है कि २२ नवम्बर १७८१ को गवर्नर जेनरल ने महीपनारायण सिंह को गाजीपुर, बनारस और मिर्जापुर में चुगी की चौकियाँ कायम करने की आज्ञा दी थी और दूसरी जगहो में चुगी इकट्ठा करने की सख्त मनाही की थी, लेकिन इस हुक्म को उन्होने नही माना और दूसरी जगहो पर भी चुगी लेते रहे। नये हुक्म के अनुसार उनका यह काम गैरकानूनी ठहराया गया। उन्हें यह भी हुक्म दिया गया कि वे ठीकेदारो की मार्फत चुगी इकट्ठा न करके तीनो चौकियो पर इस काम के लिये खास आमिल और नायब नियुक्त करें। राजा या नायब का यह कर्तव्य था कि वे व्यापारियो और सौदागरो से २२ नवम्बर १७८१ को जो चुगी की दर निर्धारित कर दी गयी थी उसे वसूल करके फौरन मुहर करके दस्तक व्यापारियो को दे दें। आमिलो को यह भी अधिकार दिया गया कि वे चुगी की चोरी रोकने के लिये थाने बनायें। उन्हें यह भी आज्ञा थी कि वे जल अथवा स्थल मार्ग से एक दूसरी जगह लोगो को बिना दस्तक के जाने न दें। इस दस्तक पर अगली चौकी के रखने की मुहर होना भी जरूरी था। आमिलो को यह आदेश था कि वे बिना किसी रोक टोक के दस्तक लोगो को दें। इस पत्र में वारेन हेस्टिंग्स ने यह भी कहा कि १७८१ में केसर, दालचीनी, जावित्री, लौंग, जायफल, कच्चा रेशम, बनात, आयात किया हुआ लोहा, ताबा, फौलाद को छोडकर जिन पर चुगी की निर्ख ढाई प्रतिशत निश्चित की गयी, अन्य प्रकार के माल पर पांच प्रतिशत चुगी लगे। १७८१ में वस्तुओ के जो बाजार भाव निश्चित किये गये थे उनको कायम रखने की आज्ञा दी गयी लेकिन जायफल का भाव चार रुपये से तीन रुपये के बीच निर्धारित किया गया। वस्तुओ की तालिका में जिन मालो का जिक्र नही था उनमें भाव बाजार दर से लगाने को कहा गया और उन पर १७८१ वाले हुक्म के अनुसार चुगी लेने की आज्ञा दी गयी। राजा को यह भी हुक्म दिया गया कि माल पर दुहरी चुगी न ली जाय। बनारस की जमींदारी में एक साल से अधिक माल रहने पर व्यापारियो को नया दस्तक लेना जरूरी था। पर इसके लिये उन्हें नयी फीस देने की जरूरत नही थी। ऐसे

---

[१] केलेंडर ५, पत्र १५०६

[२] केलेंडर ६, पत्र १४४४

व्यापारियो को केवल पुराना दस्तक लौटा देना पडता था और इस बात का सबूत देना पडता था कि माल उन्ही का है। हेस्टिंग्स ने यह भी हुक्म दिया कि मिर्जापुर में दक्षिण और नागपुर से आने वाले माल पर जो पाँच रुपये सैकडे चुगी लगती थी वह बद कर दी जाय तथा खाली नाव पर किसी प्रकार का कर न लगाया जाय। बनारस के रेजिडेंट और अमीन को यह आज्ञा दी गयी कि वे दोनो मिल कर तीनो चौकियो पर एक एक मुहर्रिर रख दे। मुहर्रिरो का कर्तव्य था कि वे खाता लिखें तथा अपनी चौकियो से निकले रवन्नो की एक तालिका रख लें तथा इन सब की नकल हर महीने रेजिडेंट और अमीन के पास भेज दें। उन्हें यह भी आज्ञा दी गयी कि वे चुगी के इन नियमो को अगरेजी, फारसी, और हिन्दी में अनुवाद करके अपनी चौकियो पर लोगो की जानकारी के लिये टाँग दें। चुगी न देने वालो को चुगी का दोहरा दण्ड देने का आदेश हुआ तथा कर्मचारियो को ठीक तरह से काम न करने पर कठोर दण्ड की आज्ञा दी गयी।

ऐसा जान पडता है कि गवर्नर जनरल के इन आदेशो का कुछ विशेष असर नही हुआ। बनारस के अमीन चम्पतराय ने अपने २७ मार्च १७८५ के एक पत्र में[१] गवर्नर जनरल से इस बात की शिकायत की कि चुगी घर पर उसका पूरा अधिकार एव प्रभाव नही था और न उसे ठीक समय पर वेतन ही मिलता था। उसने गवर्नर जनरल से प्रार्थना की कि उसकी तनख्वाह समय पर मिले और अजायब सिंह और महीप नारायण सिंह उसे शाति के साथ काम करने में सहायता प्रदान करें। हेस्टिंग्स ने चम्पतराय की इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया।[२] लेकिन चम्पतराय के कष्ट का यही अन्त न हुआ। अपने १० मई १७८५ के पत्र में उसने गवर्नर जनरल को लिखा कि उसका मुअत्तल नायक मोतीलाल उसकी चारो तरफ बदनामी कर रहा था और उसने महाराज बनारस को इस बात पर राजी कर लिया था कि वे चुगी घर और अमीन के दफ्तर में अपने ही आदमी रक्खें।

इधर महीप नारायण के नायब अजायब सिंह बनारस की चुगी को लेकर अलग ही रोना रो रहे थे। अपने १८ अप्रैल १७८५ के एक पत्र में[३] उन्होने गवर्नर जनरल से इस बात की शिकायत की कि मिर्जापुर के चौकी से उनके पास खबर आयी थी कि एक कर्नल ने यह हुक्म दे दिया था कि कम्पनी को माल देने वालो से किसी तरह की चुगी न वसूली जाय। इस हुक्म से लाभ उठाकर कानपुर से चुनार तक गगा नदी पर व्यापार करने वाले भी चुगी नही देते थे। उन्होने इस बात की भी शिकायत की कि छावनी बाजार के अफसर ने उस बाजार के व्यापारियो से चौकियो पर चुगी देने की मनाही कर दी थी। पत्थर, ईंधन और लकडी के महालदार सदाशिव मिश्र ने भी व्यापारियो के लतीफपुर से बनारस लकडी लाने की मनाही कर दी थी। वह उनको अपना माल चुनार के पास उसके हाथ बेचने को बाध्य करता था और ऐसा न करने पर उनसे प्रति बैल दो आने चुगी वसूल करने की धमकी देता था। इसका नतीजा यह हुआ कि बनारस में ईंधन, लकडी और पत्थर की आमदनी में बहुत कमी आ गयी।

---

[१] केलेंडर ७, पत्र १३१

[२] केलेंडर ७, पत्र १२५

[३] केलेंडर ७, पत्र १६६

उपर्युक्त उद्धरणो से यह साफ-साफ पता लगता है कि अठारहवी शताब्दी की अराजकता का लाभ उठाकर राजकर्मचारी और उनके साथी व्यापारियो को लूटने में कोई कोर कसर नही उठा रखते थे। इसमें केवल महाराज बनारस का ही दोष नहीं था, लूट में रेजिडेंट और अग्रेजो का भी काफ़ी हाथ था वे अराजक प्रवृत्तियो को प्रश्रय देकर अपना उल्लू सीधा करते थे।

डब्ल्यू० ए० ब्रुक (गवर्नर जेनरल के एजेंट) के २ दिसम्बर १९१८ के एक पत्र से[१] बनारस के सराफा के व्यवसाय पर अच्छा प्रकाश पडता है। ब्रुक का कहना है बनारस में व्यवसाय का पलडा कलकत्ते या लदन के पक्ष में न होकर नगर के पक्ष में था जिसके फलस्वरूप वहाँ बराबर सोना-चाँदी की आवश्यकता बनी रहती थी। उनसे केवल सिक्के ही नही ढलते थे, सोने चाँदी की सिलें बाहर भी जाती थीं। साल के खास महीने में जब ज़िले की पैदावार बाज़ार में आती थी तो नकद रुपये की आवश्यकता बनारस तथा दूसरे जिलो में काफी बढ जाती थी जिसकी वजह से टकसालो का काम भी बढ जाता था। माल का दाम बनारसी और फर्रुखाबादी रुपयो में न देकर कलकतिये रुपयो में देने पर दाम अधिक चुकाना पडता था। इतना ही नही जिन जगहो में बनारसी अथवा फर्रुखाबादी रुपये का चलन था वहा तो लोग कलकतिया रुपये लेने से भी इनकार करते थे। बनारस में कलकतिया रुपया चला देने पर ज़िले की लगान अनुपात में कम हो जाने की सम्भावना थी। कलकत्ता माल चालान करने के लिए सोना-चाँदी की आवश्यकता थी और इसीलिए पश्चिमी प्रदेशो के विनिमय में घाटा पडता था। सरकार को कर्ज़ अधिकतर बनारसी अथवा फर्रुखाबादी रुपयो में मिलता था। कलकतिया रुपये चला देने पर यह सभावना थी कि बनारसी और कलकतिये रुपये की दर के अनुपात में कमी किये बिना लोग सरकार को एक रुपया भी कर्ज़ दें, यह सरकार के लिए सम्भव नही था। कलकतिया रुपया चला देने पर यह भी सम्भावना थी कि सरकार को कर्ज़ के लिए कलकत्ते का मुँह देखना पडे। अगर वहाँ गिरानी से रुपये की कमी हुई तो सूद की दर दूनी कर देने पर भी सरकार को कर्ज़ मिलने में कठिनाई की सभावना थी। ब्रुक की राय में सर्राफी कारबार एक स्थायी कारबार था। कागज़ी कारबार के अलावा सर्राफ सोना चाँदी मँगाकर व्यापारियो को माल खरीदने को देते थे और कलकत्ते में उनकी हुडियाँ चुकता करवा कर फिर उसकी रक़म से सोना चाँदी खरीद लेते थे। एकाएक तैयारी रकम की माँग बढ जाने पर भीतरी प्रदेशो में विनिमय की दर बहुत ऊँची हो जाती थी और सारा रुपया और सोना-चाँदी उस माँग को पूरा नही कर सकते थे। कलकतिया रुपया चलाने पर तो और गडबडी होने की सम्भावना थी। बनारस की दर कलकत्ते के रुपये की दर से साढे चार प्रतिशत ऊँची थी जिसकी कलकतिया रुपये चलने पर और ऊँची उठने की सम्भावना थी। लोगो की यह धारणा थी कि छोटे शहरो और गाँवो में सर्राफ अपनी मनमानी करते थे पर ब्रुक के विचार में सर्राफो की सख्या इतनी अधिक थी और उनमें इतनी प्रतियोगिता थी कि उनके लिए एका कर के मनमानी करना सभव नही था। वे विनियम की दर में बट्टा अवश्य लेते थे पर वह कोई बुरी बात नहीं

[१] बनारस अफेयर्स, भाग २, पृ० २३३ से

थी। ब्रुक ने यह भी बतलाया कि बनारस में डालर की दर कलकत्ते से ऊँची होने का कारण यह था कि प्रदेशो में इसकी माँग थी डालर आसानी से सिक्को के लिए गलाये जा सकते और उनके निर्यात में भी सहूलियत थी।

मिंट कमिटी के सिफ़ारिशो के विरुद्ध अपना मत प्रकट करने के बाद ब्रुक ने यह भी कहा कि फर्रुखाबादी रुपया भी सूबे का सिक्का होने लायक़ नही था क्योंकि इसमें अनेक राजनीतिक और व्यापारिक कठिनाइयाँ थी। पहली कठिनाई यह थी कि कम्पनी के कर्ज की कीमत साढे तीन प्रतिशत कम हो जाने पर बगाल, बिहार और उडीसा की मालगुजारी में सात प्रतिशत और बनारस की मालगुजारी में ढाई प्रतिशत बढाना पडेगा जिससे कठिनाइयाँ बढने की सम्भावना थी। ब्रुक की राय में खास बात तो यह थी कि सारे मुल्क के सिक्के चाँदी के थे जो कलकत्ते से आती थी। इसका मतलब यह हुआ कि कलकत्ते में चाँदी सस्ती थी और जैसे-जैसे वह आगे बढ़ती जाती थी वैसे ही वैसे उसका दाम भी बढ़ता जाता था क्योंकि उसके आयात में खतरा था और सूद की दर अधिक होने से खर्च अधिक आता था। कलकत्ते से बनारस रुपये भेजने पर भी खर्च में कमी सम्भव न थी। इसका मतलब यह हुआ कि कलकत्ते से आगे बढ़ने पर रुपये के दाम में बढ़ती हो जाय। यह सिद्धान्त दृष्टिकोण में रखने से ब्रुक का यह मत था कि युरोप के आधार पर भारतीय सिक्को के चलन में परिवर्तन करने से नुक़सान की अधिक गुंजायश थी। ● ●

आठवाँ अध्याय

बनारस के महाजन

इतिहास इस बात का साक्षी है कि बनारस सदा से व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र रहा है। महाजनपद युग से लेकर मुग़ल युग तक बनारस ने बहुत से राजनीतिक और सांस्कृतिक उलट फेर देखे, पर उसके व्यापार में कभी कमी नहीं आयी। व्यापार के लिए आर्थिक संगठन की आवश्यकता पड़ती है और हम देख आये हैं कि गुप्त युग में भी बनारस में महाजनो का निगम था। बहुत बाद में इस निगम ने बनारस में सर्राफ़े का रूप धारण किया जिसका अन्त बैंको के स्थापित होने पर ही हुआ। सर्राफ़े के इन महाजनो की हुडियाँ मुग़ल युग में, जैसा हमें तावर्नियेे से पता लगता है, तमाम भारतवर्ष में चलती थीं। अभाग्यवश हमें यह पता नही है कि मुग़ल युग में सर्राफे का कारबार किस तरह चलता था पर इसमें सन्देह नही कि इसका वही रूप रहा होगा जो हमें १८वीं सदी में मिलता है। सर्राफे के सदस्य अपनी हुडियाँ चलाते थे और माल-बीमे का काम करते थे। बाज़ार से रुपये लेने की सूद की दर इनकी अपनी होती थी। वे लेन-देन सबधी झगडो को आपस में ही निपटा लेते थे तथा सर्राफा पचायत को यह भी अधिकार था कि वह अपने सदस्यो को गडबडी करने पर दड दे सके। जैसा हम आगे चल कर देखेंगे, सर्राफ़ा के सदस्यो में काफ़ी एका होता था जिसकी वजह से राजा और सरकारी कर्मचारियो के साथ वे सामूहिक रूप से लेन-देन कर सकते थे और उन्हें कर्ज़ में रुपये देकर हमेशा उन पर रोब क़ायम किये रहते थे। इस बात का इतिहास साक्षी है कि १८वी सदी के अन्त में बनारस के महाजनो ने बनारस के राजाओ को पूरी तरह से अपनी मुट्ठी में कर रक्खा था इसलिए उनके आगे इनकी कुछ चलती न थी। आर्थिक प्रश्न के सिवा चेत सिंह और महीपनारायण सिंह इनसे राजनीतिक प्रश्नो पर भी सलाह लिया करते थे। १७६५ के बाद जब अग्रेजो का पैर बनारस में जमा तो बनारस के महाजन जिनमें साहु गोपालदास मुख्य थे, उनके महाजन बन गये और कम्पनी की हुडियाँ बराबर सकारते रहे। इसमें शक नही कि अपने राज्य विस्तार में कम्पनी को बनारस के महाजनो के रुपये का काफी सहारा रहा और इस दृष्टि से वे उनकी १८वीं सदी के पचमांगियो में गिनती की जा सकती है। पर ऐसा मानना वृथा है क्योंकि १८वी सदी अराजकता का युग था। उसमें सभी अपने देशप्रेम को ताक पर रखकर, लूट खसोट में लगे रहते थे फिर महाजन ही क्यो दोषी ठहराये जायें। जो भी हो इतना तो मानना ही पडेगा कि बनारस के महाजन आत्माभिमानी थे और जब कभी भी अग्रेजो ने उन्हें आँखें दिखलायी उन्होंने अपने ढग से उसका बदला लिया। हम यह बतला चुके है कि किस तरह कल्व अली के मामले में बनारस के महाजनो ने एका कर के रेज़िडेंट से अपनी बात मनवायी।

बनारस के महाजनो की ऐंठ इसलिए भी बढी हुई थी कि वे चेत सिंह की तरफ से कपनी के किश्तो का रुपया हुडियों से कलकत्ते में अदा करते थे। राजा चेत सिंह के १६

सितम्बर १७७७[1] के० टी० ग्राहम के नाम के एक पत्र में महाजनो के रोव का पता चलता है। इस खत के साथ राजा बनारस के महाजनो की वह अर्ज़ी भी नत्थी कर दी थी जिसमें यह कहा गया था कि उनका सोना कलकत्ते की टकसाल द्वारा रोकलिए जाने पर वे कपनी की मालगुज़ारी की किश्तें चुकाने में असमर्थ थे। इन अरज़ी को देने वाले महाजनो में रामचन्द, गोकुलचन्द और कश्मीरीमल मुख्य थे। उनका कहना था कि चेत सिंह के हुक्म से वे बरावर कलकत्ते में अपनी कोठियो पर कपनी के किश्त के लिये हुण्डियाँ दे देते थे और उनका फौरन भुगतान हो जाता था पर वह अव ऐसा करने में इसलिये असमर्थ थे कि उनका वहुत सा सोना जो सिक्के ढालने के लिये कलकत्ते की टकसाल में भेजा गया था वह अव तक उनके पास नही लौटा था। बाद में उनको पता चला कि गवर्नर जनरल ने इश्तिहार जारी करके उस टकसाल में सोने के सिक्के ढालना ही वन्द कर दिया था इसके वाद महाजनो ने वहाँ चाँदी भेजी और उसके लिये उन्हें सिक्के ढलाई की फीस देनी पडी। उनकी यह भी शिकायत थी की कलकत्ता और वनारस के सिक्को में अदल वदल की कोई निर्ख निश्चित नही थी। साथ ही साथ उन्होंने यह भी हल्की धमकी दी थी कि बनारस में रुपये का वाजार वहुत तग था और उनकी अर्ज़ी का फैसला न होने तक वे अपनी कोठियो को हुण्डियाँ भेजने में असमर्थ थे।

महाजनो की इस धमकी से चेत सिंह काफी घवराये। २९ सितम्बर १७७७ के अपने एक पत्र में[2] उन्होने गवर्नर जनरल को लिखा कि वे अपना वादा पूरा करने में इसलिये असमर्थ थे क्योंकि वनारस के महाजन किश्त चुकाने के लिये हुण्डियाँ देने को तैयार नही थे। चेत सिंह के इस पत्र का उत्तर गवर्नर जनरल ने अपने पहली नवम्बर १७७७ के पत्र में दिया।[3] उत्तर में कहा गया था कि वनारस के सर्राफो का हुण्डी न देना उनकी कलकत्ता टकसाल के नियमो की नासमझी के कारण था। इन नियमो के अनुसार सिक्के ढलाई का दाम देना पडता था और ढालने के लिये निश्चित धातु भी भेजनी पड़ती थी। अपनी गलतफहमी के कारण उन महाजनो ने वहुत सा सोना कलकत्ता टकसाल में भेज दिया था, जिसका वहाँ ढलना सम्भव नही था। गवर्नर जनरल की राय में अपने किसी स्वार्थ साधन के लिये महाजनो का यह एक वहाना मात्र था क्योकि यह सभव नही था कि उनको कलकत्ता टकसाल के नियमो का पता न हो। गवर्नर जनरल ने फिर भी ग्रेहम को इस वात का आदेश दिया कि वे टकसाल के नियमो को उन्हें दिखा दें, जिससे उन्हें पता लग जाय कि वहाँ चाँदी सोना रखने वालो को क्या फायदे थे। मुर्शिदावाद की टकसाल में तीन वर्ष की औसत पर हर साल तीस हजार सोने की मुहरें ढलती थी। इसलिये सर्राफो का यह कहना अनुचित था कि इन तीस हज़ार मुहरो को रोक देने से वाजार में हलचल पड गयी। अन्त में गवर्नर जनरल ने राजा को लिखा कि यह उनका कर्तव्य था कि वे मालगुज़ारी वरावर कलकत्ते के खज़ाने में भेजते रहें। कम्पनी का यह कर्तव्य नही था कि वह उन्हें यह भी वतलावे कि रुपये का वे किस तरह प्रवन्ध करें।

[1] केलेंडर , ५, पत्र ६४९

[2] केलेंडर ५, पत्र ६६२

[3] केलेंडर ५, पत्र ७१८

इस मामले का निवटारा कैसे हुआ यह तो पता नहीं लगता। पर सभवत चेत सिंह से अधिक सुभीते प्राप्त कर महाजनो ने कलकत्ते के लिये हुण्डियाँ दे दी होगी।

१८वी सदी का मध्य गहरी अराजकता का युग था। दिल्ली का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो रहा था और उत्तर भारत की सत्ता अपने हाथ में करने के लिये अवध के नवाव वजीर, रुहेले और मराठे वरावर चेप्टा कर रहे थे। इस राजनीतिक उथल-पुथल का प्रभाव उत्तर भारत के आर्थिक स्थिति पर भी पडा। रुहेलो के अत्याचार से प्रयाग और वनारस के महाजनो को वहुत वडा धक्का लगा। गोविंद वल्लाल के १५-५-१७५१ के एक पत्र से[1] पता चलता है कि रोहिल्लो की लूटपाट से काशी और प्रयाग उजड गये थे और हुडी का काम पूरा वद हो गया था जिसकी वजह से अधिकतर महाजनो का दिवाला निकल गया था। यह प्राय असभव था कि उत्तर भारत से उस समय कोई हुडी जारी की जा सके। वालकृष्ण दीक्षित के ७-१०-१७५४ के एक पत्र से पता चलता है[2] कि उस साल वनारस में कई महाजनो का दिवाला निकल गया था। हम ऊपर के एक प्रकरण में कह आये है कि नारायण दीक्षित कायगाँवकर ने वनारस में वस कर उसके धार्मिक जीवन में कितनी मदद की। उनके पत्रो से यह पता चलता है कि वे केवल धर्माचार्य और विद्वान ही नहीं थे, साथ ही साथ एक कुशल महाजन भी थे। उनके हुडी पुरजो के भुगतान वनारस से वरावर दक्षिण तक होते रहते थे। अपने पुत्र वासुदेव दीक्षित के नाम २३-३-१७४६ के एक पत्र में वे वनारस की हुडी के रोजगार के वारे में कुछ समाचार देते है। उन्होने एक साढे तेईस हजार की हुडी वासुदेव दीक्षित के नाम की और इस हुडी का रुपया कृष्ण भट्ट पाटणकर के नाम से जमा करने को कहा। उन्होंने यह भी आदेश दिया कि जमा किया हुआ यह रुपया शाहजहानी पचमेल होना चाहिए।[3]

नारायण दीक्षित के पत्रो से वनारस के १७४० और १७५० के बीच के महाजनों का भी कुछ पता चलता है। काशी के तत्कालीन प्रसिद्ध महाजन ग्वालदास साव इनके मित्रो में थे और इनके अन्तिम समय में वे वरावर उनके पास आया जाया करते।[4] ऐसा जान पडता है कि इनकी कोठी का नाम ग्वालदास कृपाराम पडता था।[5] वालकृष्ण दीक्षित के एक पत्र से वनारस की एक और कोठी हरीदास कृपाराम का पता चलता है। सभवत इस कोठी का ग्वालदास कृपाराम की कोठी से सवध रहा होगा। १७५५ में जव नारायण दीक्षित के पुत्र दिल्ली में वादशाह से भेंट में चन्द्रावती के पास एक गाँव पा रहे थे उस समय जैसा कि उनके एक पत्र से पता चलता है, हरिदास कृपाराम की कोठी का काम गडवडा रहा था।[6] वे लिखते है हरिदास कृपाराम की दूकान गडवडाई लेकिन वडो के

[1] मराठ्याच्या इतिहासाची साधनें, भाग २, पृ० १६६-६७

[2] वही, पृ० ४०८

[3] वामन वालकृष्ण दीक्षित, नारायण दीक्षित पाटणकर याचे चरित्र, पृ० ७०-७१

[4] वही, पृ० ७९

[5] वही, पृ० ९९

[6] वही, पृ० ९४-९५

आशीर्वाद से उनकी साख ठहर गयी और वह लोगो को रुपया दे रहे थे। इन पत्रो से पता लगता है कि ग्वालदास कृपाराम की कोठी औरंगाबाद में थी[1]। बालकृष्ण दीक्षित के एक दूसरे पत्र से[2] पता चलता है कि १७५४ में बनारस में काशीदास बेनीदास हजारिया की कोई कोठी थी। एक दूसरे पत्र में[3] वे बनारसी दास हजारिया और हरीचंद किशनचंद हजारिया की कोठियो का उल्लेख करते हैं।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, १८वी सदी के मध्य में बनारस के इन महाजनो को काफ़ी घाटा उठाना पडा जिसकी वजह से बहुतो का दिवाला निकल गया। हमारे ऐसा कहने का यह भी कारण है कि १७६५ के बाद के जिन महाजनो के नाम हमें मिलते हैं उनमें इस काल की कोठियो का पता नही चलता। बनारस में अंग्रेजो के आने पर बनारस की आर्थिक स्थिति अवश्य सुधरी जिसके फलस्वरूप नये नये महाजनो ने अपना कारबार बनारस में चलाया। इन महाजनो के संबंध में अंग्रेजी युग के फारसी खत कितावत में अनेक उल्लेख आये हैं जिनसे पता चलता है कि किस तरह साहू गोपालदास, कश्मीरीमल, फतहचंद इत्यादि महाजनो का व्यापार बढ रहा था। इन महाजनो का व्यापार केवल स्थानीय ही नही था वरन् दूर दूर तक फैला हुआ था। साहू गोपालदास तो अंग्रेजों के महाजन होने के साथ-साथ मराठो के भी महाजन थे और इनकी कोठियाँ उत्तर भारत, गुजरात और दक्षिण में फैली हुई थी।

साहू गोपालदास के वंशजों में अनुश्रुति है कि उनके पूर्वज अमरोहे से आकर चुनार में बसे और करीब ढाई सौ बरस पहले इनके पूर्वज कल्याणदास और चिंतामणिदास ने बनारस में कोठी खोली और उनका खूब कारबार चला। जो भी हो १७५० के मराठी पत्रों में तो इस कोठी का कोई उल्लेख नही मिलता। उनसे तो यही पता लगता है कि बनारस का अधिकतर व्यापार उस समय गुजरातियो के हाथ में था। १७७० में इस खानदान में भैयाराम की कोठी काफी विख्यात हो चुकी थी और कंपनी का भी ध्यान उधर आकर्षित हो चुका था।

भैयाराम के दो लडके गोपालदास और भवानीदास ने कंपनी के साथ लेन देन का अधिकतर काम अपने हाथ कर लिया और इससे उन्हें वारेन हेस्टिंग्स की काफी मदद मिलती रही। अक्सर कंपनी सरकार रुपये वसूलने में स्थानीय घूसखोर कर्मचारियो से बचने में इनकी मदद करती रही। अपने २६ अक्टूबर १७७९, के चेत सिंह के नाम के एक पत्र में वारेन हेस्टिंग्स ने[4] उन्हें इस बात की हिदायत की कि वल्लभदास के ऊपर साहू गोपालदास के पावने को उतरवाने में वे उनकी मदद करें। चेत सिंह के नाम २४ नवम्बर १७८०,[5] के पत्र में वारेन हेस्टिंग्स ने दौलतदास खत्री से, जो जेल में बंद थे, गोपाल दास के रुपये वसूल करवा देने की आज्ञा दी। गवर्नर जनरल के १७ मई

[1] वही, पृ० १०१

[2] मराठ्याच्या इतिहासाची साधनें, भाग ३, पृ० ३०८

[3] वही, पृ० ४१२

[4] केलेंडर' ...५, पत्र १६४८

[5] केलेंडर ५, पत्र २७५५

१७८६ के सिंधिया के दरबार में अंग्रेजी एजेंट एडरसन के नाम एक पत्र[1] से पता चलता है कि साहु गोपालदास के आदमी, जो कपनी के लिये बबई रुपए ले जा रहे थे, बुरहानपुर के पास लुट गये थे। एडरसन को आदेश दिया गया कि वे महादजी सिंधिया से डाकुओ को पकडवाने को कहें। कपनी के अलावा गोपाल दास की कोठी के साथ राजा बनारस, अवध के नवाब वजीर और फर्रुखाबाद के नवाब का भी आर्थिक सबध था। फर्रुखाबाद के नवाब के वकील गुलाम पीर के २३ फरवरी १७८३ के एक पत्र[2] से पता चलता है कि नवाब मुजफ़्फ़र जग ने गोपालदास को अपने राज का खजाची और तहसीलदार नियुक्त करके वसूली का अधिकार दे दिया।

जान पडता है, चेतसिंह का गोपालदास के साथ अच्छा सबध नही था और इसका कारण कपनी और गोपालदास की कोठी का घनिष्ठ आर्थिक सबध था। जो भी हो चेत सिंह की बगावत के बाद गोपालदास पकड कर विजयगढ के किले में बद कर दिये गये। इनको छुडाने के लिए साहु मनोहरदास ने वारेन हेस्टिग्स के पास अरजी दी। अपने २५ सितम्बर १७८१ के पत्र में[3] गवर्नर जनरल ने उनको लिखा कि अग्रेजी फौज गोपालदास को छुडाने लतीफपुर भेज दी गयी थी लेकिन वहाँ फौज के पहुँचने के कुछ ही दिन पहले गोपालदास विजयगढ चले गये थे। जैसा कि हमें इतिहास से पता है इसके थोडे ही दिनो बाद गोपालदास कैद से छूट गये। अपने १८ नवम्बर १७८१[4] के एक पत्र में गवर्नर जनरल ने गोपालदास को बेनीराम पडित के नाम अपनी पचास हजार की हुडी की बात लिखी और उन्हें रुपए देकर रसीद ले लेने को कहा।

कम्पनी के फ़ारसी पत्रो के सग्रह से पता चलता है कि गोपालदास साहु कुशल महाजन थे। उनका सर्वदा यह प्रयत्न रहता था कि उनकी रकम किसी तरह से डूबने न पाये इसके लिये आवश्यकता पडने पर वह गवर्नर जनरल तक की सही लेने में पीछे नही हटते थे। २१ अक्टूबर १७८२ के अपने एक पत्र में[5] उन्होने गवर्नर जनरल को यह लिखा कि अवध के नवाब आसफउद्दौला के पास कम्पनी का बहुत सा रुपया था जिसके लिये मिडिलटन और जॉनसन ने गोपालदास के नाम अपनी जमानत दे दी थी। लेकिन गोपालदास ने अपनी दिलजमई के लिये और ठीक समय से रुपये वसूल करने के लिये गवर्नर जनरल से उन जमानत पत्रो पर इस मजमून के साथ दस्तखत कर देने को कहा कि जॉनसन और मिडिलटन से रुपया पूरी तौर से न वसूल होने पर वे स्वय उस कमी को पूरी कर देंगे।

गोपालदास अपनी रकम को अग्रेज व्यापारियो तक से वसूल करने में पीछे नही हटते थे। गोपालदास का रुपया लखनऊ के दो अग्रेज व्यापारी आइजक और लॉयन्स

[1] केलेंडर ७, ५४७
[2] केलेंडर ६, ६७४
[3] केलेंडर ६
[4] केलेंडर ६, पत्र ३००
[5] केलेंडर ६, पत्र ११८

चित्र न १५ काशीनरेश वलवन्त सिंह
१८वी सदी का मध्य (भारत कला भवन, काशी)
पृष्ठ २५३
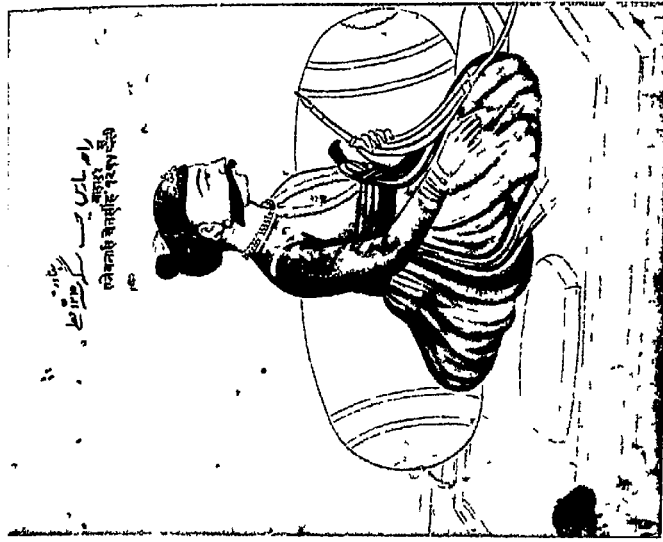
चित्र न १६ काशीराज चेतसिंह
१६०० ईस्वी में चित्रित (भारत कला भवन, काशी)
पृष्ठ २६६
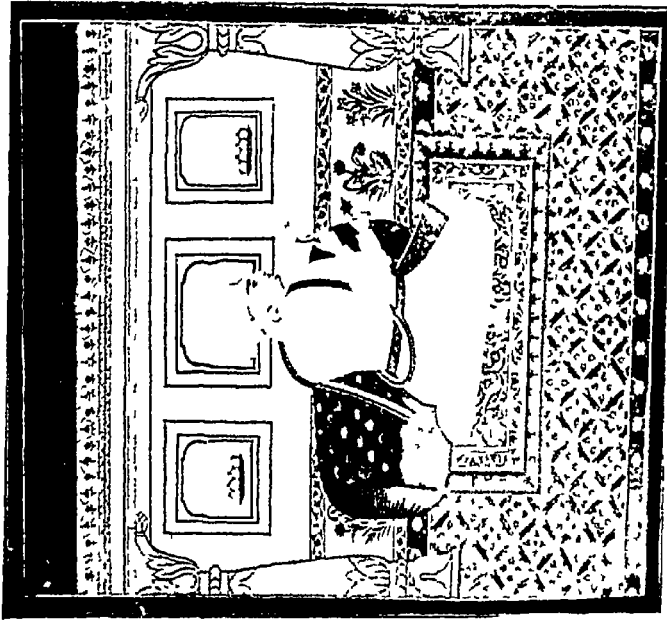
चित्र न १७ साहू ग्वाल दास
१८वी सदी का मध्य (भारत कला भवन, काशी)
पृष्ठ ३३८

चित्र न १९ वजीर अली
१८वी सदी का अन्त (भारत कला भवन, काशी)
पृष्ठ ३५६
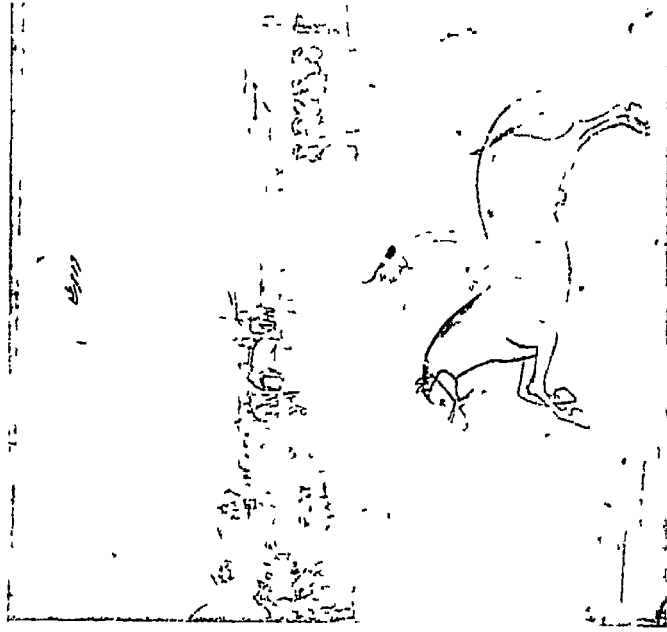
पर बाकी था। ये दोनो व्यापारी अपना काम बन्द कर धीरे से लखनऊ से चम्पत हो गये, पर गोपालदास कब उनका पीछा छोडने वाले थे। गवर्नर जनरल की मदद से सिंधिया सरकार ने इन दोनो को बुरहानपुर में गिरफ्तार कर लिया। अपने १७ मई १७८६ के एक पत्र में गवर्नर जनरल ने सिंधिया के दरबार में अपने एजेंट मि० एडरसन को यह आदेश दिया कि सिंधिया की आज्ञा से वे उन दोनों की मालमता गोपालदास के गुमाश्ता को सुपुर्द कर दें और उन दोनो को उचित हिसाब साफ कर देने के लिये लखनऊ रवाना कर दें। मामला यही से समाप्त न हुआ। गवर्नर जनरल-इन-कौंसिल ने नवाब वज़ीर को यह आदेश दिया कि वे गोपालदास और लॉयन्स का मामला तय करा दें। इस बात का ज़िक्र नवाब वज़ीर हार्पर को लिखे अपने १९ नवम्बर १७८६ के एक पत्र में करते हैं।[१] इस पत्र में वज़ीर ने शिकायत की कि इन दोनो की नकदी और जवाहिरात गोपालदास के गुमाश्तो ने दखल कर लिया था। गोपालदास कम्पनी के कानून के अन्दर बनारस में रहते थे इसलिये उनके गुमाश्ते नवाब के हुक्मो की ज़रा भी परवाह न करते थे और दूसरे महाजन भी उनकी नकल करते थे। नवाब की राय थी कि अगर गोपालदास को इस बात का आदेश दिया जाय कि वे अदालती तस्फीहे को मान लेंगे, तो मामला तय हो सकता था। इसके बाद इस झगडे का क्या निपटारा हुआ इसका तो पता नही लगता पर आइज़क और लॉयन्स का बहुत सा माल गोपालदास के हाथ लगा। इनमें से कुछ पुरानी घडियाँ तो आज तक साहू गोपालदास के एक वशधर के पास हैं, जिनके बारे में उनके खानदान में कहा जाता है कि ये घडियाँ उनके खान्दान में किसी अग्रेज के कर्ज़ पटाने में आयी।

हम ऊपर कह आये हैं कि गोपालदास अवध के नवाबो के भी महाजन थे। ३१ मार्च १७८५ के एक पत्र से[२] पता चलता है कि ब्रॉम्बवेल ने आसफउद्दौला को यह लिख दिया था कि कम्पनी की जो रकम उनके पास बाकी थी, उसमें जो भी रकम वे देना चाहें वह गोपालदास को सीधी दे दी जाय। इसमें शक नहीं कि लखनऊ में लगे रुपयो को लेकर साहु गोपालदास की कोठी को काफी तरद्दुदें उठानी पडी क्योंकि कम्पनी से नकद रुपया तो मिला नही था। जब गोपालदास ने रुपये चाहे तो, जैसा मनोहरदास के ४ अप्रैल, १७८६ के एक पत्र[३] से पता चलता है, कम्पनी ने उनकी बात को न्याय-सगत मानते हुए भी यह कह कर टाल दिया कि ऐसा करने से दूसरे महाजनो का उनपर से भरोसा जाता रहेगा। कम्पनी उनकी रकम ८ प्रतिशत सूद के सर्टिफिकटो से अथवा लखनऊ के खज़ाने से फौज के खर्च के बाद बाकी बची रकम से तनख्वाह के रूप में देना चाहते थे। लेकिन मनोहरदास का कहना था कि उन्हें तो नकद रुपयो की आवश्यकता थी और कम्पनी उन्हें ऐसी रकम देना चाहती थी जिसकी वसूली होने को थी। गोपालदास ने अल्मास अली की सरखत मजूर कर ली थी और उसमें से वसूल रकम को कम्पनी के खाते में जमा करने के वे हक़दार थे।

---

[१] केलेंडर • ७, पत्र ९१०

[२] केलेंडर • ७, पत्र ११७

[३] केलेंडर •७, पत्र ४९४

रक़म की मुद्दत पूरी हुए तीन महीने हो चुके थे और लाला बच्छराज की कोठी पर की हुंडी के अग्रत भुगतान में वह रक़म दे देनी चाहिए थी। लेकिन ऐसा कहने का मनोहर दास को अधिकार नहीं था क्योंकि बच्छराज की कोठी की अवस्था अच्छी नहीं थी और रुपया पाने पर वे शायद कंपनी को वह रक़म फिर से न लौटा सकते थे। मनोहर दास ने बच्छराज की हुंडी लौटाने के साथ-साथ यह भी लिखा था कि गोपालदास कंपनी के ख़ज़ाने के उस रुपये से जो कर्ज़दारों को बाँटने के लिये अलग रक्खा था कुछ रुपये मिल जायँ पर यह भी मंजूर नहीं किया गया। लखनऊ में रुपये मिलने की प्रार्थना से यह समझा गया कि रुपये गोपालदास को सीधा न देकर कलकत्ता या कहीं और दूसरी जगह भेज दिये जायँ। मनोहरदास को यह भी हुक्म दिया गया कि वे हुंडी लौटा दें और उनकी जगह उन्हें भविष्य में उतरने वाले रुपये में रक़म दे दी जायगी। मनोहरदास ने लिखा कि अगर ऐसा हुआ तो उनकी कोठी पर बड़ी आफ़त आ जायगी। मनोहरदास को इस बात का पता था कि बच्छराज के पास इतनी रक़म नहीं थी कि वे उनकी हुंडी चुका सकें। शायद नवाब हैदर बेग खाँ ने गवर्नर जनरल के हुक्म से बच्छराज को कुछ रुपये दे दिये थे और उसी से अल्मास अली खाँ ने गोपालदास की बात नवाब की आज्ञानुसार स्वीकार कर लिया। लेकिन पट्टे की शर्तों में तथा बच्छराज की चाल में धोखे की बू आती थी इसलिये गोपालदास ने इस पर अपनी सहमति नहीं दी क्योंकि ऐसा करने पर हुंडी अल्मास अली के पास चली जाती और ऐसा न होने से भविष्य में गोपालदास कंपनी की रक्षा के अधिकार से वंचित हो जाते। फिर भी मनोहर दास को यह बात स्वीकार थी कि लखनऊ के ख़ज़ाने में पहली वसूली हुई रक़म में से उन्हें तनख्वाह मिल जाया करे। मनोहरदास गोपालदास की तरफ़ से अल्मास अली के पट्टे की शर्तों को इस शर्त पर मानने को तैयार थे कि इन शर्तों को पूरी कराने का भार बोर्ड हाथ में ले ले और गोपालदास के रुपये न मिलने पर कंपनी उनकी देनदार हो। इसी देन-लेन के सम्बन्ध में १० जून १७८६ के अपने एक पत्र में गोपालदास ने गवर्नर जनरल को लिखा[1] कि उनके आदेशानुसार अल्मास अली खाँ के दस्तावेज़ पर उन्हें वैशाख तक बराबर रुपया मिलता रहा और केवल दो किस्तें बाक़ी रहीं। अल्मास अली ने उनके नाम भवानी प्रसाद की मुहर से एक नया दस्तावेज़ लिख दिया था जिसकी मिती वैशाख में पूजती थी। इस रक़म में उस बट्टे की रक़म, जो कलकत्ते और लखनऊ के सिक्कों के बीच लगती थी, तीन महीने का सूद, जो हुंडी पूजने के बाद लगा और किस्तों के बीच के सूद में शामिल थी। इस सरख़त की मिती पूजने के तीन महीने बाद तक भी भुगतान नहीं हुआ। लखनऊ के सरकारी तनख्वाह की भी रक़म सोलह महीने से नहीं मिली थी और इन सब वजहों से गोपालदास की कोठी का बहुत बड़ा नुक़सान हो रहा था। गोपालदास ने गवर्नर जनरल से यह प्रार्थना की कि वे बाम्बवेल को यह आदेश दें कि बनवारी के सरख़त वाली दो लाख की रक़म फ़ौरन उनके गुमाश्तों को दे दी जाय। साथ ही साथ उनसे यह भी प्रार्थना की गयी कि वे उनको इस बात की आज्ञा दें कि बच्छराज की दस लाख रुपये की सरख़त वसूली के लिये उनके अढ़तिये के पास भेजी जाय।

---

[1] केलेंडर ७, पत्र ५६६

लखनऊ वाले इस भुगतान को लेकर बनारस के रेज़िडेंट ने पहली सितम्बर १७८६ को एक पत्र गोपालदास को लिखा कि वे कंपनी का ३ जून १७८३ का लखनऊ पर सत्रह लाख चालीस हज़ार की हुंडी पर उनके सामने गोपालदास मिली हुई रक़मो को भर कर उसे लौटा दें। इस रक़म में अल्मास अली खाँ से मिली हुई तिरपन हज़ार की रकम का भी शामिल होना ज़रूरी था। गोपालदास से यह भी कहा गया कि वे वच्छराज और कश्मीरीमल की वे हुंडियाँ, जो उन्होंने कलकत्ते में अपने गुमाश्तो के भेजी थी और जो काउंसिल ने गोपालदास के नाम में भर दी थी उन्हें वे लौटा दें। उसी हुंडी के साथ अल्मास अली और भगवती प्रसाद के लिये नौ लाख पचानवे हज़ार रुपये के गोपालदास के नाम लिखे दस्तावेज़ की नक़ल भी नत्थी थी।

गोपालदास ने अपने १ सितम्बर १७८६ के एक पत्र में[१] रेज़िडेंट को लिखा कि कंपनी के १७ लाख चालीस हज़ार के दस्तावेज़ से उन्हें फाउक से सात लाख वीस हज़ार नौ सौ इक्यानवे पन्द्रह आने मिले जिसकी रसीद उन्होंने फाउक को दे दी थी। वाक़ी एक हुंडी मिली थी जिस पर गवर्नर जनरल का हुक्म इदगाज़ था कि रुपये वच्छराज से लेकर गोपालदास कंपनी के मद्धे दस्तावेज़ में जमा कर लें। इस वात का भी इकरार हुआ था कि वच्छराज के रुपये न देने पर कंपनी स्वयं रुपये का प्रवन्ध कर लेगी। लेकिन हुण्डी की मियाद तीन महीने वीत जाने पर भी वच्छराज ने रुपये नही दिये। कश्मीरीमल ने गोपालदास को वतलाया कि रुपये की खींच की वजह से वच्छराज रुपये देने में असमर्थ थे। इसपर गोपालदास ने ग्यारह लाख चौरासी हज़ार पाँच सौ की हुंडी वच्छराज के पास भेजी और इसके वदले में उन्होंने अल्मास अली खाँ की पाँच महीने वाद पूजने वाली नौ लाख पैंतीस हज़ार पाच सौ की दस्तावेज़ भेजी। वाद में उन्होंने एक दूसरी दस्तावेज़ एक लाख छियानवे हज़ार की जो ठाकुरदास भवानी प्रसाद ने लिखी थी भेजी वाकी तिरपन हज़ार रुपये नकद मिले। अल्मास अली खाँ की दस्तावेज़ तो उनसठ हज़ार पाँच सौ सूद के साथ वसूल हो गयी लेकिन ठाकुरदास वाली दस्तावेज़ का भुगतान वाक़ी था। गोपालदास वच्छराज की हुण्डी लौटाने में तव तक असमर्थ थे जव तक कि उनके पूरे रुपयो का भुगतान न हो जाय।

कम्पनी सरकार गोपालदास की कोठियो से वहुधा अपने कर्मचारियो के वेतन और खर्च इत्यादि के लिये रुपये लिया करती थी। वारेन हेस्टिंग्स का समय काफी खर्चे का था और इसलिये रक़म लौटाने में अक्सर दिक्कत पड़ती थी। साहु गोपालदास वरावर इस वात की शिकायत करते रहते थे। अपने १० मई १७८६ के एक पत्र में[२] उन्होंने गवर्नर जनरल को लिखा कि कम्पनी के एजेंट एण्डरसन और दूसरे कर्मचारी हर महीने अपने खर्चे के लिये उनकी कोठियो और अढतियो से रकम लिया करते थे। इन रक़मो के लिये जो हुण्डियाँ काटी जाती थी उनका भुगतान कम्पनी का खज़ाना क्रमिक रूप से करता था जिसका नतीजा यह होता था कि गोपालदास को रकम

[१] केलेंडर, ६, पत्र ६५७

[२] केलेंडर ' ' ७, पत्र ५३८

काफी देर से मिलती थी। उन्होंने इस बात की शिकायत की कि अगर रुपये देने में इसी तरह ढील होती रही तो उनके लिये काम चलाना मुश्किल हो जायगा। उन्होंने यह भी सुझाव रक्खा कि रसीद देने के बाद अगर कम्पनी के कर्मचारियो से नकद वसूल हो जायें तो बहुत अच्छा हो।

१७७० के बाद कश्मीरीमल भी बनारस के महाजनो में अपना एक खास स्थान रखते थे और इनकी कोठी का नाम सुखदेवराय कश्मीरीमल पडता था। कश्मीरीमल नवाब सफदरजग के तोशकखाने के दारोग़ा थे। बाद में अवध के नवाबो की नौकरी छोड़ कर उन्होंने महाजनी का काम शुरू किया और इसमें काफी उन्नति की। कश्मीरीमल की कोठी का बच्छराज की कोठी से घना सबध था। एक पर आर्थिक मुसीबत आती तो दूसरे पर भी आ जाती थी। कश्मीरीमल वारेन हेस्टिंग्स के कृपापात्रो में थे और कपनी के साथ इनके लेन-देन का व्यवहार बराबर चलता रहता था। जैसा कि कुछ पत्रो से पता चलता है[1] वे वारेन हेस्टिंग्स को सौगातें भी भेजा करते थे। वारेन हेस्टिंग्स का उन पर इतना विश्वास था कि कपनी का कोई मेहमान यदि बनारस से गुजरे तो उसके प्रबंध का भार वे कश्मीरीमल पर छोड देते थे।[2] इतना सब होते हुए भी कश्मीरीमल को रुपये की अक्सर अडचन पडा करती थी। अपने २९ अगस्त १७८० के पत्र में[3] उन्होंने गवर्नर जनरल को लिखा कि मि० फ्राउक को गवर्नर जनरल के आदेशानुसार उन्होंने पाँच लाख रुपये तो दे दिये थे लेकिन उनकी माली हालत बहुत खराब हो गयी थी और वे लहनेदारो का कर्ज चुकाने में असमर्थ थे। कश्मीरीमल की इस आर्थिक कठिनाई को टालने में गवर्नर जनरल ने क्या सहायता की इसका पता नही चलता। पर वारेन हेस्टिंग्स के १४ फरवरी १७८६ के एक पत्र से[4] पता चलता है कि उन्होंने कर्नल हार्पर के मार्फत कश्मीरीमल के पास कपनी की एक खिल्लत भेज कर उनका मान बनाये रक्खा।

यहाँ हम उस घटना की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं जिसको लेकर १७८६ और १७८७ में बनारस में काफी चहल पहल रही। यह घटना कश्मीरीमल और गोपालदास साहू के आपस में चढा-ऊपरी के विषय में थी। इसमें बाजी गोपालदास के हाथ रही और कश्मीरीमल का तो कारबार ही नष्ट हो गया। तत्कालीन खतों के पढने से तो यह पता लगता है कि प्रारभ में गोपालदास और कश्मीरीमल की कोठियो में काफी सद्भाव और लेन-देन था पर १७८६ में कोई ऐसी घटना घटी जिससे दोनो में मनोमालिन्य हो गया। बनारस में तो यह किवदती प्रसिद्ध है कि कश्मीरीमल ने एक बारात में साहू गोपालदास के फटे जूते की खिल्ली उडायी। कहा जाता कि जैसे ही कश्मीरीमल ने कहा कि साहू जी ज़रा अपने जूतों की ओर तो देखिए वैसे ही साहू गोपालदास ने कहा, लालाजी ज़रा अपनी हुडियों की ओर तो देखिए। घटना का कारण चाहे जो रहा हो पर यह तो निश्चय है कि १७८६ में साहू गोपालदास ने कश्मीरीमल को नीचा दिखाने

[1] केलेंडर ५, पत्र ३७३
[2] केलेंडर ५, पत्र १४६४
[3] केलेंडर ५, पत्र १९८०
[4] केलेंडर ७, पत्र ४४८

की भरपूर कोशिश की। उस समय बनारस के रेज़िडेंट जेम्स ग्रांट थे और उन्होंने भी गोपालदास का ही पक्ष लिया। इस घटना क्रम का आरंभ साहू मनोहरदास के एक पत्र से मालूम होता है जो उन्होंने २६ मार्च १७८६ को गवर्नर जनरल को लिखा। बंबई के गवर्नर ने जो हुंडियाँ कंपनी के कलकत्ते के खज़ाने पर मनोहरदास के गुमाश्तों से लिये गये रुपये के एवज़ में की वह बनारस पहुँच गयी थी। इन हुंडियों में से एक लाख चौबीस हज़ार की हुंडी कश्मीरीमल ने गोपालदास से इस शर्त पर ली थी कि वे इसे दो चार दिनों में लौटा देंगे। बाद में उन्होंने यह हुंडी अपने कलकत्ते के गुमाश्ते के पास भेज दी। कलकत्ते में मनोहरदास को गोपालदास से पता चला कि कश्मीरीमल ने तब तक रुपया नहीं चुकाया था और हुंडी वापस मांगने पर टालमटोल करते थे। मनोहरदास ने गवर्नर जनरल से प्रार्थना की कि वे कलकत्ता के नायब खज़ाची म्योर को आदेश दें कि वे इस हुंडी को कश्मीरीमल के खाते में जमा न करें।

गोपालदास साहु ने अपने ४ अक्टूबर १७८६ के पत्र में मनोहरदास को लिखा[1] कि जो हुंडी कश्मीरीमल ने उनसे ली थी उसे अभी तक उन्होंने नहीं लौटाया था। माँगने पर कश्मीरीमल ने बच्छराज का एक पुरज़ा उन्हें दिया जिसके द्वारा बच्छराज उन्हें हुंडी के एक लाख चौबीस हज़ार चार सौ साठ पाँच आना छह पाई को दो किस्तों में चुका देने वाले थे, लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया और जब कश्मीरीमल से रुपये माँगे गये तो वे भी साफ नकार गये। गोपालदास ने मनोहरदास को यह आदेश दिया कि वे बनारस के रेज़िडेंट को यह हिदायत करें कि उनका रुपये वसूल हो जायें। जान पड़ता है, अपने पिता के आज्ञानुसार मनोहरदास के कार्रवाई की ओर गवर्नर जनरल लॉर्ड कॉर्नवालिस ने बनारस के रेज़िडेंट ग्रांट को इस मामले को निपटा देने की हिदायत्त दी। ग्रांट ने जो कुछ इस संबंध में कार्रवाई की इसका पता उनके २१ अक्टूबर १७८६ के एक पत्र से जो उन्होंने बनारस के जज अली इब्राहीम खाँ के नाम लिखा, चलता है।[2] पत्र में कहा गया है कि ग्रांट ने लाला कश्मीरीमल को मिलने के लिये बुलाया लेकिन वे कोई न कोई बहाना निकाल कर उसे टालते रहे। कंपनी के खज़ाची होने की वजह से उनका यह व्यवहार बड़ा निंदनीय था। इससे खफ़ा होकर ग्रांट ने कश्मीरीमल के पीछे कुछ हरकारे लगा दिये तथा अली इब्राहीम खाँ को भी ऐसा ही करने का आदेश दिया जिससे कश्मीरीमल को झख मार कर ग्रांट से मिलने जाना पड़े। पर अली इब्राहीम खाँ ने ऐसा करने से इनकार कर दिया क्योंकि यह बात उनके अधिकार के बाहर थी।

कश्मीरीमल को ग्रांट की यह हरकत बड़ी बुरी लगी और इसकी शिकायत उन्होंने गवर्नर जनरल से अपने २६ अक्टूबर १७८६ के एक पत्र में की।[3] उन्होंने लिखा कि १४ अक्टूबर को मि० ग्रांट ने उनके पास खबर भेजी कि दूसरे दिन वे खुद अथवा अपने वकील के मार्फत उनसे मिल कर गोपालदास ने जो उन पर दोष लगाये थे उनकी सफ़ाई

[1] केलेंडर ७, पत्र ७२९
[2] केलेंडर ७, पत्र ७९४
[3] केलेंडर ७, पत्र ८१४

दें। इस आज्ञा के अनुसार कश्मीरीमल ने अपना वकील उनके पास भेजा। इससे चिढ़ कर ग्राट ने वकील को हवालात में बंद कर दिया और एक मोटॅवरदार के अधीन दस चपरासियों को उन्हें जबर्दस्ती हाज़िर कराने को भेजा। महाजन होने से स्वयं ग्राट के पास न जाकर अपने वकील को ही भेजना उन्होंने उचित समझा इसलिये ग्राट का यह व्यवहार अपमानजनक और जुल्म से भरा था।

अपने २७ अक्टूबर १७८६ के एक पत्र में[1] कश्मीरीमल ने लॉर्ड कॉर्नवालिस से इस बात की शिकायत की कि चार दिनों से ग्राट के चपरासी उनकी कोठी और घर घेरे पड़े थे और इस बात से बनारस में उनका काफी अपमान हो रहा था। ग्राट से भी उन्होंने प्रार्थना की पर उसका कोई नतीजा नहीं निकला। गवर्नर जनरल से उनकी प्रार्थना थी कि वे चपरासियों के हटाने की आज्ञा भेज दें।

अपने २७ अक्टूबर १७८६[2] के पत्र में कश्मीरीमल ने अपनी दुर्दशा का रोना रोकर ग्राट को लिखा कि सेठ चतुर्भुजदास के मकान पर उनके और गोपालदास के झगड़े के निपटारे के लिये पचायत बैठी थी और उनमें उन्होंने स्वय अपना मामला समझा कर पचों का आदेश मानने का वचन दिया था। इसलिये उनकी ग्राट से प्रार्थना थी कि उनके मकान से चपरासियों का पहरा उठा लिया जाय।

ग्राट के ३१ अक्टूबर १७८६ के एक पत्र[3] से पता चलता है कि वे कश्मीरीमल के घर से चपरासियों का पहरा उठाने को तैयार नहीं थे। उन्होंने महाजनों को भी इस बात की खबर दे दी थी। महाजन इसमें कश्मीरीमल का क़ुसूर तो मानते थे पर उनकी प्रार्थना थी कि कश्मीरीमल को माफ़ कर दिया जाय। इस पर ग्राट ने महाजनों की इस शर्त पर बात माननी स्वीकार कर ली कि वे पचों के फ़ैसले के अनुसार गोपालदास का पावना चुकाकर उनकी भरपायी ले लें। पर महाजन इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं थे और न कोई लाला कश्मीरीमल की ज़मानत ही पड़ना चाहता था।

अपने ३१ अक्टूबर १७८६ के पत्र में[4] लाला कश्मीरीमल ने पुन इस बात की शिकायत की इनके घर से चपरासियों के न हटने पर उनकी बेइज्ज़ती की बात चारों ओर फैलने लगी थी। उनकी कोठियाँ बम्बई, सूरत, पूना, जै नगर, दिल्ली और दूसरी जगहें थी और अगर यह समाचार उन जगहों में पहुँच गया तो उनका काम सर्वदा के लिए खराब हो जायगा। वे पचायत के निर्णय के अनुसार गोपालदास का मामला तय करने को तैयार थे। वे बनारस में महाजनी काम ३० वर्षों से करते थे और उनका व्यवहार कम्पनी और अवध के नवाब के साथ था, पर इस बीच में उन्हें ऐसी ज़िल्लत कभी नहीं उठानी पड़ी थी। उन्होंने इस बात की ओर भी ध्यान दिलाया कि महाजन लेन-देन के झगड़ों को आपस में ही तय कर लेते थे और पच के फ़ैसले को न मानने वाले दण्ड के भागी होते थे।

---

[1] केलेंडर · ७, पत्र ८१५

[2] केलेंडर···· ७, पत्र ६१६

[3] केलेंडर··· · ७, पत्र ८३३

[4] केलेंडर ·· · ७, पत्र ८३४

गोपालदास के ही झगडे से कश्मीरीमल को छुटकारा नही मिला। उनको विपत्ति में पडा देख कर दूसरे भी उनकी शिकायत गवर्नर जनरल तक पहुँचा रहे थे। बिहार के राजा कल्याण सिंह ने अपने १५ नवम्बर १७८६ के एक पत्र में[1] गवर्नर जनरल से शिकायत की कि कश्मीरीमल ने एक जाली दस्तावेज के सहारे उनके बनारस वाले मकान पर अधिकार कर लिया था। कश्मीरीमल के पास उनका तीन लाख का जवाहरात सवा लाख में गिरवी था लेकिन बहुत कहने पर भी वे उसे बेचते नही थे। बहुत से कामो के लिए कश्मीरीमल ने उनसे जागीर पर हुंडनोट लिखा लिये थे पर न तो उन्होने वे काम ही किये न हुंडनोट ही लौटाये।

जब कश्मीरीमल बुरी तरह से फँस गये थे उस समय महीप नारायण सिंह भी उनकी शिकायत करने से नही चूके। अपने १ दिसम्बर १७८६ के एक पत्र में उन्होने ग्राट को लिखा[2] कि शहीदाबाद की जो कश्मीरीमल के ठीके में था, की जमा में कमी पडती थी। राजा ने कश्मीरीमल को पन्दह हजार छूट भी दे दी थी, फिर भी वे भुगतान साफ नही करते थे। उनके जिम्मे महाल की जमा के बीस हजार रुपये निकलते थे। इसके अलावा राजा महीपनारायण सिंह ने कश्मीरीमल की गडबडी के बहुत से उदाहरण लिखे।

उधर कश्मीरीमल और गोपालदास का मामला जोरो से चल रहा था। कश्मीरीमल ने गवर्नर जनरल को अपने १७ नवम्बर १७८६ के एक पत्र[3] में लिखा कि अपने गुमाश्ते से उन्हे पता लगा था कि गवर्नर जनरल ने उनसे गोपालदास के रुपये वसूलने के लिये ग्राट को आदेश दिया था। रुपये एक मुश्त न वसूल होने पर किश्तबन्दी की भी सलाह थी और जमानत लेकर चपरासियो को हटा लेने की आज्ञा भी दी थी, लेकिन पूछने पर ग्राट ने कोई ऐसा हुक्म मिलने से इनकार कर लिया। कश्मीरीमल को इस बात का आश्चर्य हुआ कि उनसे जमानत क्यो मांगी गयी क्योकि वे कोई साधारण महाजन नही थे। ग्राट को ही उन्हें सूरत की हुडियो के एक लाख चौबीस हजार देने थे और उनके पास कपनी की चार लाख की हुडियाँ और कागज थे। इन सबको वे जमानत में देने को तैयार थे।

इस खत के बाद ही लगता है पचो की कार्यवाही शुरू हो गयी। कश्मीरीमल ने २९ नवम्बर १७८६ के एक पत्र में[4] गवर्नर जनरल को लिखा कि पचायत की बैठक में गोपालदास और उन्होने भाग लिया। कश्मीरीमल ने डिग्री की शर्तों से पचो को आगाह किया। पचो ने फतहचद से कागजात तलब किये पर उन्होने ग्राट के हुक्म के बिना उन्हें देना स्वीकार नही किया। इस पर पचो ने दोनो पार्टियो से यह रजामदी लिखवा ली कि वे उनके फैसले को मानेंगे। इसके बाद पचायत स्थगित हो गयी। दूसरे दिन कश्मीरीमल ने ग्राट से पचायत की कार्यवाही का हाल कहा। गवर्नर जनरल से उनकी

---

[1] केलेंडर ७, पत्र ८७५

[2] केलेंडर ७, पत्र ९१८

[3] केलेंडर ...७, पत्र ८७९

[4] केलेंडर ७, पत्र ९१४

प्रार्थना थी कि वे या तो पचो को मुकदमा फैसला करने की आज्ञा दें अथवा उसे वनारस की अदालत में भेज दें।

इस मुकदमे की सुनवायी में और क्या-क्या हुआ इसका तो पता नही चलता लेकिन जान पडता है कि गवर्नर-जनरल पचों के फैसले को मानने के लिए तैयार हो गये। ८ मार्च १७८७ के एक पत्र के साथ गोपालदास वनाम कश्मीरीमल के मुकदमे के फैसले की नकल नत्थी है।[1] फैसले में कहा गया है कि मुकदमे का कारण कुछ हुडियाँ थी जिन्हें कश्मीरीमल ने गोपालदास से ली थी। इन हुडियो की नकलें दोनो ही कोठियो के खातो में नहीं मिलीं। यह वात चलन के विरुद्ध थी। असली हुडी पर गोपालदास का दस्तखत जो क़ायदे के अनुसार होना चाहिए नही था। कश्मीरीमल ने इस वात से इनकार किया कि हुडी के रूप में गोपालदास से उन्होंने कर्ज लिया था। लेकिन इस वात का सव को पता था कि कश्मीरीमल और वच्छराज की कोठियाँ एक ही थी, और वच्छराज के एक गुमाश्ते ने मुकदमे वाली हुडियो की पुश्त पर दस्तखत कर दिये थे और उन्हें कपनी के कलकत्ता के खज़ाने से भुना लिया था। वच्छराज की लखनऊ वाली कोठी के खाते से पता चलता है कि हुडियो की रकम गोपालदास के खाते में जमा थी। पर यह रकम कलकत्ते से वसूली के वाद जमा की गयी। इसलिये गोपालदास की रकम वच्छराज से वसूल की जानी चाहिये।

पचो के इस फैसले वाद गोपालदास और कश्मीरीमल का मुकदमा समाप्त हो गया। पर इसमें सन्देह नही कि इस छोटी सी वात को लेकर जो तूल दिया गया उससे कश्मीरीमल की कोठी, जिसकी अवस्था कोई अच्छी नही थी, समाप्त हो गयी। गोपालदास भी अपने शत्रु का पराभव देखने को वहुत दिन जिंदा नही रहे।

गोपालदास साहु की मृत्यु ९ मार्च १७८७ के कुछ पहले हो चुकी थी। साहु मनोहरदास ने ९ मार्च १७८७ के एक पत्र में[2] गवर्नर जनरल को लिखा कि गोपालदास की मृत्यु हो जाने पर भी उनकी कोठी का कारवार पहले जैसा ही चलता रहेगा और उनकी गवर्नर जनरल से यह प्रार्थना थी कि वे कपनी के अफसरो को इस वात की हिदायत कर दें कि वे पहले ही की तरह उनकी कोठियो के साथ लेन-देन जारी रक्खें। पत्र के साथ नत्थी किये एक दूसरे पत्र[3] से पता चलता है कि गोपालदास की मृत्यु का समाचार पाकर गवर्नर जनरल ने वनारस के रेजिडेंट ग्राट को आज्ञा दी कि वे गोपालदास के भाई भवानी दास के पास जाकर मातमपुर्सी करें तथा उनकी कोठी के साथ पूर्ववत् लेन-देन का व्यवहार जारी रक्खें। इसी तरह की चिट्ठियाँ उन्होने लखनऊ के रेजिडेंट, वम्बई के गवर्नर तथा सूरत फैक्ट्री के मुख्य अफसर के पास भिजवा दी।

[1] केलेंडर ७, पत्र ११७८

[2] केलेंडर ७, पत्र ११८०

[3] केलेंडर ७, पत्र ११८१

मनोहरदास के एक पत्र से यह पता चलता है[1] कि गोपालदास साहु की कोठियाँ देश के कोने-कोने में फैली हुई थी और उनकी हुडियाँ कही भी चल सकती थीं। उनकी मुख्य-मुख्य कोठियाँ, कलकत्ता, मुर्शिदाबाद, पटना, गया, गाजीपुर, मिर्जापुर, इलाहाबाद, लखनऊ, बरेली, जयपुर, नागपुर, सूरत, बबई, मसुलीपट्टम, मद्रास, टाँडा, फूलपुर और पूना में थी। साथ ही साथ इनके अढतिये आगरा, दिल्ली, अहमदाबाद और बडौदा में थे।

गवर्नर जनरल ने स्वय २२ नवम्बर १७८७[2] को गोपालदास के भाई भवानीदास को मातमपुर्सी का पत्र लिख कर अपने भतीजे मनोहरदास के प्रति दयाभाव रखने की सिफारिश की और मनोहरदास को खिल्लत और जवाहरात और उनकी स्त्री को खिल्लत बख्शी।

मनोहरदास चतुर व्यापारी थे और अपने पिता के समय में ही उन्होंने उनका बहुत सा काम काज सँभाल लिया था। गोपालदास साहु की मृत्यु के बाद तो उन्होंने अपनी कोठी के काम को और भी चमकाया। अपने १८ जुलाई १७८७[3] के एक पत्र में उन्होंने गवर्नर जनरल मद्रास और सूरत की लडाइयो में रुपये से मदद देने की याद दिलायी और उनसे बनारस के खजाची बनने की बात चलायी तथा उनके बनारस आने पर खिल्लत पाने की भी प्रार्थना की। बनारस के खजाची कश्मीरीमल थे पर लगता है कि वे इस पद से हटा दिये गये थे।

साहु गोपालदास की मृत्यु के बाद कोठी बट गयी और भवानीदास स्वय अपना कारबार चलाने लगे। साहु मनोहरदास ने कलकत्ते का काम सँभाला और उनके भाई साहु रामचद्र ने बनारस का। कहा जाता है कि मनोहरदास स्वय कपनी के कमसिरयट के इन्चार्ज होकर श्री रगपट्टन की लडाई में गये थे और वहाँ से उनको विपुल धन की प्राप्ति हुई। वहाँ से लौटकर उन्होंने कलकत्ते में एक बडा कटरा बनवाया जो आज दिन भी उनके वशधरो के कब्जे में है। क़िले के मैदान में उन्होंने २०,००० रुपये लगाकर एक पुराने तालाब की मरम्मत करायी, जो आज दिन तक मनोहरदास टैंक के नाम से मशहूर है। १९वी सदी में मनोहरदास का खान्दान बनारस में झक्कड घराने के नाम से प्रसिद्ध हुआ और अपनी विचित्र आदतो के लिये मशहूर रहा। आज दिन साहु गोपालदास के परिवार वाले उनके बसाए साव के मुहल्ले में रहते है। सुप्रसिद्ध दार्शनिक स्वर्गीय डा० भगवानदास और महाराष्ट्र के भूतपूर्व राज्यपाल श्री प्रकाश इसी परिवार के है।

बनारस में कश्मीरीमल और साहु गोपालदास के सिवा भी अनेक महाजन थे जिनके नामो का पता हमें उस प्रशसा पत्र से चलता है जो उन्होंने वारेन हेस्टिंग्स को १७८७ में दिया (देखो, परिशिष्ट तृतीय)। तालिका बहुत लबी चौडी है और इसमें आये बहुत से महाजनो और व्यापारियों का तो पता भी नही चलता है। उनके नामो को भली भाति से अध्ययन करने पर मालूम पडता है कि उनमें से अधिकतर गुजराती बनिये, खत्री, और अगरवाल थे। गोसाइयो का भी उस समय बनारस में काफी प्रभाव था और उनके भी बहुत से नाम आये है। इन व्यापारियो के सबध में जो थोडा बहुत पता चलता है उसका ब्योरा नीचे दिया जाता है।

[1] केलेंडर ७, पत्र ११८२ [2] केलेंडर ७, पत्र १२१४

[3] केलेंडर ७, पत्र १४६८

हम ऊपर देख आये हैं कि १८वी सदी के मध्य में ग्वालदास साहु का बडा ज़माना था। ये दीसावाल वनिये थे और लगता है इनका परिवार गुजरात मे आकर वनारस में करीव १७३० में वसा। ऐसा जान पडता है कि सेठ ग्वालदास वनारस के नगर सेठ थे और सर्राफे में इनका वडा मान था। गोपालदास और कश्मीरीमल के मामले की पचायत की वैठक इन्ही के घर पर हुई।

अमीचद और क्लाइव की घटना तो इतिहास प्रसिद्ध है। अमीचद कलकत्ता और मुर्शिदावाद के प्रसिद्ध व्यापारी थे और कपनी के साथ उनका काफी व्यापार था। क्लाइव द्वारा ठगे जाने पर और कलकत्ते में अपनी सपत्ति नष्ट हो जाने पर इनके दो पुत्र रत्नचद और फतहचद वनारस में आकर वस गये। यहाँ के महाजनो में फतहचद की अच्छी ख्याति थी और गोपालदास कश्मीरीमल के मामले में वे सरपच भी रहे। कपनी के साथ इनके व्यापार का कोई उल्लेख नही आता। शायद इसका यही मतलव हो कि दूघ का जला मठा फूक फूककर पीता है। जो भी हो १८वी सदी में इनके पुत्र हरषचद वहुत वडे व्यापारी हुए। इन्ही के पौत्र भारतेंदु हरिश्चन्द्र आधुनिक हिंदी के जन्मदाता माने जाते हैं।

१८वी सदी के अतिम चरण के वनारस के प्रसिद्ध व्यापारी सुखलाल साहु थे। इनके नाम से सुखलाल साहु का फाटक नाम का मुहल्ला अव भी वनारस में है। इनके व्यापार के सवघ में एक पत्र फारसी खत कितावत में आता है।[1] इस खत में गवर्नर जनरल ने अब्दुलहक खाँ को लिखा कि सुखलाल साहु के वकील मन्नूलाल गुमाश्ता ने उनके पास इस वात की शिकायत की थी कि उनकी कपडो की गाँठो और २८,००० रुपये नकद ने भरी नाव वनारस से कलकत्ता के लिए छूटी। रास्ते में मल्लाहो ने उनके चपरासी को मार कर माल लूट लिया। साहू के आदमियो ने पाँच हज़ार नकद और कुछ कपडो के साथ उनमें से कुछ मल्लाहो को मुर्शिदावाद की फौजी अदालत के सुपुर्द कर दिया। गवर्नर जनरल का हुक्म था कि रुपया सुखलाल साहु के गुमाश्ते सूरजदास के सुपुर्द कर दिया जाय और उनके वाकी रुपयो का सरगर्मी के साथ पता लगाया जाय।

भिखारीदास भी लगता है १८वी सदी के अत के एक वडे महाजन थे। इनके नाम से भिखारीदास का मुहल्ला वनारस में है। भिखारीदास का नाम वारेन हेस्टिंग्स वाले स्मृति-पत्र पर भी है। सभवत यही भिखारीदास वारेन हेस्टिंग्स के पास रानी भवानी के वकील थे।[3]

यह तो ठीक ठीक नही कहा जा सकता कि चेत सिंह के वख्शी मुशी सदानन्द अपने ओहदे को सँभालने के पहले महाजनी करते थे अथवा नही। पर वारेन हेस्टिंग्स के १८ मार्च १७७९ के चेत सिंह के नाम एक पत्र से यह पता चलता है कि वनारस के एक महाजन सदानन्द ने कई आदमियों को रुपये उधार दिये थे जिसमें वे सव रुपये

[1] कैलेंडर · ५, ११३०

[2] कैलेंडर ·· ५, पत्र १२६२

[3] कैलेंडर ···५, पत्र १४००

तो वसूल कर चुके थे पर उधार के चार हजार रुपये कुछ लोगो पर बाकी थे। राजा के इजलास में उन्होंने इन पर दावा कर दिया था और मामले सहूलियत के साथ तय भी पा गये थे पर अभी तक उनके रुपये वसूल नही हो सके थे। राजा को गवर्नर जनरल का हुक्म था कि वे रुपये वसूल करने में महाजन की मदद करें।

रामचन्द गोपालचन्द इस कोठी का भी कम्पनी से लेनदेन होता था। अपने ३० सितम्बर १७८० के एक पत्र में[१] गवर्नर जनरल ने चेतसिंह को लिखा कि रामचन्द गोपालचन्द ने कम्पनी के बाकी रुपये के लिये दस्तावेज लिखा था और वह फाडक के पास वसूल करने के लिये भेज दिया गया था।

ब्रिजचन्ददास विशनदास बनारस में इनका सर्राफे का कारवार चलता था। अपने १९ अक्टूबर १७८० के एक पत्र में हेस्टिंग्स ने चेतसिह को यह लिखा[२] कि वादशाह शाह आलम का उन्हें एक रुक्का मिला था जिसके अनुसार उनके अट्ठाईस हजार रुपये ब्रिजचन्ददास विशनदास की कोठी पर निकलते थे। ये अपना दिवाला निकाल कर वनारस से भाग गये थे पर इनकी जमीन जायदाद वनारस में ही थी। गवर्नर जनरल ने चेत सिंह से यह प्रार्थना की थी कि वे भवानी प्रसाद को नादिहन्दो की जायदाद की सूची वनाने में मदद करें।

लालजीमल साहु जान पडता है इनका व्यापार दिल्ली के साथ होता था। २१ अक्टूबर १७८१[३], के दस्तक से पता चलता है कि लालजी साहु के भाई भवानी प्रसाद को जो वनारसी माल और दूसरी चीजें लाद कर इलाहावाद, इटावा और अकवरावाद होते हुए शाहजहाँनावाद जाने वाले थे, गवर्नर जनरल ने इसके लिये नवाब वहादुर ग़ालिव जग के नाम एक पत्र दिया था।

हम देख चुके हैं कि वेनीराम पण्डित ने वारेन हेस्टिंग्स की गाढे समय में किस तरह मदद की। वेनीराम नागपुर फिर वापस न जाकर वनारस में ही वस गये। जव तक वारेन हेस्टिंग्स भारत में रहे वेनीराम पण्डित के साथ उनका वहुत अच्छा सलूक रहा। अपने १० जून १७८४[४] के एक पत्र में हेस्टिंग्स ने उनको पुत्रोत्सव पर वधायी दी और लिखा कि उन्होने वेनीराम के भाई विसम्भर पण्डित को यह लिख दिया था वच्चे का नाम हेस्टिंग्स रक्खा जाय। भला इस सुअवसर से वेनीराम कव चूकने वाले थे उन्होने वच्चे का नाम हास्तिन रख दिया।

अर्जुनजी नाथाजी त्रिवेदी सूरत के एक प्रसिद्ध महाजन थे।[५] इनका नाम अनेक वार कलकत्ते के फोर्ट विलियम गवर्नमेंट के १७७८ से १७९८ तक कागजातो में आता है।

---

[१] केलेंडर ५, पत्र २०१४

[२] केलेंडर ५, पत्र २०४२

[३] केलेंडर ६, पत्र २५८

[४] केलेंडर ६, पत्र १७८४

[५] वी० ए० सालेटोर, इडियन हिस्टोरिकल रेकर्डस् कमीशन, प्रोसीडिंग्स, भाग ३०, खड २, पृ०, १५५ से

जान पडता है इनकी एक कोठी मुर्शिदाबाद में थी और इनका कम्पनी मे हुण्डी पुर्जे का व्यापार चलता था। सूरत की अंग्रेजी फैक्टरी वालो से भी अर्जुनजी का अच्छा सम्बन्ध था और वे समय समय पर उनसे कलकत्ते पर की हुण्डियाँ लेते रहते थे। इनके गुमाश्तो अथवा कोठीदारो में रामनाथ रामदत्त, ब्रिजवल्लभ दास तथा लालदास लोलदास के नाम खातों में आये है।

त्रिवेदी से उधार लिये रुपये पर व्याज जोडने में सूरत के फेक्टर काफी होशियारी दिखलाते थे। इसका पता हमें मिलिटरी पे मास्टर जनरल स्कॉट अलेक्जेंडर के सुप्रीम काउंसिल के सेक्रेटरी विलियम ब्रुएर के नाम २५ मई १७८० के पत्र से लगता है। सूरत फेक्टरो ने त्रिवेदी और अपने हिसाब में ३२२ रुपये २ आने १ पाई का फर्क बतलाते हुए यह लिखा कि यह फर्क मुहलत के दिनो के न गिनने से पडा था। अलेक्जेंडर ने यह भी लिखा कि यह फर्क गोपालदास और हरिकृष्णदास के हिसाबो में पाया जाता था और इसका कारण यह था कि देशी महाजन अपना हिसाब किताब चन्द्र मास में रखते थे जिससे चार या पाँच दिन का फरक पड जाता है। त्रिवेदी के हिसाब खाते की नकल से पता चलता है हुण्डियों के भुगतान की मोहलत १० से १६ दिन थी तथा सूद की दर ९ प्रतिशत थी।

पर सूद जोडने में सूरत फेक्टरी के लोग जितने चुस्त थे उतने चुस्त वे उधार की रक़म चुकता करने में नही थे। रक़म लौटाने में वे काफी देर करते थे। इस सम्बन्ध में अर्जुनजी नाथाजी त्रिवेदी के एक गुमाश्ते मूलचन्द दुबे ने १७८० में वारेन हेस्टिंग्स को हिन्दी में एक अरजी दी जिसमें कहा गया था कि उनकी कोठी तो सूरत और बम्बई में बराबर रुपये दे देती थी पर इसके बरक्स फोर्ट विलियम की सरकार रुपये लौटाने में काफी देर करती थी जिससे त्रिवेदी को घाटा होता था। मूलचन्द ने कम्पनी द्वारा इस घाटे की रकम की पूर्ति की प्रार्थना की थी। अर्जुनजी नाथाजी ने स्वय इस प्रश्न को अपने हाथ में लिया। अपने एक तिथि रहित पत्र में जो २१ मई १७८८ के पब्लिक कसल्टेशन्स में दर्ज है उन्होंने समय से अपने रुपये पाने की दरख्वास्त दी। जान पडता है यह पत्र बनारस से लिखा गया था क्योंकि इसमें डकन की न्यायप्रियता तथा प्रजा सेवा की सराहना की है। पत्र से यह भी पता चलता है कि त्रिवेदी की कोठी कम्पनी की महाजन थी तथा उसका किसी दूसरी कोठी से सम्बन्ध नही था। उसमें यह भी कहा गया है कि दूसरे महाजन कम्पनी के साथ वादा खिलाफी कर भी देते थे पर त्रिवेदी की कोठी अपने वादे से कभी नही चूकी। कम्पनी द्वारा रुपये देर से देने पर तो उनकी कोठी का काम चलाना असम्भव था।

त्रिवेदी के बयान की सचाई कि उनकी कोठी बराबर कपनी की मदद पर तैयार थी १७९० की घटनाओ से सिद्ध हो जाती है। १५ दिसबर सपरिषद् बबई के गवर्नर ने बनारस के रेजिडेंट डकन को लिखा कि बनारस के भवानीदास द्वारकादास के गुमाश्ते नगीनदास ने वादा खिलाफी करके नवम्बर १७९० तक प्रति मास ढाई लाख देना अस्वीकार कर दिया था। उसका बहाना यह था कि उसकी-कोठी चालीस लाख कपनी

को दे चुकी थी। डकन से कहा गया था कि वे भवानीदास द्वारकादास की कोठी की उसकी वादाखिलाफी वतलावें। डकन ने २३ अक्टूबर १७९० को भवानीदास द्वारकादास को लिखो कि उनकी कोठी को वादे के अनुसार सितम्बर से नवम्बर तक प्रतिमास ढाई लाख कपनी को देने चाहियें। लेकिन भवानीदास द्वारकादास इस वहाने से ऐसा करना क़बूल नही किया कि ववई सरकार दूसरी कोठियो की तरफदारी कर रही थी तथा उनकी कोठी की हुडियाँ स्वीकार करने से इनकार कर रही थी। ववई को इस वात की खवर देते हुए डकन ने लिखा कि भवानीदास की कोठी पर भरोसा रखना व्यर्थ था। इस काम के लिये उन्होने वावू मनोहरदास और अर्जुन नाथाजी त्रिवेदी की कोठियो की सिफारिश की। डकन ने यह भी सूचित किया कि मनोहरदास ने अपने गुमाश्ते शुजा शकर को ववई भेज दिया था तथा उन्होने दोनो कोठियो को ववई में फौरन ढाई लाख दे देने का वादा करा लिया था। इस पत्र के वीजक में कुछ जानने योग्य वाते है। मनोहरदास के एजेंट चन्द्रेश्वर जानी को क्रमश ९१ और ८१ दिनो के वायदे पर ६६,९६० और ६९,०४० (ववई के सिक्को के अनुसार क्रमश ६२,००० और ६३,०००) की दो हुडियाँ देने की वात थी तथा पीतावरदास चतुर्भुजदास द्वारा त्रिवेदी की कोठी को वनारसी रुपयो की क्रमश दो हुडियाँ, एक ४१,०४० रुपये की तथा दूसरी ३९,९६० रुपये की (ववई के सिक्को में ३८,००० और ३७,०००) देने की वात थी। इनकी रसीदें डकन ने महाजनो को दे दी थी।

उपर्युक्त लेन देन से कई वातो का पता चलता है। (१) अर्जुनजी नाथाजी की कोठी उस समय मनोहरदास की कोठी की वरावरी कर रही थी। (२) वह कपनी के देने का भार उसी तरह सम्हालती थी जैसे मनोहरदास की कोठी। (३) १७९० तक अर्जुनजी की कोठी वनारस में पूरी तरह से जम गयी थी। (४) कपनी ने दोनो कोठियो को आठ प्रतिशत सूद देना स्वीकार कर लिया था।

१७८९ तक तो अर्जुनजी नाथाजी की कोठी ववई सरकार की काफी मददगार वन गयी थी। ८ जनवरी १७९८ को ववई सरकार की अनुमति से जॉन मारिस ने सूरत के अधिकारी डेनियल सेटल को एक लाख प्रति महीने कर्ज की वात चलायी। सेटन ने १५ जनवरी १७९८ को डकन को खवर दी कि उन्होने इस वात का प्रवन्ध कर लिया था कि अर्जुनजी की कोठी जनवरी, फरवरी और मार्च में ३१ दिन की अवधि पर मुर्शिदावाद के रेज़िडेंट को हुडी दे देगी। त्रिवेदी ने प्रति महीने रक़म देना स्वीकार कर लिया पर इस वात की प्रार्थना की थी कि कपनी उन्हें रुपयो के परिवर्तन की दर में अधिक सहूलियत दे। इसका इतिज़ाम कर दिया गया।

हम देख आये है कि वनारस के महाजनो का मुख्य व्यापार हुण्डी पुरजे का काम था और उनकी हुण्डियाँ सव जगह चलती थी। इस व्यापार में गडवडी होती थी और मुक़दमें भी चलते थे, पर वनारस के महाजन काफी ज़ोरदार थे और उनसे न्याय पाने के लिये कभी कभी लोगो को गवर्नर जनरल तक जाना पडता था। ऐसे ही एक

[1] केलेंडर······६, पत्र १७८४

दरख्वारत का वर्णन एक फारसी पत्र में आया है। १२ जनवरी १७८० को आरतराम नाम के एक आदमी ने[१] गवर्नर जनरल के नाम दरख्वास्त दी कि यह सुनकर कि मूलचद नाम के एक महाजन ने गवर्नर जनरल को नागपुर की एक डेढ लाख की हुडी दी थी आरतराम ने नागपुर और औरगाबाद की हुडियाँ खरीदकर कलकत्ते भेज दी। इस रकम का कुछ भाग आरतराम ने वैजनाथ वेनीप्रसाद की कोठी मे उधार लिया था। कुछ ही दिनो बाद इस कोठी का दिवाला निकल गया और इसीलिए नागपुर और औरगाबाद के महाजनो ने आरतराम को वेंची ३७,००० रुपये की हुडी का दाम चुकाना रोक दिया। इसलिये आरतराम को हुडियो की रकम इकट्ठा करना मुश्किल हो गया और उसकी साख जाती रही। इसी बीच में उसे पता चला कि वैजनाथ वेनीप्रसाद की कोठी के रुपये बनारस के कुछ महाजनो पर निकलते थे, पर इस रुपये पर जब उसने अपना अधिकार बताया तो महाजनो ने बहाना बनाकर उसके हक्क को स्वीकार नही किया। आरतराम ने इस बात की प्रार्थना की थी कि ग्रेहम साहब को आदेश दिया जाय कि इस मामले में वह उनकी मदद करें।

अवध के नवाब के भाई नवाब सआदतअली खाँ बनारस में लखनऊ मे आकर रहने लगे थे। नवाब साहब काफी व्यापार-कुशल थे। जब उन्हें अवसर मिलता था तब वे अपनी गोटी बनाने में बाज नही आते थे। ऐसे ही एक मामले का पता अमरनाथ और चितामल के गवर्नर जनरल के नाम २० मार्च १७८३ के पत्र से चलता है।[२] पत्र में कहा गया है कि अमरदास और चितामल के चचा मुल्तान के व्यापारी उदैमल खत्री दिल्ली मे बनारस को व्यापार पर चले। दुर्भाग्यवश बनारस से चार कोस दूर सराय रतन में आकर उनकी मृत्यु हो गयी। उनके नौकर बिहारी लाल ने उनका संस्कार करके उनके सब मालमते पर जिसमें सत्तर हजार के जवाहरात और ८०० रुपये की एक हुडी थी अधिकार कर लिया। हुडी का रुपया बिहारी ने महाजनो से माँगा पर रकम चुकाने मे उन्होंने इनकार कर दिया। नवाब अब्दुल अहमद खाँ को जब इस बात का पता चला तो उन्होंने रुपये वसूल करके अमरदास और चितामल के हक की छानबीन करके रुपये उन्हें वापस कर दिये। इसके बाद ये दोनो बनारस पहुँचे और वहाँ बनारस के चुगीघर में बिहारीलाल का तीन हजार का माल रुकवा दिया और दीवानी अदालत में बिहारी पर नालिश कर दी। पर नवाब सआदतअली खाँ ने बिहारी का पक्ष लेकर माल कब्जे में कर लिया और अमरदास के आदमियो को बुरा भला कहा। बेचारो ने सआदत अली को समझाने की कोशिश की पर इसका कोई नतीजा नही हुआ। अब उनकी प्रार्थना थी कि गवर्नर जनरल उनकी मदद करें।

नवाब सआदत अली खाँ विकट जीव थे। लगता है उन्होने राजा महीपनारायण सिह को भी काफी परीशान किया। अपने १४ मार्च १७८७ के एक पत्र में[३] राजा महीपनारायण ने गवर्नर जनरल को लिखा कि जब मे नवाब सआदत अली दुर्गाकुड में रहने

[१] केलेंडर.... ६, पत्र १७०५

[२] केलेंडर...६,

[३] केलेंडर ७, पत्र ११९४

लगे थे मारकहम ने उनके निजी खर्च के लिये चार या पाँच वरधियाँ अनाज विना चुगी के देना स्वीकार कर लिया था। उनकी वनवायी वाजार में विकने वाले अन्न पर चुगी न लगने की उनकी अर्जी फाउक ने खारिज कर दी थी। १७८४ के अकाल में चुगी उठा ली गयी थी और वाहर के व्यापारी किसी रोक टोक के विना उस वाजार में अपना माल वेंच जाया करते थे। अकाल के वाद प्रति वरधी तीन पैसे की चुगी पुन लगा दी गयी लेकिन नवाव ने अपने वाजार में चुगी की दर दो पैसे कर दी। इसका नतीजा यह हुआ कि सव वाजार खाली रहने लगे। फाउक के उज्रदारी करने पर वाबू अजायव सिंह ने नवाव को वाजार वन्दकर देने का हुक्म दिया। लेकिन नवाव ने ऐसा करने में टालमटोल की। इस पर अजायव सिंह ने उस वाजार पर चार चपरासी इसलिए नियुक्त कर दिये कि वे व्यापारियो को सराय ख्वाजा जो पुरानी वाजार थी भेज दें। इस पर नवाव के कुछ आदमियो के दखल देने पर फाउक ने उन्हें गिरफ्तार करने को सात सिपाही भेजे। कुछ व्यापारी भी गिरफ्तार करके फाउक के सामने पेश किये गये और उन्होने आज्ञा दी कि भविष्य में वे भारी माल के साथ नवाव के वाजार में न जायँ। लेकिन महीपनारायण ने सआदत अली का ख्याल करके पसारियो को इस वाजार में जाने से नही रोका।

राजा वनारस के १४ मार्च १७८७ के एक पत्र से[१] यह पता लगता है कि नवाव सआदत अली खाँ ने महीपनारायण सिंह को काफी परीशान कर रक्खा था। वनारस आने पर सआदत अली मनसाराम के वनवाये एक मकान में ठहरे। इस मकान को राजा चेत सिंह ने उनके परिवार के ठहरने के लिए कुछ दिनो के लिए दिया था। राजा चेत सिंह के वाद मकान खाली देखकर नवाव ने पुन उसे दखल कर लिया। १७८४ में हेस्टिंग्स ने सआदत अली को उसे छोड देने को कहा था पर उन्होने ऐसा नही किया और मकान में जमे रहे। जान पडता है जव उनके विरुद्ध पुन कार्रवाई शुरू हुई तो अपने २३ मई १७८७[२] के एक पत्र में उन्होने गवर्नर जनरल से प्रार्थना की वे मकान और वागीचे से न निकाले जायँ। ● ●

---

[१] कैलेंडर' ७, पत्र ११९५

[२] कैलेंडर' ७, पत्र १३७१

आठवाँ अध्याय

वज़ीर अली का मामला

अंग्रेजो के अधिकार में आ जाने के बाद बनारस बहुत कुछ सुधर गया था। डकन के ज़माने में तो बनारस की बहुत कुछ उन्नति हुई पर बनारसी इस विदेशी हुकूमत को सहज ही में बरदाश्त करने वाले न थे। इसका यह भी कारण था कि अग्रेजो ने आते ही चारो तरफ से बनारसियो के स्वच्छन्द आचरणो को कसने की चेष्टा की और उसमें उनको कुछ सफलता भी मिली। पर १७९५ में डकन के बनारस से जाते ही पुन विद्रोह की आग सुलग उठी और इस विद्रोह के मुख्य कारण थे, अवध के पदच्युत नवाब वज़ीर अली। इस घटना का वर्णन उस समय के बनारस के मेजिस्ट्रेट एफ डेविस ने एक ग्रथ में किया है।[1]

१७९७ में आसफ़ुद्दौला की मृत्यु के बाद अग्रेज अवध के भाग्य विधाता बन गये। अवध की नवाबी के लिए दो प्रतिस्पर्धी थे उनमें एक तो थे सुप्रसिद्ध वज़ीर अली और दूसरे नवाब शुजाउद्दौला के बरावर सआदत अली। अग्रेजो ने वज़ीर अली को ही गद्दी का हक़दार माना पर वज़ीर अली अवध की गद्दी पर कुछ ही दिन टिक सके। उनकी ख़राब चाल चलन ने भी यह सिद्ध हो गया कि वे नवाब आसफ़ुद्दौला के और सपुत्र न होकर जैसा लोगो में मशहूर था, एक फ़र्राश के बेटे थे, जिसे नवाब ने वज़ीर अली के जन्म के पहले ख़रीद लिया था।

वज़ीर अली को शुरू से ही अग्रेजो के प्रति घृणा थी और इसलिए वह सदा यत्नशील रहता था कि उनके ओहदे पर किसी तरह की आँच न आये। वज़ीर अली के गद्दी पर बैठने के पहले गवर्नर जनरल ने लखनऊ आने की सोची थी और उनके आने के पहले रेज़िडेंट ने उन्हें वज़ीर अली के इरादो से वाकिफ कर दिया था। जब वज़ीर अली को गवर्नर जनरल के आने का पता चला तो उसने एक गुस्ताख़ी से भरा पत्र लिखा और लडाई की तैयारी करनी शुरू कर दी, पर सोच समझ कर उसने ऐसा नहीं किया। गवर्नर जनरल की वज़ीर से मुलाक़ात हुई। लखनऊ में उन्हें इस बात से आगाह कर दिया गया कि वे वज़ीर अली से अपने को बचाये रहें। इस आगाही को ध्यान में रखकर सर जॉन शोर ने एक अलग बगीचे में डेरा डाल दिया। गवर्नर जनरल की इस चाल से घबरा कर वज़ीर अली ने भी अपना पडाव उसकी बगल में डाल दिया पर किसी गडबडी की वजह से वे सर जान शोर से भेंट न कर सके। गवर्नर जनरल इस बीच में तहक़ीक़ात करते रहे। वज़ीर अली के अब तक के साथी अल्मास खाँ ने उनकी चाल चलन के विरुद्ध अभियोग लगाया।

अत में सर जान शोर ने वज़ीर अली को तख़्त से उतार कर सआदत अली को अवध की गद्दी पर बैठाने का निश्चय किया और अग्रेजी फौज के साथ वे कानपुर से

---

[1] जे० एफ़० डेविस, वज़ीर अली खाँ एड मेसाकर ऑफ बनारस, लडन १८४४

लखनऊ लाये गये। सआदत अली के साथ हाथी पर चढकर सर जान शोर की लखनऊ की गलियो में सवारी निकली। वज़ीर अली भावी को रोकने में असमर्थ थे और सआदत अली २१ जनवरी, १७९८ को अवध के नवाब घोषित किये गये। वज़ीर अली को बनारस में रखने का निश्चय किया गया और उन्हें जीवन यापन के लिए नवाब सआदत-अली खाँ ने डेढ लाख सालाना पेंशन देनी स्वीकार कर ली।

बनारस में वज़ीर अली शहर के बाहर माघोदास सामिया के बाग (आधुनिक सामिया बाग, कबीर चौरा) में ठहराये गये। उनका यह नियम था कि बिना हथियार-बद सिपाहियो को साथ लिये वे अपने घर से बाहर नही निकलते थे। उनके आये आगे राज्य चिह्न स्वरूप नक्कारा बजता था।

बनारस में उस समय कपनी के दो अफसर थे। मि० चेरी तो गवर्नर जनरल के एजेंट थे और डेविस बनारस के जज और मेजिस्ट्रेट। वज़ीर अली शहर के अग्रेज बाशिदो से तो कभी मिलते नही थे पर उन्हें सरकारी काम से कभी कभी मि० चेरी से मिलना पडता था।

चेरी को तो वज़ीर अली के षड्यन्त्र का कुछ पता नही था, पर डेविस को उनके व्यवहार पर सदेह था और उन्होने कलकत्ते की सरकार और चेरी को इस बात से आगाह कर दिया था। बचाव के लिये उन्होने शहर और जिले से उन रईस मुसलमानो को जो वज़ीर अली की सहायता कर सकते थे हटा देने की सलाह भी दी थी।[1]

वज़ीर अली की शान और ठाटबाट से बनारस के नागरिको को यह सदेह भी नही हो सकता था कि वे उस शहर मे एक साधारण नागरिक की तरह रहते थे। वज़ीर अली तो अपनी अकड और अधिकारियो की बात न मानने से लोगो पर यही प्रभाव डालते थे कि वे स्वतन्त्र राजा थे। इसके सिवा वज़ीर अली ने कलकत्ते में ज़माँ शाह को अपना वकील नियुक्त कर रक्खा था और वहाँ अपने तरफदारो से बराबर खतकिताबत किया करते थे। अपनी स्वतन्त्रता के लिये वे इस ताक में थे अफग़ानिस्तान के ज़माँ शाह का धावा उत्तर भारत पर हो जाय। इस अवसर के लिये उन्होने बनारस के कुछ प्रमुख नागरिको की सहायता भी प्राप्त कर ली थी। इन षड्यन्त्रकारियो में इज्ज़त अली और वारिस अली मुख्य थे। पर वज़ीर अली की हिम्मत खुली बगावत करने की इसलिए नही पडती थी कि बनारस के पश्चिम में अग्रेजी फौज सर जेम्स क्रेग की कमान में और शहर के पास मेजर जेनरल एर्सकीन की कमान में डेरा डाले पडी थी।

वज़ीर अली को बनारस से हटाने के सम्बन्ध में कलकत्ते के साथ बहुत पत्र व्यवहार के बाद गवर्नर जनरल लॉर्ड मॉर्निंगटन ने चेरी साहब को आदेश दिया कि वे वज़ीर अली को कलकत्ता हटाने के लिए काउसिल के निश्चय की सूचना दे दें। इस निश्चय का वज़ीर अली ने घोर विरोध किया पर उसका कुछ असर न होते देख उसने मरता क्या न करता वाली कहावत के अनुसार बग़ावत की ठान ली। १३ जनवरी १७९९ को बनारस

[1] डेविस, वही, पृ० २३

के कोतवाल ने डेविस को खबर दी कि वज़ीर अली कलकत्ता जाने की तैयारी के बदले हथियारबन्द सिपाही भरती कर रहे थे। यह खबर फौरन चेरी को पहुँचा दी गयी और कोतवाल को बागियो की गतिविधि पर आँख रखने की आज्ञा दी गयी।

वज़ीर अली ने जब देखा कि डराने धमकाने से काम नही चलता तो उन्होने १५ या १६ जनवरी को कलकत्ता जाने का बहाना किया। १३ जनवरी को चेरी को खबर मिली कि वज़ीर अली दूसरे दिन जलपान के समय उनसे मिलने आने वाले थे। १४ जनवरी को वज़ीर अली २०० हथियारबन्द सिपाहियो के साथ मुलाक़ात के लिए आ पहुँचे। इन सिपाहियो की सख्या मामूली से कुछ इतनी अधिक नही थी कि लोगो को शक हो पर एक जमादार ने चेरी को आगाह कर दिया कि उसके घर के चारो तरफ़ पलीता जलाये बन्दूकची खडे थे पर इस बात की चेरी ने कोई परवाह नही की।

परपरा के अनुसार चेरी वज़ीर अली का दल बल के साथ स्वागत करके उसे घर में ले गये। उस दल में वज़ीर अली, वारिस अली, इज्जत अली और नवाब के ससुर थे। उस अवसर पर चेरी के नौजवान सेक्रेटरी मि० इवास भी थे। चार हथियार बन्द सिपाहियो के साथ यह दल खाने के कमरे में दाखिल हुआ। वहाँ चाय लेने से इनकार करते हुए वज़ीर अली सर जॉन शोर के व्यवहार की शिकायत करने लगे जिससे उन्हें पेंशन के छह लाख न मिल सके। बातचीत में चेरी पर उन्होने यह भी तुहमत लगाई कि सआदत अली के साथ षड्यन्त्र करके वे उन्हें कलकत्ता भेजना चाहते थे, पर ऐसा करने के लिए वे तैयार नही थे। जब वज़ीर अली बातें कह रहे थे तो वारिस अली अपनी जगह छोडकर चेरी के पास आ गया। यह पहले से तय किया हुआ इशारा था। चेरी को लोगो ने पीछे से पकड लिया और वज़ीर अली ने उन पर तलवार से हमला कर दिया। बेचारे चेरी ने बाग में भागने की कोशिश की लेकिन उसका काम तमाम कर दिया गया। इसी बीच में इज्जत अली ने इवास पर छुरे से हमला कर दिया। किसी तरह से अपने को छुडाकर वे बगल के खेत में भागे पर वहाँ उन्हें गोली मार दी गयी। चेरी के साथ रहने वाले कैप्टन कॉनवे भी जो उस समय घर के अन्दर जा रहे थे मार डाले गये।

डेविस, जिनका बगला चेरी के बगले से चौथाई मील था, अपनी सवेरे की हाथी सवारी पूरी कर जब लौट रहे थे तो रास्ते में उन्होने सदलबल वज़ीर अली को चेरी के बगले की ओर जाते देखा। घर पहुँचने पर कोतवाल ने उनको खबर दी कि वज़ीर अली ने पडोसी जिलो में हथियार बन्द लोगो को जुटाने के लिए हरकारे भेजे थे और अशाति का काफी खतरा था। यह खबर सुनते ही डेविस ने चेरी के पास एक हरकारा भेजा। जब बडी उत्सुकता से वे उसके लौटने की बाट जोह रहे थे तो उन्होने दलबल के साथ वज़ीर अली को लौटते देखा। कुछ घुडसवार डेविस के बगले के अहाते में घुस गये और सतरी को गोली मार दी। डेविस ने अब देख लिया कि समय खोने से जान खोने का भय था। श्रीमती डेविस अपने दो बच्चो के साथ मकान के छत पर चढ गयी और डेविस नीचे अपनी बन्दूकें लेने दौडे। लेकिन यह देखकर कि एक घुडसवार

उनके दरवाजे ही पर खडा था वे एक भाला लेकर छत के चोर दरवाजे पर खडे हो गये और अपनी स्त्री और बच्चो को नीचे की गोलीबारी से बचने के लिए छत के बीच में आ जाने को कहा। कुछ ही क्षणो में उन्होंने एक हत्यारे को सीढी चढते देखकर उसे भाले से घायल कर दिया, पर तबतक वज़ीर अली के आदमियो से घर भर गया था। डेविस ने एक दूसरे आदमी पर भाला चलाया पर वह निशाना चूक गया और उसने भाला पकड लिया पर भाला छुडाते समय डेविस ने उस आदमी के हाथ में चोट पहुँचा दी।

नीचे गोली की झडी लगी थी और इसलिए डेविस को छत का चोर दरवाजा (खटखटा) बन्दकर देना पडा पर नीचे क्या हो रहा है यह देखने के लिए एक झरी छोड देनी पडी। नीचे के दल की ऊपर आने की हिम्मत नही पडी। इसी बीच में औरतो ने डेविस को बतलाया कि बलवाइयो ने चारो ओर से घर को घेर रक्खा था और शायद वे दीवाल पर चढ़ने की कोशिश कर रहे थे। डेविस के पास सिवाय जनरल एर्स्कीन के घुडसवारो की बाट जोहने के कोई दूसरा चारा नही था। थोडी देर के बाद उसने सीढी पर चढ़ने की धमक सुनी वह भाला चलाने वाला ही था कि उसने अपने पुराने नौकर को पहचान लिया। इस नौकर ने उसे बतलाया कि वज़ीर अली की फौज हट गयी थी। इसके बाद शहर कोतवाल पन्द्रह बदूकचियो के साथ आया और इन सब की तैनाती कर दी गयी। वज़ीर अली के नगाडे की आवाज़ शहर से सुन पडती थी। उसके दल ने बनारस के उपनगर में घूमते हुए कई युरोपियनो के मकानो में आग लगा दी।

करीब ११ बजे अंग्रेजी घुडसवारो की हरौल पहुँचकर डेविस के बगले पर डट गयी। इसी बीच में शहर में भी बग़ावत शुरू हो गयी और कुछ लोगो ने महकमें पुलिस की कुछ इमारतो में आग लगा दी। इसपर जनरल एर्स्कीन ने अपने सिपाहियों को गुडो को मार भगाने की आज्ञा दी। बगल के जगल से कुछ गोलियाँ चलायी गयी पर अंग्रेजो की तोप दगते ही वज़ीर अली के आदमी माधोदास के बाग की ओर खिसक गये जहाँ लोगों का विश्वास था कि वे डट कर लड़ेंगे। जनरल एर्स्कीन ने उनका पीछा किया। इसी बीच में शहर के युरोपियनो ने डेविस के बगले पर इकट्ठे होकर उनकी उस बहादुरी के लिए धन्यवाद दिया जिसके कारण सब बच गये पर शहर पर पुन अधिकार स्थापित करने के लिए अंग्रेजो को कुछ नुकसान उठाना पडा। जब अंग्रेजी फौजें एक मुहल्ले की चौडी सडक से गुज़र रही थी तो लोगो ने मकान की छतो और बगल की पतली गलियो से उनपर गोली बरसाई जिससे कुछ सिपाही मरे और घायल हुए। माधोदास के बाग़ पर पहुँच कर अंग्रेजी फ़ौज तोप से उसका फाटक उडा कर भीतर चौक में जा दाखिल हुई। यह घटना सूरज डूबते डूबते खतम हो गयी। अगर कही लडाई रात तक चलती तो यह निश्चय था कि गुडे बदमाश शहर को लूट लेते। ऐसा होने पर ज़िले से वज़ीर अली के आदमियो के इकट्ठे होने का भी अवसर मिल जाता और इस तरह वज़ीर अली के आत्मसमर्पण में कुछ और समय लग जाता।

जब फौज ने माधोदास के बाग़ पर कब्ज़ा कर लिया तो उसे पता चला कि वज़ीर अली अपने साथियो के साथ आजमगढ़ होते हुए बेतौल की ओर भाग गये थे। दूसरे दिन (१५ जनवरी) महाराजा बनारस, जहाँदार शाह के दोनो बडे लडके, और शहर के खास

खान नागरिक डेविस से मिले और उन्हें भरोसा दिलाया कि उनका वज़ीर अली से कोई संबंध नहीं था।[1] तहकीक़ात करने पर भी पता चला कि महाराज बनारस का उस षड्यन्त्र से कोई सबंध नहीं था। कलेक्टर के कब्ज़े में वज़ीर अली का एक पत्र आ गया था। जिसमें उसने बनारस से बाहर जाने वाले अंग्रेजों को रोकने के लिए और सडकों की रक्षा करने को कहा गया था। पर राजा को इस पत्र का पता केवल डेविस की जबानी ही मालूम पड़ा।[2]

डेविस को वज़ीर अली के षड्यन्त्र का हाल उनके नजूमी से लगा जिससे कहा गया था कि वह जगत सिंह से मिलकर उनसे वज़ीर अली द्वारा बनारस के चार ज़िलों को दखल कर लेने की इच्छा प्रकट कर दें जब जगत सिंह को यह समाचार मिला तो उन्होंने वज़ीर अली को इस बात का भरोसा दिया कि वे उनके लिए फ़ौज इकट्ठा करेंगे। खर्च चलाने के लिए महाजनों से कर्ज़ लेंगे और अंग्रेजों को खतम करने के बाद महाजनों को लूट कर उनके रुपयों से पूरा सूबा दखल कर लेंगे। यह सुनकर वज़ीर अली ने जगत सिंह को खिल्लत बख्शी। डेविस से यह भी कहा गया कि इसके बाद जगत सिंह वज़ीर अली से मिले और उनको हथियारबन्द सिपाहियों के इकट्ठा करने का भरोसा दिया।

वज़ीर अली के कुछ साथी जिन्होंने फ़ौज का मुक़ाबला किया मार डाले गये, पर औरों के बारे में पता नहीं चल सका। शहर की गड़बड़ी शान्त करने के लिए डेविस ने बग़ावत समाप्त होने की घोषणा की और लोगों को दुकान खोलने और पुनः कारबार चलाने की सलाह दी। १८ जनवरी तक शहर में पुनः शांति स्थापित हो गयी और बाद में अदालत का काम भी जारी हो गया। कंपनी सरकार ने डेविस के काम की सराहना की और वज़ीर अली को पकड़ने के लिए बीस हज़ार का इनाम घोषित किया।

वज़ीर अली भागते समय अपने परिवार और सेवकों को जिनकी संख्या सौ के लगभग थी पीछे ही छोड़ गये थे। डेविस इनके साथ इज्ज़त के साथ पेश आये और इनके खाने पीने का प्रबंध कर दिया।

वज़ीर अली को साथ देने का भरोसा देने वालों में बहुतों ने तो उनका साथ नहीं दिया। पर जगत सिंह, भवानी शंकर और शिवदेव सिंह का क़सूर साफ़ था। जैसे ही वज़ीर अली के भागने का पता चला उनकी गतिविधि पर नज़र रक्खी जाने लगी। वज़ीर अली आज़मगढ़ से बेतौल भागे पर इनका पीछा न करके जनरल एर्स्कीन को शहर में शांति बनाये रखने के लिये चार महीने रक्खा गया।

इन सबके बाद बनारस में गिरफ्तारियाँ शुरू हुईं। जगत सिंह तो जगतगंज में रहते थे पर बाक़ी तीन बनारस से चौदह मील दूर पिंडरा में रहते थे। भवानी शंकर और शिवदेव त्रिनडपुर के रहने वाले थे। शिवनाथ सिंह ब्रह्मनाल में एक छोटे से मकान में रहते थे और बाँकों के सरदार थे। ये बाँके सभी जाति के होते थे। इनकी पोशाक कुछ

[1] वही, पृ० ४२-४३
[2] वही, पृ० ४४-४५

अजीव सज़ीली होती थी। ये अकडकर गलियो में चलते थे और ज़रा सी वात पर लडाई करने को तैयार रहते थे और खून खरावा करना तो मानो इनका धर्म ही था। डेविस के अनुसार वांको का नाम वांक चलाने में सिद्धहस्तता के कारण ही पडा। अंग्रेजो के पहले वनारस में ये वांके महाजनो और डरपोको के तो काल ही थे। ये महाजनो से इज्जत उतारने की धमकी देकर रुपये वसूल कर चैन की वसी वजाते थे।[१]

अंग्रेजो ने उपर्युक्त अपराधियो को एक साथ ही पकड़ने का तथा चितईपुर और पिंडरा के किलो पर एक साथ ही दखल करने का निश्चय कर लिया जिससे वाग़ी एक दूसरे से मिल न सकें। लखनऊ से वनारस की तरफ रवाना होने वाली काली पल्टन को यह हुक्म दिया गया कि वह पिंडरा में आकस्मिक ढग से रुक जाय। १८ मार्च को मॉनस्टुअर्ट एलफिस्टन ने जो डेविस के सहकारी थे फौज के साथ पिंडरा पहुँच कर किले पर अधिकार कर लिया, पर वहाँ के वावू तो दो दिन पहले ही ग़ायव हो चुके थे। उसी कि सवेरे सीली ने जगतसिंह के मकान की ओर धावा वोल दिया। वेचारे वावू साहव ज़नानखाने में भागे और वहाँ से वाहर निकलना नामजूर कर दिया। इस पर फौज ने मकान घेर कर उनके भागने के सव रास्ते वद कर दिये।

शिवनाथ सिंह को पकडने के लिये भी सिपाही भेजे गये पर उनके पकडने में उनको छट्ठी के दूध याद आ गये। शिवनाथ सिंह ने वदूको सहित पाच आदमियो के साथ अपने को एक छोटे घर में वद कर लिया। उनको पकडने के लिए आये हुए पुलीस के सिपाहियो में एक तो मारा गया और दूसरा घायल हुआ। इसके वाद पैदल फौज ने घर घेर कर खाना पीना रोक दिया। शिवनाथ सिंह चौवीस घटो तक तो वाहर नही निकले पर उसके वाद एक साथ वाहर निकल कर उन्होने पैदल फौज पर गोलियाँ चला दी। शिवनाथ सिंह और उनके साथी मारे तो गये पर "मरतेहु वार कटक सहारा" की कहावत के अनुसार उन्होंने वहुतो को मार डाला और घायल कर दिया।

वीरपूजा वनारस के लोगो में एक खास वात है चाहे वे वीर गुण्डे ही क्यो न हो। शिवनाथ सिंह के साहस से उनकी मृत्यु के वाद वनारसवासियो की दृष्टि में वे काफी उठ गये और उनके प्रशसको ने जहाँ लडते लडते उन्होंने जान गँवायी थी एक चौरी वनवा दी जो आज दिन भी व्रह्मनाल की तरकारी वाज़ार के वीच से नीलकठ के रास्ते पर दारूमल वाही की कोठी के नीचे स्थित है। इतना ही नही वनारस के लोकगीत में भी इस घटना की कुछ दिनो तक चर्चा होती रही। श्री सावलजी नागर ने ऐसे ही एक लावनी का उल्लेख किया है जो साठ साल पहले वनारस में गायी जाती थी।[२] लावनी यह है—

दो कम्पनी पाँच सौ चढकर चपरासी आया।
गली गली औ कूचे कूचें आकर वँधवाया॥
मिर्जा पांचू कसम खाय के कुरान उट्ठाया।
पैगम्वर को किया वीच और उनको समझाया॥

[१] डेविस, वही, पृ० ६७ [१] डेविस, वही, पृ० ७१

[२] हस, काशी अक, अक्टूबर-नवम्बर १९३३, पृ० ५३

चलो अदालत मिलो छोड दो सूबे का झगडा।

सम्मुख होकर लडे निकल कर मुख नाही मोडा।

शिवनाथ वहादुरसिंह का मिला खूब जोडा॥

सूरवीर जो, जो सम्मुख आये • • •,

तन में लगी गोलियाँ तीस तब घायल होय पडे।

हँस वोला तव सूबेदार काट ले गरदन दोनो के।

उठ बैठे शिवनाथ वहादुर मारा सिपाही के॥

उपर्युक्त लावनी से पता चलता है कि कैसे अग्रेजी सेना ने कूचे कूचे की नाक़ावन्दी कर दी थी, किस तरह मिर्ज़ा पाँचू ने उन्हें आत्मसमर्पण करने को कहा, पर शिवनाथ सिंह और वहादुर सिंह सेना से भिड गये और अनेको को मार कर गोलियो से छिद कर अपने प्राण त्याग दिये।

इवर वजीर अली ने तराई में पहुँच कर कई हजार आदमी इकट्ठे किये और गोरखपुर के मैदान में लडाई के लिए आवमके पर इममें उन्हें हार खाकर जयपुर के राजा के शरणागत होना पडा और यहाँ से उन्हें कर्नल कॉलिंस के सुपुर्द कर दिया गया। इस तरह अपनी वग़ावत की पहली साल गिरह के दिन ही वजीर अली गिरफ्तार होकर वनारस से गुज़रे। पहले तो वे फोर्ट विलियम्स में क़ैद रहे वाद में वेल्लौर भेज दिये गये।

जगतसिंह और भवानीशकर को मौत की सज़ा दी गयी। भवानीशकर को तो फाँसी पड गयी पर जगतसिंह की सज़ा काले पानी में वदल दी गयी। जब वे नाव पर वाहर ले जाये जा रहे थे तो समुद्र तक पहुँचते पहुँचते उन्होने विप खाकर आत्महत्या कर ली। ● ●

नवाँ अध्याय

१८०० से १८२५ ईस्वी तक का बनारस

१. दिल्ली के शाहजादे

वज़ीर अली की बगावत समाप्त होने के बाद कुछ दिनो तक बनारस के इतिहास में कोई उल्लेखनीय घटना नही घटी और इस बीच में अंग्रेजी हुकूमत मजबूत होती गयी। बनारस के इस सक्रमण काल से सामाजिक इतिहास की थोडी सी चर्चा हमें लार्ड वेलेंशिया के यात्रा विवरण से मिलता है। लार्ड वेलेंशिया १८०३ में बडी धूमधाम के साथ बनारस की सैर को आये। उनकी सवारी के लिए बनारस के जज श्री नीव ने, चार चोवदार, दो मोटेबरदार और दस हरकारो का प्रबंध कर दिया।[1] बनारस में वेलेंशिया ने मिर्जा जवाँ बख्त के बेटे मिर्जा शिगुफ्ता बेग, मिर्ला खुर्रम और एक और जिनका नाम नही दिया गया मुलाकात की। मिर्जा जवाँ बख्त के परिवार वालो को इतनी कम पेंशन मिलती थी कि लवाजमें के साथ उनका मिलना मुश्किल हो गया था। वेलेंशिया का कहना है कि अपनी फिजूलखर्ची से मुसलमान रईस गरीब होते चले जाते थे क्योंकि उनके पास ऐसा कोई रोजगार तो था नही जिससे उनकी घटती रकम पूरी हो सके।[2]

जान पडता है कि कॉर्नवालिस के समय तक तो जवाँ बख्त के खान्दान की अंग्रेज काफी इज्जत करते थे। कॉर्नवालिस ने तो स्वय उनसे खिल्लत लेना तक स्वीकार कर लिया था पर वेलेज़ली ने उसे न स्वीकार किया। उसने तो उनसे वर्दी पहन कर थालियो में भेंट ली। वेलेंशिया को भी ऐसा ही करने का आदेश था। उस समय मिर्जा खुर्रम बेग शिवाले में चेत सिंह के घर में रहते थे और उनसे मुलाकात करने वेलेंशिया नीव के साथ गये। घर के बाहर उन्हें सलामी दी गयी।

मुलाक़ात दीवानखाने में हुई जिसमें एक तरफ परदे के पीछे बेगम बैठी थी। सीढ़ी पर चढते ही शाहज़ादा अपने तीन बेटो के साथ वेलेंशिया के गले लगे और परदे के पास उन्हें मसनद पर बैठाया। वेलेंशिया ने बेगम को उन्नीस मुहरो की नज़र भेंट की और शाहज़ादे को नौ मुहर की, मि० नीव ने बेगम को पाँच मुहरें और शाहज़ादे को तीन मुहरें भेंट की।

नज़र की रस्म अदा होने के बाद शाहज़ादे ने वेलेंशिया और वेलेज़ली की सेहत के बारे में और वेलेंशिया के इस देश में आने का कारण पूछा। इसके बाद उन्होंने देहली और आगरे की तारीफ करनी शुरू करदी। उनकी हृदयद्रावक याद को देखकर वेलेंशिया कहता है, "उनके दिमाग़ में कौन सी बात चक्कर काट रही उसे भाप कर मुझे तकलीफ़

---

[1] जार्ज वाइकाउंट वेलेंशिया, वायेज एंड ट्रावेल्स ऑफ लॉर्ड वेलेंशिया भाग १, पृ० ६९ लंडन १८११

[2] वेलेंशिया, वही, पृ० ७०-७२

हुई। वे सिवा इसके और कौन सी बात याद कर सकते थे कि एक समय उनके वडे वडे महल थे जहाँ वैठकर वे आराम के साथ राज्य करते थे, लेकिन अव, अफसोस, हालत कितनी वदल गयी थी। घर के मालिक एक गुनहगार द्वारा अंधे होकर मामूली-सी आमदनी में अपना गुजर वसर कर रहे थे और वे इस वात के शुक्रगुजार थे कि उनकी रोटी एक ऐसी जाति के दया पर निर्भर थी कि जिनपर उनका कोई हक नही था।[1] वेगम ने वेलेंशिया से शाहजादे का इस देश में और वाहर ख्याल रखने को कहा। यही वात उन्होने और जोर देकर वेलेजली से कही थी उस समय उन्होने परदे के वाहर अपना हाथ निकाल कर अपने पुत्र का हाथ वेलेजली के हाथ रख कर रक्षा की प्रार्थना की। दिल्ली की वादशाहत की इस करुण अवस्था पर किसे दया न आयेगी।

"मुलाकात का समय समाप्त होने पर शाहजादे ने खिल्लत दी जो आगे वढकर वेलेंशिया ने ग्रहण कर ली। वेलेंशिया कहता है घर में चारो तरफ गरीवी के चिह्न थे। परदे फटे थे और शाहजादे की लिवास भी विलकुल सादी थी"।

खुर्रम वेग से मिलकर लार्ड वेलेंशिया शिगुफ्ता वेग से मिलने गये। शिगुफ्ता वेग का तेलियानाले का घर उसी जगह था जहाँ एक समय पुराना क़िला था। घर में एक वाग था और सामने एक नाला जो वरसात में भर जाता था। शाहजादा वेलेंशिया से घर के वरामदे में मिले। शिगुफ्ता वेग आत्माभिमानी थे और जव वेलेजली उनसे भेंट करने गये तो वे अपनी जगह से नही उठे और उन्हें वुलाने के लिये एडमस्टन भेजे गये। जव उनके एक नौकर से इसका कारण पूछा गया तो उसने जवाव दिया, "उनमें रियासत की हवा भरी है, वे यह नही जानते कि वे सिर के वल खडे हैं अथवा पैर के।[2]" वेलेंशिया से उनकी आगरा और दिल्ली के वारे में वातचीत हुई। इसके वाद वेलेंशिया ने उनसे वे ताम्रपत्र मागे जो शिगुफ्ता वेग को मकान वनाते समय मिले थे। नवाव ने दो एक दिन वाद उन्हें भेजने का वादा किया।

वेलेंशिया ने एक दिन वनारस के रईसो के लिए दरवार किया। इस दरवार में पहले कुछ महाजन आये और उन्होने तरह तरह के अच्छे से अच्छे वनारसी माल दिखलाये। थानो पर गथी नक़ाशिया वनी थी और उनका काफी दाम था। तारवाने का काम वनारस में ही होता था और इसका व्यवहार लोग उत्सवो के लिए कपडो को वनवाने में करते थे। वनारसी माल की यूरोप में भी काफ़ी खपत थी। वेलेंशिया का ख्याल था कि वनारस की वहुत कुछ समृद्धि उसके किंखाव और पोत के व्यापार पर अवलवित थी। वेलेंशिया ने एक राशि वाली जहाँगीर मुहर एक महाजन से खरीदी। १९ वीं सदी के आरम्भ में भी ये मुहरें अप्राप्य सी थीं।

महाजनो के वाद शाहजादे मिलने आये। इनमें आपस में मित्रभाव नही था और दोनो ही वैठने के क्रम में एक दूसरे से आगे रहना चाहते थे। वे दोनो पडोस में अलग अलग वगीचे में आकर न्योते का आसरा देखने लगे। मिर्जा खुर्रम पहले आये और उन्हें

[1] वेलेंशिया, वही, पृ० ७३-७४

[2] वही, पृ० ७६

तोप की सलामी अथवा यो कहिये दोहरी सलामी दग गयी क्योकि बेवकूफी से गोलदाजो ने समझा कि दोनो शाहज़ादे एक साथ आ गये थे। वेलेंशिया ने शाहज़ादे को नज़र और दोनुनली पिस्तौलें भेंट की। इतने में पता लगा कि गोलदाजो के पास शिगुफ्ता बेग के स्वागत के लिए बारूद समाप्त हो गया था। फौरन और बारूद लाने के लिए आदमी दौड गये और तब शाहज़ादे और उनके उस्ताद का स्वागत हुआ। उन्होने बतलाया कि ताम्रपत्र नीव साहब को भेंट कर दिये गये थे।

शाहज़ादो के बाद वेलेंशिया मराठा रियासतो के वकीलो, महाराज बनारस के भाइयो, गुलाम मुहम्मद रोहिला के पुत्र, जो अपनी माँ के साथ बनारस में रहते थे, से मिले। इस तरह पान इत्र देकर दरबार समाप्त हुआ। वेलेंशिया का कहना है पान इत्र देने में भी तीन श्रेणियाँ होती थीं, पहली श्रेणी को पान इत्र खुद दिया जाता था और उस वर्ग के लोग उसमें से खुद जितना चाहें ले सकते थे, दूसरी श्रेणी के लोगो को हाथ से पान इत्र दिया जाता था, पर तीसरी श्रेणी के लोग जो अतर के हकदार नही थे उन्हें या तो स्वय पान दिया जाता था अथवा सेवको द्वारा दिलवा दिया जाता था।

२. आर्थिक स्थिति

१८०३ में बनारस की घटनाओ का पता बाजीराव द्वितीय के नाम भिकाजी अनत पटवर्धन के एक पत्र से भी चलता है[१]। १८०३-०४ में बनारस में खरीफ की फसल खराब हो गयी जिससे सितबर में लोगो में घबराहट फैल गयी और सरकार ने रेज़िडेंट को सिंचाई के लिए तक़ावी बाँटने का आदेश दिया। पर सौभाग्य से अक्टूबर में पानी बरस गया उससे धान की थोडी सी फसल बच गयी और रबी की भी फसल बोयी जा सकी। लोगो की मदद के लिए बगाल से काफी अन्न मगवाया गया और उस पर कुछ दिनो के लिए चुग्री माफ कर दी गयी।[२] भिकाजी अनत इस अकाल का और बनारस में अन्न, घी, तेल इत्यादि के वर्षा के पहले और बाद की चर्चा करते हैं। पत्र में नमस्कार इत्यादि के बाद वे लिखते हैं—"इस साल पुनर्वसु चालू चरण एक रोज़, पुष्य चालू चरण दो रोज़ और गोकुलाष्टमी के बाद दो रोज़ पानी पडा, इससे कुछ बुवाई हुई पर खेती मारी गयी तब से आश्विन सुदी ६ तक बूद भर भी पानी नही बरसा। इसी कारण से दिन प्रतिदिन महँगी अग्रेजो के सख्त ताकीद रखने पर भी बढने लगी। श्री की कृपा से सप्तमी से आज तक सुवर्ण वृष्टि हुई। इसके खेती कुछ स्वस्थ हो चली। सरस और निरस जिन्सों के निम्नलिखित भाव हैं —

छठ तक महगी के काल के भाव			वर्षा होने के बाद के भाव	
१—चावल बारीक	७।	७।१	८।४	७।६
२—चावल मध्यम	७।२	७।३	७।७	७।८
३—चावल मोटा	७।६	७।७	७॥	७॥२
४—रहर की दाल	७।६	७।७	७॥२	७॥४

[१] पेशवा दफ्तर, ४३, ६६

[२] बनारस गजेटियर, पृ०, ४६

५—गेहूँ	७।६	७।८	७।।८	७।।।
६—चना	७।।	७।।२	७।।।	७।।।२
७—जौ	७।।	७।।२	७।।।२	७।।।५
छठ तक महगी के काल के भाव			वर्षा होने के बाद के भाव	
८—मूँग	७।।	७।।२	७।।२	७।।३
९—उडद	७।।२	७।।३	७।।५	७।।६
१०—पक्की चीनी	७३	७४	७३	७४
११—चीनी	७५	७६	७५	७६
१२—सालसाकर	७७	७८	७८	७९
१३—खाँड	७८	७९	०००	०००
१४—नमक	७६	७७	७५	७७
१५—मीठा तेल	७५।।	..	७६	७५
१६—कडवा तेल	७४।।	...	०००	०००
१७—घी	७२।।।	७३	७२।।	७२।।।
१८—गुड	७।४	७।६	७।४	७।६
			मखाना ७५	७६
			दूध दही ७।।।	७।।७

धान की फसल तो नष्ट हो गयी, लेकिन आगे पानी पडने से गेंहूँ चना इत्यादि हो जायगा"।

इस पत्र में भिकाजी अनत जो शायद वनारस में वाजीराव पेशवा द्वितीय के वकील थे लिखते हैं कि भोसले शिंदे और होल्कर के कारकुनो जैसा मान वनारस में उनका नही था और इसका कारण शिंदे इत्यादि का वनारस में प्रभाव था। उन्होंने वाजीराव पेशवा से यह भी प्रार्थना की कि अपने कलकत्ते के वकील को ताकीद करके उनका वनारस में मान वढाने के लिये प्रयत्न करें। वनारस और पूर्वीय उत्तर प्रदेश में इस वर्ष घटनाएँ घटी उनका भी कुछ वर्णन भिकाजी के पत्र में है। भाद्रपद में यहाँ दो तारे गिरे। वाज़ार में आग लग गयी और भूकम्प आ गया जो प्रयाग, लखनऊ, फर्रुखाबाद और जवलपुर तक घटी तक चलता रहा। काशी का एक पुराना मदिर गिर पडा और दो चार मकानो में दरारें पड गयी। लखनऊ के दस पाँच मकान गिर पडे और बहुतो में दरारें पड गयी। गगा के पानी में उछाल होने से जलचरो में हडवडाहट आ गयी। हाल में ही एक दूसरा तारा गिरा था। भिकाजी के इन उल्लेखो मे १८०३ के वनारस का पूरा नक्शा सामने खडा हो जाता है।

३. मर्दुमशुमारी

वनारस अपने हँसोड स्वभाव के लिये प्रसिद्ध है। इसका प्रभाव कभी कभी हम वनारस के तत्कालीन अग्रेज अफसरो के कारनामो में भी पाते हैं। वनारस के कलक्टर मि० डीन को वनारस की मर्दुमशुमारी की सूझी। पर यह काम कैसे होता था यह शायद

कान तो उन्हें मालूम था, न उनके मातहतो को। डीन साहब ने शहर कोतवाल जुल्फिकार अली खाँ को शहर की मर्दुमशुमारी करने की आज्ञा दे दी और इस बुद्धिमान कोतवाल ने आनन फानन में बनारस की आबादी का पता लगा दिया। लेकिन यह पता उसने बडे विचित्र तरह से लगाया। उसके अनुसार शहर में मकानो की सख्या उनतीस हजार नौ सौ पैंतीस थी और उसमें रहने वालो की सख्या पांच लाख बयासी हजार छह सौ पचीस। अब देखिये इस सख्या पर जुल्फिकार अली खाँ साहब किस तरह पहुँचे।

पक्के मकान	मकान	रहने वाले	सख्या
पहले दर्जे के एक मजिले मकान	५००	१५	७,५००
दूसरे दर्जे के दुतल्ले मकान	५,५००	२०	११,००००
तीसरे दर्जे के तितल्ले मकान	३,६००	२५	९०,०००
चौथे दर्जे के चौतल्ले मकान	१,५००	४०	६०,०००
पाचवे दर्जे के पाचतल्ले मकान	७५५	१००	७५,५००
छठवें दर्जे के छतल्ले मकान	३००	१५०	४५,०००
खपरैल दार कच्चे मकान			
पहले दर्जे के एकतल्ले मकान	१०,२००	७- १० औसत	९६,९००
दूसरे दर्जे के दुतल्ले मकान	६,०७६	१५	९१,१४०
कच्ची मडैयाँ	१,३२५	४	५,३००
इमारत के साथ बगीचे	७८	१०	७८०
खपरैली इमारत वाले	१०१	५	५०५
	२९९३५		५८२६२५

उपर्युक्त मर्दुमशुमारी लेने का नियम बहुत सरल था। जुल्फिक़ार अली खाँ साहब ने यह मान लिया कि अगर एक मजिले में पन्द्रह आदमी रहते हो तो हर बढ़ती मजिल में तीन मजिल तक पाँच आदमी जोड दिये जायें तो क्या बुरा है। पर चौथी मजिल से छह मजिली इमारतो के बारे में तो उनकी कल्पना काबू के बाहर हो गयी। चौमजिले की बस्ती उन्होने मानी ४०, पँचमजिले की १०० और छह मजिले की डेढ़ सौ! पर बनारस के मकानो का जाति और व्यवसायो के आधार विश्लेषण और भी विलक्षण कल्पना है। इस उडान की भी बानगी लीजिये—

१—मकान जिनमें सच्चरित्र हिन्दू और मुसलमान जो रईसो, विदेशी रियासतो, वकीलो, आमिलो तथा महक़मा माल, पेंशन इत्यादि में नौकर है, रहते है २५,००

२—हथियारबन्द सिपाहियो के, जिनमें राजपूत, ब्रजवासी और मुसलमान हैं, रहने के मकान २,०००

३—महाजनो और व्यापारियो की नौकरी करनेवाले हिन्दू और मुसलमान गुमाश्तो के मकान १५,००

४—स्वतत्रवृत्ति के धार्मिक भावना से बनारस में रहने वाले हिंदुओ के मकान २,०००

५—दान दक्षिणा पर निर्वाह करने वाले ब्राह्मणो के मकान	७५,००
६—हिंदू मुसलमान चोवदारो, खिदमतगारो, फीलवानो, ऊँटवानो, गाडीवानो घोडा सिखानेवालो, सईसो, घसियारो और मशालचियो के मकान	२५,००
७—हिंदू माझियो और दाँडियो के मकान	३०७
८—हकीम और वैद्य	११०
९—कहार	५०६
१०—हिन्दू और मुसलमान नाई	३८५
११—धोबी	५१८
१२—मुसलमान ताशा बजाने वाले, मृत शरीर धोने वाले तथा मस्जिद में झाड़ू देने वाले	७०
१३—भाट, रडी, भडुएँ और नर्तकियाँ	२८०
१४—हिंदू विद्यार्थी, मुसलमान और हिन्दू फकीर	२५०

व्यापारी, दूकानदार, फुटकरिये कारीगर, मजदूर

१—महाजन और सर्राफ़	८२०.
२—हिन्दू जौहरी	१५०
३—हिन्दू गोसाइँ व्यापारी	५००
४—मुसलमान बिसाती	१७०
५—मुसलमान जुलाहे और कालीन बुनने वाले	३०३०
६—किखाव, पोत, किनारी और रेशमी कपडे बुनने वाले राजपूत जुलाहे	५८०
७—हिन्दू पसारी	३६०
८—दलाल, फुटकर कपडे वाले, फेरी वाले	१०५५
९—राजपूत गल्ला बेचने वाले	१८८०
१०—हिंदू हलवाई	५००
११—तमोली	५००
१२—सोनार	५६४
१३—रगरेज, खरादिये, सटकसाज-हिन्दू और मुसलमान	१५७
१४—तबाकू बेचने वाले हिन्दू और मुसलमान	६००
१५—दरजी और रफूगर-हिन्दू और मुसलमान	३५८
१६—कलईगर और मुलमची-हिन्दू और मुसलमान	२५
१७—हिन्दू और मुस्लिम लखेरे	७३
१८—पटवे	२५६
१९—ईंटा बनाने वाले और और चूना फूकने वाले, कुम्हार हिन्दू मुसलमान	८३५
२०—तमाम तरह के मजदूर खास करके राजपूत	१,२००
२१—कसाई, मुर्गी बेचने वाले, बहेलिये, धीवर-हिन्दू और मुसलमान	२८३
२२—नानबाई	२४३
२३—भाँग और शराब बेचने वाले कलवार	८६

२४—कागज और पत्रा बेचनेवाले	३२
२५—जूतो पर कारचोबी का काम बनाने वाले	१५०
२६—डोम, चमार और मेहतर	६१६
	३८९४३

जुल्फिकार अली ने कुछ बाशिंदो की तालिकाएँ भी दी है पर सामाजिक दृष्टि से उनकी उपयोगिता सदेहात्मक होने से उनकी गिनती मरदुमशुमारी मे नही की गयी है।

पहली तालिका में बनारस में समय बिताने वाले शाहजादो, राजाओ इत्यादि के नौकरो इत्यादि की सख्याएँ है। यथा—

१—खुर्रमबेग के आश्रित और परिवार वाले	१,०००
२—शिगुपताबेग के आश्रित और परिवार वाले	३००
३—बेगम इचौनाबारी के आश्रित और परिवार वाले	१२५
४—नवाब दिल्दिलेर खाँ के आश्रित और परिवार वाले	१००
५—राजा रायपाल के आश्रित और परिवार वाले	१,०००
६—शहर में रहने वाले राजा उदितनारायन के आश्रित	१,०००
७—गुलाम महम्मद खाँ की स्त्री के आश्रित	१५०
	३, ०७५

दूसरी तालिका तो बडी ही मजेदार है। इसमें बनारस के उन पेशेवार बदमाशो की सख्याएँ दी हुई है जिन्होने शहर को बदनाम करने में अपने भरसक कोई बात नही छोडी थी। जुल्फिकार अली के मुँह से अब उनकी सख्याएँ सुनिये —

१—वे जालिये्जो केवल जाल बनाकर अपना जीवन यापन करते थे।	४०
२—झूठी गवाही देकर जीविका पैदा करने वाले	४००
३—चोरी का माल लेने वाले	५०
४—केवल चोरी पर जीविका चलाने वाले	२००
५—पक्के जुआडी	४०
६—अदालत से चोरी के लिये सजा पाकर छूटने के बाद पुन शहर में बसने वाले	१००
७—गुडे जिनकी जीविका साधन जालसाजी मारपीट इत्यादि था	२००
	१०,३०

हम उपर्युक्त तालिकाओ से देख सकते है कि मर्दुमशुमारी से तो उनका अधिक मतलब नही है पर उनसे १८ वी सदी में बनारस का सामाजिक स्थिति पर अच्छा प्रकाश पडता है। समाज में रईसो इत्यादि की नौकरी करने वालो की अच्छी सख्या थी। महाजनो के गुमाश्तो की भरमार थी। हथियारबद सिपाहियो में राजपूत, ब्रिजवासी, और मुसलमान होते थे। हिन्दू मुसलमान चोबदारो, खिदमतगारो, फीलवानो, ऊँटवालो, गाडीवानो, साईसो, घसियारो और मशालचियो की अच्छी सख्या थी। नाई, धोबी, कहार,

भी शहर की जरूरत के लिये वसते थे। काशीवास करने वालो, ब्राह्मणो और विद्यार्थियो की तो काफी सख्या थी। शहर के लोगो की तफरीह के लिए ताशा वजाने वाले, रडी, भाँड-भँडुओ इत्यादि का भी अच्छा जमघट था। हिंदू और मुसलमान फकीरो का तो कहना ही क्या था। वनारस तो उनका स्वर्ग था और कुछ हद तक आज भी वना है।

वनारस के रोजगारियो में महाजन, सर्राफ, जौहरी, गोसाँई व्यापारी तथा कपडे के थोक और फुटकरिये व्यापारी थे। विसाती, पसारी, हलवाई, तमोली, सोनार, रगरेज, सटकसाज, तवाकूफरोश, दरजी, रफूगर, मोलमची, लखेरे, गल्ला वचने वाले, पटवे, कसाई, वहेलिये, धीवर, नानवाई, कलवार, कागजी, मोची इत्यादि पेशेवर थे। किखाव वुनने वाले जुलाहो की काफी अच्छी सख्या थी।

वनारस के समाज में जालियो, झूठी गवाही देनेवालो, चोरो, जुआडियो और गुण्डों की भी काफी सख्या थी।

४. १८०९ ईस्वी का हिंदू मुस्लिम दंगा

वजीर अली की घटना के वाद वनारस में १८०९ तक कोई राजनीतिक घटना नही हुई पर १८०९ में यहाँ के हिंदू मुसलमानो का भयकर दगा हुवा जिससे नगर का जीवन वहुत कुछ अस्तव्यस्त हो गया। दगे का वर्णन तत्कालीन मजिस्ट्रेट मि० वर्ड ने विशप हेवर मे किया। लडाई की जड ज्ञानवापी की मस्जिद थी जिसको लेकर हिन्दू मुसलमानो में वरावर वैमनस्य चला आता था जो एकाएक १८०९ में तूफान की तरह फूट निकला। एक तरफ तो दो भाइयो अर्थात् दोस्त मुहम्मद और फतह मुहम्मद के नेतृत्व में जुलाहे और नीच दर्जे के मुसलमान थे और दूसरी तरफ़ अधिकतर राजपूत। झगडा इस वात पर उठा कि हिन्दू ज्ञानवापी और विश्वनाथ के मदिर के वीच पडने वाली जमीन पर जिस पर किसी फरीक का कब्जा नही था एक इमारत उठा रहे थे। फिर क्या था जुलाहो ने हनुमान का अववना मदिर गिरा दिया और जोश में हिन्दुओ के पवित्र स्थानो को अपवित्र करने लगे। दूसरे दिन ज्ञानवापी पर हिंदुओ की भीड इकट्ठी होने लगी पर वनारस के स्थानापन्न मजिस्ट्रेट डब्लू डब्लू वर्ड के समझाने से भीड छँट गयी लेकिन झगडा वढने के अन्देशे से वर्ड ने सिपाहियो की दो कम्पनियाँ मसजिदो की रक्षा के लिये वुलवा लिया। उसके थोडी ही देर वाद जुलाहो ने विश्वनाथ के मन्दिर को लूटने का प्रयत्न किया। खवर विजली तरह शहर में फैल गयी और हिन्दू तुरत वदला लेने के लिये तैयार हो गये। दोनो दलो में डट कर गायघाट पर लडाई हुई जिसमें मुसलमानो को अपने अस्सी आदमियो को खोकर भागना पडा। इसी वीच में विश्वनाथ के मन्दिर के पास दूसरा वलवा भडक उठा। पर वर्ड ने सिपाहियो की मदद से उसे शात कर दिया। पर मुसलमान शात होने वाले न थे। उन्होने लाट भैरो के मन्दिर पर हमला करके लाट तोड डाली और मदिर को अपवित्र करने के लिये वहाँ एक गाय की हत्या कर डाली,

---

[1] विशप हेवर, इडियन जर्नल, नेरेटिव ऑफ एजर्नी थ्रू दि अपर प्राविसेज ऑफ इडिया १८२४-२५, पृ० १८४-१८५, लडन १८६१, गजेटियर, पृ० २०७-२०९

फिर इसके बाद तितर बितर हो गये। वर्ड को जैसे ही इस बात का पता लगा वे वहाँ पहुँचे और उस जगह सिपाहियो को तैनात कर दिया पर बलवे की आग अब पूरी तरह से भैडक उठी थी। अंग्रेजो को सिपाहियो की राजभक्ति पर इसलिए विश्वास नही था कि वे अधिकतर हिंदू थे। हिंदू भीड के आगे आगे चलने वाले योगी और सन्यासी इन सिपाहियो को गाली देते थे और उन्हें अपने भाइयो से लडने के लिये कोसते थे। इतना सब होते हुए भी सिपाही अपने कर्त्तव्य से च्युत नही हुए और बराबर समानभाव से मदिरो और मसजिदो की रक्षा करते रहे। इनकी बहादुरी से बनारस पूर्णत नष्ट होने से बच गया।

बिशप हेबर न अपने यात्राविवरण में इन लाट भैरो पर स्थित हिंदू सिपाहियो की बातचीत उद्धृत की है। उनसे यह भी पता लगता है कि लाट भैरो और औरगजेब की बनाई मस्जिद के बीच में खडा एक स्तभ था, जिसकी हिंदू इस शर्त पर पूजा करते थे कि चढावे की रक़म वे आधा मुसलमानो को दे देंगे। यह स्तभ चालीस फुट ऊँचा था और नीचे से ऊपर तक मूर्तियो से ढँका था। स्तभ के बारे में हिंदुओ में एक अनुश्रुति थी कि वह धीरे धीरे धँस रहा था। पहले जमाने में वह तब से दूना ऊँचा था। विश्वास यह था कि जिस दिन स्तभ की चोटी जमीन के बराबर आ जायगी उसी दिन सब जातियाँ एक हो जायगी और सनातन धर्म का अत हो जायगा। दो ब्राह्मण सिपाही मस्जिद पर पहरा दे रहे थे और उनके सामने टूटा हुआ स्तभ पडा था। एक सिपाही ने कहा, "ओह, हम वह दृश्य देख रहे हैं जिसे देखने की हमने कभी आशा नही थी। शिव का दण्ड जमीन के बराबर आ गया है इसलिये थोडे ही समय में हम एक जाति के हो जायँगे फिर हमारे धर्म क्या होगा?" दूसरे सिपाही ने उत्तर दिया, "शायद ईसाई"। पहले ने कहा, "मैं भी यही सोचता हूँ क्योकि जो कुछ हो चुका है इसके बाद तो हम मुसलमान होने से रहे।"

मुसलमानो के लाट तोडने के बाद हिंदुओ की कटुता बहुत बढ गयी। दूसरे दिन करीब दोपहर के हजारो हथियारबद राजपूत और गोसाईं लाट भैरो के पास पहुँचे और मस्जिद जला कर पडोस में जो कोई मुसलमान मिला उसे खतम कर दिया। पूरे शहर में आग लग रही थी और लूट और माराकाटी का बाजार गर्म था। कही इसमें सिपाही भी न शामिल हो जायँ इसके लिये वर्ड ने शहर से सिपाहियो को हटा दिया। इसके बाद वर्ड ने राजपूतो को दगा बढाने से रोकना चाहा और कुछ समय तक वे इसमें सफल भी रहे लेकिन उनके जाने के बाद वे फातमान की दरगाह और पिशाचमोचन के पास जवाँ बख्त की क़ब्रगाह की ओर बढे। जैसे ही वर्ड ने यह समाचार सुना वे भीड के पीछे पीछे चले और उस पर गोली चलाने की आज्ञा दी जिससे भीड का अगुवा एक राजपूत जमीन पर गिर पडा और गुस्से में भीड बदला लेने पर तैयार हो गयी। भाग्यवश उसी समय सहायता के लिये और भी सिपाही आ गये जिन्हें देखकर बलवाई हट गये। रक्षा के लिये कुछ सिपाहियो को वहाँ छोडकर वर्ड ने बाकी सिपाहियो को दो दस्तो से शहर की ओर बढने को कहा। पूरे शहर में आग लगी हुई थी, कई बाजार जल रहे थे और जुलाहो के मुहल्ले पर हिंदुओ के हमले के चिह्न स्पष्ट दीख पडते थे। शहर में तब तक शांति नही स्थापित हुई जब तक पचासो मस्जिदें ढहा नही दी गयी और कई सौ आदमी मर नही गये।

दगा समाप्त हो जाने के बाद बनारस में एक विचित्र ही दृश्य दीख पड़ा। लोगों में शोर मच गया कि गोरक्त से गंगा अपवित्र हो चुकी थी और इसलिये अब बनारस में मुक्ति मिलती असभव थी। बनारस के सब ब्राह्मण घाटो पर अनशन कर के बैठ गये पर बिचारे दाना पानी के बिना कब तक रहते। उनके समर्थक-मजिस्ट्रेट और दूसरे सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओ के पास इस आशय का प्रस्ताव लेकर पहुँचे कि अगर वे ब्राह्मणों के पास जाकर बीती घटना पर दुःख प्रदर्शित करें और सहानुभूति दिखलावें तो स्यापा देने वाले शायद उनकी बात मानकर अनशन तोड दें। मि० बर्ड तो इस बखेडे का अंत चाहते ही थे वे दूसरे अंग्रेज अधिकारियो के साथ बनारस के मुख्य मुख्य घाटो पर पहुँचे और उपवास करने वालो से अपनी सहानुभूति प्रकट की। लोग उनकी बात मान गये और बहुत रोन कलपने के बाद इस निश्चय पर पहुँचे कि गगा तो गगा ही थीं और वे बनारस के हिंदुओ की निरतर पूजा के बाद पुन हिन्दू धर्म के उस धब्बे को धोने में समर्थ थीं, और इसीलिये बनारस के न्यायाधीशो की बात में तथ्य था।

५. १८१० मे गृहकर के लिए झगड़ा

जैस हम पहले देख आये है बनारसियो ने अंग्रेजी हुकूमत सहज ही में नहीं स्वीकार की। उन्हें जब मौका मिलता था अपना रो प्रदर्शन में कोई कोर कसर नहीं उठा रखते थे। ऐसे ही रोष प्रदर्शन का समय १८१० ईस्वी में उपस्थित हुआ जब अंग्रेज सरकार ने बनारस के रहने वालो पर गृहकर लगाने का निश्चय किया। इस सम्बन्ध में हम यह बतला देना चाहते है कि यह बनारस का सर्वप्रथम सत्याग्रह या धरना था। यह घटना ब्राह्मणो द्वारा उपवास करके अथवा जान देने की धमकी देकर अपनी बात मनवाने के लिये किया जाता था। ब्राह्मण अपनी पवित्रता का इसमें पूरा-पूरा लाभ उठाते थे क्योंकि हिन्दुओ का पूर्ण विश्वास था कि ब्रह्महत्या से बढकर कोई पाप नहीं है। डकन के अनुसार[1] बनारस में ब्राह्मण अपनी उन बातो को मनवाने के लिये धरना देते थे जिन्हें वे किसी दूसरे प्रकार से पूरी नही कर पाते थे। धरना देने के लिये ब्राह्मण विष अथवा छुरा लेकर किसी के दरवाजे पर बैठ जाते थे और उसको इस बात की धमकी देकर कि उसके घर के बाहर निकलने पर वे आत्महत्या कर लेंगे, उसे बाहर नहीं निकलने देते थे। इस अवस्था में धरना देनेवाला अन्न ग्रहण नही करता था और जिसके विरुद्ध धरना दिया जाता था उसको भी जबर्दस्ती तब तक व्रत करना पडता था जब तक कि मामला तय न हो जाय। बनारस में १७८१ में अदालत कायम होने के बाद से यह प्रथा बहुत कुछ समाप्त हो गयी थी फिर भी यदा कदा लोग धरना दे ही बैठते थे।

१८१० में अंग्रेजी सरकार ने बनारस में गृहकर लगाने का निश्चय किया। इस नये कर का लोगो ने घोर विरोध करने का निश्चय किया। विशप हेबर ने इस आन्दोलन का सुन्दर वर्णन किया है।[2] उनका कहना है कि बनारस वासियो ने इसलिए भी इस कर पर एतराज़ किया कि वे मुग़लो की तरह अंग्रेजो को भी लगान, चुगी और जकात देते थे

[1] एशियाटिक रिसर्चेज, भाग ४ पृ० ३३१ से

[2] हेबर, उल्लिखित, पृ० १८४–१८६

लेकिन उनके बाप दादो ने भी 'गृहकर' का नाम नही सुना था। अगर इसी तरह अंग्रेजो की मनमानी चलती रही तो वे भविष्य में बच्चो पर भी कर वसूलने लगेंगे। बनारस के नागरिको के इन एतराजो का बनारस के अंग्रेज अफसरो ने भी समर्थन किया लेकिन कम्पनी सरकार पर इसका कोई प्रभाव नही पडा। अन्त में कोई चारा न देखकर बनारस के लोगो ने तबतक के लिये सामूहिक रूप से धरना देने का निश्चय किया जबतक कि कर हटाया न जाय। इसके लिये बनारस में बडी तैयारियाँ की गयी। वहाँ के पडितो ने सस्कृत कालेज के पास के मुहल्लो और गावो में हाथ से लिखी नोटिसें बँटवाई जिनमें लोगों को अपनी सस्कृति और देश की रक्षा के लिये धरना देने के लिये ललकारा गया था और शपथ दिलाकर उनको आदेश दिया गया था कि वे इन नोटिसो को अपने पडोसियो को दे दें। इसके पेश्तर कि सरकार लोगो की बन्दिश से आगाह हो सके बनारस के तीन लाख आदमियो ने अपना सब काम काज बन्दकर दिया, आग न जलाने की शपथ खाई तथा फौरन बिना खाये पीये मुँह लटका कर मैदानो में बैठ गये।

बनारस के लोगो की यह हरकत देखकर नगर के सरकारी कर्मचारी बडे पशोपेश में पड गये, क्योकि बिना खाये पीये धरना देने में लोगो के मरने की आशका थी तथा खेती का काम बन्द होने से दुर्भिक्ष पडने की। किसी तरह की जोर जबरदस्ती करने से स्थिति के और बिगडने की आशका थी। नेताओ को समझाने और काम पडने पर थोडी फौज तयार रखने के सिवा बनारस के अफसर कर ही क्या सकते थे। पर धीरे-धीरे सत्याग्रहियो को भूख सताने लगी और ऊपर से जाडे और बरसात की मुसीबत आ पडी। कुछ लोगो ने धरना छोड कर गवर्नर जनरल के पास दस हजार आदमियो को डेपुटेशन में भेजने का प्रस्ताव रखा। लोगो न इसे मान तो लिया पर अब सवाल यह उठा कि उसका खर्च कौन उठावेगा। बनारस के एक प्रसिद्ध पडित जी ने गृहकर लगाने के समर्थन मे सुझाव रखा पर लोग जिस कर के लिये लड रहे थे, उसे भला कैसे मानते। अब धीरे-धीरे भीड खिसकने लगी लेकिन कुछ लोग तो इस बात पर डटे रहे कि भीड का हर आदमी अपने खर्च से गवर्नर जनरल के पास जाय। तीन दिन बाद करीब २०-३० हजार आदमी सीधा सामान से लैस होकर कलकत्ते की ओर चल निकले पर रास्ते में सब की हिम्मत पस्त हो गयी और सब लोग बनारस वापस लौट आये। बाद में यह कर भी उठा लिया गया।

इस घटना का विवरण सरकारी कागजातो के आधार पर निम्नलिखित है—

सरकार के पर्शियन सेक्रेटरी जॉन माक्टन ने १० जनवरी १८११ के एक पत्र (बनारस अफेयर्स भाग २, पृ० १४३–१४४) में राजा बनारस को सूचित किया कि बनारस के बाशिंदो ने नगर की दूकानो और घरो पर एक मामूली सा कर लगने के विरोध में झमेला खडा कर दिया था और सरकार की न्यायप्रियता और प्रजापरस्ती का जरा सा भी ख्याल नही किया। सरकार ने शासन पत्र निकाल कर बलवाइयो को सावधान कर दिया था कि उन्हें अपनी करनी पर गहरा दड भोगना पडेगा। सेक्रेटरी ने राजा से प्रार्थना की थी वे अपने प्रभाव का उपयोग करके बलवाइयो को दबाने में वैसी ही मदद करें जैसी कि हिंदू-मुस्लिम दगे के समय उन्होने की थी। बनारस के एक्टिग मेजिस्ट्रेट डब्लू० डब्लू० बर्ड के २० जनवरी १८११ के

एक पत्र से पता चलता है कि बलवा शांत नहीं हुआ था तथा कर के विरुद्ध इश्तिहारबाज़ी जोरों से चल रही थी। इसे रोकने के लिये जिनके पास इश्तिहार पाया जाय उनमें से हर एक की गिरफ़्तारी के लिए ५०० रु० का इनाम रखा गया। दंगे फसाद की वजह से कर की दर की तश्ख़ीश का काम भी रुक गया था। मि० बर्ड ने यह सलाह भी दी कि दंगा रोकने के लिये अधिक फौज भेजी जाय (वही, पृ० १४४-१४५)। बर्ड के २८ जनवरी १८११ के पत्र से (वही, पृ० १४५-१५०) इन दंगों पर कुछ और अधिक प्रकाश पड़ता है। बर्ड ने लिखा कि बलवाई खुले आम हुक्मउदूली कर रहे थे और अपनी बात मनवाने पर तुले हुए थे। बलवाइयों का यह भी इरादा था कि वे इकट्ठे अपनी फ़रियाद लेकर कलकत्ते जायँ और जिन नगरों में यह गृह कर लगा था वहाँ के लोगों को भी अपने साथ ले लें।' जब उन्हें पता चला कि कलकत्ता जाने की धमकी कारगर नहीं हुई तो उन्होंने यह निश्चय किया कि हर घर के मालिक या उनके प्रतिनिधि कलकत्ता जायँ और यदि यह संभव न हो तो वहाँ जाने वालों का वे खर्च बर्दाश्त करें। धार्मिक संस्थाओं ने भी ऐसा करने के लिये उभारा पर जब जाने की बात आयी तब रास्ते की कठिनाइयों और रोकथाम से डर कर कुछ ही लोग तैयार हुए। अब उन लोगों ने प्रादेशिक न्यायाधीशों को अर्ज़ी दी जो नामंजूर कर दी गयी। इससे बहुतों का उत्साह ठंडा पड़ गया और वे इस विचित्र परिस्थिति से बाहर निकलने की कोशिश करने लगे। लोगों को समझाने बुझाने में सैय्यद अकबर अली खाँ मौलवी अब्दुल कादिर और अमृत राव का विशेष हाथ था। अब सत्याग्रही इस बात के लिये तैयार हो गये कि अगर बर्ड स्वयं उनसे मिलें तो वे मामला समाप्त कर देंगे, पर बर्ड इस बात के लिये राज़ी नहीं हुये। इसी बीच मि० ब्रुक बनारस वापस आ गये तथा उन्होंने राजा बनारस को बनारस शहर में आकर बनारस के लोगों को डाटने फटकारने और समझाने बुझाने को राज़ी कर लिया। बड़ी शानशौकत से राजा की सवारी वहाँ पहुँची जहाँ लोग इकट्ठे थे। उन्होंने भीड़ को समझाया और लोग अपने अपने घर लौट गये। राजा ने बर्ड से उन्हें माफ़ी देने को कहा। शांति होते ही गृह कर लग गया पर लोग उससे बड़े ही असंतुष्ट थे। बर्ड की राय थी कि अगर फाटकबंदी कर का मुआवज़ा देकर गृह कर वसूला जाय तो लोग संतुष्ट हो जायँगे। गुनहगारों को माफ़ कर देने की भी बर्ड ने सिफारिश की। पत्र के साथ ही उसने बनारस के लोगों की एक दरख्वास्त भी भेज दी। दरख्वास्त में (वही, पृ० १५१ से) कहा गया था कि बनारस के नागरिक १४ जनवरी १८११ के इस हुक्म से आश्चर्य में आ गये थे कि बनारस में गृहकर रुक नहीं सकता था। उनकी राय थी कि अगर उनकी अर्ज़ी पर ठीक तरह से विचार किया जाता तो ठीक होता। पहली बात तो यह थी कि १७९६ के रेगुलेशन ६ में यह बात दर्ज थी कि टैक्स तरद्दुददेह होने से उठा लिया जाय, इसलिए इस टैक्स का फिर से लगाया जाना अन्याय था। फिर यह भी ध्यान देने योग्य बात थी कि सरकारी राज्य के विस्तार होने तथा आमदनी बढ़ने पर भी बनारस में टैक्स बढ़ने से लोगों पर मुसीबत आ पड़ी थी। पहले के बादशाह भी घर पर कर नहीं लगाते थे इसलिये यह टैक्स लगाना ग़ैरक़ानूनी था। कम्पनी की छत्रछाया में बनारस में सभी धर्मों के लोग रहते थे जिससे नागरिकों का फायदा होता था। टैक्स लगने पर इनके बनारस छोड़ देने की संभावना थी। स्टाम्प ड्यूटी, कोर्ट फ़ी तथा आयात निर्यात

चुगी सबको देनी पडती थी जिससे लोग तग आ गये थे। इन करो की वजह से भी पिछले दस वर्षो में वस्तुओ के दाम सोलहगुना बढ गये थे और लोगो का जीना दुर्लभ हो गया था। ऐसा पता चलता है कि गृहकर का प्रयोजन पुलिस खर्च के लिये था पर बिहार और बगाल में यह खर्च स्टाप तथा दूसरे करो से चलाया जाता था तथा बनारस में मालगुजारी से, फिर गृहकर की आयोजना किस आधार पर की गयी थी। शास्त्रो के अनुसार बनारस की पचक्रोशी पवित्र थी। रेगुलेशन १५ के अनुसार पूजा के स्थान कर से वर्जित थे। बनारस में करीब ५०,००० घर थे जिनमें मदिर मस्जिद तथा वक्फ की जायदाद भी आ जाती थी। घरो पर कर लग जाने पर भी आमदनी से केवल फाटकबदी का खर्च ही वसूल हो सकेगा और वह भी लोगो को तकलीफ देकर। बनारस के बहुत से घर वाले ऐसे थे जो न तो अपने घरो की मरम्मत करवा सकते थे न उनके गिरने पर उनको बनवा ही सकते थे ऐसे लोगो के लिये गृहकर देना असभव था। तहसीलदारी उठ जाने पर लाखो की जीविका चली गयी थी, इसलिये अर्जीदारो की प्रार्थना थी कि कर न लगे।

इस दरख्वास्त की नामजूरी तो पहले ही हो चुकी थी पर बर्ड ने इसे फिर से गवर्नर जनरल के पास सिफारिश के साथ भेज दिया कि कर नया होने से लोगो को उससे भय था। बनारस के मेजिस्ट्रेट ई वाटसन ने २२ फरवरी को राजा बनारस तथा बनारस के माननीय नागरिको के सामने दरख्वास्त पर गवर्नर जनरल का फैसला सुना दिया (वही, पृ० १५९ से) जिसके अनुसार गृहकर की वसूली में कुछ सुविधाएँ दी गयी। कलेक्टर को यह हुक्म दिया गया कि वे मदिरो मस्जिदो तथा उनकी जायदाद पर कर न लगावें तथा ऐसी जायदादो की फिहरिस्त तैयार हो। मामूली हैसियत पर कर न लगे। ५ जनवरी १८११ को सरकार ने एलान किया था कि बनारस के नागरिको पर से फाटकबदी, चौकीदारी और फाटको की मरम्मत का खर्च उठा लिया जाय और खर्च की जिम्मेदारी सरकारी खज़ाने की हो। सरकार को यह सलाह दी गयी थी कि अगर फाटकबदी का खर्च खज़ाने से न किया जा कर गृहकर से काट लिया जाय तथा फाटकबदी की रक़म लोग सीधे मुहल्लेदारो के मार्फत सरकार को दे दें तो लोगो को सहूलियत पडेगी पर सरकार के अनुसार इसका ५ जनवरी के हुक्म से कोई सबन्ध नही था। इस हुक्म के बाद मामला रफ़ा दफ़ा हो गया तथा इस मामले को निपटाने में मदद करने के लिये सरकार ने राजा उदितनारायण सिंह, बाबू शिवनारायण सिंह, सैय्यद अकबर अली खाँ, अब्दुल कादिर अली खाँ तथा बाबू जमनादास को खिल्लतें बख्शी।

६ चेत सिंह का मामला

चेत सिंह के ग्वालियर भाग जाने पर उनका सम्बन्ध बनारस से प्राय विच्छेद सा हो गया। गवर्नर जनरल के एजेंट डब्लू० ए० ब्रुक के ३० अप्रैल १८११ के एक पत्र से पता चलता है कि राजा चेत सिंह की मृत्यु के बाद उनकी रानी के भाई शिवप्रसन्न सिंह ने उनसे मिलकर बतलाया राजा और उनके पुत्र बलवन्त सिंह चेत सिंह की अस्थि के साथ विंध्याचल में थे और उनके साथ एक हज़ार आदमी होने की बात उनके दुश्मनो ने उडा दी थी। इस पर एजेंट ने उनसे कहा कि मुण्डन के बाद ही रानी और बलवन्त को वापिस लौट जाना चाहिये। शिवप्रसन्न सिंह को इससे बडी निराशा हुई। उन्होने कहा कि

उन्हें तो मि० मर्सर द्वारा चेत सिंह को लिखे एक पत्र से आशा की कि वलवन्त सिंह को सरकार जागीर देगी और उन्हें सूबे में रहने की आज्ञा (वनारस अफेयर्स, भाग २, पृ० ३ से इलाहावाद १९५९)। ब्रुक को यह भी पता चला कि पडितो की सलाह थी कि चेतसिंह का श्राद्ध एक साल वाद हो पर वे इस वात के लिए उत्सुक थे कि जैसे भी हो रानी वापिस लौट जायँ। गवर्नर जनरल के पास उन्होने रानी की अर्जी भी भेज दी। इसके वाद ब्रुक के कई पत्रो से पता चलता है उसने मिर्जापुर से मेजिस्ट्रेट को इस वात की हिदायत की कि चेत सिंह की रानी को ग्वालियर वापिस भेजने की कोशिश करे। रानी के दो विश्वासी सेवको यथा रहीम अली और सदाशिव पण्डित से ब्रुक ने कहा कि वे रानी को लौट जाने को कहें पर नतीजा कुछ न निकला। रानी ने तो अपना वाकी जीवन तो वनारस में विताने का सकल्प कर लिया था (वही, पृ० ९)। ब्रुक की कोशिश चलती रही पर रानी टस से मस न हुई। ब्रुक ने तो यहाँ तक धमकी दी कि यदि रानी हुक्म उदूली करेगी तो वह जवर्दस्ती मिर्जापुर से हटा दी जायगी। खत कितावत चलती ही रही। अत में रानी ने इलाहावाद में कुछ दिन रहना स्वीकार लिया तथा कपनी सरकार ने उसके खर्च-वर्च का वन्दोवस्त कर दिया। वाद में वह अपने परिवार सहित आगरा चली गयी। झगडे-झझट से वचने के लिए रानी द्वारा मिर्जापुर में किया गया कर्ज भी चुका दिया गया। १८२१ और १८५२ के वीच चेतसिंह के पुत्र वलवन्त सिंह ने आगरा से वनारस आने के लिये कई वार दरख्वास्तें दी पर वे वरावर नामजूर होती रही।

७. १८१४ मे लॉर्ड हेस्टिंग्स का वनारस आगमन

१८०९ और १८१० की घटनाओ के वाद वनारस का जीवन किसी परिवर्तन के विना पूर्ववत् चलता रहा। १८१४ में यहाँ मार्क्विस ऑफ हेस्टिंग्स आये और उनके स्वागत के लिये वनारसियो ने जोरदार तैयारी की जैसा कि गवर्नर जनरल की डायरी से पता लगता है।[१] हेस्टिंग्स वनारस शहर में २६ अगस्त को दाखिल हुए। वहाँ उनका अग्रेजी कर्मचारियो ने स्वागत किया तथा उनके आगमन में २७ अगस्त को शहर में खूव रोशनी हुई। अपनी डायरी में लॉर्ड हेस्टिंग्स कहते है कि वनारसियो से जिन्हें अग्रेज फूटी नजर भी नही सोहाते थे उन्हें इस तरह के स्वागत की आशा नही थी। जव वनारस के रईसो को लॉर्ड हेस्टिंग्स ने मि० ब्रुक की मार्फत धन्यवाद भेजा तो उन्होने हँसकर कह दिया कि उनका स्वागत करने का अपना ढग था। ३० अगस्त को गवर्नर जनरल मिर्जा जवाँ वख्त के पुत्र खुर्रमवेग और अली क़ादिर तथा मिर्जा शिगुफ़्ता वेग के लडके जलालुद्दीन, सलीमुद्दीन और महमूदवख्त से मुलाकात की।

३१ अगस्त को अमृत राव अपने पुत्र विनायक राव के साथ वडी सज धज से गवर्नर की मुलाकात के लिये आये। वाग के फाटक पर से वे पालकी पर चढकर भीतर गये। वहाँ हेस्टिंग्स ने उनका स्वागत किया।

अमृतराव पेशवा को राघोवा दादा ने १७६८ में दत्तक लिया था। माधव राव की मृत्यु के वाद १७९५ में वे शिवनेरी के क़िले से वाजीराव द्वितीय के साथ वधनमुक्त

[१] दी प्राइवेट जर्नल ऑफ दी मार्क्विस ऑफ हेस्टिंग्स, ब्यू की मार्शियोनेस द्वारा सपादित, अलाहावाद १९०७ ६६–७३

किये गये और पूना आगये। यहाँ इनके विरुद्ध षड्यन्त्र रचा गया पर बाजी राव ने उन्हें कैद करना नामजूर कर दिया।[1] वेलेज्ली ने उन्हें सात लाख सालाना पेंशन देना मजूर किया और यह भी स्वीकार किया जहाँ भी वे अपना पडाव डालें उसके अदर उनके मातहतों पर उनका पूरा अधिकार होगा। १८०३ में बनारस के पास उन्होंने अपना डेरा डाला पर उनके साथियो में धीरे धीरे लोग खिसकने लगे थे। १८१४ में तो उनके नौकरो और साथियो में कुल पाँच हजार आदमी बच गये थे। अमृत राव कट्टर ब्राह्मण थे। लॉर्ड हेस्टिंग्स ने अपनी डायरी में लिखा है कि एक साँड पर अपने बचाव के लिए वार करने पर उन्होंने अपने एक नौकर का हाथ कटवा डाला था। अमृतराव के घर लेडी हेस्टिंग्स उनकी स्त्री से मिली। उन्हें हाथी, घोडे और जवाहरात भेंट किये गये पर हेस्टिंग्स ने केवल एक पेंची स्वीकार की।

बिशप हेबर ने[2] अमृत राव के बारे में लिखा है वे बडे भारी दानी थे। अपनी जन्मतिथि के रोज वे हर ब्राह्मण और भिखमगे को एक सेर चावल और एक रुपया देते थे। इनके शहर के पास चार फाटक वाले मकान का वर्णन करते हुए हेबर लिखते हैं कि तीन फाटक तो याचको और मुलाकातियो के लिए खुले रहते थे पर चौथा फाटक केवल पेशवा और उनके नौकर चाकरो के लिये आने जाने का था। दान लेने के बाद हर याचक को इसलिए दिन भर बगीचे में ठहरना पडता था कि कही वह दूसरी बार दान न वसूल कर ले। ऐसे मौके पर कभी कभी पचास हजार रुपये तक बँट जाते थे। अमृत राव साल में औसतन डेढ़ लाख दान करते थे। १८२४ में इनकी मृत्यु हो गयी और इनके पुत्र विनायक राव ने १८२९ में बनारस छोड दिया।

पहली सितबर १८१४ को लॉर्ड हेस्टिंग्स ने दरबार किया जिसमें बनारस के नागरिक उपस्थित थे। महाराजा बनारस ने नजर दी और उसके बदले में उन्हें खिल्लत दी गयी। बाबू शिवनारायण सिंह और राजा खिल्लत पहन कर सामने आये तब उन्हें ढाल तलवार और मोती के हार भेंट किये गये। उन्होंने जो कीमती उपहार दिये, वे कपनी के खाते में जमाकर लिये गये। २ सितबर १८१४ को बनारस के पडितो ने लार्ड हेस्टिंग्स को औरंगजेब का फरमान दिखलाया और उन्हें विचित्र भाँति का ऐतिहासिक काव्य भेंट दिया। इसके बाद कालेज के लडको ने विविध विद्याओ में अपनी दक्षता का प्रदर्शन किया। पहले दो विद्यार्थियो ने व्याकरण पर शास्त्रार्थ किया। इसके बाद एक विद्यार्थी ने आयुर्वेद से पाठ किया। बाद में स्मृतियो से पाठ हुआ और अत में धर्मशास्त्रो से। लार्ड हेस्टिंग्स को इस तरह की शिक्षा नही रुची, और उन्होंने कॉलेज की शिक्षा में उन्नति का आदेश दिया और नागरिको को इस उन्नति में सहायता देने का वचन दिया।

बनारस की आबादी लार्ड हेस्टिंग्स ने नौ लाख कूती, जिसमें आने वाले व्यापारी और यात्री शामिल थे।

---

[1] इतिहास सग्रह, नवबर-दिसबर, १९१२ जनवरी १९१३, पृ० २९ से

[2] हेबर, उल्लिखित, पृ० १६२-१६३

८ १८५२ का वलवा

वनारस के जीवन क्रम में १८१० के वाद १८५२ में दो घटनाएँ घटी एक था पीपा विस्फोट और दूसरी थी नागरो का वलवा। नागरो के वलवे का मुख्य कारण 'दाताराम नागर थे जो भगड भिक्षु की शिष्य परपरा के प्रसिद्ध तलवारिये थे। इन्हें डामल की सजा मिली थी। वनारस में यह अनुश्रुति है कि दाताराम ने भुतही गली, वुलानाला और ठठेरी वाजार में दुलदुल ले जाने का विरोध किया। इस पर लड़ाई हो गयी और दाता राम को डामल की सजा दे दी गयी। श्री सावल जी नागर ने इस घटना के सवव में निम्नलिखित कजली उद्धृत की है[1]—

सव के तो नैया जाले अगरे नाही डगरे रामा,
नागर नैया जाले काले पनिया रे हरी।
वेरियाँ की वेरियाँ तोहें वरजो नागर गुडऊ रामा,
रामा मत वाँव छुरी और कटरिया रे हरी।

जो भी हो इस घटना का जिसे वनारस में गौरेय्या शाही कहते है मुख्य कारण वनारस की फाटकवन्दी तोडना और साडो को पकडकर कानीहौद में वन्द करना था। इस विरोध के अगुआ भाऊ जानी और विश्वेश्वर जानी थे क्योकि साडो के लिएँ गुजरात और काठियावाड मे इनके पास खासी रकम आती थी। वनारस के कलक्टर मि० गर्विस ने सवको नाटी इमली पर इकट्ठा करके समझाना चाहा पर समझौता न हो सका और लोगो ने पास की दूकान से गौरेय्या उठा-उठा कर गर्विस और वनारस के कोतवाल प० गोकुलचन्द पर फेंकना शुरू किया। नागरो ने, जिनकी सख्या तीस थी, शहर की दूकानो को वन्द करा दिया और यह वन्दी तीन दिनो तक जारी रही। वलवा वढ़ने लगा और सिपाहियो के लिए फ़ौजी वाजारो में रसद आना वन्द हो गया पर, देवनारायण सिंह की मदद से देहात की गाडियो से वलवाइयो द्वारा विरोध करने पर भी खाने पीने का सामान पहुँचने लगा। वलवाइयो ने अपने अनुयायियो की शहर के वाहर एक सभा की पर मि० गर्विस ने सभा भग कर दी और आदमियो को वाडो में हाँककर खूव पिटवाने के वाद वाहर जाने दिया। मुख्य-मुख्य वलवाई जेल भेज दिये गये लेकिन वाद में दयाभाव से छोड दिये गये।

वनारस के कागज़ातो से इस घटना का निम्नलिखित विवरण मिलता है —

वनारस में गवर्नर जनरल के एजेंट मेजर डब्लू० एम० स्टूअर्ट ने अपने ५ अगस्त के एक पत्र में भारत सरकार को लिखा (वनारस अफेयर्स, भाग २, पृ० १६५ से) कि वनारस में चार दिन तक झगडा चलता रहा पर वह विना किसी खास नुकसान के समाप्त हो गया। जान पडता है कि शहर में यह अफवाह फैल गयी कि जेल में हिन्दू क़ैदियो के खाने में परिवर्तन से उनकी जात जाने का भय था। पहली अगस्त को इस प्रश्न को लेकर वनारस के घाटो पर एक सभा हुई जिसे वनारस के मजिस्ट्रेट एफ़० वी० गविन्स ने पुलिस की मदद से भगकर दिया और भीड के कुछ नेताओ को गिरफ्तार कर लिया।

---

[1] हस, काशी अक, पृ० ४३

दूसरी अगस्त को शहर के पास एक बाग में और भी बडी सभा हुई जिसमें गिरफ्तारी के विरुद्ध प्रदर्शन किया गया। गविन्स ने वहाँ स्वय उपस्थित होकर भीड को समझाना चाहा पर उन पर पत्थर और ईंटे बरसाये गये और उन्हें सहायता के लिये लौटना पडा। भीड उनके पीछे-पीछे बरना के पुल तक पहुँची जहाँ उसे फौजी सिपाहियो ने आगे बढने से रोक दिया और तीस चालीस आदमी गिरफ्तार कर लिये गये। उपद्रव बढता देख फौज बुला ली गयी। तीसरी अगस्त को पुन सभा करके लोगो ने गिरिफ्तार लोगो को छुडाने की माँग की। चार अगस्त को सभा बन्दी का इश्तिहार बाँटा गया और लोगो से दूकानें खोलकर काम काज चलाने को कहा गया। फिर भी कमच्छा के पास एक भारी भीड इकट्ठा हो गयी पर गविन्स ने उसे पुलीस और फौज की मदद से तितर-बितर करके तीन सौ आदमियों को गिरफ्तार कर लिया और इस तरह दगा समाप्त हो गया।

गविन्स की रिपोर्ट से इस दगे पर और भी अधिक प्रकाश पडता है। पहली अगस्त को उन्हें खबर मिली कि भोसलाघाट पर पाँच सौ से अधिक आदमियो की भीड इकट्ठी होकर लोगो में यह अफ़वाह उडा रही थी कि जेल के कैदी ईसाई बनाये जाने वाले थे तथा उन्हें जबर्दस्ती अग्रेजी रोटी खिलाई जाने वाली थी। असल में बात यह थी कि जेल में ईंधन की कमी होने से गविन्स ने दारोग़ा को यह सलाह दी थी कि अगर कैदी अपने मेस बना लें तो यह कठिनाई दूर हो सकती थी। चालीस मुसलमान क़ैदियो ने तो अपना मेस बना भी लिया था। भोसलाघाट पहुँचते ही गविन्स ने भीड के नेताओ को जिनमें दो नागर और एक ब्राह्मण थे बुलाया। उन्होने कैदियो के जात जाने वाली बात कही और अपने भाई क़ैदी मोहनराम को छुडाने की बात चलायी। यह सुनकर गविन्स ने कहा कि वे बेवकूफी कर रहे। थे अगर उन्हें कोई शिकायत थी तो वे उनके पास पाँच आदमियो का एक प्रतिनिधि मण्डल भेज सकते थे। बाद की तहक़ीकात से यह पता चला कि भीड का एक प्रतिनिधि मडल शहर के महाजनो से यथा बाबू नरायनदास, हरीदास, गुरुदास मित्तर, बेनीलाल मुसिफ और गोपालचद से मिला था और उनका सदेसा लाया था कि अगर धरम की बात थी तो वे पीछे हटने वाले नही थे। भोसला घाट छोडने के पहले गविन्स ने मन्दिर के पुजारी और नौकरो को इस अभियोग पर कि उन्होने मन्दिर का दरवाजा बद क्यो नही कर दिया था गिरफ्तार कर लिया।

दूसरी अगस्त को गविन्स को पता चला कि बहुत से लोग सुन्दरदास के बाग़ में एक बैठक करना चाहते थे पर काल भैरव के थानेदार ने उन्हें ऐसा करने से रोक दिया था। दोपहर के करीब उन्हें पता चला कि भीड नाटी इमली में इकट्ठी हो रही थी। यह तय पाया कि बाबू देवनरायन सिंह और फतहनरायन सिंह शहर कोतवाल और काल भैरव के थानेदार के साथ भीड से मिलें और उसे हट जाने के लिए राय दें। पर भीड ने उनकी काफ़ी फ़जीहत की। यह जानकर गविन्स स्वय भीड से मिलने नाटी इमली पहुँचे और भीड से बात-चीत करना चाहते थे कि एक गौरेय्या उनकी छाती में लगी और भी ठीकरे चलने लगे। गविन्स ने अपनी बग्घी का हुड चढा दिया पर ठीकरे चलते ही रहे और गविन्स भागकर पुलिस सुपरिन्टेंडेंट रीड के घर पहुँचे तथा वहाँ जाकर उन्होने फौज को

वरना के पुल की नाकेवदी का हुक्म दिया। वहुत से तो भाग निकले पर ३१ आदमी वरनापुल और १८ आदमी नाटी इमली में गिरफ्तार किये गये।

तीन अगस्त को कमच्छा पर दो तीन हज़ार आदमी राजा वनारस से सलाह लेने पहुँचे। गविन्स की राय थी कि इस दगे में राजा का कोई हाथ नही था पर रामदत्त पडा ने जो राजा का विश्वासपात्र था इस गडवडी में काफी हाथ था तथा भीड भी राजा वनारस की जय का राग गाती थी।

चार तारीख को वैजनत्था पर भीड इकट्ठा हुई पर फौज की मदद से तितर-वितर कर दी गयी और २७८ आदमी गिरफ्तार कर लिये गये।

पाँच तारीख को गविन्स ने शहर की गश्त लगाकर दूकानें खुलवायी और इस तरह वलवा शात हो गया। गविन्स को शक था कि इस दगे में वावू नरायन दास की शह थी, जव दगा करने वालो का प्रतिनिधि मडल उनसे मिला था तो उसकी खवर उन्हें देनी चाहिये थी। वाद में कुछ के सिवा छोडकर वाकी सवको माफी दे दी गयी।

९. पीपा विस्फोट

सम्वत् १९०७ अधिक, वैशाख कृष्ण, ५ वुधवार १८५० को डेढ घडी रात बीते राजघाट पर नाव पर लदे वारूद के पीपे अचानक फट पडे। गहरा धडाका हुआ और काशी के हजारो मकान हिल गये। इस घटना का विशद वर्णन प० लोकनाथ चतुर्वेदी ने पीपा वावनी में किया है।[1] पडित लोकनाथ का कहना है कि मि० स्मिथ, स्माल और हूई की कोठियाँ उड गयी और स्माल की मेम तो डर कर मर गयी। मि० चार्ल्स नामक सौदागर का नया वगला उड गया। राजा विजयानगर और जगलाल के करारे पर के वगले वच गये। गॉरडेन का वह वगला जिसमें क्वींस कालेज के प्रिंसिपल वाल्टन रहते थे वच गया।

१०. १८५७ का विद्रोह

६०–७० वर्ष की अग्रेजी हुकूमत ने वनारसियो का जोश वहुत ठडाकर दिया था इसीलिये १८७५ के विद्रोह में वनारस का हिस्सा वहुत कम रहा। १८५७ के आरम्भ में वनारस छावनी में अग्रेज गोलन्दाजो की एक कम्पनी, लुधियाने की सिख रेजिमेंट की एक कम्पनी और ३७ नवर की देसी सिपाहियो का कोर था। चुनार के पास सुल्तानपुर की छावनी में १३ नवर की मुसलमानी पलटन थी। वनारस की फौज की कमान ब्रिगेडियर पॉनसोनवाई के हाथ में थी और यहाँ के सिविल अफसरो ने कमिश्नर एच० सी० टकर, एफ० गविन्स जज, एफ० एम० लिड मैजिस्ट्रेट तथा आर० पोलक और इ० जी० जेंकिन्सन असिस्टेंट मैजिस्ट्रेट थे। शहर की हालत काफी नाजुक थी क्योकि वनारस के लडाके ऊँचे दामो से परशान थे और शिवाले में शाहज़ादो का रहना भी खतरे से भरा था। मार्च के महीने से ही २७ नवर की देशी पल्टन में असन्तोष के लक्षण दिखलाई दे रहे थे। मई के प्रारम्भ में जव दिल्ली और मेरठ से सिपाही विद्रोह का समाचार आया

[1] हँस, काशी अक, पृ ४०–४१

तो बनारस के सिपाहियो ने खुले आम ईश्वर से प्रार्थना की कि वह उन्हें विदेशियो की गुलामी से मुक्त कर दें। इन सिपाहियो को दवाने के लिये सुलतांपुर से मुसलमानी पल्टन बुला ली गयी तथा अफसरो ने शहर में घुमकर दाम घटाने के लिये वनियो को आदेश दिया। अफसरो की एक युद्ध परिषद् में कुछ अफसरो ने आपत्ति काल में चुनाव के किले में चले जाने का सुझाव रक्खा पर मैजिस्ट्रेट और दूसरो के विरोध करने पर यह सुझाव नही माना गया। यह निश्चय किया गया कि बगावत होने पर अग्रेजो के परिवार मिंट हाउस में चले जायें।

२४ मई को ८४ नवर की क्वीस रेजिमेंट का एक दस्ता कलकत्ते से वनारस पहुँचा और वह तुरन्त कानपुर भेज दिया गया। १ जून को ६७ नवर की देशी फ़ौज द्वारा खाली की गयी वैरको में आग लगा दी गयी और ४ जून को सकट की घडी आ उपस्थित हुई। दूसरे दिन फौज से हथियार ले लेने का निश्चय किया गया पर पॉनसोनवाई ने उसी दिन तीसरे पहर परेड वुलाने का हुक्म दिया सिपाहियो के हथियार ले लिये गये थे पर जव उन्होने अग्रेज सिपाहियो को वन्दूकें लेकर अपनी ओर वढते देखा तो उन्होने अपने अफसरो पर गोलियाँ चलानी प्रारम्भ कर दी। अग्रेजो ने फौरन प्रत्याक्रमण कर सिपाहियो को लाइन के वाहर निकाल दिया। इसी वीच में १३ न० की पल्टन में भी वलवा फैल गया और उन्होने भी अपने सेना नायक पर आक्रमण कर दिया। सिख पल्टन पहले तो कुछ घवडाई पर वाद में उसने भी प्रत्याक्रमण कर दिया। कडावीन की मार शुरू होते ही देशी सिपाही भागे। इसी मौके पर कर्नल नाइल ने कमान सम्हाल ली और उनकी वजह से विद्रोह कुछ ही समय में समाप्त हो गया।

छावनी में गोलियाँ और तोप चलने की आवाज सुनकर वनारस शहर में भी गड-वडी फैल गयी। वहाँ से पादरी भी रामनगर के रास्ते चुनार को भाग गये और शहर के अग्रेज मिंट हाउस में इकट्ठे हो गये। कुछ अफ़सर कचहरी की छत पर चले गये जहाँ उन पर गुस्से से भरे, खज़ाने के सिक्ख सिपाहियो द्वार हमला होने ही वाला था कि उन्हें सरदार सुरजीत सिंह जो वनारस में रहने वाले एक राजनीतिक शरणार्थी थे और जजी के नाज़िर पडित गोकुलचन्द ने वचा लिया। खज़ाना हथियारखाने में हटा दिया गया और अफसर मिंट हाउस पहुँचा दिये गये। रात में एक और गडवडी मची जिसका लाभ उठाकर मुसलमानो ने विश्वेश्वर के मन्दिर पर हरा झण्डा लगाना चाहा पर मि० लिंड ने उन्हें ऐसा करने से रोका और शहर की रक्षा करने के लिये राजपूतो की सहायता प्राप्त कर ली। शहर में पूरी शान्ति रही और सरकारी दफ़्तर का एक काग़ज़ भी नही छुआ गया। इस शान्ति का वहुत कुछ श्रेय देवनारायण सिंह और महाराज वनारस को था पर मिंट हाउस में अग्रेज शरणार्थियो में काफी गडवडी थी क्योकि वे जानते थे कि धावा होने पर वे अपने को किसी तरह नही वचा सकते थे।

वनारस के जज गविन्स ने शहर में शान्ति स्थापित करने में वहुत वडा काम किया। ९ जून को शहर में फौजी कानून घोषित कर दिया गया क्योकि वनारस जिले में लूट और हत्या का वाजार गर्म हो चला था। मि० जेंकिंसन और लेफ्टिनेन्ट पेलिसर फ़ौज

और स्वयसेवको के साथ इसे रोकने के लिये भेजे गये। लोगो में भय उत्पन्न करने के लिये सरे-आम फाँसी की टिकठियाँ लगा दी गयी। छोटे अपराधो के लिये तो बेंत की सज़ा दे दी जाती थी पर गहरे अपराधो के लिये सीधी फाँसी का हुक्म था। 'शहर की और अधिक सुरक्षा के लिये जुलाई में राजघाट तक किलेवन्दी कर दी गयी। जौनपुर के वाग़ियो को बनारस की तरफ बढने से रोकने के लिए घुडसवार पुलिस का प्रबन्ध किया गया। जुलाई के आरम्भ में ही जौनपुर के राजपूत बनारस पर चढते हुए शहर से ९ मील की दूरी पर पहुँच गये पर अग्रेजी फ़ौज ने उन्हें हरा कर उनके नेताओं को पकड़ लिया। शहर में यह भी अफवाह फैली कि सिगौली के राजपूत भी धावा बोलने की तैयारी में थे लेकिन इस खबर में कोई तथ्य नही था। इससे भी अधिक बनारस के लिये भयकर खबर यह थी कि दानापूर से भारतीय 'वागी सिपाही बनारस की ओर बढ रहे थे, पर अग्रेजो के भाग्य से आरा के पास ये सिपाही रोक दिये गये। बनारस से कुछ फ़ौज कर्मनाशा नदी पर नौबतपुर भेजी गयी। सिपाही बिना लडे ही दक्षिण की ओर मिर्ज़ापुर चले गये जहाँ से अग्रेजी फौज ने उन्हें इलाहाबाद जिले में ढकेल दिया।

१८५७ के विद्रोह के समय बनारस अग्रेजो का एक प्रसिद्ध फौजी अड्डा बन गया। यहाँ से ग्रैंड ट्रक रोड की रक्षा की जाती थी और उत्तर और पश्चिम में 'फौजें और रसद भी भेजी जाती थी। बाबू कुँअर सिंह की बग़ावत का थोडा बहुत असर बनारस पर भी पडा पर यह कहना ठीक होगा कि अन्त में बनारस सिपाही विद्रोह से बहुत कुछ अछूता बच गया। ● ●

दसवाँ अध्याय

[1]बनारस शहर के लोग, घाट, मंदिर, यात्रा, उत्सव इत्यादि

(१७८०-१८५७)

१ नगर

इस वात में सदेह नही कि अठारहवी सदी के मध्य में बनारस शहर की उन्नति का बहुत कुछ श्रेय मराठो को था। १७३५ के बाद पेशवो की सहायता से बनारस में बहुत से पक्के घाट और ब्रह्मपुरियाँ बनी फिर भी बनारस अब जितना घना बसा हुआ है और गगा पर जितने घाट है उसकी कल्पना हम अठारहवी सदी में नही कर सकते। उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण में बहुत जाँच पडताल करने के बाद जेम्स प्रिंसेप इस तथ्य पर पहुँचे कि अठारहवी सदी में मणिकर्णिका घाट के आस पास जगल रहा होगा। गगापुत्रो ने उन्हें बतलाया कि मणिकर्णिका घाट के पास मकानो में जो बडे बडे वृक्ष दिखलायी देते थे वे उसी जगल के बचे बचाये वृक्ष थे। मणिकर्णिका घाट के आस पास बहुत से घरो के कबालो में इस बात का जिक्र है कि वे मकान बनकटी के समय बने। बनारस में यह भी मशहूर है कि गोपालमदिर के पास जहाँ तुलसीदास रहते थे उसके आगे बन शुरू हो जाता था।[1] प्रिंसेप की इस बात की पुष्टि चौखभा, ठठेरीबाजार और साव के महल्ले के मकानो के कबालो से भी होती है जिनके अनुसार ये महल्ले बनकटी के बाद बसे। वारेन हेस्टिंग्स को बनारस के महाजनो ने जो मानपत्र भेंट दिया था, उसमें भी नयी पट्टी के महाजनो का जिक्र है। इसका यह अर्थ हुआ कि चौखभा, ठठेरी बाजार आदि १७६५ के बाद बसे होंगे।

बनारस के घरो की अच्छी तरह से जाँच पडताल करके प्रिंसेप इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि बनारस में मानसिंह के पहले की कोई इमारत नही थी। इस श्रेणी में मानमदिर घाट और बूदी के महल तथा कुमारस्वामी के मठ आते है। इन इमारतो के बनवाने में लगता है राजपूत स्थपतियो की मदद ली गयी थी क्योकि इनमें राजस्थान के स्थापत्य का बहुत प्रभाव दीख पडता है।

प्रिंसेप के समय बनारस इतना घना नही बसा था। शहर की लबाई तीन मील और चौडाई एक मील से अधिक नही थी। प्रिंसेप के समय में शहर की जो भौगोलिक स्थिति थी उसमें अब बहुत कुछ हेर फेर आ गया है। उन्नीसवी सदी में बनारस के बहुत से नाले और तालाब पाट दिये गये। प्रिंसेप के समय में मैदागिन के तालाब का विस्तार बहुत बडा था। यह झील उन झीलो में से एक थी जो गगा के समानातर शहर में फैली हुई थी और जो शायद किसी काल में गगा के बाढ़ का फैला हुआ पानी ग्रहण कर लेती थी। १८२५ के करीब त्रिलोचन के पास एक पक्की

---

[1] जेम्स प्रिन्सेप बनारस इलस्ट्रेटेड इन ए सीरीज ऑफ, पृ० ११, कलकत्ता १८३१

नाली बनाकर इन झीलों का पानी गगा में गिरा दिया गया और उनमें से एक झील के ऊपर विशेश्वरगंज गल्ले के बाजार के लिये बनवा दिया गया। जब मैदागिन के झील का पानी गिराया जा रहा था, तब बनारस के धार्मिक हिंदुओं ने कछुवों को उठाकर गगा जी में डालने के लिये प्रति कछुआ दो आने लोगों को दिये। प्रिंसेप का अदाज है कि ये कछुवे सख्या में पन्द्रह सौ के ऊपर होगे। यह भी सभव है कि समानातर में फैली ये झीलें प्राचीन मत्स्योदरी की द्योतक हैं।

जैसा हम देख आये हैं, १८०१ में बनारस की पहली जन गणना हुई पर उसमें कल्पना की अधिक उडान लेने के कारण सत्य का अश बहुत कम था। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर प्रिंसेप ने १८२८-२९ में बनारस की जनगणना करने का निश्चय किया। उनकी गणना के अनुसार शहर में एक लाख इक्यासी हजार चार सौ बयासी, सिकरौल के देशी घरो में ग्यारह हजार आठ सौ छिहत्तर और सात हजार बानवे यूरोपियनो के घरो में आदमी रहते थे। शहर में घरो की सख्या तीस हजार दो सौ पाँच थी और सिकरौल में दो हजार सात सौ चौवन हिंदुस्तानियो के घर और एक सौ चौदह यूरोपियनो के घर थे। शहर में कुल महल्ले तीन सौ उनहत्तर, और सिकरौल में उन्तालीस थे। शहर में पक्के घरो की सख्या ग्यारह हजार तीन सौ पचीस और सिकरौल में तिहत्तर थी। ये घर एक से लेकर कई मजिलो के थे। शहर में कच्चे पक्के घरो की सख्या दो हजार तीन सौ अट्ठाइस थी और सिकरौल में अट्ठासी। शहर में कच्चे घरो की सख्या सोलह हजार पाँच सौ बावन थी और सिकरौल में दो हजार छ सौ उनतीस। शहर में खाली जगहो और खँडहरो की सख्या एक हजार चार सौ अट्ठानबे और सिकरौल में बहत्तर थी। शहर में बगीचे एक सौ चौहत्तर और सिकरौल में एक सौ चौदह थे। शहर में शिवालो की सख्या एक हजार और सिकरौल में सात थी। शहर में मस्जिदों की सख्या तीन सौ तैंतीस और सिकरौल में पाँच थी।

शहर में रहने वाली भिन्न भिन्न जातियो की सख्या का विश्लेषण करते हुये प्रिंसेप निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचे

नाम	ब्राह्मणमल्ल	सख्या
१—महाराष्ट्र	११	११,३११
२—नागर	७	१,२३१
३—मोढ	११	५६७
४—औदीच्य	८	१,१४६
५—मेवाडी	७	४३०
६—खेडावाल	२०	२,०६८
७—कान्यकुब्ज	४	६,६०२
८—गौड	१०	१,०००
९—बगाली	१	३,०००
१०—गगापुत्र	१	१,०००

नाम	अल्ल	संख्या
११—सत्ताइस छोटी उपजातियों के ब्राह्मण	१	३,२२६
		३२,३८१

क्षत्रिय

नाम	अल्ल	संख्या
१—राजपूत	२	६,००२
२—भूमिहार	१	५,०००
३—खत्री	६	३,०९२

वैश्य

नाम	अल्ल	संख्या
१—वैश्य	२२	८,३००

शूद्र

नाम	अल्ल	संख्या
१—शूद्र	६९	६०,२०२

फकीर-सन्यासी

रामानदी, सन्यासी, दडी इत्यादि		७,१७१
	कुल	१२२,३६५

मुसलमान

१—कुलीन मुसलमान		१०,०००
२—४४ प्रकार के व्यवसायो में लगे मुसलमान		२०,०४८
३—फकीर और साई		१,२००
	कुल	३१,२४८

उपर्युक्त सख्या में बच्चो और छूटे हुए लोगो की सख्या २६३८७।

इस तरह वनारस की कुल आवादी १,८०,०००।

वनारस के हिंदुओ में से वीस हजार ब्राह्मण दान दक्षिणा अथवा क्षेत्रो और मठो पर अपना गुजारा करते थे। शहर में वनिये महाजनो की गिनती उस समय के भारतवर्ष के वडे से वडे पूजीपतियो में की जा सकती थी। व्यापार अधिकतर शक्कर, सोरा, नील, अफीम और वनारसी कपडो का होता था। यो कहना चाहिये कि मिर्जापुर को मिलाकर वनारस उस समय दक्षिण और भीतरी हिंदुस्तान के व्यापार का मुख्य केन्द्र था। यही नही जैसा विशप हेवर ने लिखा है[1] वनारस में हिन्दू यात्रियो और व्यापारियो के अलावा वहा काफी सख्या में ईरानी, तुर्क, तातार और यूरोपियन रहते थे। वहा एक यूनानी सस्कृत पढता था और उसका नगर के हिंदुओ से वडा मेल जोल था। यूनानी के साथ एक रूसी भी रहता था।

[1] विशप हेवर, उल्लिखित, पृ० १८६—८७

विशप हेबर के शब्दो में बनारस के ब्राह्मण दूसरी जगह के ब्राह्मणो की अपेक्षा कम कट्टर थे और उनमें दूसरे धर्मों की बात जानने की भी जिज्ञासा थी। शहर के लोग कपनी के प्रति वफादार थे। यहा के लोग भारत में दूसरे लोगो की अपेक्षा अधिक शिक्षित और रईस होने से जनोपयोगी कामो में अधिक रस लेते थे।

आरभिक उन्नीसवी सदी के बनारस शहर का सुन्दर वर्णन हेबर ने किया है। इस वर्णन में बनारस की गलियाँ, मन्दिर, घाट, रईस-गरीब सभी आ गये है। हेबर कहते हैं—"बनारस देखने लायक शहर है और आज तक मैने जितने शहर देखे है उन सब में यही शहर पूरी तरह से पूर्वी ढग का है तथा बगाल के सब नगरो से भिन्न है। शहर में कोई यूरोपियन नही रहता। बनारस की सडकें सकरी होने से पहियेदार सवारियो के लिए बहुत अयोग्य है। मि० फ्रेजर की बग्घी करीब-करीब शहर के दरवाजे पर रुक गयी इसलिए बाकी रास्ता हमें उन गलियो से पार करना पडा, जिनमें इतनी भीड थी कि ताम-झाम मुश्किल से गुजर सकता था। शहर में मकान बहुत ऊँचे है और शायद ही कोई मकान दो मजिले से कम हो, बाकी मकान तिमजिले है और बहुत से तो पाँच या छह मजिल ऊँचे है। सबसे पहले मैंने बनारस ही में यह दृश्य देखा। चेस्टर की तरह गलियाँ घर के चौक से नीचे पडती है और घरो के सामने छोटी-छोटी मिहराबदार दूकानें है जिनके ऊपर मकान के बरामदे, मुतक्के, झरोखे और छज्जे होते है। बनारस में मन्दिर बहुत है लेकिन उनमें अनेक बहुत छोटे-छोटे है। वे अक्सर गलियो के नुक्कडो पर अथवा बडे मकानो की छाया में बने है। देखने में ये मन्दिर सुन्दर है और बहुतो पर काफी पेचदार फूल-पत्तियो की नक्काशियाँ, आकृतियाँ और पजक कटे है जिनकी महीन कारीगरी गोथिक अथवा यूनानी कारीगरी से किसी तरह कम नही है। शहर के मकान चुनारी पत्थर के बने है लेकिन हिंदू इन्हें गेरुवे रग से रँगना पसद करते है। मकान के बाहरी हिस्सो को वे चटकीले रग वाले फूलदान, नर-नारी, बैल, हाथी तथा अनेक सिरो और भुजाओ वाले आयुधधारी देवी देवताओ के चित्रो से चित्रित करा देते है। शिव के नाम पर छोडे हुये साड मस्ती से गलियो में घूमते हुये अथवा बीच में पडे दिखलायी पडते है। तामझाम के लिये रास्ता करने के लिये भी इन्हें कोई मार नही सकता। अगर मारना भी हो तो हाथ धीमा पडना चाहिए नही तो धर्मान्ध जनता के हाथो मारने वाले की ही शामत आ जाती है। राम के लिये लका जीतने वाले परम पवित्र कपि हनुमान के प्रतीक बन्दर भी शहर के कुछ भागो में बहुतायत से है। ये छतो और मन्दिरो पर लटके रहते है और अक्सर हलवाइयो और फलवालो पर धावा बोला करते है। कभी-कभी तो ये बच्चो के हाथो से भी खाना छीन लेते है। शहर के कोने-कोने में मठ और मन्दिर है जिनसे निरन्तर वीणा की झकार और बेसुरे बाजो की खडखडाहट निकला करती है। सडको पर अनेक हिन्दू साधू सन्यासी भस्म पोते, गोबर में सने, बीमारियो से लदे, विकृताग अनेक मुद्राओ को साधते हुए तप करते दिखलायी देते है। शहर में अधे और कोढियो की भी काफी सख्या है। यहाँ पर मैंने यूरोप में सुने हुए उन साधनो को भी देखा, जिनसे एक ही स्थान पर हाथ पैर रखे रहने से उनका स्पन्दन नष्ट हो जाता है। मैंने ऐसे मुट्ठी

बँधे हाथ भी देखे जिनके नख हथेलियाँ छेद कर बाहर बढ गये थे। ये भिखमगे मुझसे दयनीय शब्दो में आगा साहब, टोपी साहब, कहकर भीख मागते थे। मैंने इन्हें कुछ पैसे दिये लेकिन इनकी सख्या इतनी बडी थी कि उसमें वे पैसे समुद्र में बूँद के समान लीन हो गये और उनकी चिल्लाहट आस-पास के गुलगपाडे में डूब गयी। शिव के त्रिशूल पर बसी हुई इस पवित्र नगरी में जहा सबको यहाँ तक कि गोमास भक्षक को भी अगर उसने ब्राह्मणो को दान दिया है मुक्ति मिलती है। नगर में घुसते ही ऐसे दृश्य दीख पडते हैं और ऐसी ही आवाजें सुन पडती है। इस नगरी की पवित्रता के ही कारण यह भिखमगो का घर बनी हुई है क्योकि इस नगरी में भारत के हर कोने से तथा तिब्बत और बर्मा से हजारो धनी यात्री अपने जीवन के सध्याकाल में आते है और यह यात्री समुदाय, बिना समझे बूझे, काफी पैसा दान पुण्य में खर्च करता है"।[1]

बिशप हेबर जयनारायण स्कूल के पास स्थित देवकीनन्दन की हवेली को भी देखने गये। यहा जो कुछ उन्होने देखा उससे उन्नीसवी सदी के एक बनारस के सम्भ्रान्त कुल के जीवन पर अच्छा प्रकाश पडता है। इस हवेली का वर्णन करते हुए हेबर कहते है, "इमारत अच्छी थी और उसमें एक खास बात यह थी कि उसके सामने खुली जगह थी जैसा कि अक्सर बनारस की इमारतो में नही होती। इमारत की बनावट टेढी-मेढी है। चौक के दोनो ओर रहाइशी मकान है और दो तरफ दफ्तर। मकान चौमजिला है और दरवाजे पर एक बुर्ज है। मकान के सामने भाग में बहुत सी नक्काशीदार खिडकियाँ है जिनमें कुछ घुडियो पर है। दीवाल का अधिकतर हिस्सा डाल-पात और फूलो की नक्काशी से सजा है। इमारत पत्थर की है पर गेरू से रगी हुई है ...

दरवाजे से घुसते ही एक गहरे आले में इष्टदेव की मूर्ति पडती है जिसके आगे दीपक जल रहे थे। चौक में गुलाब और केलो के पेड है और एक नकाशीदार कुआँ है। बायी ओर से पहली मजिल तक एक सीढी जाती है। सीढी के पास दोनो नाबालिगो ने हमारा स्वागत किया। उनके साथ उनके मोटे ताजे पुरोहित जी और मिठबोले पर काँइयाँ मुशी जी भी थे। ये हमें नक्काशीदार दर्शनीय कमरो में भी ले गये। सबसे अच्छा कमरा फाटक के ऊपर है। इसके चारो ओर मेहराबदार दालानें हैं। बीच में एक चबूतरे पर कालीन बिछा था। दालानो में सुन्दर नकाशियाँ बनी है जिनका पानी जाली से ढँकी हुई फर्श की पौदरियो में इकट्ठा होता है। कमरे में मामूली दरजे के बहुत से अग्रेजी प्रिंट लगे थे। बच्चो के पिता और उनके दोस्तो तथा भारतीय पहरावे में एक गोरी स्त्री के तैलचित्र भी थे। बच्चे स्त्री के बारे में कुछ न कह सके पर उन्होने यह बतलाया कि वह तस्वीर पटने के लाल जी मुसव्विर ने उनके पिता के लिये बनायी थी। मैंने अपना सवाल नही दुहराया क्योकि मैं जानता हूँ कि पूर्वीय देश के लोग-अपनी स्त्रियो के सम्बन्ध में बात नही करना पसद करते। जो भी हो इन तस्वीरो में शबाहत थी और इसमें शक नही कि इगलैंड के किसी भले आदमी के घर में ये तस्वीरें शोभनीय कही जा सकती थी।"

---

[1] हेबर, वही, पृ० १६२-६३

जिन युग में विशप हेवर ने बनारस की यात्रा की उस युग में पटना और बनारस में भारतीय चित्रकला का कम्पनी स्कूल काफी उन्नत अवस्था में था। उस काल के सर्वश्रेष्ठ चित्रकार लाल जी मुसव्विर माने जाते थे और उन्ही के चेलो ने महाराजा बनारस के आश्रय में कपनी स्कूल को बहुत दिनो तक जीवित रक्खा। महाराज ईश्वरी नारायण सिंह के समय में तो ऐसे बहुत से चित्र बने। इस शैली पर यूरोपीय प्रभाव स्पष्ट है जिसे देखकर विशप हेवर बहुत प्रभावित हुए। वे कहते है, "अपनी यात्रा में मुझे भारतीय चित्रकला की उन्नति देखकर आश्चर्य हुआ। मैं तो उसमें चटकदार रग, कमजोर खत, माया का अभाव इत्यादि कमियो को सोचे बैठा था जैसा कि हमारी पुरानी किताबो और भारत से गये चित्रो में पाया जाता है। लेकिन मैंने सर सी० ड० आइली के पास लाल जी के, जिनकी मृत्यु कुछ दिनो पहले हो चुकी है, बनाये कुछ थोडे से चित्र देखे जिनकी कारीगरी किसी यूरोपीय चित्रकार के लिये गौरवशाली हो सकती थी। इन चित्रो में रगो की सचाई, एक तरह की मुलामियत और लोच था। लाल जी का लडका जीवित है पर उसमें लाल जी की सी बात नही। लाल जी की बनायी शबीहें भी मैंने देखी, वे इतनी अच्छी नही थी, पर उनसे लाल जी की कला में सिद्धहस्तता प्रकट होती थी। आश्चर्य है कि लाल जी इटालियन चित्रकारो का काम बिना देखे हुये वे भी ऐसी सुन्दर शबीहें बना सके थे"।[1]

बनारस के अन्धविश्वासो के बीच वहाँ के रोजगार को देखकर विशप हेवर को आश्चर्य हुआ। वे कहते है, "वास्तव में बनारस रोजगारी, पवित्र और रईसो का नगर है। उत्तर के शाल, दक्षिण के हीरे और ढाका और पूर्व की मलमलें यहाँ आती है और यहाँ के कारखानो में कीमती रेशमी, सूती और ऊनी कपडे भी बिने जाते है। अग्रेजी लोहे के सामान, लखनऊ और मुंगेर की तलवारें, ढाल और भाले तथा यूरोप के आरायशी सामान जिनकी माँग बढती जाती है यहाँ से बुन्देलखड, गोरखपुर, नेपाल तथा गगा और उसकी सहायक नदियो से भीतरी भागो में जाते है"।

विशप हेवर से पता लगता है कि शहर की घनी आबादी होते हुए भी लोगो का स्वास्थ्य अच्छा था। "शहर में पानी के बहाव का अच्छा प्रबन्ध है और नगर नदी के ककरीले कगार पर बसा है। यहाँ छुतही बीमारी न फैलने देने के कारण यह है कि शहर की भौगोलिक स्थिति अच्छी है, लोगो को स्नान की आदत है, तथा उनका जीवन सादा है। घनी आबादी होते हुए भी शहर की सेहत अच्छी है। शहर में केवल एक ही खुली जगह है और वह है नया चौक जिसे सरकार ने बनवाया है"।[2]

बनारस की पुलीस के सम्बन्ध में हेवर का कहना है कि शहर के चौकीदारो को बनारस के नागरिक चुनते थे और मेजिस्ट्रेट केवल इनकी ताईद कर देते थे। शहर में पाँच सौ चौकीदार थे जिन्हें साठ हल्को में बाँट दिया गया था। रात में इन हल्कों के फाटक बन्द हो जाते थे और उन पर रखवाली के लिये एक चौकीदार तैनात कर दिया

---

[1] हेवर, वही, पृ० १६४

[2] हेवर, वही, पृ० १६५–६६

जाता था। इन चौकीदारो की चौकसी से बनारस में चोरी-चमारी और खून बहुत कम हो गये थे। चौकीदारो को इसलिए भी चौकन्ना रहना पडता था कि उनकी तनख्वाह मुहल्ले वाले देते थे।[१] भिकाजी अनन्त पटवर्धन के १८०३ के पत्र से[२] पता चलता है कि सरकार द्वारा फाटक बन्दी की वेहरी की दर प्रति घर छह आना महीना था।

२ बनारस के घाट

हम ऊपर देख आये है कि अट्ठारहवी सदी के मध्य में मराठो ने किस तरह बनारस के घाट बनवाये। १७३० में मणिकर्णिका घाट बनकर तैयार हुआ और उसके बाद और भी बहुत से घाट जैसे ब्रह्माघाट, दुर्गाघाट, इत्यादि बने। बनारस से पेशवो का सम्बन्ध टूट जाने पर भी घाटो के बनवाने की प्रगति कुछ दिनो तक जारी रही फिर भी घाटो की आज दिन बनारस में शोभा है, वह जान पडता है, अट्ठारहवी सदी के अन्त में उत्पन्न हुई, क्योकि १७८१ के करीब जब अग्रेजी चित्रकार हॉजेस् बनारस में आये तो घाट इतने गये हुए नही थे।[३] उनके समय में शहर उत्तर की ओर घना बसा हुआ था और नदी से घाटो, मन्दिरो और घरो की अच्छी शोभा थी। नदी के किनारे बहुत से बाँध बँधे थे जो बरसात में गगा के पानी से कगारो की रक्षा करते थे। आज जिसे हम जलसाई घाट कहते है (हॉजेज का गेलसी गाट) वहाँ एक बहुत बडा पुश्ता था जिसके ऊपर चढने पर हॉजेज को पता चला, उसके ऊपर करारा था और उसके ऊपर एक बाग जिसके एक कोने में शाम को हवा खाने के लिए एक बुर्जी और दो मडप थे।

१८०३ में लार्ड वेलेंशिया ने बनारस के घाटो का जो वर्णन दिया है वह आज दिन भी बनारस के घाटो के लिए लागू है।[४]

"नदी के किनारे असख्य छोटे बडे मदिर है जिनमें बहुत से तो घाट तक चले आये है। ये मदिर एक सरखा पत्थर के बने है और इनकी बनावट इतनी पुख्ता है कि वे बरसात में गगा की तीखी धार को अच्छी तरह झेल सकते है। कुछ मन्दिरो पर तो रँगापुता या सुनहरा काम है और कुछ के पत्थर सादे ही छोड दिये गये है। इनके शिखरो पर बहुधा त्रिशूल होता है। घाट लोगो के स्नान के लिये है पर गगा में घरो के पुश्ते पत्थर की गलियो के बराबर पहुँचने के लिए तीस फुट ऊँचे उठते है। इन पुश्तो और मन्दिरो के शिखरो का सवाल जवाब आँखो को बडा भाता है। पुश्तो से पेड बहुधा घाटो पर लटकते रहते है। हजारो नहाते और कपडे साफ करते मनुष्य घाट की अपूर्व शोभा बढाते रहते है। इन घाटो के जो चित्र मैंने देखे है वे इस अपूर्व दृश्य की आभा तक नही देते। जितनी ही नदी के पास जमीन हो पवित्रता की दृष्टि से उतना ही अधिक उसका दाम होता है। धर्मप्राण हिन्दू नदी पर घाट और मन्दिर बनवाना अपना परम कर्त्तव्य मानते

---

[१] हेबर, वही, पृ० १८३

[२] पेशवा दफ्तर, ४३, ६६

[३] डब्ल्यू हॉजेज, ट्रावेल्स इन इडिया, पृ० ६१, लडन १७९३

[४] वेलेंशिया, उल्लिखित, पृ० ८९–९०

हैं। मुझे कई बार यह देखकर बड़ा अफसोस हुआ कि बहुत सी इमारतें इसलिए अवर्द्धनी रह गयी थीं क्योंकि उनके पूरा होने के पहले बनाने वालों की मृत्यु हो चुकी थी। शायद उन बनाने वालों के उत्तराधिकारियों को यह विश्वास था कि उनके द्वारा काम पूरा होने पर पूरे पुण्य में मृत व्यक्ति भागी होंगे।

"आयरलैंड के बिशप हिल नामक स्थान की तरह यहाँ भी कानून होना चाहिए कि इमारत आरम्भ करने पर उसे खतम करना आवश्यक था। यह बड़े अफसोस की बात होगी किसी कारण से इस नगर की अतुलनीय शोभा की अभिवृद्धि रुक जाय। औरंगजेब की मस्जिद के ऊँचे मीनारों को देखकर मुझमें एक हिन्दू की भावना जागृत हो गयी और मैंने सोचा कि आँखों में खटकने वाली पवित्र नगरी के इस बखेड़े को समाप्त करके सरकार को वह जगह उसके पहले के मालिकों को लौटा देना चाहिए।"

प्रिंसेप के समय में[1] (करीब १८२५) बनारस के घाटों और पुश्तों की तरतीब दो मील तक चली गयी थी और जैसे-जैसे जगह भरती जाती थी वैसे-वैसे लोग नदी पर मकान बनाते जाते थे जिनसे पहले के बने मकान वालों को बड़ी असुविधा होती थी और आपस में काफी मुकदमेबाजी। बनारस में घाट बनवाते समय काफी गहरी नींव दी गयी थी और बाँध बाँधे गये थे लेकिन उनके बनने के सौ बरस के भीतर ही घाटों में पाल पड़नी शुरू हो गयी थी और प्रिंसेप ने सुझाव रक्खा था कि इसके रोकने का उपाय किया जाय। अभाग्यवश प्रिंसेप के बाद घाटों की किसी ने सुधि नहीं ली। सवा सौ वर्षों में तो उनकी इतनी खराब हालत हो गयी है कि अगर उनकी मरम्मत न हुई तो निकट भविष्य में घाट तो जायेंगे ही उनके साथ शहर का भी नुकसान होगा। सौभाग्य से उत्तर प्रदेश की सरकार का ध्यान इस ओर गया है और घाटों की मरम्मत में हाथ लग गया है।

सूखे मौसम में शहर के सामने गंगा का पानी पचास फुट रह जाता है लेकिन सितंबर में बानबे फुट हो जाता है। शहर के सामने गंगा खाड़ीनुमा बन जाती है और इससे उसका सौन्दर्य और भी बढ़ जाता है। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में बनारस में गंगा के इस सौन्दर्य का वर्णन प्रिंसेप ने इन शब्दों में किया है, "जनवरी के निरभ्र आकाश में एक तीसरे पहर गंगा के इस पार से एक उल्लासमय दृश्य दीख पड़ता है। मनुष्यों की आवाज़ के बीच सैकड़ों मन्दिरों के घण्टों की संगीतमयी घनघनाहट सुन पड़ती है। कभी कभी छतरियों से उड़ने वाले कबूतरों के पैरों की फड़फड़ाहट सुन पड़ती है। कभी कभी वे गोल बाँध कर घरहरों के चारों ओर उड़ते हुए दीख पड़ते हैं और कभी कभी वे दूसरी गोलों के कबूतरों को बहका कर अपने घरों में उतारते हुए। उसी समय हमारी आँखें नरनारियों के नहाते हुए चमकते रंगों और साफ सुथरे पीतल के घड़ों पर पड़ती हैं। कभी कभी हमारी आँखें अपने स्वतंत्र नागरिकता का अधिकार बतलाते हुए शान से घूमते हुए साँड़ों पर पड़ती हैं। वे अक्सर उपहार में दी गयी मालाओं को खाते दीख पड़ते हैं। फिर जैसे जैसे रात चढ़ती जाती है दृश्य बदलता जाता है। पानी

---

[1] प्रिंसेप, उल्लिखित, पृ० १७–१८

के किनारे दीयो की चौंध, चिता की लपटें, उठता हुआ धुँआ, चाँदनी से उज्वल पत्थर के मकान, हमारे सामने ऐसे विचित्र आकार खड़े करते हैं जिन्हें एक चित्रकार भी मूर्तिमान नही कर सकता। वह जीवन की पृष्ठभूमिका तो दे सकता है, लेकिन दर्शक के लिये यह आवश्यक है कि वह अपनी कल्पना से बाकी चित्र खड़ा करे। हमें इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि बनारस के घाटो पर हिन्दुओ का अधिकतर सुखमय समय बीतता है। हम उन्हें वहाँ नहाते, कपड़े पहनते, प्रार्थना करते, उपदेश देते, आराम करते, गप्पें लगाते और सोते हुए भी पाते हैं। शहर की गन्दी और अँधेरी गलियो से निकल कर घाटो की खुली सीढ़ियो पर बैठकर नदी की स्वच्छ वायु सेवन करना उनके लिये एक वर्णनातीत सुख है, इसीलिये घाटो पर हम काहिलो के खेल, धार्मिको की पूजा और व्यापारियों का व्यापार देखते हैं। ससार में कोई ऐसा नगर नही है जिसके नागरिक अपने चित्त विनोद के लिये एक ही गली अथवा एक ही स्थान में इकट्ठे होते हो और इसीलिये बनारस के नागरिको को नदी के किनारे खुली हुई अपनी सुन्दर भूमि का अभिमान है। बनारस की एक कहावत 'राँड साँड सीढी सन्यासी' नगर के आकर्षण को भलीभाँति प्रकट करती है" ।[1]

१८३२ के करीब बनारस के अधिकतर घाट बनकर तैयार हो चुके थे। अगर हम भेलूपुरा से नदी के बहाव के साथ नाव पर चलें तो हमें सबसे पहले अस्सी घाट और नाला मिलता है। इसके पार कई अखाड़े हैं जिसमें बड़े गूदड़ जी का अखाड़ा जो रीवावालो की ओर से चलता था और छोटे गूदड़ जी का अखाड़ा थे। ये दोनो अखाड़े अठारहवी सदी में कायम हुए। दिगम्बरी अखाड़ा और बैद अखाड़ा उन्नीसवी शताब्दी के आरभ में कायम हुए। पण्डित जी का अखाड़ा टीका दास ने १८४५ में कायम किया। विष्णुपन्थी अखाड़ा रामानुज का क़ायम किया हुआ माना जाता है। दादू पन्थी अखाड़ा कायम करने वाला बुद्धन नाम का कोई व्यक्ति था।

अस्सी से आगे बढने पर हमें तुलसीघाट मिलता है। जहाँ तुलसीदास की १६२३ में मृत्यु हुई। इसके आगे चल कर हनुमान घाट पड़ता है जिस पर रईस साधुओ का जूना अखाड़ा है। कहावत है कि इसकी सीढ़ियाँ बनारस के एक जुआड़ी नन्द दास ने अपने एक दिन की कमाई से बनवा दी थी। इसी घाट के ऊपर एक मकान में पुष्टिमार्ग के सस्थापक श्री वल्लभाचार्य रहते थे। इसके बाद शिवालाघाट पड़ता है जिस पर निरबानियो और निरञ्जनियो के अखाड़े पड़ते हैं। इस घाट के बाद राय बलदेव सहाय और बच्छराज के घाट पड़ते हैं। राय बलदेव सहाय के घाट को अब माता आनन्दमयी घाट कहते हैं। बच्छराज घाट को शायद बनारस के अठारहवी सदी के प्रसिद्ध व्यापारी लाला बच्छराज ने बनवाया था। इसके बाद खिड़की घाट पड़ता है जिसे बलवन्त सिंह के इंजीनियर बैजनाथ मिश्र ने बनवाया था और जहाँ से निकलकर चेतसिंह भागे थे। इसके बाद केदारघाट, चौकीघाट, नारदघाट, अमृतराव घाट, भुवनेश्वर-घाट, गगामहल, खोरीघाट, चौसट्ठीघाट, पाँडेघाट, रानाघाट और मुन्शीघाट पड़ते हैं।

---

[1] प्रिंसेप, वही, पृ० १७-१८

मुन्शीघाट को नागपुर राजा के एक मत्री श्रीधर मुन्शी ने वनवाया था। वे १८१२ में अपने पद से अलग होकर वनारस में रहने लगे थे जहाँ इनकी मृत्यु १८२४ में हुई। इन्होने केवलगिरि घाट के दक्षिण में मुन्शीघाट वनवाया। रानामहल उदयपूर के महाराणा ने सत्रहवी सदी में उदयपूर से वनारस आने वाले यात्रियो के ठहरने के लिये वनवाया। इसके वाद दशाश्वमेध घाट पडता है। यह घाट काशी के पाँच प्रसिद्ध घाटो में से है। ऐसा भान होता है कि इस घाट को वालाजी वाजीराव ने १७४८ के करीव वनवाया। इस घाट का नाम दशाश्वमेध घाट क्यो पडा यह तो नही कहा जा सकता, पर डा० जायसवाल का अनुमान है कि ईसा की दूसरी सदी में प्रसिद्ध भारशिव राजाओं ने कुषाणो को हरा कर दस अश्वमेध करने के वाद अवभृत स्नान किया तभी से इस स्थान का नाम दशाश्वमेध पड गया।

दशाश्वमेध के वाद मानमन्दिर घाट पडता है जिसे सत्रहवी सदी के आरम्भ में अम्वर के प्रसिद्ध राजा मानसिंह ने यात्रियो के ठहरने के लिए वनवाया था। उन्ही के वश के सवाई जयसिंह द्वितीय ने जो अपने समय के प्रसिद्ध ज्योतिर्विद थे १७३७ में यहाँ एक वेधशाला स्थापित की पर शायद इसकी नीव १७१० में ही पड चुकी थी। समरथ जगन्नाथ नाम के जयसिंह के एक प्रसिद्ध ज्योतिषी ने इस वेधशाला का नक्शा वनवाया था और सदाशिव के निरीक्षण में सरदार महोन ने जो जयपुर के एक शिल्पी थे यह वेधशाला तैयार करवायी।[1] इसमें दक्षिणोत्तर-भित्तियन्त्र, सम्राटयन्त्र, दिगंशयन्त्र, नालीवलययन्त्र और चन्द्रयन्त्र थे, जिनसे लग्न इत्यादि साधने का काम लिया जाता था। १८२४ में विशप हेवर ने इस वेधशाला को देखा। उस काल में भी यह वेधशाला काम में नही लायी जाती थी।

मानमन्दिर घाट के वाद मीरघाट पडता है। इस घाट को पहले जरासघ घाट कहते थे। वनारस के फौजदार मीर रुस्तमअली ने १७३५ में यहाँ एक क़िला और घाट वनवाये जिसे वाद में खोदकर राजा वलवन्त सिंह ने उसी के मसाले से रामनगर का किला वनवाया। इसके वाद उमरावगिरि घाट और उसके वाद जलसाई अथवा श्मशान घाट पडता है। वनारस में यहाँ मुरदे जलाने की प्रथा कव से चली इसका तो पता नही चलता, पर हिन्दू नगरो के दक्षिण में श्मशान होने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जव वनारस की वस्ती उत्तर में थी तव शायद श्मशान यहाँ था, पर शहर की वस्ती तो वनारस के दक्षिण में वढती गयी पर श्मशान जहाँ का तहाँ रहा। फिर भी यह विवादास्पद है कि यह प्राचीन श्मशान सभी कालो में एक ही जगह पर था, अथवा वह अपना स्थान वदलता रहा है। काशी के लोगो का विश्वास है कि प्राचीन श्मशान जमघाट पर था जो सकठा घाट से सटा हुआ है। यहाँ यमधर्मेश्वर और हरिश्चन्द्रेश्वर के मन्दिर भी है और यम द्वितीया का स्नान भी लगता है। चौक में भद्दोमल की कोठी के नीचे श्मशान विनायक का मन्दिर है। सभव है कि जमघाट से श्मशान विनायक तक जिसकी दूरी चार फर्लांग है पहले श्मशान भूमि थी। वनारस

[1] नागरीप्रचारिणी पत्रिका ४७, अक ३–४, पृ० २१८–१९

में तो यह कहावत है कि मणिकर्णिका घाट के निकट महाश्मशान की स्थापना कश्मीरीमल ने की। अपनी माँ का शव कश्मीरीमल हरिश्चन्द्र घाट ले गये पर वहाँ लेन देन के बारे में डोमो से कुछ कहा सुनी हो गयी। चट शव को वे मणिकर्णिका के घाट पर उठवा लाये और पण्डो और जमीदार से जगह खरीद कर उसी पर माँ का दाह करके वहाँ घाट बनवा दिया तथा शवदाह के लिये डोमो का निर्ख बाँध दिया।[1] पर श्मशान घाट का और डोमो का निर्ख कायम करने का श्रेय नारायण भट्ट कायगाँवकर के वंशधर नारायण भट्ट को देते है।

मणिकर्णिका घाट काशी का बहुत प्राचीन तीर्थ है और जैसा हम देख आये है, इसका उल्लेख सातवी सदी में भी मिलता है। इस घाट की सीढियो पर मढियाँ बनी है जिनमें कुछ तो घाट की मजबूती के लिये है, कुछ घाटियो और गंगापुत्रो के कब्जे में है। कुछ मठ-मढियाँ यात्रियो ने ब्राह्मणो और साधु-सन्यासियो के लिये बनवा दी थी। उनकी चौरस छतो पर अब घाटिये बैठते है। अट्ठारहवी सदी के अन्त और उन्नीसवी सदी के आरम्भ में मणिकर्णिका घाट के जमीन का दाम बहुत ऊँचा था। १८२९ में मणिकर्णिका के बगल में वीरेश्वर घाट की मरम्मत के लिए १५,००० रु० देकर महाराज सिंधिया ने गंगापुत्रो की अनुमति चाही, इस शर्त पर कि घाट बन जाने पर वे अपने चबूतरे रख सकते और पूर्ववत् अपना काम चला सकते थे, पर ऐसी अनुमति उन्होंने नही दी।[2]

संभवत वीरेश्वर घाट की मरम्मत न करा सकने पर सिंधिया रानी बैजाबाई ने सिंधिया घाट बनवाया पर वह कुछ ही दिनो के बाद धँस गया। अब फिर से यहाँ पक्का घाट बन गया है। प्रिंसेप के समय में यहाँ दो मढियाँ थी जहाँ मरणासन्न रोगी लाकर रक्खे जाते थे।

सकठा जी के मन्दिर को गुहनाबाई ने बनवाया था। इस मन्दिर के बगल में बेनीराम पण्डित के भाई विसम्भर पण्डित की विधवा का जिन्हें बनारसी 'पण्डिताइन' के नाम से जानते थे, मकान था। १८२५ में 'पण्डिताइन' के भतीजो ने घर के नीचे घाट बँधवा दिया जो अब सकठा घाट के नाम से मशहूर है।[3]

भोसला घाट की रचना बडी सुदृढ है। करारे की ऊँचाई के कारण खाली दीवालें होनी आवश्यक थी। घाट की छत गली के बराबर पहुँचती है। बुर्जीदार इमारत ढोको से बनी है। बाढ में नदी सीढी तक पहुँच जाती है। नागपुर के राजा ने लक्ष्मी नारायण का मंदिर यहाँ उन्नीसवी सदी के आरंभ में स्थापित किया।[4]

---

[1] हंस, काशी अंक, पृ० ४२

[2] प्रिंसेप, उल्लिखित प्लेट १७

[3] प्रिंसेप, वही, प्लेट ३

[4] प्रिंसेप, वही, प्लेट० १९

भोसला घाट के बाद यज्ञेश्वरघाट, रामघाट और मगला गौरी घाट और दलपत घाट पड़ते हैं। राय कृष्णदास के मकान के नीचे का पुश्ता राजा मानसिंह द्वारा रामशास्त्री को दिया गया था। १९४८ की बाढ़ यह पुश्ता बहा ले गयी। माधोराय की मस्जिद के धरहरे कगन की हवेली के पीछे उठते थे। कगनी की हवेली नाम के लिये तो जयपुर राज्य के अधिकार में है लेकिन इसमें पुजारी रहते हैं। पुराने बिंदुमाधव के एक आगे बढे हुए कगूरे को खरीद कर पेशवा बाजीराव ने एक दूसरा सुन्दर घाट और मदिर बनवा दिया जो अब बाजीराजी घाट नाम से मशहूर है।[1]

जैसा हम पहले देख आये हैं बिंदुमाधव के मदिर के मलबे से औरगजेब ने मस्जिद बनवायी। तावर्नियर के अनुसार यह मदिर पचगगा से रामघाट तक फैला हुआ था और इसके अहाते में राम और मगलागौरी के मदिर और पुजारियो के रहने के बहुत से घर थे। मस्जिद में किसी तरह की कला-सौंदर्य नहीं है, पर धरहरे सुन्दर थे। इनका व्यास ८। फु० जड में और ७॥ फुट ऊपर था तथा ऊँचाई १४७ फुट २ इच था। नदी से मस्जिद के फर्श की ऊँचाई गर्मी में ८० फुट रहती है। कुछ दिन हुए एक धरहरा ढह गया। अब दोनो मीनारें पुरातत्त्व विभाग ने उतरवा कर नीची करा दी है।

१८३० के करीब मस्जिद और मीनारो की मरम्मत हुई क्योंकि मीनार १५ इच एक तरफ़ा झुक गये थे। जिस रोज पाइट उतारी गयी उसी रोज एक मीनार पर बिजली गिरी पर सौभाग्यवश एक पत्थर खिसकने के सिवा इसे और कोई नुकसान नहीं हुआ।

१८२० और १८३० के बीच चार या पाँच बार लोगों ने दक्षिणी धरहरे पर से कूद कर अपनी जान दे दी। एक बार एक फकीर धरहरे पर से लुढक गया, पर न जाने कैसे बच गया। उसकी इस अद्भुत शक्ति से प्रभावित होकर लोग उसे दान दक्षिणा देने लगे। मजा तो तब आया जब फकीर धूस अच्छी होते ही अपने मेजबान का माल्मता लेकर चपत हो गया।[2]

पचगगा घाट पर हिंदुओ के विश्वास के अनुसार पाँच नदियाँ यथा गगा, धूतपापा, जीर्णनदा, किरणा और सरस्वती आकर मिलती है और इसीलिये काशी का यह मुख्य तीर्थ माना जाता है। जैसा हम पहले देख चुके है, इस घाट को श्रीपतराव नाम के एक महाराष्ट्र ने बनवाया। घाट चौडा और गहरा है और सीढियाँ पत्थर की है घाट के ऊपर चबूतरे के चारो ओर एक गली है। यहाँ से सीढी चढकर शहर को जाने की गली मिलती है। पचगगा के आगे ब्रह्माघाट और दुर्गाघाट को १७४० के करीब नारायण दीक्षित कायगाँवकर ने बनवाया था। इन घाटो के बाद राजमन्दिर, लालघाट, गायघाट, बालाबाई घाट, त्रिलोचन घाट, महू घाट, तेलियानाला, प्रह्लाद घाट

---

[1] प्रिंसेप, प्ले० २

[2] प्रिंसेज, वही, प्ले० ४

और राजघाट पड़ते हैं। राजमन्दिर घाट के नीचे सीढ़ियाँ, इसके मालिक भवानी गिरि और उनके पड़ोसी उमराव गिरि पुश्ता के मालिक के झगड़ो के कारण न बन सकी।

आदिकेश्वर घाट वरना और गगा के सगम पर है। जैसा हम पहले देख आये है, इसका उल्लेख गाहड़वालो के ताम्रपत्रो में मिलता है। यहाँ सगमेश्वर और ब्रह्मेश्वर के मन्दिर और घाट अट्ठारहवी सदी के अन्त में सिन्धिया के दीवान ने बनवाया। बाग़ियो का अड्डा होने के कारण ग़दर के जमाने में ये मन्दिर बन्द कर दिये गये थे।

३. तीर्थयात्रा

इसमें ज़रा भी सदेह की जगह नही है कि भारतवर्ष के मध्यकालीन इतिहास में बनारस एक प्रसिद्ध तीर्थ-स्थल हो गया। गया और प्रयाग के साथ इसकी त्रिस्थली में गिनती होने लगी और यहाँ की तीर्थयात्रा मुक्ति की सीढ़ी मानी गयी। काशी की पवित्रता से यह परिणाम निकला कि भारतवर्ष के कोने-कोने से हिन्दू यात्री, रास्ते के सब कष्टो को झेलते हुये, यहाँ आने लगे। बहुत से धर्म-प्राण हिन्दू तो मुक्ति की अभिलाषा से इस पवित्र क्षेत्र में बस गये। यहाँ के गगाजल की इतनी महिमा बढी कि काशी से कावड़ियाँ भर-भरकर गगाजल सुदूर दक्षिण में रामेश्वर तक जाने लगा और दक्षिण भारत में तो काशी की यात्रा किये हु लोग विशेष पुण्य के भागी माने जाने लगे। काशी की धार्मिक महत्ता का यह नतीजा हुआ कि यहाँ मन्दिरो की सख्या बढने लगी। जैसा हम ऊपर कह आये है गाहड़वाल युग में जब मुइजुद्दीन ने बनारस को फतह किया, उस समय यहाँ उसने एक हज़ार मन्दिर गिरा दिये, पर बनारस की पवित्रता इतनी दृढ हो चुकी थी कि मुसलमानो के लाख रोकने पर भी और अनेक बार मन्दिरो के तोड़ने पर भी वहाँ बराबर मन्दिर बनते ही रहे। अकबर के समय में तो यहाँ विश्वेश्वर का प्रसिद्ध मन्दिर बना। बनारस में तो कहावत है कि अकेले महाराज मानसिंह ने ही एक लाख मन्दिर काशी में बनवाये। इतने मन्दिर तो भला कैसे बन सकते थे इसके लिए बहुत से ढोको पर मन्दिर के नक्शे खिचवा दिये गये और इस तरह काम बन गया। तभी से, जान पड़ता है, बनारस में काशी के ककड़ शिवशकर समान वाली कहावत निकली। शाहजहाँ के युग से बनारस में मन्दिरो पर पुन आफत आने लगी और औरगज़ेब ने तो यहाँ के मन्दिरो का सफाया ही कर दिया। अग्रेजो के बाद जब बनारस के धार्मिक जीवन में कुछ स्थिरता आयी अट्ठारहवी सदी के अन्त से बनारस में पुन मन्दिर बनने लगे। आज दिन तो उनकी सख्या एक हजार के ऊपर ही हो गयी। इनमें से अधिकतर प्रसिद्ध मन्दिर मराठो ने बनवाये। इन मन्दिरो की धार्मिक महत्ता कितनी ही हो पर स्थापत्य तथा कला की दृष्टि से इनमें कोई विशेषता नही है। इनमें से कुछ मन्दिरो का हम आगे चलकर उल्लेख करेंगे।

बनारस की पवित्रता पचक्रोशी की सीमा के अन्दर मानी जाती है। गगा के उस पार तो मगह माना जाता है जहाँ मरने के बाद मुक्ति की सभावना नहीं रहती। करमनासा को जो शायद किसी समय काशी और मगध की सीमा पर थी एक समय धार्मिक हिन्दू पूर्वसचित सुकर्मों को क्षय करने वाली मानते थे और वहाँ जब तक पुल नही बना

था, तबतक इन डर ने कि कहीं करमनासा के पानी में उनके पैर न छू जायँ, वे नौबतपुर के पास मजदूरों के कन्धों पर चढकर नदी पार करते थे। बाद में तो नाना फड़नवीस ने और राजा पट्टनीमल ने यहाँ पुल बँधवा दिये जिससे यात्रियों के सुकर्मों की रक्षा हो सके।

पञ्चक्रोशी का प्रदेश बनारस की तरह पवित्र माना जाता है और यह ध्यान देने योग्य है कि पञ्चक्रोशी के सब मन्दिर बनारस की सीमा में बने हैं। पञ्चक्रोशी की पचास मील लम्बी सडक पर पाँच मजिलें हैं। पञ्चक्रोशी की सडक मणिकर्णिका घाट से आरम्भ होकर दक्षिण पश्चिम कदवा को जाती है, वहाँ से राजा तालाब के दक्खिन भीमचण्डी के मन्दिर को, फिर वहाँ से उत्तर चौखण्डी होती हुई बरना पर स्थित रामेश्वर को, वहाँ से पुल पारकर पाँचों पडवा तलाब होते हुए शिवपुर को, वहाँ से सगम के पास कपिलधारा और कोटवा के मन्दिर होते हुए फिर मणिकर्णिका पर सडक समाप्त हो जाती है।

पञ्चक्रोशी यात्रा का इतिहास कितना प्राचीन है यह तो ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। पर प्राचीन साहित्य में इसका उल्लेख नहीं मिलता है। जो भी हो अट्ठारहवीं सदी के अन्त में तो पञ्चक्रोशी की यात्रा बनारस की तीर्थ यात्रा की एक खास अग बन गयी तथा महाराष्ट्रों और रानी भवानी ने यात्रियों के सुभीते के लिए इसके मार्ग पर अनेक धर्मशालाएँ और मन्दिर बनवाये।

जो लोग किसी कारण से पञ्चक्रोशी की यात्रा नहीं कर सकते उनके लिए पञ्चतीर्थ का विधान है अर्थात् वे सगम, पञ्चगगा, मणिकर्णिका, दशाश्वमेध और अस्सी घाट पर स्नान करके अपनी तीर्थ यात्रा को सुफल मानते हैं।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, बनारस में मुक्ति की कामना से रहने वालों की आज दिन की तरह अट्ठारहवीं सदी में भी काफ़ी सख्या थी और इसलिए उस शहर में लकडी की कमी की वजह से मुरदे जलाने की काफी समस्या बनी रहती थी। इतना ही नहीं उन्नीसवीं सदी तक मुक्ति कामना से गगा में डूब मरने की भी बनारस में काफी चाल थी। गगा में डूब मरने वाले दो बडे बाँध कर आगे निकल जाते थे और घडों में पानी भर जाने के कारण डूब कर स्वर्ग का रास्ता पकडते थे। अग्रेजों ने इस प्रथा को रोकने का प्रयत्न किया पर उसका केवल इतना ही नतीजा हुआ कि जान देने वाले गगा में कुछ आगे बढ कर जान देने लगे।[१] अब इस प्रथा का बनारस में पता तक नहीं है।

अट्ठारहवीं सदी और उन्नीसवीं सदियों में भी आज की ही तरह गगा-स्नान और शिव का दर्शन ही काशी यात्रा के मुख्य अग थे। समय मिलने पर और गाँठ में काफी रक़म होने पर भैरव और गणेश के दर्शन भी जरूरी थे। गगा पर, आज की तरह, पिंडदान होता था और बनारस से गया जाने के पहले लोग पिशाचमोचन पर पिंडा पारते

[१] हेबर, उल्लिखित, पृ० १६२।

थे। यह सब यात्राएँ आज दिन की ही तरह पण्डे कराते थे जिनका मुख्य ध्येय होता था यात्रियो से कसकर दक्षिणा वसूल करनी। अट्ठारहवी सदी में जात्रा-वाली का काम गगापुत्रो के हाथ में था। ये अपनी वहियो में यात्रियो से दस्तखत करा लेते थे और तव यह निश्चित समझा जाता था कि उन यात्रियो के खानदान वाले उन्हें ही अपना तीर्थ पुरोहित मानेंगे, पर नये यात्रियो को लेकर गगापुत्रो में आपस में वरावर झगडा उठा करता था। इन गगापुत्रो का मन्दिरो की दान-दक्षिणा में कोई अश नही था। वनारस के अधिकतर मन्दिरो को लोगो ने वनवा कर पुजारियो के सुपुर्द कर दिये और वाद में चलकर वे उनके निजी सपत्ति वन गये। ऐसी जायदादो के सम्बन्ध में वनारस की अदालत में अनेक मुक़दमें भी चलने लगे और आम जनता से उनके प्रवन्ध के वारे में कोई मतलव नही रह गया। लेकिन घाट और तालावो पर के धार्मिक कृत्यो की तो वात ही दूसरी थी और इनके हकों को लेकर गगापुत्रो में आपस में काफी लडाई होती रही। इतना ही नही, जैसा हम आगे चल कर देखेंगे, अट्ठारहवी सदी में तो वनारस में गगापुत्रो का इतना उपद्रव वढ गया कि यात्रियो को उनसे अपनी जान वचानी मुश्किल पड जाती थी। वारेन हेस्टिंग्स ने वनारस की उन्नति के लिए और जो वहुत से काम किये, उनमें वनारस के गगापुत्रो का दमन भी एक मुख्य काम था और इस काम के लिये वनारस के रईसो, पण्डितो और महाजनो ने एक स्वर से १७८७ में अपनी तरफ से वारेन हेस्टिंग्स को मानपत्र देकर उनके इन उद्दण्डो के दमन के लिए सराहा। फिर भी उन्नीसवी सदी में गगापुत्र वरावर दगा फसाद में रत रहते थे और इनके कारण वनारस की सारे भारत में वदनामी होती रही।

अट्ठारहवी सदी में वनारस में तीर्थ पुरोहितो में झगडा वढने का मुख्य कारण महाराष्ट्र के तीर्थ पुरोहित भी थे। वनारस के गगापुत्र घाटो और तालावो पर धार्मिक कृत्य कराने और दक्षिणा वसूल करने को अपना मौरूसी हक मानते थे, पर जव वनारस के साथ अट्ठारहवी सदी के प्रथम चरण में महाराष्ट्र का सवध वढा और वहुत से महाराष्ट्र व्राह्मण वनारस में आकर वसने लगे तव उन्होने भी इस दान दक्षिणा में हाथ वँटाना चाहा। फिर क्या था वनारसी गगापुत्रों और पचद्राविड तीर्थ पुरोहितो में ठन गयी। इस झगडे की झलक हमें पेशवा दफ्तर के अनेक पत्रो और वनारस की अदालती कार्रवाइयो से मिलती है। पहला झगडा सन १७१७ में हुआ। महाराष्ट्र व्राह्मणो ने यह माँग की कि महाराष्ट्र और दक्षिण भारत से आये यात्रियो को पुजवाने का उन्हें हक था। मुहम्मदावाद वनारस के काजी ने मुकदमा सुनकर पचद्राविडो के पक्ष में अपना फैसला दिया लेकिन दो वरस वाद दोनो में आपस में सुलह होकर यह तय पाया कि नदी के किनारे केवल गगापुत्र ही पुजवा सकते हैं। सुलहनामे की शर्तों को भग करने वाले को दड देने की भी वात हुई।[१] पर इसमें शक नही कि यह मनोमालिन्य कभी भी पूरी तरह से दूर नही हुआ। अपने १७३५ के एक पत्र में सदाशिव नायक ने[२] वाजी राव को

[१] वनारस गजेटियर, पृ० ६८-७१

[२] पेशवा दफ्तर, १७-२६

लिखा कि १७३० में उनके मणिकर्णिका घाट बनवाने पर गगापुत्रो को बडी डाह हुई और वे यह मानने को तैयार नही थे कि घाट बाजीराव ने बनवाया था। जो भी हो बनारस के गगापुत्रो ने १७३५ में जब पेशवा की माता राधाबाई बनारस की यात्रा के लिए आयीं तो एक नयी चाल चली जिसमे बनारस के पच द्राविड तीर्थ पुरोहितो को काफी नीचा देखना पडा। उन्हें, जान पडता है, समझा-बुझाकर उमानाथ पाठक नाम के एक गगापुत्र ने यह लिखवा लिया उनके पुत्र बाजी राव तथा चिम्णाजी आपा और उनके वशधर उन्ही की पूजा करेंगे।[1] काशी के महाराष्ट्र ब्राह्मण, जान पडता है, इस बात मे बडे नाराज हुए और उनकी नाराजगी का आभास नारायण दीक्षित के उस पत्र मे मिलता है,[2] जिसमें उन्होने बालाजी बाजी राव मे इस बात की शिकायत की कि राधाबाई की दान-दक्षिणा दूसरे मार ले गये, बिचारे महाराष्ट्र पडित मुँह यों ही देखते रह गये। महीपतराव कृष्ण चाँदवाडकर के १७७६ के एक पत्र मे पता चलता है[3] कि उस समय गया, प्रयाग और काशी में गगापुत्रो की मीनेज़ोरी चरम सीमा को पहुँच गयी थी। पूना से खबर उड गयी कि राव साहब की अस्थि बनारस जा रही थी फिर क्या था गगापुत्रो ने महीपतराव को दक्षिणा का इतजाम करने को जा घेरा। कहासुनी के बाद मारपीट हो गयी और बहुतो के सिर फूटे। बिचारे चाँदवाडकर को तो अपनी जान के लाले पड गये।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, वारेन हेस्टिग्स के समय में बनारस के गगापुत्रों का काफी दमन हुआ और यात्रियो के लिए बनारस की यात्रा बहुत कुछ सुखकर हो गयी, पर तीर्थ-पुरोहिती तो गगापुत्रो की मारूमी जायदाद थी। इसके लिए वे सब कुछ करने को सर्वदा तैयार रहते थे। १८०३ में लॉर्ड वेलेंशिया ऐसी ही एक घटना का उल्लेख करते हैं।[4] उस साल नागपुर के राजा की बहन यात्रा के लिए काशी आयी थी। बनारस के सात हजार गगापुत्रो ने मिलकर उनसे इतनी गहरी दक्षिणा वसूल करनी चाही जो उनकी सामर्थ्य के बाहर थी और बिना दक्षिणा वसूल किये गगापुत्र कृत्य कराने को तैयार नही थे। अत में मि० नीव के बीच में पडकर उचित दक्षिणा तय करवायी और तब कहीं उनकी यात्रा पूरी हुई।

ईस्ट इडिया कपनी ने पहले तो सब दान-दक्षिणा सरकारी खजाने के हवाले कर देने की आज्ञा दी, लेकिन १८०३ में इस बात को मान लिया कि गगातीर की दान दक्षिणा लेने के अधिकारी गगापुत्र थे। १८१३ और १८२० की दीवानी अदालत के फैसले के अनुसार गगापुत्रो ने पचद्राविडो के विरुद्ध अपने अधिकार पाये, लेकिन १८२१ में इस झगडे के बीच घाटिये आ धमके और उन्होने इस बात का दावा किया कि पचगगा घाट पर, जिसके वे मालिक थे, की सब दान दक्षिणा गगापुत्रों को न मिलकर

[1] पेशवा दफ्तर, ९, २५

[2] पेशवा दफ्तर, ३०, १

[3] पेशवा दफ्तर, ३२, १९३

[4] वेलेंशिया, उल्लिखित, पृ० ८०

उन्हें मिलनी चाहिए। १८२९ में गंगापुत्रो ने पंचद्राविडो को पिशाचमोचन और दूसरे तालावो पर दखल जमाने से रोका लेकिन घाटिये अपनी जगहो पर अदालत के फैसले के विरुद्ध भी डटे रहे।

यह तो हुई गंगातीर कृत्य कराने की बात। शहर में यात्रा कराने की तो दूसरी ही स्थिति थी। १८१३ में बनारस की दीवानी अदालत ने फैसला दिया कि पंच-द्राविडो को अपने देश के यात्रियो को यात्रा कराकर दक्षिणा वसूल करने का हक है। पर इतना सब होते हुए भी बराबर इस संबंध में फौजदारियाँ होती रही। आपस की इस लडाई झगडे को देखकर दूसरे ब्राह्मण भी गंगापुत्रो और पंचद्राविडो के अधिकारो में दस्तदाजी करने लगे। इनमें जोशी और जाम्रावाल तो बंगालियो को फाँसते थे और भडरिये, जो पहले गंगापुत्रो के नौकर होते थे, अपना निज का कार बार चलाने लगे।

४. काशी के मन्दिर

बनारस को विविध धर्मों का एक बृहद् संग्रहालय कहा जाय, तो अनुचित न होगा। भगवान बुद्ध ने तो इसी स्थान से धर्मचक्र प्रवर्त्तन किया और बहुत दिनो तक या ऐसा कहना चाहिए कि आज दिन तक वह बौद्धो का प्रधान तीर्थ चला आता है। जैनो के प्रसिद्ध तीर्थंकर पार्श्वनाथ के जन्म-भूमि का भी बनारस को गौरव प्राप्त है और इसीलिए बनारस बहुत प्राचीन काल से जैनियो का भी प्रसिद्ध तीर्थ स्थल रहा है। शैवधर्म से तो बनारस का बडा प्राचीन सम्बन्ध है और भागवतो ने भी गुप्तयुग में बनारस में अपना अड्डा जमाया। इतना ही नही बनारस बहुत प्राचीन काल से ही नाना मतावलंबी श्रमणो और ब्राह्मणो का साधन स्थल था। इन उन्नत धर्मों के रहते हुए भी बनारस में उन्नीसवी सदी तक अथवा यो कहिए कि कुछ अंशो में आज तक उन आदिम धर्मों और विश्वासो का अड्डा बना हुआ है जिनकी प्राचीन झलक हम मातृपूजा, यक्षपूजा और नागपूजा में पाते है। बनारस के बरम और वीर और उनकी पूजा की पद्धति, स्त्रियो का हवुआना इत्यादि प्राचीन यक्षपूजा की ओर संकेत करते है। कुओं में रहने वाले नागो की पूजा हमारा उस प्राचीन नागपूजा की ओर ध्यान दिलाती है जो एक समय बनारस में इतनी प्रबल थी कि स्वतः बुद्ध को नाग एलापत्र को हराकर उसे स्वीकार करना पडा। इस प्रदेश में यक्ष-पूजा इतनी प्रबल थी कि स्वयं शिव को यक्षो को स्वीकार करके, अपना पार्षद बनाना पडा। बनारस के बहुत से भैरव हमें उन्ही प्राचीन यक्षो की याद दिलाते है। माता की पूजा तो बनारस के लोक-धर्म का एक अंग है। इस तरह से बनारस में अनेक धर्मों का समन्वय हुआ और काशी वासियो ने किसी वैर-भाव के बिना सब धर्मों का आदर किया। धर्मों का संग्रहालय बनने के फलस्वरूप भिन्न-भिन्न धर्मों के प्रतीक मन्दिरो का भी बनारस अद्वितीय संग्रहालय बन गया। बनारस में मुसल्मानो के आने के पहले कितने बौद्ध, शैव, जैन, और भागवत मंदिर बनारस में बने इसका तो लेखा जोखा बनाना कठिन है क्योंकि इनमे अधिकतर का नाम निशान ही मिट चुका है पर कुछके अवशेष अभी तक जमीन के अन्दर छिपे होंगे इसमें कोई संदेह नही। चेदि और गाहडवाल युग में भी बनारस में बहुत से मंदिर बने होंगे इसमें शक नही। इसमें सर्व प्रधान कलचूरि कर्ण का बनवाया हुआ प्रसिद्ध मंदिर कर्ण मेरु

था। इसमें सदेह नही कि बनारस के इस विशाल कला वैभव को ११९४ में मुसलमानो ने भूमिसात् कर दिया, पर न जाने कैसे उस युग का एक मन्दिर बनारस में कदवा के पास बच गया जिसका सुन्दर और सादा स्थापत्य हमें बताता है कि दसवी सदी में भी बनारस के कारीगर अपने काम में कितने दक्ष थे। मुसलमानो ने बनारस को ध्वस्त तो कर दिया पर उस पवित्र नगरी के प्रति हिंदुओं की लगन को नहीं मिटा सके। तेरहवी सदी में बनारस में मन्दिर पुन बने और बनने और गिराने का यह क्रम अकबर के पहले तक जारी था। इस समदर्शी सम्राट के राज्यकाल में फिर बनारस में विश्वेश्वर की स्थापना हुई और मानसिंह और टोडरमल ने पुन नगर को नया जीवन देने का प्रयत्न किया। पर घटनाचक्र ने फिर बनारस से बदला लिया। शाहजहाँ काल में अबबने मन्दिरो का बनना रोक दिया गया और कुछ जहाँगीर काल में मन्दिर गिरा भी दिये गये, पर औरगजेब ने बनारस का सत्यानाश ही कर डाला। बनारस के तीन प्रसिद्ध मन्दिर यथा विश्वनाथ कृत्तिवासेश्वर और बिंदुमाधव के मन्दिर तोडकर मस्जिदो में परिणत कर दिये गये, सस्कृत पाठशालाएँ बद कर दी गयी और पुस्तकालय लूट लिये गये। बनारस बहुत दिनो तक इस धक्के से नही सँभला। बनारस के सास्कृतिक जीवन का पुनरुत्थान हम १७३० के बाद से देखते है, जब मराठो की दृष्टि बनारस की ओर फिरी। उन्होंने घाट बाँधे और ब्रह्मपुरियाँ बनवायी। अट्ठारहवी सदी के अत में, जब बनारस का राजनीतिक वातावरण अग्रेजो के अधिकार में बहुत कुछ स्थिर हो चुका था, मुख्यरूप से मराठे पुन मन्दिर बनारस में बनवाने लगे और यह क्रम उन्नीसवी सदी के आरम्भ तक चलता रहा। पर अट्ठारहवीं सदी का अत कला के ह्रास का युग था और इसकी स्पष्ट छाप हम बनारस के मन्दिरो और मूर्तियो पर पाते है। इस युग के मन्दिरो को हम श्रद्धा की दृष्टि से देख सकते है पर कला की दृष्टि से नही। उसके लिये तो हमें घाटो के आलो पर रक्खे प्राचीन बनारस के मन्दिरो की टूटी फूटी मूर्तियो के पास जाना होगा, अथवा जाना होगा सारनाथ अथवा भारत कलाभवन के सग्रहालयो में। उन्नीसवी सदी के बनारस में शायद श्रद्धा थी पर भक्ति नहीं, दिल था पर दिमाग नही।

हम देख आये है कि किस तरह १६९६ में औरगजेब की आज्ञा से विश्वनाथ का मदिर तोडा गया। इसके बाद करीब एक सौ पच्चीस बरसो तक फिर विश्वनाथ का मदिर नही बना। १७८५ के लगभग अहिल्याबाई ने विश्वनाथ का नया मदिर बनवाया। १८२४ में विशप हेबर ने विश्वेश्वर का यह मदिर देखा। उनके वर्णन से यह मालूम पडता कि उन्नीसवी सदी के आरभ में भी मदिर की वैसी ही स्थिति थी जैसी आज है। "मदिर का छोटा प्रागण खूब हृष्टपुष्ट साडो से भरा रहता है। ये साड चने और मिठाई की तलाश में लोगो के हाथो और जेबो पर अपना मुँह ले जाते है। उन्हें यात्री खूब मिठाई खिलाते है। मदिर का मडप और दालानें भस्म रमाये और शिव का नाम जपते उपासको से भरा रहता है जिनके शोर गुल से एक अजनबी का सिर चकरा जाता है। मदिर बहुत साफ रहता है क्योकि पुजारी हमेशा मूर्तियो और फर्श पर पानी डाला करते हैं। पुजारी मुझे मदिर दिखलाने में उत्सुक दीख पडे और दक्षिणा की आशा अपने को मुझ जैसा ही पादरी कहते थे।"

बनारस में लोगो का विश्वास है कि प्राचीन विश्वनाथ का मदिर उत्तर-पश्चिम आदि विश्वेश्वर के मदिर की जगह था। लेकिन बात ऐसी नही है क्योकि जब विश्वनाथ का प्राचीन मदिर तोडा गया तो उसी के बगल में नया मदिर बना। पौराणिक अनुश्रुति कहती है कि ज्ञानवापी विश्वनाथ के मदिर के दक्षिण में थी पर आदि विश्वेश्वर के दक्षिण में ऐसा कोई कुआँ नही है।

गाहडवाल युग में विश्वनाथ का मदिर कहाँ था इसका ठीक पता नही लगता, पर संभव यह है कि यह शहर के उत्तर भाग में ही रहा होगा। ११९४ और १६६९ के बीच में विश्वनाथ का मदिर कई बार गिराया गया। नारायण भट्ट १५८५ में लिखे अपने त्रिस्थली सेतु में कहते हैं कि शिवलिंग हटा दिये जाने पर पुन जिस शिवलिंग की स्थापना हो उसी की पूजा करनी चाहिए। म्लेच्छो द्वारा मदिर के नष्ट किये जाने पर लोग मदिर की खाली जगह की ही पूजा करते थे। टोडरमल की सहायता से नारायण भट्ट ने, अपने जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, विश्वनाथ का मदिर बनवाया। इस मदिर का वर्णन हम अकबर कालीन बनारस वाले अध्याय में कर चुके हैं। हम यह भी बता चुके हैं कि औरंगजेब काल में किस तरह यह मदिर तोडा गया और उस पर मस्जिद बनायी गयी। अहिल्याबाई द्वारा विश्वनाथ का आधुनिक मदिर बनवाये जाने के बाद वारेन हेस्टिंग्स की आज्ञा से उस पर नौबतखाना बनवाया गया। महाराज रणजीतसिंह ने उसके शिखर पर सोना चढवा दिया। ज्ञानवापी का मडप १८२८ में बैजाबाई सिंधिया ने बनवाया। नैपाल के राजा ने उन्नीसवी शताब्दी के आरभ में नदी की स्थापना की।

स्थापत्य कला का इस मदिर में कोई महत्त्व नही है। बिशप हेबेर की १८२४ में यहाँ एक वेदपाठी पडित से मुलाकात हुई जो आठ बजे से चार बजे तक तो वेदो पर व्याख्यान देते थे और रात में वही सो जाते थे। ये किसी से कुछ माँगते नही थे पर जिसका जी चाहता था वह उनके भिक्षा पात्र में कुछ डाल देता था।

हम एक जगह कह आये हैं कि किस तरह अधविश्वासी आरे से कटकर बनारस में जान दे देते थे। यह स्थान अब भी आदि विश्वेश्वर के मदिर के पूर्व में है। इस कुएँ में पानी तक पहुचने की सीढी है। शिव के नाम किसी की आत्मबलि चढा देने के बाद फिर यह रास्ता बद कर दिया गया। अब वह सप्ताह में एक दिन खुलता है।

भैरव काशी के कोतवाल माने जाते हैं और भूतो से नगर की रक्षा करते है। उनके हाथ में लाठी और बगल में कुत्ता रहता है। राजघाट से मिले एक मट्टी के खिलौने में एक ऐसी ही आकृति है, हो सकता है यहा भैरवनाथ से ही मतलब हो। भैरवनाथ के मदिर को बाजीराव द्वितीय ने उन्नीसवी सदी के आरभ में बनवाया।

वृद्धकाल के मन्दिर की कुरसी प्राचीन मालूम होती है। इसमे पहले बारह मडप थे पर अब उनमें सात बच गये हैं। लोगो का विश्वास है इसके कुएँ का पानी रेचक है।

लोलार्क के मन्दिर का उल्लेख गाहडवाल ताम्रपत्रो में हुआ है। बावडी का मुख दोहरा है, एक में पानी इकट्ठा होकर दो कुओ में जाता है ये दोनो कुएँ पत्थर के हैं

और उन पर जगत है। दोनो जगतो के वीच प्रदक्षिणा पथ है। इसके वनवाने का श्रेय अहल्या वाई, अमृत राव और कूच विहार के राजा को है। यहाँ के एक वगला लेख से पता चलता है कि कूच विहार के राजा लक्ष्मीनारायण ने इसकी सीढियाँ वनवायी और उन्ही के वशधर शिवेन्द्र ने वावडी की, जो टूटफूट रही थी, १८४३ में मरम्मत करवायी।[1] सीढी पर एक ताखे पर सूर्य का प्रतीक चक्र वना है। श्रावण में यहाँ लोलारक छठ का मेला लगता है।

काशी में कूपो की पूजा, जो हमें प्राचीन कूप महत्ता की याद दिलाती है, अव भी प्रचलित है। कूपो में चन्द्रकूप, नागकूप और धर्मकूप मुख्य है। नागकुआँ औसानगज के पास है इसमें चारो तरफ से चार सीढियाँ जाती है। १७६८ में किसी राजा ने इस कुएँ की मरम्मत करायी थी। नागकूआँ में नागो का निवास माना जाता है और नागपचमी के अवसर पर यहाँ काफी वडा मेला लगता है।

कर्णघटा का तालाव घटाकर्ण नाम के यक्ष के नाम पर है। यक्ष सम्वन्धी अवशेषो से हमें पता चलता है कि वनारस में एक समय यक्ष पूजा का वडा जोर था। उपर्युक्त मन्दिरो के सिवा वनारस में सकटमोचन, दुर्गाजी, हनुमानजी इत्यादि सैकडो देवी देवताओ के मन्दिर है पर इनका महत्व विशेष कर धार्मिक है, ऐतिहासिक नही।

पार्श्वनाथ की जन्मभूमि होने के कारण वनारस जैनो का भी पवित्र तीर्थ है। हमें जैन यात्रियो के विवरणों से पता चलता है कि सत्रहवी सदी में भी जैन यात्री वरावर वनारस आया करते थे। प्रसिद्ध कवि वनारसी दास ने सत्रहवी सदी में वनारस स्थित पार्श्वनाथ के मन्दिर और वहाँ होने वाली यात्राओ का "अर्ध-कथानक" में उल्लेख किया है। अट्ठारहवी सदी में वनारस में जैनो की क्या स्थिति थी, यह तो नही कहा जा सकता, पर उन्नसवी सदी के आरम्भ में वनारस में जैनो की सख्या काफी वडी थी। विशप हेवर के अनुसार गगा और वनारस के प्रति समभाव से श्रद्धा होने पर भी जैनो और हिन्दुओ में पटरी नही खाती थी। श्वेताम्वर और दिगम्वरो में भी वरावर झगडा हुआ करता था। वनारस में वुन्देलखड के कट्टर जैनो की काफी सख्या थी, पर धार्मिक कट्टरता के कारण वे किसी को अपने मन्दिरो में घुसने नही देते थे। प्रिंसेप से विशप हेवर की तारीफ सुनकर उनके गुरु ने मन्दिर के अन्दर प्रिंसेप और मेकलियड को साथ घुसने की आज्ञा दे दी। इस मन्दिर में जाने का विशप हेवर ने वडा मजेदार वर्णन किया है —

"घाट की सीढियाँ चढने के वाद वहुत सी गलियाँ पार करके हम एक वडे गन्दे मकान के दरवाजे पर पहुँचे जिस पर कलश लगा था। सीढियों से हम एक छोटे खिडकीदार कमरे में पहुँचे जहाँ एक भव्य, लम्वे चौडे गुरु जी ने हमारा स्वागत किया। उन्होंने हमें वैठने को कहा और इसलिए अफसोस जाहिर किया कि भाषा न जानने के कारण वे हम से सीधे वात नही कर सकते। दो तीन जैन व्यापारी भी वहाँ आ गये और गुरु जी हमें इनके साथ छोटे कमरो में ले गये जिनमें एक ओर वेदियो पर मूर्तियाँ रक्खी थी। हर

---

[1] इडियन कल्चर, २ (१९३५-३६) पृ० १४६-१४८

कमरे के बीच में एक थाल में पूजा के लिये घी और चावल था। कुछ कमरो में हाथ जोडे भक्त-जन पूजा मे रत थे। वेदियो पर प्रधान जिन (पार्श्वनाथ) के साथ चौवीस तीर्थंकरो की मूर्तियाँ थी। प्रधान जिन मूर्ति की ओर इशारा करके गुरुजी ने बताया कि वह असल देवता थे और बाक़ी उनके अवतार। इनके उपदेश ही जैन ग्रन्थ है और इस धर्म में आस्था होने से ही लोग पूजा कर सकते है। पहले कमरे में लौटने के बाद गुरुजी ने हमें कुछ भेंट करनी चाही। एक आदमी ने दो किश्तियो से कपडे उठाये और हमने देखा कि एक थाल में फल, मिठाइयाँ और चीनी थी और दूसरे में कीमती दुशाले। मैंने केवल मिठाइयाँ स्वीकार की क्योकि कीमती शालो का स्वीकार करना मुझे ठीक नही जँचा। मैंने यह कहकर टाला कि धर्म-गुरुओ को कीमती वस्त्र शोभा नही देते। दूसरे थाल से कुछ किशमिश लेकर बाकी सामान मैंने मि० ब्रुक के पास भेज देने को कहा। इतने सस्ते छूटने पर बनियो की बाछें खिल गयी वे मेरी बडी तारीफ करते हुए नीचे तक आये और सर्वदा मेरी आज्ञा पालन करने की उदारता प्रकट की। गुरु जी ने बडे स्नेह से मुझे विदाई दी।"

५ बनारस के त्यौहार

बनारस में कहावत है "सात वार नौ त्यौहार", यानी सप्ताह मे दिन तो सात होते है पर बनारस में उनमें नौ त्यौहार पडते है। मौज-मजे के लिए बनारस सदा से प्रसिद्ध रहा है और अपनी इस प्रवृत्ति को चरितार्थ करने के लिए ही बनारसियो ने अनेक त्यौहारो की कल्पनाएँ की। और लोग बहुत सी छुट्टियाँ मनाने के लिए बनारस वालो को बेकारा न कहें, इसलिए उन्होने इनमे से अधिकतर त्यौहारो को भिन्न-भिन्न देवताओ के साथ जोड दिया। आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियो के कारण बनारसियो के जीवन में परिवर्तन होता चला जा रहा है फिर भी जिस प्रेम से छुट्टियाँ और त्यौहार बनारस में मनाये जाते है वैसे भारत में और किसी दूसरी जगह नही। बनारसियो के त्यौहार का रग भी कभी मनहूस नही होता। अपने थोडे से वित्त में ही लोग हँस-खेल कर त्यौहार मना लेते है। बनारस के त्यौहारो के इतिहास पर अभी अधिक प्रकाश नही पडा है, पर इसमें सदेह नही कि इसमें कुछ मेले बहुत प्राचीन होगें। बनारस की दीवाली का तो उल्लेख जातको में आया है और जातको में वर्णित हस्तिपूजन का ही बाद में शायद विजयादशमी का रूप हो गया है। इन मेलो तमाशो का सम्बन्ध हम यक्ष पूजा, वृक्षपूजा, देवीपूजा, कूप और नदी-पूजा तथा पौराणिक देवी देवताओ की पूजा से पाते है। बनारस के मेलो तमाशो में भी एक विकास क्रम है जिससे यह पता चल जाता है कि कौन कौन से मेले प्राचीन है और कौन कौन से मेले बनारस की भिन्न भिन्न काल की धार्मिक प्रवृत्तियो के विकास के साथ साथ बढते गये। अट्ठारहवी और उन्नीसवी सदी के बनारस के मेलो और त्यौहारो की एक सूची नीचे दी जाती है, पर इससे यह न समझ लेना चाहिये कि इस सूची में बनारस के हिन्दू-मुसलमानो के सब त्यौहार और मेले आ जाते है।

(१) नवरात्रि मेला—यह मेला चैत्र कृष्ण में नौ दिनो तक दुर्गाकुण्ड में लगता है और इसमें पशुबलि भी होती है। नौ दिनो में एक एक दिन भक्त गण नौ दुर्गाओ

का भी दर्शन करने जाते हैं। इसमें शक नहीं कि माता की पूजा बनारस के प्राचीन धर्म का एक विशेष अंग था, पर यह ठीक तौर से नहीं कहा जा सकता कि नवरात्रि का मेला यहाँ कब से आरम्भ हुआ।

(२) गनगौर—चैत्र की तृतीया को यह मेला राजमन्दिर में लगता है तथा बनारस के मारवाड़ी गनगौर की सवारी निकालते हैं। यह स्पष्ट है कि बनारस में यह मेला यहाँ काफी संख्या में मारवाड़ियों के बसने पर आरम्भ हुआ।

(३) रामनवमी—रामनवमी का मेला चैत्र शुक्ल ९ को रामघाट पर लगता है। लोग गंगा नहाकर राम मन्दिर का दर्शन करते हैं। बहुत सम्भव है कि यह मेला सत्रहवीं सदी में आरम्भ हुआ हो, जब तुलसीदास के संसर्ग से बनारस में रामभक्ति की ओर लोगों की आस्था बढ़ी।

(४) नरसिंह चौदस—यह मेला बड़े गनेश पर वैशाख में होता है। इस मेला की यह विशेषता है कि उसमें नरसिंह द्वारा हिरण्यकशिपु का वध और प्रह्लाद की रक्षा की लीला दिखलायी जाती है।

(५) गाजी मियाँ का मेला—जेठ के पहले एतवार को यह मेला बकरिया कुंड पर होता है। जैसा हम पहले कह आये हैं, यह मेला सालार मासूद की शहादत मनाने के लिए लगता है। यह मुसलमानी मेला काफी प्राचीन है। इसे रोकने का प्रयत्न सिकंदर लोदी ने किया पर यह बना ही रहा। कुछ दिन पहले तक इस मेले में मुसलमान और छोटी कौम के हिंदू भी भाग लेते थे। इस मेले में आलम के नीचे बैठकर डफाली गाजी मियाँ की शहादत के गीत गाते हैं। स्त्रियाँ इस मेले में हबुआती हैं और लोगों को भूत, भविष्य और वर्तमान बतलाती हैं। पतंग के दंगल के साथ यह मेला समाप्त होता है।

(६) गंगा सप्तमी—जेठ की सप्तमी को गंगा नदी के जन्म के उपलक्ष में यह मेला लगता है। पहले इस त्योहार पर गंगा किनारे खूब नाच गाना होता था, पर अब उस दिन पंचगंगा घाट पर शहनाई का दंगल होता है।

(७) दशहरा—जेठ शुक्ल १० को दशहरा का मेला लगता है। उस दिन गंगा स्नान करके लोग दान देते हैं। कुछ दिन पहले मध्यम वर्ग की लड़कियाँ इस दिन नदी में अपनी गुड़ियों का विसर्जन करती थीं और फिर चार महिनों तक कोई खिलौना नहीं छूती थीं। इस क्रिया से क्या तात्पर्य है यह तो ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता पर जल देवता को प्रसन्न करने के लिये इसी तरह का आचार मालद्वीप और बर्बर देशों में होता था। शायद बनारस में जलमार्ग के व्यापारियों की मंगल कामना से इस क्रिया का सम्बन्ध हो।

(८) निर्जला एकादशी—यह मेला जेठ की एकादशी को लगता है। बनारस में इस मेले के बारे में कथा है कि भीम ने इस दिन व्रत किया और प्यास के मारे बेहोश हो गये और पानी में ढकेल देने के बाद कहीं उन्हें होश आया। बनारस के लोक शाम को नहाकर बदन में चन्दन लगाते हैं। लोग तैर कर गंगा आर पार भी करते हैं। पहले इस दिन नकली लड़ाई भी होती थी।

(९) स्नानयात्रा—अस्सी पर जेठ १५ को जगन्नाथ की प्रतिमा का स्नान होता है।

(१०) रथयात्रा—बेनीराम पंडित के बाग में आसाढ की २, ३, ४ को रथयात्रा को मेला लगता है। यहां जगन्नाथ जी का रथ अस्सी से खींच कर लाया जाता है।

(११) पटपरीक्षा—असाढ में गुरु पूर्णिमा के दिन चौकाघाट में पट परीक्षा का मेला लगता था। पहले शहर के ज्योतिषी इस दिन संध्या को घाट के किनारे इकट्ठा होकर हवा की रुख की परीक्षा करके फसल, बरसात इत्यादि के बारे में भविष्यवाणी किया करते थे।

(१२) शंखूधारा—पर्व के दिन लोग शंखू धारा के तालाब में नहाते थे। उन्नीसवीं सदी में बनारस के रईस चपतराय अमीन के बाग में इकट्ठा होकर नाच देखते थे।

(१३) वृद्धकाल मेला—श्रावण के हर रविवार को होता है। इसमें लोग स्वास्थ्य लाभ के लिए वृद्धकाल के कुँए के पानी से स्नान करते हैं।

(१४) दुर्गाजी का मेला—श्रावण के हर मंगल को दुर्गाजी का मेला लगता है। उस दिन बनारस की वारवनितायें पहले खूब सजधज कर मेला में शामिल होने जाती थीं।

(१५) फातमान का मेला—श्रावण के हर बृहस्पतिवार को लगता है। बनारस की वारवनिताएँ पहले उसमें बड़ी सज धज के साथ शामिल होती थीं।

(१६) नागपंचमी—श्रावण की पंचमी को यह मेला नागकुँआ पर लगता है। नागकुआँ को करकोटक नागतीर्थ के नाम से भी पुकारा जाता है। उस दिन लोग नाग कुआँ में स्नान करते तथा जीवित नागों का दर्शन करते हैं। शहर में बहुत से जगहों पर अहीरों की कुश्ती होती है। संस्कृत पाठशाला के विद्यार्थी उस दिन बड़े गुरु और छोटे गुरु के नागों के चित्र गलियों में घूम घूम कर बेंचते हैं। यहाँ बड़े गुरु और छोटे गुरु से तात्पर्य पाणिनि और पतंजलि से है। इसमें संदेह नहीं कि यह मेला बनारस के बड़े प्राचीन मेलों में है और किसी समय बनारस में नाग पूजा के प्रचार की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है।

(१७) कजरी तीज—भादों की तीज को शंखू धारा और इसरगंगी पर यह मेला बड़े ठाठबाट के साथ लगता है। इस मेले की स्थापना का श्रेय कंतित के राजा को दिया जाता है। इस रोज स्त्रियाँ गंगा स्नान और व्रत करती हैं। बनारस की गौनहारिनों का दल उस दिन इन स्थानों पर इकट्ठा होता था और काशी के मनचले उन्हें उस दिन इनाम देते थे।

(१८) ढेला चौथ—भादों की चौथ को यह मेला लगता है। इस पर्व को हिंदू व्रत करके गणेशपूजन करते हैं। हिंदुओं का विश्वास है कि उस दिन चन्द्र दर्शन करने वाले को भविष्य में वृथा दोष लगने की संभावना रहती है। इसके परिहार के लिये लोग

दूसरो को अपने घरो पर ढेला फेंकने को कहते थे। इस प्रथा का नतीजा यह हुआ कि इस अवसर पर लोग गलियो में ढेले फेंकने लगे जिससे रास्ता चलने वालो को चोट लगती थी और अक्सर फौजदारी भी हो जाती थी। अब ढेला फेंकने की प्रथा धीरे धीरे कम होती जाती है।

(१९) लोलारक छठ—अस्सी के पास लोलार्क कुड पर यह मेला भादो की छठ को लगता है। लोग कुड में स्नान करते है। पहले यहाँ गौनहारियो के दल के दल कजली गाते हुए इकट्ठे होते थे।

(२०) वामन द्वादशी—भादो की द्वादशी को यह मेला चित्रकूट और वरना सगम पर लगता है। कुछ पहले तक चित्रकूट में इस त्योहार पर वामन और बलि की लीला होती थी।

(२१) अनत चौदस—लोग गगा स्नान और अनत की पूजा करते है। इसी दिन रामनगर की रामलीला आरभ होती है।

(२२) सोरहिया मेला—भादो शुक्ल ८ से आरभ होकर लक्ष्मी कुड का यह मेला कुआँर कृष्ण ८ तक चलता है। इन दिनो लक्ष्मी कुड में हिंदू नरनारी स्नान करके लक्ष्मी की मूर्तियाँ खरीदते है।

(२३) रामलीला—कुआँर कृष्ण ८ से लेकर कुआँर सुदी १५ तक बनारस में अनेक रामलीलाएँ होती है जिनमें चित्रकूट की रामलीला शायद सोलहवी सदी के अत से शुरू हुई। कुआँर सुदी १० को चौकाघाट पर विजयादशमी का मेला लगता है। उस दिन अस्त्रशस्त्र और घोडो वाहनो इत्यादि की पूजा होती है तथा लोग नीलकठोत्सर्ग को पुण्यकार्य मानते है।

(२४) दुर्गामेला—कुआँर सुदी १ से ३ तक शहर के बगाली दुर्गा की मृण्मूर्तियो की पूजा और दसमी को दशाश्वमेध घाट के सामने उन्हें गगा में डुबा देते है। उस दिन दशाश्वमेध के आगे काफी मेला रहता है।

(२५) धनतेरस—कार्तिक की त्रयोदशी को धनतेरस का मेला चौखभा और ठठेरीबाजार मुहल्लो में लगता है। काशी के महाजन उस दिन लक्ष्मी पूजन करते है, तथा नये बरतनो की अच्छी खरीद बिक्री होती है। उपर्युक्त दोनो मुहल्ला में खूब रोशनी भी होती है। मिट्टी के खिलौनो की भी अच्छी-अच्छी दूकानें लगती है।

(२६) नरक चौदस—मदैनी मुहल्ले और मीरघाट में धनतेरस के दूसरे दिन हनुमान की जन्मतिथि पर मेला लगता है। प्रात काल लोग शरीर में तेल की मालिश करके गरम पानी से स्नान करते है और गरम कपडे पहन कर हनुमान जी के दर्शन को जाते है।

(२७) दीवाली—कार्तिक कृष्ण १५ को दीवाली का मेला होता है। उस दिन सारे शहर में खूब रोशनी होती है और लोग लावा और मिठाइयाँ बाँटते है। रात में पहले जुआ होता था, पर यह प्रथा अब धीरे धीरे घट रही है।

(२७) यम द्वितीया—यम द्वितीया का मेला जमघाट पर कार्तिक शुक्ल २ को लगता है। उस रोज बहनें अपने भाइयो को टीका काढती है और भाई अपने बहिनो के यहाँ भोजन करते हैं।

(२९) कार्तिकी पूर्णिमा—कार्तिकी स्नान का बनारस में बडा महत्त्व है। सवेरे चार बजे से ही स्त्रियाँ और पुरुष गाते हुए गगा स्नान के लिए निकलते है। कार्तिकी पूर्णिमा के दिन पचगगाघाट पर काफी रोशनी होती है और दुर्गाघाट पर खूब डटकर मुक्की होती थी जिसमें एक महाराष्ट्र ब्राह्मण होते थे और दूसरी ओर अहीर इत्यादि।

(३०) बरना पर पियाले का मेला—यह मेला अगहन के पहले मगल अथवा सनीचर को लगता है। लोग कालका अथवा सहजा, जिन्हें मेलेवाले क्रमश ब्राह्मणी और चमारिन मानते है, को शराब अथवा शर्बत चढाते है और खूब पीकर रगरेलियाँ करते है। इस मेले में नीची जाति के लोग ही प्राय भाग लेते है।

(३१) पचक्रोशी मेला—अगहन कृष्ण ७, ८ को यह मेला शिवपुर में लगता है। यहाँ शहर के लोग यात्रियो का स्वागत करने के लिए शहर से जाते हैं।

(३२) लोटाभटा—यह मेला अगहन की १४ को पिशाच मोचन पर लगता है। इसमें देहाती लोग रोटी बना कर भण्टे के भरता के साथ खाते है। अगहन बदी और सुदी की चौदसो को पिशाच मोचन पर धार्मिक कृत्यो के लिए इकट्ठा होते है।

(३३) नगर प्रदक्षिणा—यह मेला अगहन की १५ को लगता है और इसमें दो रोज में लोग सारे नगर की प्रदक्षिणा करते है। पहले दिन यात्री चौकाघाट ठहरते है और पहले यहाँ कृष्ण लीला भी होती थी।

(३४) गणेश चौथ—माघ कृष्ण ४ को बडे गणेश पर भारी मेला लगता है। पहले इस दिन विद्यार्थी मन्दिर में सवेरे से सन्ध्या तक इस विश्वास से खडे रहते थे कि इस तपस्या के फलस्वरूप उन्हें विद्या की प्राप्ति होगी।

(३५) वेदव्यास—माघ के हर सोमवार को यह मेला रामनगर के किले में लगता है। इस मेले में नगर से बहुत से लोग आकर वेदव्यास शिव की पूजा आराधना करते है।

(३६) शिवरात्रि—माघ कृष्ण १४ को यह मेला बनारस के खास मेलो में है। इस दिन लोग गगा स्नान करके बनारस के सैकडो शिवमन्दिरो की यात्रा करते है। पर मुख्य मेला तो विश्वनाथ पर लगता है। शिव को प्रसन्न करने के लिए उस रोज लोग भाँग बूटी भी छानते है।

(३७) होली—होली का त्योहार फागुन शुक्ल में ११ से १५ तक लगता है। विशेष कर धुरड्डी वाले दिन तो शहर में खूब रंग पड़ता है और लोग गाली गलौज करते हुए शहर में टोलियां बना कर घूमा करते हैं। दिन में १२ बजे के बाद रंग पड़ना बन्द हो जाता है और लोग साफ़ कपड़े पहन कर और अबीर गुलाल की झोलियां लेकर अपने मित्रों से भेंट करते हैं और उन्हें अबीर लगाते हैं। बाद में बहुत से लोग चौंसट्ठी देवी का दर्शन करने जाते हैं। इस दिन शहनाई पर होलियां गाते हुए ठठेरों के कई दल चौंसट्ठी जाते हैं।

(३८) बुढ़वा मंगल—होली के दूसरे मंगल को करीब तीस साल पहले तक सजे हुए बजड़ों और पटेलों पर खूब नाचरंग होता था जिसमें बनारस के महाजन, रईस और अफ़सर समान रूप से भाग लेते थे। इस मेला को आरम्भ करने का श्रेय राजा चेत सिंह को दिया जाता है। पहले यह मेला मंगलवार को शुरू होकर बुध की शाम को समाप्त हो जाता था लेकिन बाद में तो यह चार दिनों तक चलता था। पहले दिन को मंगल, तीसरे दिन को दंगल और चौथे दिन झिरंगा कहते थे। दंगल का मेला रामनगर के सामने होता था। इस मेले की समाप्ति का मुख्य कारण इसमें बहुत से गुण्डे बदमाशों का शामिल हो जाना था। इनकी वजह से अक्सर मेले में मार पीट हो जाती थी'। ● ●

ग्यारहवाँ अध्याय

बनारस के पंडित, कवि और शिक्षा संस्थाएँ

१. पंडित

यह प्राय सब को विदित है कि बहुत प्राचीन काल से ही बनारस व्यापारी शहर होने के साथ साथ ही शिक्षा का एक प्रधान केन्द्र था। जातको में तो बनारस में शिक्षा केन्द्र होने का उल्लेख है और यह भी बतलाया गया है कि काशी में कभी कभी तक्षशिला तक से लोग विद्याध्ययन के लिए आते थे। हम यह भी देख चुके हैं कि गुप्त युग में बनारस वैदिक शिक्षा का एक विशाल केन्द्र था और बनारस के आश्रमो में गुरु के सन्निकट रह कर विद्यार्थी ज्ञान लाभ करते थे। गाहडवाल युग में उक्तिव्यक्ति प्रकरण से हमें पता चलता है कि बनारस में शास्त्र-पठन-पाठन का बडा अच्छा प्रबंध था और गुरुजन छात्रो को पढ़ाते ही न थे वरन् उनके भोजन-वस्त्र का भी प्रबंध करते थे और इसके लिए उन्हें राज्य की सहायता प्राप्त थी। महमूद गजनी के आक्रमण के बाद बनारस संस्कृत शिक्षा का इसलिए एकमात्र केन्द्र हो गया क्योकि पश्चिम भारत, पजाब और कश्मीर से सस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान यहा आकर बसने लगे। जब मुसलमानो का काशी पर अधिकार हो गया तब यहाँ शिक्षा की क्या व्यवस्था थी इसके बारे में तो ठीक-ठीक पता नही है, पर चौदहवी सदी के एक उल्लेख से पता चलता है कि मुहम्मद तुग़लक के समय में भी वाराणसी शिक्षा की प्रधान केन्द्र थी और यहा धातुवाद, रसवाद, तर्क, नाटक, ज्योतिष, साहित्य इत्यादि की शिक्षा दी जाती थी। सिकदर लोदी के अत्याचारो से भी बनारस के पडितो और शिक्षा-सस्थाओ को काफ़ी नुकसान पहुँचा होगा इसमें सदेह नही।

बनारस में मुग़लो के पहले के पडितो के इतिहास के बारे में हमें बहुत कम जानकारी है, पर अकबर काल में शाति स्थापित होने के बाद बनारस में पुन धीरे-धीरे पडितो का आसन जमने लगा और मुग़ल युग के सस्कृत साहित्य के तिहास में काशी के पडितो का बहुत बडा हाथ रहा। इस युग की हज़ारो हस्तलिखित पुस्तको की जाच पडताल के बाद यह पता चलता है कि उनमें से अधिकतर बनारस के पडितो द्वारा लिखी गयी, पर सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि इन पुस्तको के लेखक अधिकतर एतद्देशीय कान्यकुब्ज और सरयूपारी ब्राह्मण न होकर दक्षिण और महाराष्ट्र के ब्राह्मण थे। इसका यही कारण हो सकता है कि एतद्देशीय ब्राह्मणो में सस्कृत के प्रति मुग़ल युग में इतनी लगन नही थी जितनी पचद्राविडो में।

बनारस के मुग़ल कालीन सस्कृत साहित्य के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि उस समय के पडितो में मौलिकता का अभाव था, वे अपना समय मौलिक शास्त्रो की रचना में नही वरन् अधिकतर टीका टिप्पणियो में ही लगाते थे। व्याकरण, धर्मशास्त्र और वेदात तो इनके प्रिय विषय थे, पर इन विषयो पर उनके ग्रथो में मौलिक विचारो का काफी

अभाव दीख पड़ता है। बात यह है कि संस्कृत साहित्य में यह नव्यन्याय का युग था जिसने बेकार के तर्क को आश्रय देकर मौलिकता को आगे बढ़ने से रोका। संस्कृत शिक्षा पर ब्राह्मणों का एक-मात्र आधिपत्य होने से भी साहित्य की गति अवरुद्ध रही और जन-जीवन से तो उसका संपर्क ही छूट गया। संस्कृत के साथ बनारस सत्रहवीं सदी में और उसके बाद ब्रजभाषा साहित्य का भी एक अच्छा केन्द्र बन गया। जैसा हम आगे चल कर देखेंगे बहुत से संस्कृत के पंडित ब्रजभाषा में भी कविता करने लगे थे क्योंकि उन्होंने लोक रुचि को देख कर यह भली भाँति जान लिया था कि ब्रजभाषा अथवा अवधी को केवल "भाखा" कह कर तिरस्कार की दृष्टि से देखने से ही काम बनने का नहीं था। अगर उन्हें उस समय के राज-रईसों से दक्षिणा वसूल करनी थी तो केवल संस्कृत के श्लोक बनाकर, जिन्हें समझने वाले काशी के विरले ही रईस रहे होंगे, वे उन्हें नहीं रिझा सकते थे। इसके लिए तो उस भाषा में भी कविता करनी जरूरी थी जिसे लोग और विशेष कर राजे रईस समझ सकते थे और उसका आनंद लूट सकते थे।

बनारस के संस्कृत पंडितों और ब्रजभाषा के कवियों का पूरा-पूरा इतिहास लिखना तो एक स्वतंत्र विषय है जिसका हमारे पास न तो साधन है न अवकाश ही। काशी की कहानी में तो हम केवल उन्हीं पंडितों और कवियों का उल्लेख कर सकते हैं जिन्होंने अपनी कृतियों से इस नगरी का उत्तर भारत में नाम रोशन किया है।

जिस महान पंडित ने बनारस में हिन्दू धर्म और संस्कृति के उत्तर भारतीय सिद्धांतों के विरुद्ध हिन्दू संस्कृति और जीवन के दक्षिणी मत का प्रतिपादन किया उनका नाम नारायण भट्ट है। इन्हीं नारायण भट्ट ने टोडरमल की सहायता से बनारस में विश्वनाथ के मन्दिर की पुनः स्थापना की। यह एक विलक्षण बात है कि नारायण भट्ट के परिवार के लोग तीन सौ वर्षों तक बनारस में गण्यमान पंडित होते आये। गाधिवंशानुचरितम् के आधार पर महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री[१] का कहना है कि नारायण भट्ट के पिता रामेश्वर भट्ट पैठन के रहने वाले थे और वहाँ वे विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे। यह भी उल्लेख है कि निजाम शाह और कृष्णराय के निमन्त्रण पर वे उनसे मिले। नारायण भट्ट का १५१४ ईस्वी में द्वारिका यात्रा के अवसर पर जन्म हुआ। उनके पिता रामेश्वर भट्ट कुछ दिन द्वारिका ठहर कर काशी चले आये और वहीं सदा के लिए बस गये। उनके तीनों पुत्रों का विवाह बनारस में ही हुआ। इनके शिष्यों में काशी के अनेक प्रसिद्ध पंडित थे।

अपने पिता की मृत्यु के बाद नारायण भट्ट ने श्रुतियों, स्मृतियों और षट्दर्शनों में प्रवीण होने के कारण अपने पिता का स्थान ग्रहण कर लिया। गया, काशी और प्रयाग में पूजा विधि के लिए उन्होंने त्रिशस्थली नाम का ग्रन्थ लिखा। उत्तर भारत के कई पंडितों से उनके शास्त्रार्थ हुए जिनमें विजय का सेहरा उनके माथे बँधा। एक बार तो राजा टोडरमल के घर एक श्राद्ध के अवसर पर उन्होंने शास्त्रार्थ में नवद्वीप के विद्यानन्द के अधिनायकत्व में पंडितों की एक टोली को हराया।

---

[१] इंडियन एंटिक्वेरी, १२, पृ० ७–१३

उनके प्रसिद्ध शिष्यो में ब्रह्मेन्द्र सरस्वती और नारायण सरस्वती थे। इनमें ब्रह्मेन्द्र सरस्वती का नाम तो जैसा हम आगे चलकर देखेंगे कवीन्द्र सरस्वती के अभिनन्दन पत्र में आता है। नारायण सरस्वती ने सोलहवी सदी के अन्त में वेदान्त के कई ग्रन्थो की रचना की।

नारायण भट्ट ने धर्म-प्रवृत्ति और प्रयोगरत्न नाम के दो ग्रन्थ स्मृतियो पर लिखे। वृत्तरत्नाकर पर उन्होने १५४५ में टीका की। वृत्तरत्नावली पिंगल पर उनका एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इनके सिवाय आउफ्रेक्ट ने इनके अट्ठाइस ग्रन्थो का उल्लेख किया है।

जैसा हम ऊपर कह आये है, नारायण भट्ट धुरन्धर शास्त्रार्थी थे और इन्होने अपने समय के उपेन्द्र शर्मा और मधुसूदन सरस्वती जैसे प्रकाण्ड विद्वानो को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। उनकी प्रतिभा से कायल होकर भारतवर्ष की पण्डित मण्डली उन्हें अपना सरक्षक मानने लगी और उन्होने इस भावना का आदर करते हुए सदा रुपये पैसे से उनकी सहायता की। नारायण भट्ट ने सस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थो का भी अच्छा सग्रह किया।

नारायण भट्ट की मृत्यु वृद्धावस्था में हुई। मरने के समय इनके तीन पुत्र और कई पौत्र थे जिन्होने सत्रहवी सदी में काफी नाम कमाया। नारायण भट्ट के सबसे वडे पुत्र रामकृष्ण दीक्षित थे जिनकी मृत्यु वावन साल की अवस्था में हो गयी। वे अनेक ग्रन्थो के लेखक थे। दूसरे पुत्र शकर भट्ट के प्रसिद्ध शिष्यो में मल्लारिभट्ट, भट्टोजी दीक्षित अभ्यकर तथा विश्वनाथ दाते थे। कवीन्द्र चन्द्रोदय में इन्हें वनारस के पडितो का मुखिया कहा गया है।

नारायण भट्ट के सबसे वडे पुत्र रामकृष्ण के पौत्र गागा भट्ट थे जिन्होने अपने पिता दिवाकर भट्ट के कई स्मृति सबधी अधूरे ग्रथो को पूरा किया तथा जैमिनीसूत्र पर शिवार्कोदय नाम की टीका की। इन्ही की व्यवस्था से शिवाजी महाराज क्षत्रिय माने गये। वे शिवाजी के राज्याभिषेक के समय पर भी उपस्थित थे। गागा भट्ट के उत्तराधिकारी सुप्रसिद्ध नागोजी भट्ट हुए। सस्कृत भाषा की शायद ही ऐसी कोई शाखा वची हो जिस पर नागोजी भट्ट ने टीकाएँ नही लिखी। पाणिनि सम्प्रदाय के व्याकरण पर उनकी टीका वडी ही प्रामाणिक है। व्याकरण के सिवा उन्होने अलकार, तीर्थ, तिथि, योग, मीमासा, रामायण, साख्य और वेदात पर भी अनेक ग्रथ लिखे। अपने वुढापे में भी ये जीवन का सुख-पूर्वक उपभोग करते हुये समाज के प्राय सब श्रेणी के लोगो से मिला करते थे। अग्रेजो का वनारस पर अधिकार जम जाने पर करीव १७७५ में इनकी मृत्यु हुई।

नागोजी भट्ट के शिष्य उत्तराधिकारी वैद्यनाथ पायगुडे, जिनका नाम अन्नम भट्ट भी था, हुए। इन्होने व्याकरण और स्मृति पर अनेक ग्रथ लिखे। मिताक्षरा के व्यवहार खड पर इनकी टीका आज तक वनारस के स्मृतिकारो में वडी उपादेय मानी जाती है।

हम ऊपर कह आये हैं कि काशी में नारायण भट्ट का उस काल के सबसे बडे विद्वान मधुसूदन सरस्वती से शास्त्रार्थ हुआ। मधुसूदन सरस्वती के पिता नवद्वीप के पुरदराचार्या थे।[१] सन्यास ग्रहण करके मधुसूदन सरस्वती बनारस आये और यहाँ उन्होने विश्वेश्वर सरस्वती से शिक्षा ग्रहण की, बाद में उन्होने यहाँ 'अद्वैत-सिद्धि' नाम का ग्रथ लिखा। गोस्वामी तुलसीदास उनके समकालीन थे। कहावत है कि जब उन्होने रामचरित मानस पढा तो उसकी प्रशसा में तुलसीदास के पास निम्नलिखित श्लोक लिख भेजा—आनदकानने ह्यस्मिन् तुलसीजगमस्त , कवितामजरी यस्य रामभ्रमरभूपिता। यह भी किवदती है कि उन्होने अकबर से भेंट की। अपने जीवन के अतिम दिनो में वे हरिद्वार चले गये जहाँ उनकी एक सौ सात वर्ष की उमर में मृत्यु हुई। उनका समय सोलहवी सदी का दूसरा भाग और सत्रहवी सदी का आरभ माना जा सकता है।

अद्वैत दर्शन पर उन्होने वेदात कल्पलतिका, सिद्धात बिंदु, अद्वैतसिद्धि, अद्वैतरत्न-लक्षण और गूढार्थ दीपिका लिखे। ऋग्वेद के पाठ पर उन्होने आप्टविकृति विवृत्ति नाम का ग्रन्थ लिखा। भक्ति पर उन्होने भक्ति रसायन टीका, महिम्नस्तोत्रिका और हरिलीला व्याख्या नामक ग्रन्थ लिखे। कुछ लोगो का मत है कि श्रीमद्भागवत प्रथम श्लोकत्रय टीका, शाडिल्यसूत्र टीका, आनन्दमन्दाकिनी तथा कृष्णकुतूहल नाटक , भी उनकी कृतियाँ है। कुछ लोगो का यह भी मत है कि अद्वैत दर्शन सम्बन्धी सक्षेप शारीरिक विग्रह, आत्मबोध टीका और सिद्धातलेशा टीका भी उनके ही ग्रन्थ है। अर्थशास्त्र पर उन्होने राजप्रतिबोध नामक एक ग्रन्थ लिखा।

सत्रहवी सदी के बनारस में अनेक पडित हुये उनमें बहुतो का पता एक विशिष्ट निर्णय पत्र से मिलता है।[२] यह निर्णय पत्र १६४७ में लिखा गया और इसमें सत्तर पडितो और ब्राह्मणो के हस्ताक्षर है। इन पडितो में अधिकतर सन्यासी तथा महाराष्ट्र, कर्नाटक, कोंकण, तैलग, द्रविड और दूसरे ब्राह्मण है जो सत्रहवी सदी के मध्य में बनारस रहते थे। इस तालिका में से निम्नलिखित विद्वानो के बारे में कुछ-कुछ पता चलता है —

पूर्णेन्दु सरस्वती— कवीन्द्र चन्द्रोदय (११३-११९) में पूर्णानन्द ब्रह्मचारी के नाम से पुकारा गया है। पूर्णेन्दु सरस्वती का नाम रामाश्रम के दुर्जनमुखचपेटिका नाम के ग्रन्थ में भी आता है।

नीलकठ भट्ट—शायद ये शकर भट्ट के पुत्र नीलकठ भट्ट ही रहे हो, जिन्होने भगवन्तभास्कर नाम का ग्रन्थ लिखा।[३] ग्रन्थ १६१० से १६४५ के बीच में लिखा गया।

चक्रपाणि शेष—शायद कारक विचार के लेखक थे।[४]

---

[१] भाडारकर ओ० रि० इ०, ८, पृ० १४९ से

[२] पूना ओरियंटलिस्ट, ८, ३–४, पृ० १३० से

[३] काणे, हिस्ट्री ऑफ दि धर्मशास्त्राज, १, पृ० ४४०

[४] आउफ्रेक्ट, सी० सी० आई०, ६६२ और ९५

माधवदेव—ये न्यायसार के लेखक थे। गोदावरी नदी के किनारे धारासुरा ग्राम से बनारस आकर उन्होंने यह ग्रन्थ लिखा। इन्होंने रामभद्र सार्वभौम के गुणरहस्य पर गुणरहस्य,टिप्पणी, शब्द प्रामाण्यवाक् तथा तर्कभाषासार मंजरी नामक ग्रंथ लिखे।[१]

रघुदेव भट्टाचार्य—ये बंगाली विद्वान बनारस में अपनी पाठशाला चलाते थे। प्रसिद्ध जैन विद्वान यशोविजय गणी (करीब १६०८-८८), जिन्होंने बनारस में बारह वर्ष तक छिपकर संस्कृत पढ़ा, अपने ग्रंथ में इनका उल्लेख करते हैं। इनके समकालीन बनारस के कवि चिरंजीव भट्टाचार्य ने भी अपने काव्यविलास में इनके बारे में एक श्लोक दिया है। रघुदेव भट्टाचार्य ने चिन्तामणि पर तत्त्वदीपिका, निरुक्तप्रकाश, न्याय कुसमांजलिकारिका-व्याख्या, द्रव्यसारसंग्रह, सिद्धान्ततत्त्व और भी कई छोटे ग्रंथ लिखते हैं।

नारायण भट्ट आरडे—ये लक्ष्मीश्वर भट्ट के पुत्र तथा गृह्याग्निसार, प्रयोगसार, श्राद्धसागर और लक्षहोमकारिका के लेखक थे।

ब्रह्मेन्द्र सरस्वती—रामाश्रय ने इनका दुर्जनमुखचपेटिका में उल्लेख किया है। शायद वे नृसिंहाश्रम नाम से भी पुकारे जाते थे। इसका भी उल्लेख है कि दारा शुकोह ने इनके नाम एक संस्कृत पत्र भेजा।[२]

गोविंद भट्टाचार्य—ये दिग्गज विद्वान रुद्रन्याय वाचस्पति के एक मात्र पुत्र और काशी के बंगाली पंडितो के नेता विद्यानिवास भट्टाचार्य के पौत्र थे। इन्होंने न्याय-संक्षेप अथवा न्याय रहस्य १६२८-२९ में लिखा। आसफ खाँ की तारीफ़ में इन्होंने पद्य-मुक्तावली लिखा।[३]

नारायण तीर्थ—इन्होंने भाट्टभाषा प्रकाशित नामक ग्रंथ बनारस में लिखा। इनकी कुसुमांजलि और दीधिति पर भी टीकाएँ मिलती हैं। उनकी एक हस्तलिखित पुस्तक से पता चलता है कि वे १७२० तक जीवित रहे।[४]

रघुनाथ जोशी—इन्होंने बनारस में १६६० में मुहूर्तमाला लिखी। इनके पिता नृसिंह बनारस के रहने वाले थे। असीरगढ़ का किला फतह करने के बाद अकबर ने इन्हें ज्योतिर्वित् सरस पदवी से विभूषित किया।[५]

देवभट्ट महाशब्दे—देवभट्ट बानरस के रहने वाले शांडिल्य गोत्र के ब्राह्मण थे। ये रत्नाकर भट्ट के पिता थे जिन्हें अंबर के सवाई जयसिंह ने अपना गुरु बनाया था।

---

[१] इंडि० हि० क्वा०, जून १९४५, पृ० ९१-९२

[२] अडयार लायब्रेरी बुलेटिन, अक्टोबर १९४०, पृ० ९३

[३] इ० हि० क्वा०, जून १९४५, ९४-९६

[४] वही, पृ० ९७

[५] दीक्षित, हिस्ट्री ऑफ इंडियन आस्ट्रोनोमी, पृ० ४७४, पूना १८९६

इस युग के वनारस के सर्वश्रेष्ठ पडित कवीद्राचार्य सरस्वती थे।[1] कवीद्राचार्य सरस्वती सस्कृत और हिंदी दोनो ही के विद्वान थे एक ओर तो वे काशी के सस्कृत पडितो के सिरमौर थे और दूसरी ओर उनका सवध दिल्ली के मुगल दरवार से भी था। कवींद्र सरस्वती की जन्मभूमि गोदावरी पर स्थित पुण्यभूमि थी। उन्होने वेद वेदागो और दूसरे शास्त्रो का अध्ययन करके सन्यास ग्रहण कर लिया और वनारस चले आये। उनके काशी निवास का कारण यह वताया जाता है कि निज़ामशाही राज्य पर शाहजहाँ का अधिकार होना था। ये काशी में वरना नदी के किनारे जिस वाग में रहते थे उसका नाम अव भी वेदान्ती का वाग प्रसिद्ध है। यह स्थान चौकाघाट की रामलीला वाले मैदान के पीछे रेलवे लाइन के पास है।

शाहजहाँ के समय में काशी, प्रयाग और गया मे हिंदुओ से यात्रीकर वसूल किया जाता था काशी के विद्वानो ने इस कर से मुक्ति पाने के लिये कवीद्राचार्य सरस्वती के नायकत्व में शाहजहाँ के पास प्रतिनिधि-मडल भेजा। इनके प्रयत्न से यह कर उठा दिया गया और शाहजहाँ ने इन्हें सर्वविद्या निधान की पदवी से भी आभूषित किया।[१] इतना ही नही शाहजहाँ ने इन्हें दो हज़ार वार्षिक वृत्ति भी वाँध दी। इनके वनारस लौटने पर वनारस के पडितो ने इन्हें कवींद्र की पदवी से सम्मानित करके इन्हें एक मान पत्र भेंट किया। इस घटना का मुग़ल इतिहास मे कोई उल्लेख नही, इसका यह कारण भी हो सकता है कि मुसलान इतिहासकार उन वातो का उल्लेख नही करना चाहते थे जिनमे मुसलमान वादशाहो का हिंदू काफिरो के प्रति कोई सद्भावना दीख पडे।

दिल्ली आने के वाद कवीद्राचार्य का मुग़ल दरवार में प्रवेश हो गया और वे दारा शुकोह के पडित-समाज के प्रधान वना दिये गये। जैसा हम कह आये है शाहजहाँ के वदी होने पर उनकी वृत्ति वद कर दी गयी। पुन वृत्ति चलाने के लिए कवीद्राचार्य ने दानिशमद खाँ से सहायता चाही पर यह कहा नही जा सकता कि उनकी वृत्ति चालू हुई अथवा नही। सन १६६७ में वर्नियर ने काशी में कवीद्राचार्य से मुलाकात की और उनके वृहन् पुस्तकालय को देखा। कवीद्राचार्य सस्कृत के एक प्रकाड विद्वान थे। इनके निम्नलिखित ग्रथ मिलते है—कवींद्रकल्पद्रुम, पचपद चद्रिका, दशकुमार टीका, योग भास्करयोग, शतपथ-ब्राह्मण-भाष्य, इत्यादि।

कवीद्राचार्य हिंदी के भी एक कुशल कवि थे। शिवसिंह सरोज में कहा गया है कि शाहजहाँ वादशाह के हुक्म से इन्होने कवींद्रकल्पलता नाम का ग्रथ हिंदी भाषा में लिखा। उन ग्रथ में दारा शुकोह और वेगम साहिवा की तारीफ मे वहुत से कवित्त है। हिंदी में उनका दूसरा ग्रथ योगवाशिष्ठिसार १६५७ में लिखा गया। इनका तीसरा ग्रथ समरसार कहा जाता है जो शायद १६८७ में लिखा गया इस ग्रथ का विषय युद्ध पर जाने के लिये तिथि निश्चित करना है।

---

[1] एच० डी० शर्मा, एम० ए० पाटकर, कवींद्रचद्रोदय, पूना १९३९, वटे कृष्ण नागरी प्र० स० प०, ५२,२

सत्रहवीं सदी की काशी में सस्कृत के वहुत से विद्वान हुए जिनमें से कुछ के बारे में हम बतला ही चुके है। इन विद्वानो में भट्टोजी दीक्षित का विशेष स्थान था। इनके शिष्य वरदराज (१६००–१६५०)[१] ने व्याकरण के अनेक ग्रन्थ लिखे जिनमें गीर्वाण-पद मजरी प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में सत्रहवीं सदी के काशी के वहुत से मन्दिरो और घाटो के नाम आये है। भट्टोजी दीक्षित के दूसरे प्रतिभाशाली शिष्य नीलकण्ठ शुक्ल थे जिनका समय १६१०–१६७० माना जाता है।[२] उन्होने चिमनी चरित्र नाम का एक काव्य लिखा जिसका आधार अलावर्दी खाँ, जो शाहजहाँ के एक मसवदार थे, के महल की घटना पर आश्रित है। इन्होने शब्दशोभा, ओष्ठशतक तथा शृंगार-शतक आदि ग्रन्थ भी लिखे।

इसी युग में काशी के एक दूसरे विद्वान श्रीकण्ठ दीक्षित हुए। ये विश्वनाथ दीक्षित के पुत्र थे। इन्होने मजरी-दीक्षित नाम का एक सस्कृत ग्रन्थ लिखा।[३] बनारस के पण्डितो के उपर्युक्त विवरण से यह पता लगता है कि बनारस के सात दक्षिणी कुलो ने मानो बनारस का चार सौ वर्षों तक विद्या का ठेका ही ले लिया हो। शेष कुल के लोग तैलग देश से बनारस आये पर बाद में वे महाराष्ट्र ब्राह्मण कहलाये। इस कुल में काशी के अनेक बडे-बडे विद्वान् हुए। जिस समय बनारस में रामेश्वर भट्ट आये करीब करीब उसी समय में धर्माधिकारी कुल के लोग भी यहाँ आये। काशी के भारद्वाज कुल की विद्वत्ता महादेव पण्डित से शुरू होती है। महादेव पण्डित शकर भट्ट के पुत्र नीलकण्ठ भट्ट के जामाता थे। इस कुल के अन्तिम प्रसिद्ध विद्वान महामहोपाध्याय दामोदर शास्त्री और गोविन्द शास्त्री हुए। चतुर्धर या चौधरी कुल में महाभारत के प्रसिद्ध टीकाकार नीलकण्ठ हुये। पुणतावेकर कुल में भी काशी के अनेक विद्वान हुए, जिनमें महादेव नाम के एक पण्डित ने भावानन्द सिद्धान्त वागीश के दीधिति पर एक टीका लिखी।

काशी के पण्डितो के अध्ययन से यह पता चलता है कि इनमें अधिकतर दाक्षिणात्य ब्राह्मण ही थे पर इसके यह माने नही कि काशी उस समय कान्यकुब्ज और सरयूपारी विद्वानो से शून्य थी। यह सम्भव है कि दाक्षिणात्यो की सी दौड-धूप की ताकत उनमें नही थी और इसीलिए वे इतना नाम नही कमा सके। काशी के एक प्रसिद्ध विद्वान रामानन्द सरयूपारी थे जिन्होने अपनी विद्वत्ता और भावुकता से काशी का मस्तक ऊपर उठाया। इनके कुल में आज तक सस्कृत के अनेक प्रकाण्ड पण्डित होते आये है। पण्डित रामानन्द सूरि के जीवन-वृत्त के लिए हम उसी कुल के एक विद्वान पण्डित करुणापति के अनुगृहीत हैं।[४] श्री रामानन्द के पूर्वज शायद सोलहवी सदी के अन्त में काशी में आकर

---

[१] ए वाल्यूम ऑफ स्टडीज इन इण्डोलोजी प्रेजेंटेड टु प्रो० पी० वी० काणे, पृ० १८८ से, पूना १९४१

[२] न्यू इडियन एटिक्वेरी, नवम्बर १९४२, पृ० १७७ से

[३] जर्नल यू० पी० हि० सो०, मई १९२१, पृ० १०५–०७

[४] प्रोसीडिंग्स एण्ड ट्रान्सेक्शन्स ऑफ दि ऑल इण्डिया ओरियटल कान्फरेन्स १९४३–४४, ८, मुगलकालीन कवि रामानन्द, पृ० ४७ से

बस गये। इनके पिता पण्डित मधुकर त्रिपाठी के सम्बन्ध में तो कुछ अधिक नहीं ज्ञात है पर इनके सम्बन्ध में श्री रामानन्द के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि वे काशी की विद्वन्मण्डली के एक आदरणीय विद्वान थे। रामानन्द जी के जन्मकाल के बारे में तो पता नहीं चलता पर सम्भव है कि इनका जन्म सत्रहवीं सदी के प्रथम चरण में हुआ हो।

ज्ञात होता है कि रामानन्द की विद्वता से आकर्षित होकर दारा शुकोह ने उन्हें विराड्-विवरणम् नाम का ग्रन्थ साकार ईश्वर की सार्थकता सिद्ध करने के लिए लिखने को कहा, इस ग्रन्थ की पुष्पिका में यह उल्लेख है कि संवत् १७१३ याने १६५६ ईस्वी में वरणिघर मुहम्मद दारा शुकोह ने इन्हें विराट् विवरण लिखने के लिए नियुक्त किया। इस ग्रन्थ के निर्माण से यह पता चलता है कि उपनिषदों के सिद्धान्तों को समझने के बाद दारा शुकोह को साकार ईश्वर सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्तों को भी जानने की इच्छा हुई और इस काम के लिए उन्हें बनारस में सबसे अच्छे पण्डित श्री रामानन्द ही नजर आये। दारा की जीवनी से यह पता नहीं चलता कि यह ग्रन्थ उनके पास पहुँचा या नहीं, कम से कम इस ग्रंथ के आधार पर उसने कोई खास पुस्तक नहीं लिखी। जो भी हो दारा ने उनके पाण्डित्य से मुग्ध होकर उन्हें विविधविद्याचमत्कारपारंगत की उपाधि से विभूषित किया।

दारा शुकोह के साथ श्री रामानन्द का जैसी उनके कुल में किंवदन्ती है, गुरु शिष्य का सम्बन्ध था अथवा नहीं यह तो ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता पर यह तो निश्चित है कि दारा के प्रति रामानन्द का अनुराग था। औरंगजेब द्वारा दारा के पराभव का समाचार सुनकर श्री रामानन्द का चित्त, जैसा कि उनके कुछ पद्यों से पता चलता है, खिन्न हो उठा। दारा के गुणों को याद करते करते वे कहते हैं—दाराशाहविपन्नु हो, कथमहो प्राणान्न गच्छन्त्यमी (हाय दारा शाह की विपत्ति से हमारे प्राण क्यों नहीं निकल जाते)। सत्रहवीं सदी के मध्य में बनारस के अनेक पंडित दारा के आश्रित थे पर जहाँ तक हमें पता है रामानन्द के सिवा इनमें से किसी ने भी दारा की विपत्ति पर आँसू बहाने की हिम्मत नहीं की। यही एक मुख्य कारण है जिसके आधार पर हम कह सकते हैं कि उनका दारा के साथ बहुत निकट का सम्बन्ध था।

काशी के पण्डितों की नैतिक कमजोरी प्रसिद्ध है। उन्हें सदा राज्य का भय लगा रहता था और शायद इसीलिए अनेक अत्याचारों को सहते हुए भी उन्होंने अपना मुँह खोलने की कभी हिम्मत नहीं की। पर रामानन्द इस वृत्ति के अपवाद थे। अपनी वाणी द्वारा वह औरंगजेब का कुछ बिगाड़ तो नहीं सकते थे पर हिन्दुओं में वे शायद अकेले ही व्यक्ति थे जिन्होंने बनारस में हिन्दुओं की दयनीय दशा का जीता जागता चित्र अपने हास्यसागर नाम का प्रहसन में किया है—

हन्यन्ते निशिनिशि सकला सुरभयो निर्दयैर्म्लेच्छजाते-
र्दीयन्तेऽमी सदेवा सकलमुनिजना नाल्पास्त्वातिदीर्घा ।
पीड्यन्ते साधुलोका कठिनतरकराहिंसि कामचारै
प्रत्यूहैर्वै स्मृता समयमिव जगत्यामराणा कुमारे ॥

इस उद्धरण से पता चलता है कि औरंगजेब के काल में गोवध हो रहा था, देव-

मन्दिरो की प्रतिमाएँ तोडी जा रही थी और औरगजेव के स्वच्छन्द कर्मचारियो के उत्पीडन और अत्यधिक कर ग्रहण से लोग त्रस्त और आतकित हो रहे थे। इस उद्धरण के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि रामानन्द ने हास्यसागर प्रहसन १६६९ के बाद ही लिखा होगा जब औरगजेव की आज्ञा से बनारस के मन्दिर तोड दिये गये और लोगो पर अनेक तरह के अत्याचार किये गये।

पण्डित होने के सिवाय भी रामानन्द शिव के परम भक्त थे पर देवी की उपासना में भी उनका चित्त रमता था और शायद वे तान्त्रिक भी थे। अन्त में वे सन्यास ग्रहण करके लक्ष्मी कुड पर स्थित कालीमठ के शिष्य होकर वही रहने लगे।

रामानन्द सस्कृत के प्रतिभाशाली भावुक कवि थे और उनके पूर्ण-अपूर्ण करीब पचास स्तोत्र ग्रथ मिले है। हिन्दी में भी वे कविता करते थे यद्यपि उनकी हिन्दी कविता सस्कृत की तरह परिष्कृत नही थी। साहित्य के अतिरिक्त वे व्याकरण, न्याय, वेदान्त, ज्योतिष, कर्मकाण्ड इत्यादि विषयो में भी पारगत थे। इनके साहित्यिक ग्रन्थो में रसिकजीवन, पद्यपीयूष, हास्यसागर, काशी-कुतूहल, रामचरित्रम् मुख्य है। टीका ग्रन्थो में किरात की भावार्थ दीपिका और काव्यप्रकाश के प्राकृत अशो की व्याख्या भी है।

मुग़ल साम्राज्य की अवनति के युग में भी बनारस के पण्डितो में कोई कमी नही आयी, यो नागोजी भट्ट को छोडकर, इस युग में काशी में कोई ऐसा विद्वान नही हुआ जिसने साहित्य अथवा व्याकरण शास्त्र को नयी देन दी हो। इन पण्डितो का उल्लेख उन दो प्रमाण पत्रो से मिलता है जो १७८७ में काशी के पण्डितो ने वारेन हेस्टिंग्स को दिया।[1] एक प्रमाण पत्र पर काशी के एक सौ अठहत्तर महाराष्ट्र और गुजराती पण्डितो के हस्ताक्षर है। बगाली पण्डितों के प्रमाण पत्र के अन्तर्गत बहुत से बगाली कायस्थ और कुछ एतद्देशीय ब्राह्मण भी आ गये है। गुजराती और मराठी पण्डितो में भी बहुत से तीर्थ पुरोहित, जिनका विद्या से कुछ सम्बन्ध न था, घुसे मालूम पडते है।

२. व्रजभाषा के कवि

वल्लभाचार्य और विट्ठलनाथ के प्रचार से वैष्णव धर्म की जो उन्नति हुई उसके फलस्वरूप व्रजभाषा ने, बगाल को छोडकर, समूचे उत्तर भारत की शिष्ट भाषा का स्थान ग्रहण कर लिया। व्रजभाषा के इस बढते प्रभाव से बनारस भी अछूता नही बचा। भाषा को तिरस्कार की दृष्टि से देखते हुए भी बनारस के बहुत से पडितो ने उसे अपनाया। कवीद्राचार्य सरस्वती और रामानद ऐसे सस्कृत के प्रौढ़ पडित भी व्रजभाषा या अवधी में रचना करने लगे। कम से कम सत्रहवी सदी के मध्य में बनारस भाषा के इतने कवि थे कि उन्होने अपनी ओर से कवीद्र सरस्वती को बनारस का यात्री कर छुडवाने के उपलक्ष्य में अपनी ओर से प्रशस्तियो सहित एक मान पत्र भेंट किया। इन प्रशस्तियो का सग्रह अनूप लाइब्रेरी बीकानेर में सुरक्षित है।[2] कवीद्र चद्रिका में कवियो के नाम ये है—(१)

[1] जर्नल ऑफ दि गगानाथ रिसर्च इ०, नवम्बर १९४३, पृ० ३२ से

[2] ना० प्र० प०, ४७, अक ३-४, पृ० २७१-७२

सुखदेव, (२) नदलाल, (३) भीष, (४) पडितराज, (५) रामचद्र, (६) कविराज, (७) धर्मेश्वर, (८) हरिराम, (९) रघुनाथ, (१०) विश्वभरनाथ मैथिल, (११) शकरोपाध्याय, (१२) भैरव, (१३) सीतापति त्रिपाठी पुत्र मणिकठ, (१४) अगद, (१५) गोपाल त्रिपाठी पुत्र मणिकठ, (१६) विश्वनाथ राम, (१७) चिंतामणि, (१८) देवराय, (१९) कुलमणि, (२०) त्वरित कविराज, (२१) गोविंद भट्ट, (२२) जयराम, (२३) वशीवर, (२४) गोपीनाथ, (२५) राम, (२६) जादवराय, (२७) जगतराम, (२८) चद्र। देशी भाषा के इन कवियो में कवीन्द्र चद्रोदय के कुछ सस्कृत कवि जैसे जयराम, विश्वभर मैथिल, धर्मेश्वर, रघुनाथ और त्वरित-कविराज भी आ गये हैं। कवींद्र चद्रिका के इन कवियो में पडितराज कवि (४) का भी नाम आया है। ये पडितराज सुप्रसिद्ध रसगगाधर के कर्ता है या और कोई यह तो नहीं कहा जा सकता। पर अगर वे पडितराज जगन्नाथ ही हैं तो इनकी हिंदी रचना उतनी है जितनी चद्रिका में इनके नाम पर मिलती है।

अट्ठारहवी सदी का युग अराजकता का था इसलिए इस युग के आरम में बनारस के हिंदी साहित्य की अधिक उन्नति न हो सकी। इसका यह भी कारण हो सकता है कि बनारस में कवियो के पारखी कम थे और राज्य की ओर से उन्हें बहुत कम प्रोत्साहन था। पर जब मनसाराम ने बनारस राज्य की स्थापना की उसके बाद मे बनारस के राजाओं ने कवियों को बराबर प्रश्रय दिया और इसके फलस्वरूप १७४० से १८५० के बीच बनारस में हिंदी काव्य की अच्छी उन्नति हुई। पर भारतेंदु हरिश्चन्द्र के पहले बनारस के हिंदी साहित्य की शैली पुरानी थी और उसमें किसी ने नवीनता लाने का प्रयत्न नहीं किया। जॉर्ज ग्रियरसन और नागरी प्रचारिणी सभा की हिंदी ग्रथो की खोज-रिपोर्टों के आधार पर हम नीचे बनारस के कवियो पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।[१]

रघुनाथ वन्दीजन—जान पडता है रघुनाथ वन्दीजन बलवन्त सिंह के समकालीन कवि थे। कम से कम ये १७४५ में वर्तमान थे। राजा बलवन्त सिंह स्वय रसिक थे तथा 'चित्र-चन्द्रिका' उनकी कृति मानी जाती है। उनके सहपाठी मुकुन्दलाल थे। रघुनाथ वन्दीजन का घर बनारस के पास चौरागांव में था। इनकी गणना हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवियो में की जाती है। इन्होने काव्य-कलाधर (१७४५ ईस्वी), रसिक-मोहन, जगन्मोहन (१७५० ईस्वी), इश्क-महोत्सव नाम के मौलिक ग्रन्थ और बिहारी सतसई पर एक टीका लिखी।

मुकुन्दलाल कवि—ये रघुनाथ वन्दीजन के समकालीन थे। 'लालमुकुन्द विलास' नाम का नायिका भेद पर इनका ग्रन्थ मिलता है (रिपोर्ट, १९०३, न० ६४)।

आनन्द—इन्होने १७६५ ई० में आनन्द अनुभव नाम का एक ग्रन्थ लिखा (रिपोर्ट, १९०४, पृ० ३)।

---

[१] ग्रियर्सन, दि मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिंदोस्तान, पृ० ११७ से, कलकत्ता १८८९

लाल कवि—ये राजा चेतसिंह (१७७०–१७८१) के दरबारी कवि थे। इन्होंने रसमेल नामक एक ग्रन्थ, बनारस के राजाओं के बारे में फुटकर कविताएँ तथा लालचन्द्रिका नाम की बिहारी सतसई की टीका लिखी।

हरिप्रसाद—चेतसिंह की आज्ञा से इन्होंने बिहारी सतसई का संस्कृत में अनुवाद किया।

चेतसिंह—बनारस के राजा चेतसिंह (१७७०–८१) भी स्वयं कवि थे। बनारस से भागने के बाद १७८३ में उन्होंने 'लक्ष्मीनारायण विनोद' नाम का एक ग्रन्थ लिखा (रिपोर्ट, १९, १९–११ न० ४७)।

अग्रनारायण और वैष्णवदास—१७८७ में इन दोनों ने भक्तमाल पर प्रियादास की टीका पर टीका लिखी (रिपोर्ट, १९०४, पृ० ३)।

गोकुलनाथ बन्दीजन—गोकुलनाथ रघुनाथ बन्दीजन के पुत्र थे। इनकी चेतचन्द्रिका (१७८६), जिसमें राजा चेतसिंह के कुल का इतिहास दिया है, एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके सिवाय उन्होंने गोविन्द सुखद विहार, राधाकृष्ण विलास (१८०१ ईस्वी), रामगुणार्णव रामायण, कविमुख मडन (१८१३ ईस्वी) और अमरकोश भाषा (१८१३ ईस्वी) नाम के ग्रन्थ लिखे। इन्होंने राजा उदितनारायण (१७९५–१८३५) की आज्ञा से महाभारत का हिन्दी में अनुवाद शुरू किया। बीच में ही इनकी मृत्यु हो जाने से इस काम को इनके पुत्र गोपीनाथ तथा उनके शिष्य मणिदेव ने पूरा किया।

गोपीनाथ बन्दीजन—ये गोकुलनाथ के पुत्र थे। अपने पिता की मृत्यु के बाद अपने शिष्य मणिदेव के साथ इन्होंने महाभारत के अनुवाद का काम सम्हाला। समय-समय पर उन्होंने कुछ स्फुट कविताएँ भी लिखी पर इनका मुख्य काम महाभारत का अनुवाद ही था।

भिखारीदास कायस्थ—उनका काव्य-काल करीब १७३४ से ९० ईस्वी तक होता है। उनके ग्रन्थों में रससार, छन्दार्णव, छन्द प्रकाश, शृगारनिर्णय इत्यादि आते हैं।

ब्रह्मदत्त उपाध्याय—राजा उदित नारायण के भाई दीपनारायण के राजकवि थे। इनके दो ग्रथ प्रसिद्ध है दीप प्रकाश (१८०९ ईस्वी) और विद्वद्विलास (१८०९ ईस्वी)।

बृजलाल भट्ट—ये मान कवि के पुत्र तथा राजा उदित नारायण सिंह के दरबार के एक कवि थे। इनके निम्नलिखित ग्रथ प्रसिद्ध हैं—छन्दरत्नाकर (१८२४ ईस्वी), उदितकीर्ति प्रकाश तथा हनुमत बालचरित्र (१८१९ ईस्वी)।

घनीराम—अपने सरक्षक बाबू देवकी नदन की आज्ञा से इन्होंने रामज्ञानोदय (१८१० ईस्वी) लिखा। इन्होंने भाषा प्रकाश का हिंदी अनुवाद भी किया तथा केशव की रामचद्रिका और जानकी प्रसाद की रामायण पर टीकाएँ लिखीं।

दीनदयाल गिरि—ये अपने समय के प्रसिद्ध कवियों में एक थे। हिंदी के कवि होने के साथ साथ वे संस्कृत के भी एक विद्वान कवि थे। निम्नलिखित ग्रथ उनके लिखे हुए मिलते है—अनुराग बाग (१८२१ ईस्वी), विश्वनाथ नवरत्न, चकोरपचक, दृष्टान्ततरगिणी (१८२२ ईस्वी), काशी पचक, दीपक पचक, अन्तर्लापिका, अन्योक्तिकल्पद्रुम और बागवो बहार।

गजराज—इन्होंने (१८४६ ईस्वी) में मुवृत्तहार लिखा। इनकी लिखी एक रामायण भी मिलती है।

गणेश—ये गुलाब कवि के पुत्र और सुप्रसिद्ध लाल कवि के पौत्र थे। इनके लिखे ग्रंथों में वाल्मीकि रामायण श्लोकार्थ प्रकाश तथा ऋतुवर्णन (१८०० ईस्वी) है। ये राजा उदितनारायण के राजकवि थे।

जानकी प्रसाद—१८१४ ईस्वी में केशवदास की रामचन्द्रिका पर इन्होंने एक टीका रामप्रकाशिका नाम की लिखी। इनकी लिखी युक्ति रामायण पर धनीराम की टीका मिलती है।

देव कवि अथवा काष्ठजिह्व स्वामी—इन्होंने काशी में संस्कृत का अध्ययन किया था। अनुश्रुति है कि एक बार अपने गुरु से लड़ने के कारण उन्होंने अपनी जिह्वा कटवा दी। दूसरों से बात चीत के लिये वे एक पटरी व्यवहार में लाते थे। ये महाराज ईश्वरीनारायण सिंह के गुरु माने जाते थे। इन्होंने तुलसी रामायण पर रामायण परिचर्या नाम की टीका, पदावली सप्तकाण्ड (१८४० ईस्वी) इत्यादि प्राय पचास ग्रन्थ लिखे। इनके पद बड़े ही मधुर होते थे और आज तक बनारस में गाये जाते हैं। इनके संस्कृत के भी अनेक ग्रन्थ मिलते हैं।

मनियार सिंह—बलवन्त सिंह के भतीजे मनियार सिंह कृष्ण कवि के शिष्य थे। १७८६ ईस्वी में इन्होंने भावार्थ-चन्द्रिका नाम का एक ग्रन्थ लिखा।

रामसहाय—रामसहाय कायस्थ उदितनारायण सिंह के दरबार के कवि थे। इन्होंने रामसहाय शतिका, वाणीभूषण तथा वृत्ततरंगिणी (१८१६ ईस्वी) नाम के ग्रन्थ लिखे।

सरदार कवि—ये महाराजा ईश्वरी नारायण सिंह के राजकवि तथा हरिजन नाम के कवि के पुत्र थे। ये अपने समय के कवियों में बड़े ही प्रसिद्ध थे। इनके निम्नलिखित ग्रन्थ मिलते हैं—कविप्रिया पर काशिराज प्रकाशिका नाम की टीका, रसिकप्रिया पर मुखविलासिका नाम की टीका, रामरसरत्नाकर, रामरणवज्र यन्त्र, साहित्यसुधाकर (१८४५ ईस्वी), साहित्यसरसी, हनुमन्त भूषण, शृंगार संग्रह, सतसई पर टीका इत्यादि।

सुन्दरदास—इनके निम्नलिखित तीन ग्रन्थ मिलते हैं—सुन्दरश्यामविलास (१८१० ईस्वी), विनयसार और सुन्दर षट् शृंगार (१८१२ ईस्वी)।

गोपालचन्द्र उर्फ गिरधरदास—बनारस के प्रसिद्ध महाजन हर्षचन्द्र के ये पुत्र थे। इनका जन्म १८३२ ईस्वी और मृत्यु १८५९ ईस्वी में हुई। इनके गुरु काशी के वल्लभ कुल के आचार्य श्री गिरधर जी थे। अपने गुरु के नाम पर ही इन्होंने अपना उपनाम गिरधर-दास रख लिया था। इनके छोटे बड़े ग्रन्थ सब मिलाकर चालीस हैं, जिनमें दशावतार, भारतीभूषण और जरासंधवध मुख्य हैं। इन्हीं गोपालचन्द्र के पुत्र सुप्रसिद्ध भारतेन्दु हुए जिन्होंने आधुनिक हिन्दी भाषा की नींव डाली।

३. बनारस की शिक्षा संस्थाएँ

अट्ठारहवीं सदी में काशी में संस्कृत शिक्षा का वही प्रबन्ध था जो मुगल काल में या उसके भी पहले से चला आ रहा था। विद्यार्थियों को काशी के गुरु निःशुल्क पढ़ाते थे साथ ही उनके भोजन और रहने का प्रबन्ध भी करते थे। इसमें जो कुछ उनका व्यय होता था उसको पूरा करने के लिए महाजनों तथा राजाओं की सहायता अपेक्षित होती थी। जान पड़ता है, यह सहायता पर्याप्त रूप में मिलती थी। जब से पेशवों का बनारस से सम्बन्ध हुआ तब से तो दक्षिणी पण्डितों के सहायतार्थ महाराष्ट्र तथा मराठों की दूसरी अमलदारियों से भी अन्नसत्र और पाठशालाएँ चलाने के लिये काफ़ी रुपए आते रहे। अट्ठारहवीं सदी के अन्त में अंग्रेज़ों ने बनारस संस्कृत कॉलेज खोलने की सोची।[१] कॉलेज चलाने की बात पहले पहल किसके दिमाग़ में आयी यह कहना तो कठिन है। संस्कृत कालेज के प्रथम आचार्य काशीनाथ लॉर्ड मॉर्निंगटन के नाम अपने १७९९ ईस्वी वाले पत्र में लिखते हैं कि बनारस संस्कृत कॉलेज चलने की बात पहले उन्होंने ही चलायी। उनके इस कथन में कितना तथ्य है यह तो नहीं जाना जा सकता पर उनका यह दावा एक दम से टाला भी नहीं जा सकता। यह भी हो सकता है कि चार्ल्स विलकिंस ने, जिन्हें संस्कृत पढ़ने के लिये एक पण्डित ढूढ़ने में बड़ी कठिनाई पड़ी, यह सुझाव वारेन हेस्टिंग्स के सामने रक्खा हो। काशीनाथ पण्डित का अपने पत्र में यह कहना है कि अपनी कलकत्ता यात्रा कॉलेज के सम्बन्ध में प्रस्ताव रखने के लिये उन्हें स्थगित करनी पड़ी और इसके बाद उन्होंने यह प्रस्ताव जोनेथन डंकन के पास रक्खा। पर यह बात किसी दूसरे कागज़ पत्र में नहीं मिलती। जो भी हो पहली जनवरी १७९२ में एक पत्र द्वारा डंकन ने बनारस में संस्कृत शिक्षा के लिये एक कॉलेज खोलने का प्रस्ताव रक्खा। डंकन के कॉलेज स्थापना करने में पहला उद्देश्य तो यह था कि पण्डितों और विद्यार्थियों की सहायता से अनेक विषयों पर संस्कृत की हस्तलिखित पुस्तकें इकट्ठी की जायें और दूसरा यह कि इससे अंग्रेजों की हिन्दुओं में ख्याति बढ़ेगी और कालेज से ऐसे पण्डित निकल सकेंगे जो हिन्दू क़ानून को समझने में अंग्रेज जजों की सहायता कर सकेंगे। कालेज चलाने में केवल चौदह हजार साल का खर्च था। गवर्नर जनरल ने तुरन्त उनकी बात मान ली और कॉलेज के खर्च के लिये बीस हजार की मंजूरी दे दी। समयानन्तर में संस्कृत पाठशाला की स्थापना हो गयी इसमें पढ़ाने के लिये आठ पण्डित रक्खे गये और काशीनाथ प्रधान आचार्य नियुक्त हुए। इनका वेतन दो सौ रुपया मासिक नियत किया गया।

इस पाठशाला की देखरेख का भार बनारस के रेज़िडेंट और उसके डिप्टी पर छोड़ दिया गया। डंकन ने इस बात का पूरा यत्न किया कि ब्राह्मण पण्डित, जिन पर इस पाठशाला की सफलता निर्भर थी, किसी तरह से अप्रसन्न न हो जायें। इसके लिये पाठशाला में ब्राह्मण पण्डित ही नियुक्त किये गये और यह भी निश्चय किया गया कि स्मृति और धर्म-शास्त्र के परीक्षक भी ब्राह्मण ही हों।

---

[१] एस० एन० सेन, संस्कृत कालेज एट बनारस, जर्नल गंगानाथ रिसर्च इं०, मई १९४४, पृ० ३१५ से

इस पाठशाला के पहले सात साल के कागज पत्र नहीं मिलते। डकन १७९५ में बनारस से बम्बई चले गये। १७९८ में पाठशाला के प्रबन्ध का भार एक कमिटी पर आ पडा, जिसमें बनारस के कमिश्नर सेमुअल डेविस और कैप्टन विलफ़ोर्ड थे। चेरी फारसी के विद्वान थे, डेविस भारतीय ज्योतिष में दखल रखते थे और विलफर्ड में सस्कृत पढ़ने में बडी रुचि थी। विलफर्ड इस कमिटी के सेक्रेटरी नियुक्त किये गये। कैप्टन विलफर्ड पहले पहल अग्रेजी जिलो और अवध राज की वीच की पैमाइश के लिये नियुक्त किये गये थे। पर जब इस काम में नवाब के आदमी रोडे अटकाने लगे तब डकन ने सर जॉन शोर को लिखा कि वे विलफर्ड को बनारस में रह कर अपना अध्ययन समाप्त करने की आज्ञा दे दें। सर जॉन शोर ने डकन की यह बात मान ली और विलफर्ड को उनकी तनख्वाह के अलावा पढ़ने के लिये सामग्री इत्यादि इकट्ठा करने के लिये छह महीने का वजीफा भी स्वीकार कर लिया।

१८०१ में कॉलेज की कमिटी ने, जिसमें चेरी और डेविस की जगह नीब और डीन आ गये थे, रिपोर्ट भेजी कि काशीनाथ द्वारा बतायी गयी विद्यार्थियो की दो सौ दो सख्या में पचास तो बराबर पाठशाला में आते थे लेकिन पचास से सत्तर तक महीने में केवल एक या दो बार आते थे और, बाकी तो केवल नाम ही के विद्यार्थी थे। पाठ्शाला में काशीनाथ ने बारह की जगह ग्यारह ही पडित रख छोडे थे और बारहवें पडित का फर्जी नाम देकर उसका वेतन खुद हडप जाते थे। कमिटी के आदेशानुसार काशीनाथ ठीक तौर से वेतन का चिट्ठा भी नही बनाते थे। इन्ही सब कारणो से कमिटी ने उनको निकाल बाहर किया और उनकी जगह जटाशकर पडित को पाठशाला का प्रधानाध्यापक नियुक्त दिया। इस तरह बाहर निकाल दिये जाने पर काशीनाथ ने लॉर्ड मानिगटन के पास एक अर्जी भेजी, जिसमें अपना दुखडा रोया।

इसमें शक नही कि पाठशाला के काम काज में काशीनाथ बडी गडबडी करते थे। पर इस गडबडी का बहुत कुछ श्रेय उनके नालायक साथियो पर भी था। १७९८ में ही काशीनाथ ने गवर्नर जनरल से ही शिकायत की थी कि पाठशाला के पडितो में से पाँच पडित अमलो और रईसो के यहाँ बराबर आया जाया करते थे जिससे पाठशाला के काम में बडा विघ्न पडता था। इस बात की शिकायत उन्होने बनारस के अमलो से भी की थी पर इसमें उन्होने दखल देने से साफ इनकार किया। ऐसा मालूम पडता है कि पाठशाला के पडित काशी की प्रथा के अनुसार विद्यार्थियो को अपने घर पर ही पढाया करते थे जिससे पाठशाला के नियमो का उल्लघन होता था। डकन के जाने के बाद तो कालेज के नियम और ढीले पड गये। पाठशाला के आरम्भिक अध्यापको में रामप्रसाद तर्कालकार अपनी नियुक्ति के समय अस्सी वर्ष के थे। वीरेश्वर सुब्बा शास्त्री और जटाशकर यह चाहते थे कि उनके छात्रो की वृत्तियाँ उन्ही को मिलें पर ऐसा करने से कमिटी ने साफ इनकार कर दिया। मि० ब्रुकरी जो १८०४ में कमिटी के सभापति थे उनका विचार था कि जटाशकर में इतनी योग्यता नही थी कि वे पाठशाला के आचार्य हो सकें। १८१३ में वीरेश्वर पडित, शिवनाथ पडित और जयराम भट्ट के विरुद्ध शिकायतें की गयी। इन बातो से साफ पता लग जाता है कि काशीनाथ की सफलता का कारण केवल उनकी

अयोग्यता ही नही वरन् उनके साथियो में भी गडबडी थी फिर भी रुपये पैसे के मामले में गडबडी करने के लिये वे अवश्य दोषी थे।

काशीनाथ के आचार्य पद से हटा दिये जाने पर भी पाठशाला के प्रबध में किसी तरह की उन्नति नही हुई। उनके उत्तराधिकारी जटाशकर एक साधारण श्रेणी के आदमी थे। कमिटी के सभासद भी कालेज के कामो में दिलचस्पी नही लेते थे। इन सब बातो से यही पता चलता है कि जिस ध्येय को लेकर डकन ने इस कालेज की स्थापना की थी उसका कोई परिणाम नही निकला।

१८१२ में कॉलेज की पुनर्योजना हुई, जिससे १८१५ तक उसकी दशा में बहुत कुछ सुधार हो गया। १८२० में केप्टन फ़ेल कॉलेज कमेटी के सेक्रेटरी चुने गये। वृत्ति पाने वाले विद्यार्थियो की सख्या साठ निर्धारित कर दी गयी, पर बिना वृत्ति के दूसरे विद्यार्थी भी कॉलेज में शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। १८२३ में विद्यार्थियो की सख्या बढकर दो सौ हो गयी। १८२४ में केप्टन फेल की मृत्यु हो गयी। १८२५ में इस पाठशाला का आँखो देखा वर्णन विशप हेबर ने किया है। यह वर्णन इतना मजेदार है कि हम उसे नीचे उद्धृत करते है।

"विद्यालय दो चौक की ऊँची इमारत में है। यह सर्वदा शिक्षको और विद्यार्थियो से भरा रहता है। विद्यालय में बहुत सी कक्षाएँ है जिनमें विद्यार्थी पढ़ना लिखना, भारतीय-गणित, फारसी, हिंदू कानून, वेद, सस्कृत, और ज्योतिष सीखते है। विद्यालय में दो सौ विद्यार्थी है, और उनमें बहुत से मुझे पाठ सुनाने आये। अभाग्यवश थोडी ज्योतिष और फारसी के सिवा मैं कुछ न समझ सका। ज्योतिष के पडितो ने हिंदू ज्योतिष के सिद्धातानुसार बने गोले दिखलाये, इनमें उत्तरी ध्रुव पर मेरु पर्वत और दक्षिणी ध्रुव पर एक कछुआ जिस पर पृथ्वी आश्रित है, थे। पडित जी ने बताया कि दक्षिण गोलार्ध बसने योग्य नही है। उन्होने यह भी बतलाया कि प्रतिदिन सूर्य पृथ्वी के कितने सौ चक्कर मारता है और उसी गति से वह कैसे नक्षत्रो के भी चारो ओर फिर आता है 'इस पाठशाला में अग्रेजी और यूरोपीय ज्योतिष पढ़ाने की कई बार कोशिश की गयी पर इस विद्यालय के विगत प्रधान शिक्षक इसके इसलि विरोधी थे कि ऐसा करने से सस्कृत शिक्षा पर व्याघात पहुचने तथा पडितो के धार्मिक भावनाओ पर धक्का लगने का डर था।

"दूसरे दिन मैं बनारस की सैर करने घोडे पर निकला। विद्यालय का एक छोटा विद्यार्थी मेरे पीछे दौडा और हाथ जोड कर अपना पाठ सुनाने की अनुमति चाही जिसे मैं कल नही सुन सका था। मैंने अपना घोडा रोक दिया और लडका सस्कृत के श्लोक सुनाने लगा। जब मैंने उसको कुछ पैसे दिये तो उसने कुछ फूल दिये और बातचीत करता हुआ मेरे साथ तब तक आगे बढता रहा जब तक भीड ने हम दोनो को अलग नही कर दिया। जब वह अपना पाठ पढ़ पढ गा रहा था तब आस पास के लोग उसको शाबाशी दे रहे थे। जिस तरह से श्लोक सुन कर वे मेरी तरफ शारा कर रहे थे उससे यह पता लगता था कि श्लोक मेरे सबध में थे। शायद यह अभिनदन पत्र था जो जल्दी में तो कल मुझे न मिल सका पर आज दे ही दिया गया।"

१८२४ में केप्टन फेल की मृत्यु के बाद केप्टन थोसवाई उनकी जगह संस्कृत पाठशाला के सेक्रेटरी नियुक्त किये गये। इन्होंने छात्रवृत्तियो की संख्या सौ कर दी। १८२९ में उन्होने एक अंग्रेजी स्कूल खोलने पर जोर दिया और बनारस में एंग्लो इंडियन सेमीनरी स्कूल के नाम से एक अंग्रेजी स्कूल १८३० में खुल ही गया। १८३६ में इस स्कूल का नाम गवर्नमेंट स्कूल रखकर एक अंग्रेजी शिक्षक की नियुक्ति कर दी गयी। १८३५ में कुछ काल के लिये इस स्कूल के प्रधानाध्यापक मि० निकोल्स बनाये गये। उनके समय में विद्यार्थियो की संख्या २९६ थी पर १८३८ में फारसी की कक्षाएँ बन्दकर देने से तथा छात्रवृत्तियों में कमी कर देने से छात्रों की संख्या घट गयी। १८४४ में इस स्कूल का प्रबन्ध स्थानिक सरकार के जिम्मे कर दिया गया और इसके प्रिंसिपल मि० म्योर बना दिये गये। १८४६ में मि० वैलटाइन स्कूल के प्रिंसिपल हुए। इन्ही के काल में १८५२ में स्कूल की इमारत बनकर तैयार हुई। इस स्कूल का नक्शा मेजर किटो ने १८४६ में बनाया था। इसके बनाने में तेरह हजार पाउन्ड की लागत बैठी।

काशी में अंग्रेजी शिक्षा का बहुत कुछ श्रेय राजा जयनारायण घोषाल को है। राजा जयनारायण घोषाल उन कुछ इने गिने आदमियों में थे जिनका यह विश्वास था कि बौद्धिक उन्नति के लिये भारतीयो को अंग्रेजी पढनी आवश्यक थी। सितम्बर १८१४ में जब लार्ड हेस्टिग्स बनारस में आये तो जयनारायण स्कूल की नीव पड गयी थी। हेस्टिंग्स अपने जर्नल में कहते है[1] कि राजा जयनारायण घोषाल ने अपने जमीन के टुकडे कर स्कूल की इमारत बनवाना आरम्भ कर दिया था। उनकी यह इच्छा थी कि गवर्नमेंट द्वारा नियुक्त ट्रस्टियो को यह इमारत एक अंग्रेजी स्कूल चलने के लिये दे दी जाय। इस काम के लिये उन्होने चौबीस सौ रुपये सालाना आमदनी के जमीन और सरकारी कागज भी इस लिये दे दिये थे कि इस आमदनी से एक अंग्रेजी अध्यापक और उसके सहायको को वेतन दिया जा सके। इस दान में उनकी केवल एक ही शर्त थी उसकी आमदनी का रुपया किसी दूसरे काम में न लगाया जाय। इस शर्त को हेस्टिंग्स ने भी स्वीकार कर लिया।

बिशप हेवर ने १८२५ में इस स्कूल को देखा और उसका मुआयना किया। उनका कहना है कि राजा जयनारायण घोषाल को बनारस के पादरी मि० कोरी ने करीब करीब ईसाई बना लिया था। बनारस में भी यह अनुश्रुति है कि राजा जयनारायण घोषाल ईसाई हो गये थे पर बात ऐसी नही है। उनके ईसाई होने की गप्प केवल इसलिये चल पडी कि वे और उनके पुत्र काली शंकर समाज सुधारक थे और अठारहवी सदी की दुनियाँ में कोई भी समाज सुधारक हिन्दुओ की दृष्टि में ईसाई अथवा म्लेच्छ था। हेवर के अनुसार जयनारायण स्कूल में उस समय एक सौ चालीस विद्यार्थी, एक अंग्रेजी के मास्टर और एक फारसी पढाने के लिये मुन्शी थे। पाठशाला का प्रबन्ध एडलिंगटन नाम के एक पादरी देखते थे। विद्यार्थी अंग्रेजी बाइबिल, अंग्रेजी इतिहास, उर्दू, फारसी और

---

[1] हेस्टिंग्स, डायरी पृ० ७०–७१

अग्रेजी पढ़ते थे। उन्हें गणित और भूगोल का भी ज्ञान कराया जाता था। पाठशाला के विद्यार्थियो में अधिकतर मध्यम वर्ग के ब्राह्मण छात्र थे।[1]

उन्नीसवी सदी के मध्य भाग में बनारस में कई मिशन खुले जिन्होंने शहर में ईसाई धर्म और अग्रेजी शिक्षा का प्रचार किया। पर इन्हें अपने ध्येय में बनारस की कट्टरता के कारण अधिक सफलता न मिल सकी।

४. उन्नीसवीं सदी में बनारस में शिक्षा

७ जून १८४५ में नार्थ वेस्टर्न प्राविंस सरकार के सेक्रेटरी जे० थॉर्नटन ने बनारस के मजिस्ट्रेट को वहाँ की देशी शिक्षा के सबन्ध में एक पत्र लिखा जिसमें उनका इस ओर ध्यान दिलाया गया कि बनारस में शिक्षा का प्राय अभाव था। जमीन के नये बदोबस्त होने की वजह से यह आवश्यक था कि रिआया ऐसी शिक्षा प्राप्त करे जिससे उसे पटवारी के कागज पत्र समझने में सुविधा हो। इसके लिए पढ़ना लिखना, गणित और पैमाइशी की शिक्षा आवश्यक थी। इस शिक्षा के बाद साहित्य की शिक्षा आती थी। प्राथमिक शिक्षा के लिए देशी पाठशालाओ की मदद की जा सकती थी और उनका पाठ्यक्रम सुधारा जा सकता था। इसके लिये जनता में उत्साह बढ़ाने की आवश्यकता थी। सरकारी प्रोत्साहन से गाँवो में ऐसी पाठशालाएँ चलाई जा सकती थी जिनमें जनता द्वारा शिक्षक नियुक्त हो। ऐसी सभावना थी कि कुछ ही दिनो में ऐसे शिक्षक जनता के सेवक बन जाएँ और उनका वेतन गाँवो की मालगुजारी से वसूला जा सके। ऐसे शिक्षको के प्रोत्साहन के लिए खास इनमें तथा पुस्तकें देना आवश्यक था। पाठशालाओ के लिए प्राथमिक पुस्तकें तैयार हो रही थीं। कलेक्टर को यह भी रियायत दी गयी थी कि वह तत्कालीन शिक्षा के बारे में विवरण प्राप्त करे इसके लिए वह तहसीलदारो की सहायता ले सकता था। प्रत्येक ग्राम की पाठशालाओ की सख्या इकट्ठा करना आवश्यक था। (बनारस अफेयर्स, भाग २, पृ० १८७ से)।

उपर्युक्त आदेश के अनुसार बनारस जिले की पाठशालाओं का विवरण इकट्ठा किया गया। इस विवरण से सतुष्ट न होते हुए भी बनारस के कलेक्टर ए० शेक्सपीयर ने २३ अक्टूबर १८४७ को इसे लेफ्टिनेंट गवर्नर के पास रवाना कर दिया। विवरण से पता चलता है कि बनारस की ग्रामीण पाठशालाएँ प्राय दूसरो के घरो में लगती थी तथा शिक्षको का वेतन इतना कम था कि उससे उनका निर्वाह मुश्किल था। पाठशालाओ की कुल सख्या १७३ थी जिसमें १२१ कायस्थ थे। शिक्षा में फारसी का मुख्य स्थान था तथा देशी भाषाओ की शिक्षा भले घर के लडके अपने घर पाते थे। हिसाब किताब की शिक्षा का कोई विवरण उपलब्ध नही था। नगर में कुछ पाठशालाएँ थी जिनमें हिन्दी, महाजनी और बही खाता पढ़ाया जाता था। खत के साथ शेक्सपीयर ने लेफ्टिनेंट गवर्नर को शिक्षा सबधी नोटिफिकेशन का एक मसविदा भेजा जिसमें वे ही बातें कही गयी थी जिनका उल्लेख थॉर्नटन के पत्र में हो चुका है। इस परिपत्र की कुछ कापियाँ बनारस

[1] हेवर, उल्लिखित, पृ० १६१–६२

कॉलेज के प्रिंसिपल डाक्टर वेलटाइन के पास भी भेजी और उन्हें लोगो की राय के लिये वितरित करने को कहा। बनारस कालेज के हेडमास्टर जी० निकल्स ने राय दी कि अपनी भाषा में शिक्षा देने की योजना सराहनीय थी पर बिना अच्छी देखभाल के ऐसी योजना का सफल होना सभव नही था। उन्होने यह भी मत दिया कि देशी इस्पेक्टरो से यह काम सभव नही था। उनकी राय थी कि एक देशी इस्पेक्टर ८० रुपये महीने पर नियुक्त कर दिया जाय तथा उन पाठशालाओं की निगरानी बनारस कॉलेज के अफसरो के आधीन कर दी जाय (वही, पृ० २००-०१)।

ग्रामीण विद्यालयो के अध्यक्ष डी० ट्रेशम ने २९ अप्रैल १८४८ के अपने एक पत्र में बनारस के कलेक्टर को लिखा कि शिक्षा के उपाध्यक्षो के तीन कर्तव्य थे—यथा विद्यालयों में छपी किताबो का प्रवेश, शिक्षा में समानता लानी, तथा शिक्षा की सफलता अथवा असफलता के बारे में मासिक रिपोर्ट। पाठ्यक्रम में रामसरन दास द्वारा लिखी चार प्राथमिक पुस्तकें रखने का सुझाव रखा गया। वे पुस्तकें चार श्रेणियो के विद्यार्थियो के लिए रखी गयी तथा सबक कैसे पढाऐं जायें इसका भार उपाध्यक्षो पर डाला गया। उन्हें डायरी रखने का भी आदेश था (वही, पृ० २०२-०४)। पर बनारस के कलेक्टर देशी पाठशालाओं की रिपोर्ट से इसलिए सन्तुष्ट नहीं हुये क्योकि उसमें केवल बनारस के हिन्दी और फारसी स्कूलो के ही उल्लेख तथा सस्कृत की पाठशालाऐं और मिशनरी स्कूल जैसे जैनारायन और चर्च मिशन छोड दिये गये थे तथा घर में ही शिक्षा पाने वालो का उसमें उल्लेख तक नही था (वही, पृ० २०५-०६)। डी० ट्रेशम के एक पत्र (वही, पृ० २०६ से) से पता चलता है शिक्षा विभाग के सबइस्पेक्टरो को क़ाफी मुसीबत उठानी पडती थीं, लोगो की शिक्षा के प्रति बडी खामखयाली थी और अपने बच्चो को उर्दू और हिन्दी में प्राथमिक शिक्षा देने तक को तैयार नही थे। शिक्षाध्यक्ष और उनके सहायको का अधिकतर समय उनकी खामखयाली दूर करने में ही बीतता था। पाठशालाऐं खोलने के सम्बन्ध में उनका खयाल था कि अगर सरकार उन्हें खोले तो वे अपने बच्चो को पढाने को तैयार थे। पर इस सम्बन्ध में शिक्षित अध्यापको की कमी और उनका अल्प-वेतन बडी भारी बाधा थी। इस सम्बन्ध में सहायक शिक्षाध्यक्षो के नाम बनारस के कलेक्टर श्री मेकलियड ने कुछ हिदायतें जारी की (वही, पृ० २१० से)। उनसे कहा गया कि, "जनता तथा ज़मीदारो को पाठशालाऐं खोलने के लिए प्रोत्साहित करें। निरीक्षको का कर्तव्य होना चाहिए कि वे देखें कि गाँव वालो ने शिक्षा का महत्त्व कहाँ तक समझा। शिक्षा मुफ्त होनी चाहिये, जो विद्यार्थी फीस दे सकें उनसे फीस वसूल करनी चाहिये तथा मुस्तैद शिक्षको को इनाम देना चाहिए। शिक्षा के तरीक़े में उन्नति के लिए प्रोत्साहन उन्ही को देना चाहिए जो उसके लायक है, ज़ोर ज़बर्दस्ती से काम नही चलने का था। उन्हें लोगो को समझाना चाहिए कि शिक्षा का उद्देश्य कामकी बातो को सिखाना था जिनकी दैनिक जीवन में आवश्यकता पडती है जैसे पढ़ना लिखना, हिसाब किताब इत्यादि। निरीक्षको को चाहिए कि सलाह माँगने पर वे शिक्षको को रामसरनदास की चार पुस्तकें पढाने तथा सवाल-जवाब की पद्धति चलाने को कहें तथा डायरी रखने का सुझाव रखें। यह भी आवश्यक था उपाध्यक्ष शिक्षकों को ठीक ठीक शिक्षा पद्धति का

ज्ञान करावें। उपाध्यक्षों को ग्रामीण शिक्षकों की उनके विद्यार्थियों के सामने इज्जत करने को कहा गया।"

जमींदारों ने शिक्षा प्रसार में कहाँ तक सहायता की इसका तो विशेष पता नहीं चलता पर राजा ईश्वरी प्रसाद नारायण सिंह ने १,२०० रु० सालाना शिक्षा प्रसार के लिए १८५६ में बाँध दिया। गवर्नर जनरल के एजेंट एच० सी० टकर ने इस बात की सरकार को सूचना दे दी और इस बात की प्रार्थना की कि एक शुक्का निकाल कर जमींदारों से ग्रामीण पाठशालाओं के लिए धन की अपील की जाय (वही, पृ० २१५)। ● ●

परिशिष्ट १

प्राचीन काशी में वैशिक जीवन

काशी नगरी हमेशा से अपनी मस्ती के लिए प्रसिद्ध रही है और काशीवासियों के जीवन क्रम में भाग बूटी, मैल सपाटा और नाच मुजरा मुख्य रहा है। प्राचीन भारत में वाराणसी केवल अपनी पंडिताई के लिए ही प्रसिद्ध नहीं थी उत्तर भारत के व्यापार की वह मुख्य केन्द्र थी। व्यापार की वजह से वहाँ के व्यापारियों के पास काफ़ी जमा थीं और वे धार्मिक कृत्यों के सिवाय रागरंग के जीवन में भी काफी व्यय करते थे। व्यापारियों तथा सरकारी कर्मचारियों की ऐशोआराम की जिन्दगी के साथ ही बनारस में वैशिक संस्कृति को प्रोत्साहन मिला। प्राचीन बौद्ध साहित्य में वाराणसी की अड्ढकासी नामक एक वेश्या का उल्लेख है जो राजगृह जाकर बस गयी थी। बाद में वह बुद्ध के उपदेश से भिक्षुणी संघ में प्रविष्ट हो गयी। उसके नाम के सम्बन्ध में दो किंवदंतियों का बौद्ध साहित्य में उल्लेख है। एक के अनुसार कासी का अर्थ एक हजार कार्षापण है इसलिए अड्ढकासी के अर्थ हुए वह वेश्या जिसकी फीस हज़ार का आधा यानी पाँच सौ हो। दूसरे मत के अनुसार काशिराज की आय नगर से प्रतिदिन एक हज़ार कार्षापण थी और प्रति रात्रि की इतनी ही फ़ीस अड्ढकासी की थी, पर जिन कामुकों के पास इतनी रक़म नहीं थी वे दिन में ५०० देकर ही उसका उपभोग कर सकते थे।[1] ईसा पूर्व तीसरी सदी से लेकर ईसा की पाँचवी सदी तक काशी के वैशिक जीवन का चित्र अस्पष्ट है गोकि राजघाट से मिली प्राचीन मृण्मूर्तियों और फलकों में चित्रित वेश्या जीवन और गोष्ठी के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पूर्ववत् बनारस वैशिक वृत्त का अड्डा बना रहा। श्यामिलक कृत पाँचवीं सदी के प्रसिद्ध भाण पादताडितकम्[2] में काशी की एक वेश्या का उज्जैन की मकरवीथि में बसने का उल्लेख है। उज्जैन के वेश में घूमते हुए विट कहता है—"अरे, यह कौन अपने घर की खिड़की पर विमान में अप्सरा की तरह सज रही है? यह काशी की मुख्य वेश्या पराक्रमिका पिन्छोले से खेलती हुई रूपलावण्य की अठखेलियों से आँखों को तर कर रही है। आश्चर्य है—सोने के वैकक्ष्यक से कुचों को कसकर, अर्वोरुक पहन कर नितंबों को साफ़ उघाड़ती हुई, कामियों के चित्त को मथती हुई वेश-वल्ली के चञ्चल किसलय की तरह वह झूमती हुई चल रही है।

"एक ओर की कनपटी पर लटकते हुए जड़ाऊ कुण्डल की मणि की आभा से उसका मुँह चिलक रहा है। वह लम्बे अभ्यास के कारण तालु के नीचे से ईं-ईं फूंक निकाल कर अधर पर रक्खा पिन्छोला मधुर स्वर से बजा रही है। उस ध्वनि से मेंढक के टर्राने का शक करके घर का मोर अपनी गर्दन घुमाता हुआ चक्कर मार रहा है।

---

[1] डिक्शनरी ऑफ पाली प्रापर नेम्स, पृ० ५०

[2] वासुदेवशरण, मोतीचन्द्र, शृंगारहाट, पृ० १८७ से, बम्बई १९६०

"इसके घर से इन्द्रस्वामी का रहस्य-सचिव हिरण्यगर्भक हड़बड़ा कर निकलता हुआ इधर ही आ रहा है। इसमें आश्चर्य क्या? इन्द्रस्वामी और हिरण्यगर्भक वेश में मिलें, यह तो गरम से गरम का जोड़ है। यह मुझे हाथ जोड़कर प्रणाम कर रहा है। अरे हिरण्यगर्भक, तू क्यों इसे वेशरूपी देवालय को अपरान्त के पिशाचो से ध्वस कराना चाहता है? क्या कहता है—मेरे स्वामी को परदेसी माल का मजा लेने की चाट है। इसीलिए मुझे यह काम सौंपा है। वह पहले पाँच सौ मुहरें गिना लेती थी। अब तो एक हजार पर भी खुशामद से उसे घाट उतारना सम्भव नहीं। अब तू उसके तय कराने में मेरी मदद कर"।

उज्जैन के वेश मे काशी की वेश्या पराक्रमिका का प्रेमी अपरात के राजा इन्द्रदत्त होने से और उसकी लबी फीस से ऐसा पता चलता है कि काशी नगरी वेश सस्कृति के लिए प्रख्यात थी और वहाँ की वेश्याएँ भारत के प्रसिद्ध नगरो में घूम घूम कर नाम और दाम दोनों कमाती थी।

गुप्तयुग के बाद भी काशी की वैशिक सस्कृति ज्यो की त्यो चलती रही। पथा के अभिलेख से पता चलता है कि काशी की गलियाँ 'वार रामाभिरामा' थी। पर काशी के वैशिक जीवन का सबसे स्वाभाविक चित्र कश्मीर के राजा जयापीड (७७९–८१३) के मत्री दामोदर गुप्त ने अपने ग्रथ कुट्टनीमतम् में किया है।[१] इस ग्रथ का बहुत सा भाग काम सबन्धी शास्त्रीय लक्षणो के विवेचन से भरा है पर सारी कहानी की आधार भूमि वाराणसी है और उसमें नगरी के वैशिक जीवन, वेश्याओ के छल छद, वेश में आने जाने वालो के वर्णन इत्यादि प्रकरण आये हैं।

मालती के आख्यान में अधिकतर वेश्या के कामशास्त्रोक्त गुण दोषो की चरचा की गयी है जो बनारस की वेश्याओ पर उतनी ही लागू होती है जितनी और दूसरे शहरो की वेश्याओ पर। निस्सन्देह कुट्टनीमत के मजर्याख्यान में वैशिकवृत्त सबन्धी कुछ ऐसे उल्लेख मिलते है जो बनारस की खासियत रखते हैं। बनारस आज दिन भी तमाशबीनो का रगस्थल है। काशी के आसपास के मनचले आज दिन भी गगा स्नान तथा विश्वनाथ के दर्शन के बाद बाईजी का मुजरा सुनना चाहते हैं। मजर्याख्यान में सिंहभट के पुत्र समर भट की भी कुछ वही हालत थी। एक समय वह खूब सजधज कर साथियो सहित वृषभध्वज के दर्शनार्थ काशी आया। उसके ललाट का तिहाई भाग रेशमी चीर से ढका था, बाल सयमित थे। शरीर में सुगधित लेप पुता था, तथा गाढ़े केसरिये लेप से कान के पास के बाल रगे थे। उसके ललाट पर पिसी सरसो का तिलक, कानो में कुंडल, गले में टिटोडी तथा बाहुओ पर लाख से मढा जतर बधा था। एक कलाई में मूगे सोने की मणिमाला थी, हाथ में बेंत और मूठदार दण्ड तथा कमर में छुरी और तलवार खुसी थी। मुलायम खेस से उसका शरीर ढका था। पान भरा मुँह और चरमराते जूते उसकी शौकीनियत की दाद दे रहे थे।[२]

[१] कुट्टनीमतम्, ७३५–७५५

[२] कुट्टनीमतम्, ७५८–७९१

वृषभध्वज शिव मंदिर में केवल भक्तो और दर्शनार्थियो की भीड ही नही होती थी। आज की तरह काशी के मदिरो में गुडे वदमाश तरह तरह की बातें करते और फब्तियाँ कसते पाये जाते थे। शिव के मदिर में वेश्याओ और विटो की वातचीत का इसी दशा की ओर सकेत है। एक वेश्या एक विट से कहती है कि क्या गभीरेश्वर की देवदासी उसके मित्र से फँसी थी ? दूसरी वेश्या अपनी सखी से कामुक की कोरी वकवादो की वात चलाती है, तीसरी किसी विट को एक वेश्या के पीछे जाते देखकर उसकी विष भरी पर मीठी वात के प्रति आगाह करती है। चौथी वेश्या सौ देकर एक सौ दस लिखाने वाले एक धूर्त को एक वेश्या के फेर में फँसा देखकर उसकी हँसी उडाती है। एक विट अपने मित्र को एक वेश्या का आँचल खीचने पर फटकारता है। एक गणिका किसी सन्यासी का आचार देखकर फबती कसती है—अरे गद्दी और दण्ड पकडे गेरुए कपडे पहने छुआछूत से लोगो को हटाने वाला, मौनी वैष्णवो का भी प्रेमी पर मोक्ष के लिए शिव के शरणागत लिंगदर्शन के वहाने स्त्रियो को घूरता है। एक गणिका जडकामुक की चेष्टाओ की हँसी उडाती है। वेश्या का एक पूर्व प्रणयी ईर्ष्यावश उसका पाशुपताचार्य के साथ सबन्ध की वात चलाता है इत्यादि।[1]

शिव पूजा के वाद मदिर में नाटक होने की भी वात आती है। जैसे ही पूजा समाप्त हुई घडी वरदारो ने भीड को सयमित किया, सेवको ने गद्दी लगा दी और, समरभट उस पर वैठ गया। उसके सामने नर्तक, वशीवादक गायक और वेश्याएँ वैठी थी तथा नगर के सेठ और व्यापारी उन्हें पान, फूल और इत्र भेंट कर रहे थे। ढाल तरवारो और खड्गधारियो से सभामडल भरा था और उसके पीछे शरीर रक्षको का एक दल था। पान खाने के वाद वैतालिक ने उसकी तारीफ के पुल वाँधे।[2]

इस खुशामद वरामद के झमेले में सगीत नाटच न शुरू होने पर समरभट ने नृत्याचार्य से उसे आरम्भ करने को कहा। इसपर नृत्याचार्य ने जो जवाव दिया उससे तत्कालीन रग मच की अवनति पर काफी प्रकाश पडता है। उसने कहा—

"जहा वनियें नायक हो, जहाँ कपट का घर वेश्याएँ पात्री हो उस नाटक में मजा कहाँ। कोई वेश्या किसी जवर्दस्त के कब्जे में है, कोई अपने सुन्दर प्रेमी को नही छोडती तो कोई अपने यारो के साथ केवल पानगोष्ठी में दिन विताती है। एक गाहक आने की आशा से कभी अपने घर का दरवाजा नही छोडती तथा घूस खाकर वेश्याध्यक्ष दूसरी को रजस्वला करार दे देता है। रगशाला में आयी हुई भी कोई वेश्या यदि किसी परिचित के घर आने की खवर सुनती है तो वह घर के काम के वहाने से नाटक छोडकर वापिस चल देती है। फूटती जवानी में जिसे किसी सुन्दर जवान पर नजर डालने का अभ्यास है, वह सामाजिको के वीच में वैठकर केवल शोभा पाती है। मद्य, मास और पुरुषो में आसक्त वेश्याओ की तवियत में ओज नहीं, ओज होने पर प्रयोग की खूबसूरती नही। अनग हर्ष के स्वर्ग जाने के वाद हम सव तीर्थ स्थान के ख्याल से इस देवस्थान में ठहर गये। यहाँ

[1] कुट्टनीमतम्, ७९३–८१०

[2] कुट्टनीमतम्, सपादक और अनुवादक त्रिदिवनाथ राय, १३६० वगला सन्, कलकत्ता।

निरुत्साह होने पर भी कही थोडी वहुत वृत्ति वद न हो जाय इस डर से किसी तरह हाथ पैर फेंककर नाटक करते है"।[१]

नाटक की प्रधान पात्री मजरी को रत्नावली की भूमिका में देखकर समरभट का चित्त उसकी ओर आकर्षित हुआ। मत्री ने एक वेश्या की ओर झुका देखकर उसे सावधान किया इस पर कुटनी ने मजरी का पक्ष ग्रहण किया। इसके वाद रत्नावली के एक अक का प्रदर्शन हुआ। वाद में समरभट को फाँस कर मजरी ने छूछा कर दिया।

कुट्टनीमतम् के आरभ में वाराणसी नगरी का सजीव वर्णन आया है। नगरी में ब्रह्मज्ञानी और विद्वान रहते थे। वहाँ के कामुक आनद का उपभोग करते हुए भी शिव सायुज्य पाते थे। नगर में ऊँचे मदिरो से लगी पताकाएँ फहराती थी और मकानो में अनेक झरोखे होते थे। यहाँ अनेक पाठशालाएँ थी। वेश्याएँ और गायक नागरिक जीवन के विशेष अग थे। वहाँ के पाठ्यक्रम में व्याकरण, छदशास्त्र और काव्यशास्त्र इत्यादि का स्थान था। नगरी के एक भाग आनदवन का भी उल्लेख है।[२]

काशी की एक वेश्या मालती के वर्णन में नगर की मुख्य वेश्या का वर्णन समाहित है। वह वेश्या कुल की अलकार स्वरूप थी। उसे देखकर वेश्याएँ ईर्ष्याकुल हो उठती थी। धनी उसके गाहक थे। वह वेश्याओ की शीर्ष स्थानीया थी। सुन्दर उक्तियो लीलाओ और वक्रोक्तियो में वह कुशल थी।

कुटनी विकराला के शब्द चित्र में वास्तविकता का पूरा पुट है। उसके वडे दाँत, नीची हुड्डी, वडी और चिपटी नाक, सूखे लटके स्तन, सिकुडा चमडा, लाल नेत्र, खिचडी वाल, उभरी नसें उसका पूरा नक्शा खडा कर देते है। उसने धुले कपडे का जोडा, जडी वूटियो से भरी एक कठी और सोने की अँगूठी पहन रखी थी। गणिकाएँ उसे घेरे रहती थी[३] और वह उन्हें तरह तरह की शिक्षाएँ देती रहती थी।

मालती द्वारा उपयुक्त कामुक की पहिचान पूछने पर कुटनी ने राजसेवक भट्ट पुत्र चिन्तामणि का नाम वतलाया। चिन्तामणि की वेषभूषा के वर्णन में तत्कालीन शौकीन वनारसी रईस का चित्र सामने खडा हो जाता है। उसकी मोटी चोटी वँधी थी, उसका केश विन्यास पाँच अगुल का था, उसके कानो में ककतिका, अँगुलियो में अँगूठियाँ, तथा गले में सोने की सिकरी थी। उसके कपडे वदन में केसर के लेप से पीले पड गये थे, गले में मोटे गजरे और सोने के गहने थे। उसके जूते नालदार थे। रगविरगे गोट के जाल से उसका केशपाश वँधा था। उसका परिधान कलावत्तू के काम से सजा था। उसके एक कान में दलवीटक और दूसरे कान में सीसपत्रक, तथा गले में काचवर्तक माला थी। रक्त पुनर्नवा के रस से उसके नख रगित थे। उसके पीछे तावूल-करक वाहक चलता था।[४] सेठो, व्यापारियो, विटो और जुआरियो की भीड से भरी महफिल के वीच

---

[१] कुट्टनीमतम्, १-१७

[२] कुट्टनीमतम्, १८-२२

[३] कुट्टनीमतम्, २७-३०

[४] वही, ६१-६७

वेश्याध्यक्ष द्वारा लगायी गयी कुछ चौकियों पर वह बैठता था तथा बगल में तलवार बांधे ऐंडी बैंडी बातें करने वाले पांच छह आरक्षक उसे घेरे रहते थे। कुशल सेवक द्वारा दी गयी तकिये के सहारे ओठगकर पान चबाते हुए वह अट सट गाथाएँ पढ़ता था तथा अपने पिता और राजा के सबध की अनर्गल बातें चलाकर लोगों का सिर खाता था।[१] खुशामदी उसकी नाट्यशास्त्र, सगीत, शस्त्र विद्या, कामशास्त्र, इत्यादि में प्रवीणता की तारीफ करते थे तथा उसकी वीरता और मृगया पटुता की वाहवाही करते थे। नृत्यो-पदेशक से वह नाचने वालियों के नाम और नृत्यकला से बँधी पारिभाषिक शब्दों के अर्थ जानकर अपना पांडित्य दिखलाने के लिए मौके बेमौके नर्तकी की तारीफों का पुल बांधकर उसे अपने गले से माला उतारकर पहरा देता था।[२]

नये नवेले रईस को फँसाने के लिए कुटनी उसके पास दूती भेजती थी जो उसके विरह में तड़पती वेश्या का संदेश ले जाती थी तथा अपनी मालकिन की गुणों और कलाओं में पारगतता बयान करते हुए नहीं अघाती थी। दूती की बातों के फेर में फँसकर जब प्रेमी वेश्या के यहाँ पहुँचता था तो वह उसकी बड़ी आवभगत करती थी तथा कुटनी उसकी खुशामद करती थी। परिचय बढ़ने पर वह कुलवधू से बढ़कर वेश्या के प्रेम की चरचा करके प्रेमी को और अधिक फँसाने की चेष्टा करती थी। आगे चलकर वह उसके दूसरों के प्रति आकर्षण का बहाना दिखला कर उससे हुज्जत करती थी। इसके बाद वह कुटनी के साथ नकली लड़ाई लड़ती थी। कुटनी के अनुसार राज सेवक, शौल्किकाध्यक्ष, धनी पिता का एकलौता स्वतत्र बेटा, चित्रकार, काम शास्त्र का ज्ञाता, पाशुपताचार्य, हट्टपति, इत्यादि फँसने वाले शिकार होते थे।[३] तरह तरह के बहाने बताकर वेश्या अपने प्रेमी को लूटती थी और जब वह चुक हो जाता था तो उसे किसी न किसी बहाने से निकाल बाहर करती थी। कहीं भाग्यवश उसने फिर से रक़म पैदा करली तो वह उसे अपना पूर्व प्रेम जनाकर और कुटनी को गाली देकर उसे फिर से फँसाने की कोशिश करती थी।

[१] वही, ६८-७४

[२] वही, ७५-८७

[३] वही, ५२९-५४५

परिशिष्ट २

हेस्टिंग्स द्वारा बनारस की शासन व्यवस्था

चेतसिंह के मामले में हेस्टिंग्स ने अन्याय किया इसमें सन्देह की कम गुजाइश है पर इसमें सन्देह नही कि १७८१ में शहर पर कम्पनी की हुकूमत कायम करने के बाद उसने शहर को दीवानी और फौजदारी की अदालतें दी तथा उसकी सुरक्षा का भी प्रवन्ध किया, जो प्राय अठारहवी सदी की अराजकता में नष्ट सी हो गयी थी और गुडे बदमाश चैन की बसी बजाने लगे थे। १७८१ में बनारस शहर ले लेने के बाद हेस्टिंग्स ने शहर के तमाम आमिलो, बाशिंदो, तीर्थवासियो और यात्रियो के नाम निम्नलिखित हुक्म नामा जारी किया—

"तमाम बडे-बडे शहरो का यह रिवाज है कि नगर के बाशिंदो की जान और माल की हिफाजत की योजना बनाई जाय, पर अभी तक बनारस के बाशिंदो के लिये ऐसी योजना नही बनी है गोकि यहाँ उत्तर और दक्षिण भारत से लोग आते है और इस नगर को सारा हिंदू समाज श्रद्धाभक्ति से देखता है। इसलिए यह आवश्यक है कि बनारस की सुरक्षा का प्रबध सोचा जाय। सपरिषद् गवर्नर जनरल अपने तथा कम्पनी के अधिकार से यह आज्ञा देते है।

"बनारस के नागरिको की रक्षा तथा न्याय व्यवस्था के लिए एक ऐसे आदमी की नियुक्ति होनी चाहिए जिसका बनारस के निवासियो तथा तीर्थवासियो पर पूरा अधिकार हो और उसे शहर का हाकिम कहा जाय। उसकी हुक्मरानी के लिए निम्नलिखित तीन विभाग खोले जाते है—

१—एक कोतवाल जिसका यह कर्तव्य होगा कि खून खराबी, डाका, चोरी तथा नागरिको के विरुद्ध दूसरे अपराध जिनसे उनकी रक्षा में खलल पडे, करने वालो को गिरफ्तार करके फौजदारी अदालत के सामने पेश कर दे। उसे यह भी अधिकार होगा कि वह गुडो का दगाफसाद रोके तथा बलवाइयो और गुडो को बीस कोडे तक लगवा सके। उसकी सहायता के लिए बिल्लेदार, माहवारी तनख्वाह पर चपरासी होने चाहिएँ जिनकी सख्या शहर में रात को पहरा देने की आवश्यकता तथा कोतवाल की जरूरियात देखकर हाकिम को निर्धारित करने का हक होगा। कोतवाल अथवा उसके सहायको की नियुक्ति अथवा बरखास्तगी हाकिम के अधीन होगी तथा वह हमेशा उसका तावेदार माना जायगा।

२—फौजदारी अदालत के अधीन एक दारोगा और तीन विद्वान मौलवी होगे जिन्हें कानून तथा बनारस में किये गये अपराधो की तहकीक़ात के बारे में पूरा ज्ञान होगा। वे हर मुकदमे का सूरत ए हाल और फतवा हाकिम को भेजेंगे जो उन पर दस्तखत करके पुन दारोगा और मौलवियो के पास लौटा देंगे और उनका तब कर्तव्य होगा कि ऐसे

हुक्म की वे तामील करें। दारोगा और मौलवी भी हाकिम द्वारा नियुक्त होंगे। हाकिम को उन्हें बरखास्त करने का तथा उनकी कारवाइयों को बदल देने का अधिकार होगा। उनका यह कर्तव्य होगा कि जो नियम वह निश्चित करे उनकी तामील करें।

३—दीवानी अदालत में एक दारोगा और तीन मुनसिफ़ जो बनारस के बाशिंदे और अपनी वफ़ादारी और क़ाबलियत के लिये मशहूर होंगे, कर्ज, रेहन, बही खाते, जायदाद की खरीद बेच, चौहद्दी, विवाह, उत्तराधिकार, जमीन, रुपये पैसे इत्यादि के मुकदमे सुनेंगे। किसी मुक़दमें में जहाँ कानून न लगता हो मुन्सिफ़ राय से फ़ैसला करेंगे। पर जहाँ क़ानून लगता हो वहाँ मुन्सिफ़ों का यह कर्तव्य होगा कि वे बयान सुन इस बात का फ़ैसला करें कि मुसलमानों का मुक़दमा क़ानून इस्लाम से चले और हिंदुओं का शास्त्र के अनुसार। मुन्सिफ़ों को अपना कर्तव्य अधिक सुचारुरूप से पालन करने के लिये उनके साथ इस्लामी क़ानून से परिचित मौलवी तथा हिंदूशास्त्र से परिचित दो पंडित होंगे जिससे मौलवी इस्लामी क़ानून के अनुसार फ़तवा दे सकें और हिंदू अपने शास्त्र के अनुसार। यह भी हुक्म दिया जाता है अगर मुन्सिफ़ आपस में असहमत हों तो वे अपनी राय अलग अलग लिख दें जिससे यह पता चल सके कि बहुमत किस ओर था और उसी के अनुसार हुक्म दिया जा सके। पर मत समान होने पर दारोगा की राय से ही फ़ैसला होना चाहिये। एक हजार रुपये तक की डिग्री का आखरी फ़ैसला अदालत कर सकती थी पर ऐसे मुक़दमों में जहाँ वादी अदालत के फ़ैसला से सहमत न हो उसे अधिकार था कि वह हाकिम के पास अपील करे। हाकिम को यह अधिकार दिया जाता है कि वह मुकदमे का फ़ैसला या तो अदालत में दिये गये सूरते हाल पर करे अथवा वह नये सिरे से कार्यवाही शुरू कर दे।

"अगर वादी नये गवाह लावे तो हाकिम का यह कर्तव्य होगा कि वह उनके बयानात सुने पर शर्त यह थी कि इस बात का काफी सुबूत दे सके कि वह उन्हें पहले क्यों नहीं ला सका था। हाकिम को यह भी अधिकार होगा कि वह अदालत की डिग्री पर अपना फ़ैसला करे और उसका फ़ैसला आख़िरी होगा। यह हुक्म दिया जाता है कि हाकिम दारोगा और मुन्सिफ़ अदालत की रोज की कार्रवाई लिखें जो दफ्तर में रख दी जाय। दारोगा और मुन्सिफ़ हाकिम द्वारा नियुक्त होंगे और उन्हें हटाने का उसे पूरा अधिकार होगा। उसे यह भी अधिकार होगा कि उनकी अदालत की कार्यवाही में वह रद्दोबदल कर सके और उनका यह कर्तव्य होगा कि उनके द्वारा चलाये गये तरीक़ों को वे अपनायें। यह भी हुक्म दिया जाता है कि हाकिम हर महीने सपरिषद् गवर्नर जनरल को कलकत्ते में तमाम कागजातों की नकलें तथा नियुक्त और बरखास्त आदमियों के बयानात भेजे। इन कागजातों पर नये हुक्म जो समय समय से निकले जाते थे तथा दीवानी और फ़ौजदारी अदालत में जो नये नये तरीक़े अपनाये जाते थे तथा और भी दूसरे कागजात जिन्हें वह बनारस और अपने दफ्तरों के मामले के लिये जरूरी समझता था भेजने होंगे। सपरिषद् गवर्नर जनरल की आज्ञा मानना उन्हें जरूरी था। हाकिम का अधिकार बनारस शहर तक ही सीमित था फिर भी अपराधियों के दूसरी जगह भागने पर यह हुक्म दिया जाता है कि हाकिम और उसके आदमियों को अधिकार दिया जावे कि वे सीलमुहरदार परवाना उस अपराधी के लिये भेजें जो शहर बनारस में अपराध करके निकल भागा हो। इस परवाने में उस अपराधी को पकड़ कर

बनारस की अदालत में हाज़िर करने के लिये यह हुक्म दिया जाता है कि बनारस ज़िले के तमाम ज़मीदार आमिल और बाशिंदे हाकिम को उन अपराधियों को पकड़ने में सहायता देंगे जो उनके अमल में भाग गये हों। दोनो अदालतों के अफसरों को यह अधिकार होगा कि वे उनके हुक्म के बाहर रहने वाले गवाहों को भी बुला सकें अगर उन्हें इस बात का विश्वास हो जाय कि उनके बयान ज़रूरी थे। यह भी हुक्म दिया जाता है कि इस दिन से (१४ अक्टूबर १७८१) अली इब्राहीम खाँ बनारस शहर के हाकिम बनाये गये"।[१]

"अपनी नियुक्ति के बाद अली इब्राहीम खाँ ने बनारस की दीवानी अदालत के तौर तरीके पर अपना हुक्म दिया, जिसके अनुसार "अदालत के दारोगा, मौलवी, मुन्सिफ, पंडित, पेशकार, मुंशी, मुहर्रिर तथा दूसरे अफसरों को यह हुक्म दिया गया कि अदालत में हाज़िर रह कर मुकदमों की सुनवायी करें। बारह बरस से अधिक पुराने मुकदमे की तब तक सुनवाई नहीं हो सकती थी जब तक कि वादी इस बात का सबूत न दे सके कि वह नाबालिग था अथवा कोई लम्बी यात्रा पर था। जब वादी अदालत में हाज़िर हो तो उसे एक-एक सरनामे पर दस्तखत करना पड़ेगा कि अगर वह अदालत में बिना कारण के हाज़िर न हो तो उसका मुकदमा खारिज हो जायगा। अगर प्रतिवादी सम्मन से अदालत में आवे तो उससे ज़मानत ले लेनी चाहिये। अगर वादी और प्रतिवादी अपने-अपने वकील ले आवें तो उनके वकालत नामों पर दोनो फरीकों के दस्तखत होने चाहियें और काज़ी की मुहर। अगर वादी प्रतिवादी के वकील मुक़दमें में समझौता करना चाहें तो एक सरनामे पर दोनों फरीकों के पंचों के नाम दर्ज होने चाहिएँ। उनका जो कुछ भी फ़ैसला हो उन पर उनके दस्तखत होकर दफ्तर में दाखिल हो जाना चाहिये जिससे उनके फ़ैसले पर अमल किया जा सके। उन मुक़दमों में जहाँ गवाहों के बयान ज़रूरी हैं मुसलमानों को क़ुरान लेकर तथा हिंदुओं को गंगाजल लेकर शपथ खानी चाहिये। अगर फ़ैसले के बाद भी प्रतिवादी डिगरी की रकम जमा न करे तो उसे ऐसा करने के लिये बाध्य करना चाहिये, जेल भेज देना चाहिये अथवा उसकी जायदाद बेच कर रकम वसूल कर लेनी चाहिये। यह भी ज़रूरी है कि कोई दारोगा, मौलवी, मुंसिफ या पंडित अथवा अदालत का कोई कर्मचारी अपने घर में कोई मुकदमा न सुनेगा"।

"मुकदमों के हालात मौलवी, मुंसिफ और पण्डितों के राय सहित होने चाहियें और उन पर मेरे दस्तखत और मुहर होनी चाहिएँ इसके बाद उन्हे सरिश्तेदार के पास भी भेज देना चाहिये। मुक़दमों के सब फ़ैसले एक ही में दर्ज करके हर महीने सपरिषद् गवर्नर जनरल के पास कलकत्ता भेज देना चाहियें। यह भी सख्त हुक्म दिया जाता है कि अदालत का कोई भी अफसर किसी तरह की रसूम, घूस, इनाम और तलवाना न ले अगर वह ऐसा करे तो लोगों को अदालत के दारोगा को फौरन खबर देनी चाहिये कि जिससे वह कुसूरमंद को सजा दे सके। यह भी हुक्म दिया जाता है कि फौजदारी के मुकदमें जैसे खून, हाथ काटना, मारपीट, बदचलनी, गालीगुप्ता जो फौजदारी अदालत का काम है

[१] बनारस अफेयर्स (१७८८-१८१०), भाग १, इलाहाबाद १९५५

उसमें दीवानी अदालत दस्तदाज़ी न करे। झूठी शिकायत व झूठी गवाही देनेवाले को फौजदारी अदालत में सुपुर्द कर देना चाहिये"।[१]

एक दूसरे हुक्म (१ दिसम्बर १७८१) से अली इब्राहीम खाँ ने १,००० रु० तक के दावे सुनने के लिए रहमतुल्ला खाँ को नियुक्त किया और उन्हें आदेश दिया कि मौलवियो और पडितो की सलाह से वे मुकदमो का फैसला करके डिगरी की नकल दोनो फरीक़ो को दे दें। एक हज़ार के ऊपर के मुकदमो के फैसले की निगरानी स्वय इब्राहीम करते थे। राज़ीनामा लिखकर दोनो फरीक हिंदू होने पर भी इस्लामी कानून से फैसला करा सकते थे। दोनो फरीको में एक हिंदू और दूसरा मुसलमान होने पर मुक़दमे का फैसला स्लामी कानून से होता था, इत्यादि।[२]

फौजदारी अदालत की कार्यवाही भी दीवानी अदालत जैसी ही थी और उसे अपराधियो को २० से ३० कोडे लगाने तथा एक महीने की जेल तक का अधिकार था। इससे ऊपर की सज़ा विना हाकिम की आज्ञा के नही दी जा सकती थी।[३]

शहर की रक्षा के लिए शहर कोतवाल मिर्ज़ा बाँके बेग खाँ को अली इब्राहीम खाँ ने एक हिदायतनामा भेजा जिसके अनुसार कोतवाली के कर्मचारियो को शहर की सुरक्षा के लिये सतत प्रयत्नशील रहने को कहा गया था तथा चोरो, बदमाशो, डाकुओ तथा खूनियो को गिरफ्तार कर फौजदारी अदालत के सुपुर्द करने का आदेश दिया गया। उन्हें दगा फसादियो को वेंत लगाने की आज्ञा दी गयी तथा उनके मार्फत हर मुहल्ले के चौकीदारो को यह आज्ञा दी गयी कि वे अपने हल्के के पहरियो पर निगाह रखें और वहाँ की घटनाओ की खबर तुरत शहर कोतवाल को दें। कोतवाल का यह कर्तव्य था कि मुहल्ले में होने वाली घटनाओ की खबर रखें और एतिहाती की कार्यवाही करें तथा चोरो को पकड कर फौजदारी अदालत में पेश करें। चोरी तथा डाकेज़नी में पकडे गये अपराधियो को अगर अदालत चल रही हो तो उन्हें तुरत वहाँ पेश करने की आज्ञा थी। अगर अदालत वन्द हो तो उन्हें एक दिन हवालात में वद करके दूसरे दिन कचहरी में पेश करने का हुक्म था। अगर उनके विरुद्ध जुर्म सावित न हो सके तो उन्हें छोड देने को हिदायत थी। धान अथवा वैल चुराने अथवा खेत चराने के लिए साधारण दण्ड देने की आज्ञा थी। कोतवाली के लोगो को घूस, तलवाना, इनाम, नज़र, तोहफे इत्यादि लेने को मुमानियत की गयी। चोरी अथवा डकैती का माल बरामद होने पर उसकी तालिका बनाकर फौजदारी अदालत को भेजना आवश्यक था। हाकिम को अधिकार था कि वह चोरी का माल छोड दे अथवा ज़ब्त कर ले। चोर डाकुओ के भागने पर हाकिम को इत्तिला देनी ज़रूरी थी। दीवानी अदालत के कामो में दस्तदाज़ी करने की मनाही थी। क़ानून के विरुद्ध काम करने वाले कर्मचारियो को वरखास्तगी का हुक्म था। उन्हें ज़मानत मुचलके तथा खर्चवर्च का हिसाब

---

[१] वही, पृ० ११९,२०

[२] वही, पृ० १२०,२१

[३] वही, पृ० १२१,१२३

रखना भी आवश्यक था। उन्हें मालगुजारी, मालपर कर, बाजार इत्यादि में दखल देने का अधिकार नही था। ये काम अमीन के सुपुर्द थे।[1]

लगता है दीवानी अदालत कायम होते ही वहाँ काम की इतनी भीड हो गयी कि वादी अपना काम जल्दी से कराने के लिये शोरगुल मचाने लगे। दीवानी अदालत ने इसकी खबर अली इब्राहीम खाँ को दी। इस पर उन्होंने आज्ञा दी कि दीवानी अदालत की कुछ अर्जियाँ फौजदारी अदालत के सुपुर्द कर दी जायें। तथा काम समाप्त होने पर पुन दोनो अदालतें अपने अपने काम समाल लें।[2]

१७८१ में बनारस शहर में रात को पहरी कैसे काम करते थे इस सवन्ध में सरजान शोर को १७९५ में डकन द्वारा भेजी गई एक रिपोर्ट का अग्रेजी अनुवाद उल्लेखनीय है।[3]

१—शहर में पाँच कोतवाली चबूतरे थे जिसमें हर एक के मातहत एक जाँनशीन कुछ चपरासी तथा एक भोंपे वाला होते थे, जो अपने हल्के की गश्त लगाते थे। हर रात चबूतरो के कर्मचारियो की हाजिरी के वाद दलो में बँट कर गश्त लगाते थे।

२—इसके सिवा सुद्दरो के जमातदार अपने भाईवन्दो के साथ सदर मुन्तसद्दी के पास जमा होते थे, और हाजिरी देने के वाद वे दलो में वट कर गलियो और सडको की गश्त लगाते थे। इसमें से कुछ अपना वेष वदले होते थे। उन्हें जाँनशीनो की मदद से चोरी का माल भी वरामद करना पडता था।

३—रात में कोतवाल और उनके नायब भी गश्त पर निकलते थे। वे हर चवूतरे की निगहवानी करते थे। अगर वे किसी चपरासी को सोते अथवा अपने काम में गफलत करते देखते थे तो उसे सजा दी जाती थी। कोतवाल शहर के एक ओर गश्त लगाते थे और नायव दूसरी ओर। शहर के वहुत बडे होने से यह आवश्यक था।

४—हर सुवह चवूतरो के जाँनशीन चपरासी कोतवाल को रिपोर्ट दिया करते थे।

५—चवूतरो से सम्वद्ध हरकारे हर सुवह शहर की खवरें लाते थे और उनमें जो जरूरी होती थी उन्हें अदालत में पहुँचाते थे।

६—बनारस में ऐसी भी वहुत सी गलियाँ थी जिनकी फाटकवन्दी होती थी। रात में ये फाटक बन्द कर दिये जाते थे तथा इसके भीतर रक्षा का प्रवन्ध खुल्दसरा, पासवानों और निगहवानो पर होता था। जिनका खर्च फाटक वन्द मुहल्ले वाले उठाते थे। हर सुवह ये सदर कोतवाली में सदर चवूतरे के मुन्तसद्दी की फाटक के अन्दर गुजरी घटनाओ की सूचना देते थे।

७—सरायो में गुजरी घटनाओ की सूचना भटियारे देते थे। इन सूचनाओ के आधार पर रोज एक वयान तैयार किया जाता था।

---

[1] वही, पृ० १२२,१२४

[2] वही, पृ० १२४,१२५

[3] वही, पृ० १२५ से

८—दिन में कोतवाली के चपरासी दलो मे वटकर जुआडियो, चोरो, गिरहकटो तथा दूसरे वदमाशो की खोज में घूमा करते थे। वे मडको के नाको और भीड-भाड के पास खडे रहते थे।

९—रात अथवा दिन जव भी झगडे फसाद होने की मभावना की खवर मिलती थी कोतवाली के अफसर वहाँ इकट्ठे होकर झगडा फसाद रोकते थे। सर्राफखानो, तथा शराव की दूकानो पर झगडो की ये खवर लेते थे तथा घाटो की भी सँभाल रखते थे।

१०—किसी घटना वश किसी की मृत्यु हो जाने पर जव शव जलाने के लिये घाट पर लाया जाता था तो उसकी सूचना डोमों को कोतवाली में देनी होती थी और कोतवाली के अफसर तहकीकात के वाद शव को जलाने की आज्ञा देते थे।

११—उन अवस्थाओ में भी जव यात्री आग में जलकर, पानी में डूवकर अथवा जमीन में जीवित समाधि देकर अपनी जान देने की इच्छा प्रकट करते थे तो कोतवाली के अफसर वहाँ पहुँचकर उन्हें अपना इरादा छोडने के लिये कोशिश करते थे। उनके न मानने पर इसकी सूचना वे अदालत को दे देते थे।

१२—हरकारे लोगो की मृत्यु का समाचार देते थे जो वैतुलमाल के मुत्सद्दी के पास भेज दिये जाते थे।

१३—कोतवाली के अफमरो को शहर के मगे वजनियो की निगरानी का भी अधिकार था।

१४—अवध से वनारस अथवा वनारस से अवध को जाने वाली फौजो के लिये घाटो की व्यवस्था तथा उनके शहर के पास होने पर उनके खाने पीने की व्यवस्था का भार भी कोतवाली पर था।

१५—कोतवाली के अफसर गरमी के दिनो मे मकानो में आग लगने पर तथा वरसात में कच्चे घर गिरने पर लोगो की मदद करते थे।

१६—कोतवाली के मार्फत अंग्रेज कारीगर, मजदूर इत्यादि हासिल करते थे। ये मजदूर भिन्न-भिन्न व्यापारो के चौधरी उपलब्ध करते थे।

१७८१ में वनारस की कोतवाली के मातहत ३४ जाँनशीन और उनके कर्मचारी तथा २४३ चपरासी इत्यादि थे।

सदर चवूतरा—११ जाँनशीन और ६३ चपरासी। ये निम्नलिखित मुहल्लो की रखवारी करते थे—सौदागरटोला, विसेसर मठ, नैपाली खपरा, व्रह्मनाल, कचौडीगली, चौक, मिटगेट, वुलानाला, नदन साव का मुहल्ला, रेशम वाजार, दालमडई, चवूतरा (लक्खी), राजमदिर।

काजीमडई चवूतरा—जाँनशीन ३, चपरासी २१, पेट्रोलगार्ड १५। ये मडई आम, वहलिया, छेतमपुर, नयापुरा, हनुमान फाटक, और तिरमोहानी खुर्द में गश्त लगाते थे।

कबीर चबूतरा—जाँनशीन ४, चपरासी १९—ये गायघाट, जतनवर, दारानगर तथा राजमन्दिर की रखवारी करते थे।

तेलिया नाला चबूतरा—जाँनशीन ३, चपरासी १८। ये पटनी टोला, तिरमोहानी, टेढीनीम, फाटक सराय तथा भदाऊँ में गश्त करते थे।

दसासुमेर चबूतरा—३ जाँनशीन, ३० चपरासी। ये सोनारपुरा, दारासिंह का घर, मानसरवर, गगामहल, अहल्याबाई फाटक, रानीभवानी फाटक, सीतलाघाट, दसासुमेर, जगजीवपुरा, जगमवाडी, अगस्तकुडा, फाटक चौसट्ठी और एहियावीर में गश्त करते थे।

सुइरियो का काम निम्नलिखित मुहल्लो का गश्त लगाना था—लक्सा, रानीभवानी का कुआँ, वे (स) दानद का बाजार, डोंडियावीर, सोनारपुरा, मसान घाट, फाटक शेख सलेम, राजमदिल, औरंगाबाद, काशीपुरा, बाजार बाबू पासवानसिंह, हरतीरथ, पानदरीबा, फाटक रगीलदास, सुखटोला।

फाटकबद महल्ले—इनमें कुछ में पहरी नही होते थे और रहने वाले खुद दरवाज़े बद कर लेते थे, फाटको के नाम निम्नलिखित हैं—

जगमवाडी (३ फाटक), पन्नीटोला (४ फाटक), रामघाट (३ फाटक), सूतटोला (४ फाटक), गोला दीनानाथ (५ फाटक), मछरहट्टा (८ फाटक), नदनसाहु (२ फाटक), गली सकरकद (२ फाटक), बगाली टोला (४ फाटक), ग्वालदास (३ फाटक), इत्यादि।

औरगाबाद, शाइस्ताखाँ, मीर रुस्तम अली और गितावराय की सरायो में मुसाफिर टिक सकते थे।

परिशिष्ट ३

बनारस के महाराज, रानी तथा दूसरे अफ़सरों, सरदारों, कुल स्त्रियों तथा बनारस के बाशिंदों का हेस्टिंग्स के नेकचलनी के बारे में परिपत्र

बनारस के सब हिन्दू और मुसलमान तथा दूसरे धर्मों को मानने वाले तथा बाहरी व्यक्तियों को यह सुनकर कि शहर के हाकिम वारेन हेस्टिंग्स ने प्रजा को सताया, उनसे जालसाज़ी की तथा देश को बरबाद कर दिया बहुत दुःख है। हम लोगो के लिए यह आवश्यक है कि सही-सही बात कह दें।

जलवतजग वारेन हेस्टिंग्स साहब बहादुर बहुत ही सभ्य और गुणवान पुरुष हैं। अपने अनेकांगी गुणों से, सत् चरित से तथा जन रक्षक होने से वे भारत तथा विलायत के बादशाहों के प्रियपात्र बने। वे बेईमानी तथा दूसरो के नुक़सान पहुँचाने के दुर्गुणो से दूर थे। उनके दिल का आइना लालच की धूल से मुक्त था। अपने राज्य काल में वे प्रजा के पालन और न्यायदान में रत रहते थे। उन्होंने कभी भी प्रजा के दिल को कमज़ोर नहीं किया। सदा अपनी बुद्धि की सूझ और चतुराई से प्रजा की रक्षा करके उसे कठिनाइयों और चिन्ताओं से मुक्त करते रहे। उनका हमेशा हम पर दया और प्रेम भाव रहा। उनकी मधुर बातें, और अच्छा स्वभाव ज़ख्मी दिलो की मरहम-पट्टी करते थे। उनके न्याय और विशाल हृदयता ने हमें बदमाश और क्रूर व्यक्तियों से बचाया उन्होंने हमारे लिये सुख और स्वास्थ्य का दरवाज़ा खोला और हमारे प्रति न्याय किया। गवर्नर के राज्य में मुल्क के लोग खुश और खुर्रम थे। उन्हें देश के क़ानून का पूरा ज्ञान था और इसीलिए हमारे मज़हब और विश्वास ज्यों के त्यों बने रहे और हम पर कोई आफ़त नहीं आयी। बाहरी और भीतरी शत्रुओं से हमारी रक्षा हुई और हमारा मान बढ़ा।

जो कुछ भी हमने देखा और जो कुछ हुआ हमने किसी बनावट के बिना और ढोंग के बिना ठीक-ठीक लिख दिया है—

१ क़ाज़ीअलकज्ज़ाह मौलवी वासिलअली खाँ, २ क़ाज़ी वकीअली खाँ क़ाज़ी शहर बनारस, ३ क़ाज़ी रहमत अली खाँ क़ाज़ी चुनारगढ मुतालिक बनारस, ४ क़ाज़ी सैय्यद मुहम्मद अमान, ५ मीर क़ामिल अली नायब क़ाज़ी तक़ी अली खाँ, ६ विलायत अली खाँ भाई क़ाज़ी तक़ी खाँ, ७ बनारस के मुफ्ती करमुल्ला खाँ, मुफ्ती अकबर खाँ, ८ मुफ़्ती मुहम्मद अकबर अली खाँ मुफ्ती जौनपुर बनारस के मुताल्लिक़, ९ मौलवी मुहम्मद नासिह मुफ्ती हुज़ूर हज़रत शाह आलम बादशाह, १० मुफ़्ती अमीरुल्ला मुफ़्ती चुनारगढ, ११ शेख इनायत अली भाई मुफ़्ती करमुल्ला, १२ शेख गुलाम हुसैन भाई मुफ्ती तौफ़ीक अली मुतवफ्फ़ी, १३ मुफ्ती इरशद।

उल्मा व फ़ज़्ला

१४ मौलवी बदीउद्दीन अहमद, १५ मौ० सिराजुल हक़, १६ मौ० फायक़ अली, १७ मौ० ग़ुलाम हुसैन, १८ मौ० अब्दुल हादी, १९ मौ० सलामत अली, २० मौ० फखरुद्दीन

मुहम्मद, २१ मौ० जफर अली, २२ मौ० नजीबुल्ला, २३ मौ० वासिल अली, २४ मौ० महमदुल्ला, मौ० हुजूर हज़रत शाह आलम बादशाह, २५ मौ० मुहम्मद असलम।

अहदगान, रव्वानीन और मन्सवदारान

२६ अमीरूद्दौला नवाब मुहम्मद अकबर खाँ बहादुर बिरादर हकीकी मजदुद्दौला नवाब अज़ीजुल्ला खान बहादुर, २७ नवाब सैय्यद मुहम्मद बाकर खाँ पिसर नवाब आलीजाह, २८ नवाब सैय्यद मुहम्मद अरीज़ खाँ पिसर नवाब आलीजाह, २९ नवाब सैय्यद अब्दुल अली खाँ पिसर नवाब आलीजाह, ३० नवाब सैय्यद गुलाम हुसैन खाँ पिसर नवाब आलीजाह, ३१ मीर मुहम्मद नासिर खाँ दामाद नवाब आलीजाह, ३२ नवाब सैयद फज़ल अली खाँ बेटे नवाब सैय्यद रुस्तम अली खाँ जो शहर बनारस के हाकिम थे, ३३ सैय्यद अफजल अली खाँ पोते नवाब रुस्तम अली खाँ मरहूम, ३४ अमीनुद्दौला व अज़ीज उलमुल्क नवाब अली इब्राहीम खाँ बहादुर नसीरजंग, ३५ ख्वाजा फज़ल अली सानी, ३६ मिरज़ा मुहम्मद शुजा, ३७ मीर बिस्मिल्ला, ३८ शेख नूर मुहम्मद, ३९ सैय्यद रज्जब, ४० मुहम्मद अदादान खाँ, ४१ शेख शाहिद अली, ४२ शेख शिवगतुल्ला, ४३ सैय्यद कवर अली, ४४ शेख अमानुल्ला, ४५ मिरज़ा मुहम्मद काज़िम, ४६ मिरज़ा मुहिब अली मुतवल्ली पजाशरीफ, ४७ शेख गुलाम हुसैन मुतवल्ली इमामबाड़ा, ४८ नियामतुल्ला बेग सौदागर, ४९ मिरज़ा ज़ाफर अली मुंशी, ५० सैय्यद फजल अली, ५१ शेख तालिब अली, ५२ हकीम मिरजा हुसैना, ५३ फज़ल अली हुसैनी, ५४ सुलैमान बेग, ५५ मुहम्मद काज़िम, ५६ तालिब अली, ५७ शेख फैज़ुल्ला, ५८ मिरज़ा करीम बेग, ५९ मिरज़ा अज़ीम बेग, ६० अली अज़ीम जौनपूरी, ६१ हाजी जमशेद बेग, ६२ मुहम्मद वजीह, ६३ करम अली, ६४ मिरज़ा हसन अली, ६५ सैय्यद साबुल्ला, ६६ मिरज़ा मुहम्मद रहमतुल्ला बेग।

शहर बनारस के रहने वाले और मरने वाले जो सराफ़ा का काम करते थे

६७ बेनीराम पंडित वकील राजा भोसला, ६८ लाला चपत सदर अमीन शहर बनारस, ६९ राय ब्रिजलाल, ७० राय शिव सिंघ, ७१ लाला सुन्दरदास बिरादर लाला चपत सदर अमीन, ७२ मजलिस राय दाखिल भगत ? दीवान लाला चपत सिंघ, ७३ राय साधोराम पिसर राय माधोराम दीवान सूबा अलाहाबाद ?, ७४ लाला मोती राम नायब लाला चपत सिंघ, ७५ लाला निहालचन्द बिरादर राय साधोराम मज़कूर, ७६ लाला किशन परशाद, ७७ लाला पचलाल, ७८ लाला हरनामहीरा, ७९ लाला बस्ती लाल, ८० लाला रामधन, ८१ लाला रामबख्श, ८२ लाला सबल सिंघ, ८३ लाला साँवल सिंघ, ८४ लाला हीरालाल, ८५ लाला रामदयाल, ८६ लाला शिवजीत, ८७ लाला शिवनरायन, ८८ लाला रामपरशाद, ८९ मुंशी नानकचन्द, ९० लाला शिताब राय, ९१ लाला जहाँगीर मल, ९२ राव बहादुर सिंघ मुत्सद्दी बादशाही, ९३ कान्हदास इलाक़ादार दारउलज़रब, ९४ लाला मोती लाल, ९५ शैं सिंघ, ९६ लाला मगलसेन वकील राजा चेतसिंघ, ९७ दलपत राय।

रोज़ीदार तथा पेंशनयाफ्ता और जागीरदार

९८ मीर सफदर अली जागीरदार मोतल्लिक जौनपुर, ९९ मीर बाक़र अली जागीरदार मोतल्लिक जौनपुर, १०० शेख फजल अली बिरादरज़ादा मुनक्की

करमुल्ला, १०१ मीर मुहम्मद इब्राहीम, १०२ मिरज़ा कामिल अली बेग, १०३ सैय्यद नजाकत अली, १०४ सैय्यद मुबारक अली, १०५ भवानी शकर, १०६ सीताराम शकर, १०७ पानीराम मिस्र, १०८ शाह अहमद अब्दुल्ला, १०९ शाह मुहम्मद हुसैन बिरादर शाह अहमद अब्दुल्ला, ११० शाह अमीरुद्दीन अकबार अहमद अब्दुल्ला, १११. शेख गुलाम गौस, ११२ शाह मासूम आलम, इज्जत अली कुरैशी, ११३ कूवत अली, ११४ नूर अली, ११५ शेख गुलाम मीर, ११६ शेख रहमत अली, ११७ शेख सुजान अली, ११८ दरवेश अली हुसेनी, ११९ इनायत अली, १२० रोशन अली, १२१ गुलाम हसन, १२२ फजल अली, १२३ गुलाम हुसेन अली, १२४ दोस्त अली, १२५ सैयद कमर अली, १२६ फैज अली, १२७ अली हसनी, १२८ सैय्यद गुलाम अली, १२९ सैय्यद मुहम्मद गौस, १३० हीरा गिरि, १३१ गोसाईं अमर गिरि, १३२ चरन गिरि, १३३ साधोराम, १३४ दौलतराम नानक शाही, १३५ मुशर्रफ अली हुसनी, १३६ मुहम्मद अली अहमदिया, १३७ सैय्यद अजमत अली, १३८ परसराम गिरि, १३९ मनी राम, १४० रामगरीब, १४१ गगादत्त बिरादर सिरीकिशन, १४२ गोपानन्द, १४३ अभैराम, १४४ दुरगादत्त, १४५ गनपत जुन्नारदार, १४६ ख्वाजा मुहम्मद माह, १४७ वाहिद अली, १४८ दिलवर अली, १४९ मुराद अशरफ, १५० शेख फजल अली, १५१ शाह मुहम्मद अली, १५२ शेख मुहम्मद नवाज सिद्दीकी, १५३ शाह मुहम्मद गौस, १५४ सैय्यद जब्बार अली, १५५ गुलाम शरफुद्दीन, १५६ मुहम्मद आफाक़, १५७ शेख इनायत मकदूम, १५८ रियायत अली, १५९ अहमद अली, १६० हैदर अली, १६१ मुहम्मद खलील, १६२ मिहर अली, १६३ गुलाम हुसैन, १६४ इमाम अली, १६५ उम्मीद अली, १६६ मुहयुद्दीन अकबर, १६७ अकबर अली, १६८ वाहिद अली, १६९ फजलुद्दीन, १७० मुहम्मद अजीमुद्दीन, १७१ गुलाम रसूल, १७२ रुकनुद्दीन, १७३ गुलाम मीर, १७४ अशरफ अली बेग, १७५ मिरज़ा बबर अली बेग, १७६. आशूर अली बेग, १७७ मुहम्मद अशरफ, १७८ मीर रुस्तम अली, १७९ मीर हैदर अली, १८० निसार अली, १८१ भीखम मिसिर, १८२ सीताराम, १८३ दामोदर चरन, १८४ मुहम्मद माह ।

गुजराती में नई पट्टी के महाजनों द्वारा अपने हाथों से लिखे हिंदी लेख का अनुवाद

हम महाजन और व्यापारी बनारस शहर के निवासी हैं। हम बिलकुल ठीक-ठीक बयान करते हैं कि गवर्नर हेस्टिंग्स ने किसी का मालमता नहीं लूटा, न उन्होंने किसी जोर जबर्दस्ती से किसी देश और दौलत पर अधिकार किया। वे सर्वदा बड़ों और छोटों को अपनी सदिच्छा, दया और मधुर वाणी से खुश करने का प्रयत्न करते रहे। वे ईमानदार और अच्छे स्वभाव वाले मालिक, न्याय बरतने वाले और नगर के रक्षक थे। वे हिन्दू और मुसलमानों की मदद करते थे और हम सबसे स्नेह करते थे।

हिन्दोस्तान के रस्मरवाजों से परिचित होने के कारण वे हर फिरके के ख्याल रखते, रिआया को खुश रखते थे और हम सब का न्याय करते थे। हमारे प्रति उनका बाहरी और भीतरी व्यवहार समान रूप से था।

हम सब उनके प्रति बहुत ही सतुष्ट, प्रसन्न और आभारी हैं।

दस्तखत महाजनान नई पट्टी व सौदागरान वगैरह

१ नगर सेठ चतुर्भुज दास, २ रामचन्द्र साहू, ३ फतहचन्द साहू, ४ मनोहरदास साहू, ५ कुभन दास, ६ राजा वच्छराज, ७ अरजुनजी नाथाजी, ८ सुखदेव राय कश्मीरी मल, ९ बाबू खुशहाल चन्द, १० खेतसी तिलोकसी, ११ रामचन्द गोकुलचन्द, १२ भवानी दास, भाई गोपाल दास, १३ कान्ह दास, १४ बाबू कान्ह चन्द, १५ गोविन्द चद, १६ मन्नालाल साहु, १७ खुशाल दास कान्ह दास सराफ, १८ जद्दू राम हरीशकर, १९ काशीनाथ नन्द राम, २० मोहनदास गोकुल दास, २१ रामलखमी नाथ, २२ चेतनाथ बैजनाथ, २३ कौलापत जौहरी, २४ उदै करनदास, २५ गिरधर दास गोकुल दास, २६ मोहन लाल मोतीराम, २७ मकुद लाल, २८ भजनलाल जमुना दास, २९ कान्हदास चतुर्भुज दास, ३० रसिकदास गोपाल दास, ३१ भूधरराय साहु, ३२ देवीदास मोहनलाल, ३३ छावीलाल तँवरार शीव, ३४ लछमीनारायन, ३५ बैजनाथ, ३६ जैराम दास, ३७ मनसाराम लालचन्द, ३८ लालजी बुलाकी लाल, ३९ दमोदर दास तिरभुवन दास, ४० गगाराम शिवबख्श, ४१ ठाकुर दास कान्ह दास, ४२ गगा बिशन महादेव, ४३ हरपरशाद राय, ४४ सेवादास जौहरी, ४५ बिंदरावन मथुरामल, ४६ भवानी दास पराग लाल, ४७ किशन जी, ४८ महादेव बालकिशुन, ४९ माधोदास नरोतम दास, ५० रूपचन्द ५१ रामकिशुन खजानची, ५२ रमन लाल, ५३ बैजनाथ सीतल बख्श, ५४ कटी दास, ५५ सिरामन दास, ५६ जमना दास, ५७ गोपाल दास चौधरी, ५८ महय जीवन राम नागर, ५९ चौधरी सुखराज, ६० जमना दास गोवरधन दास, ६१ दयाल दास प्रतिनिधि लाला कश्मीरी मल, ६२ बीरवलदास जौहरी, ६३ सभू नाथ, ६४ बैजनाथ जी, ६५ जैकरन दास, ६६ मोवराज चत्यामल, ६७ ब्रिजलोचन दास, ६८ चतुरदास बजाज, ६९ कुबेर दास, ७० ब्रिजरमन दास, ७१ मनमोहन दास, ७२ रसिकलाल, ७३ स्यामदास, ७४ साकरचन्द परसोतम दास, ७५ ब्रिजपति दास, ७६ कुभनदास परमानद दास, ७७ गोपाल दास, ७८ बालम दास, ७९ बेनी दास, ८० जगजीवन दास, ८१ रामदास मोढ, ८२ लालचद, ८३ जीवन राम पितम्बर दास, ८४ चपल दास ब्रिजभवन दास, ८५ गोकुल दास, ८६ ब्रिजवल्लभ दास, ८७ गोपाल दास, ८८ हरजीवन दास, ८९ कान्ह दास रवन दास, ९० मानिक दास जगजीवन दास, ९१ रघुनाथ जमना दास, ९२ दामोदर दास ब्रिजमुख दास, ९३ जग्गू साहु, ९४ गोपाल दास, ९५ लछमन दास, ९६ बेनीधर ९७ चतुर दास, ९८ ठाकुर दास, ९९ सुरदमन दास, १०० रामजीवन दास, १०१ माधुरी दास, १०२ बालम दास, १०३ जीवन दास, १०४ ब्रिजरतन दास, १०५ रतनदास ब्रिजलाल दास, १०६ ब्रिजपत दास, १०७ अनुपन दास, १०८ जेठमल चौधरी बजाज, १०९ जग्गू साहु, ११० जैराम दास, १११ देवी सिंघ, ११२ कुभन दास, ११३ रामदास, ११४ नरपत मिसर, ११५ कान्ह दास मथुरा दास, ११६ रतनचन्द, ११७ जैशकर पचशकर, ११८ राम दास, ११९ ब्रिजवल्लभ दास, १२० सीताराम बजाज, १२१ माधुरी दास परमानन्द दास, १२२ जमीरा दास, १२३ घनश्याम दास कल्याण दास, १२४ जीवन दास, १२५ गोवरधन दास रामदास बजाज, १२६ मोहन दास साहु, १२७ प्रभू दास गोकुल दास, १२८ नरोतम दास, १२९ गोपाल दास, १३० बिरजानन्द दास, १३१ भगवान दास सामदास, १३२ राजाराम

१३३ कुडामल, १३४ बेनीराम वजाज, १३५ वरजीवन दास जैराम दास, १३६ मीठालाल अर्जीवाला, १३७ जग्गू साहु वजाज, १३८ घनशाम दास वजाज, १३९ चतुरदास वजाज, १४० उदे राम, १४१. शिवशकर, १४२ दयाल दास, १४३ मेवक राम, १४४ विश्ननाथ, १४५ माधोजी १४६ ठाकुर दास, १४७ राधेकिशन कन्हैया लाल, १४८ किशोर दास राधे किशन, १४९ दया नरायन, १५० फतेह चन्द भवानी परसाद, १५१ लालचन्द १५२ लाल दास पलती दास, १५३ जीवन लाल, १५४ घमडी मल, १५५ हरगोविन्द मिश्र, १५६ महताव राय मिश्र, १५७ मनसुरा दास, १५८ नौनिध, १५९ जीतमल, १६० गोविंदपत वजाज, १६१ प्रीतम दास वजाज, १६२ कँवलनैन, १६३ गोवरधन दास, १६४ घनसाम दास, १६५ अनतजी दूवे, १६६ मनोहर दास वजाज, १६७ विजै राम १६८ भेज राम, १६९ चुन्नीलाल मुन्नीलाल वजाज, १७० वदल सिह वजाज, १७१ छवील दास, १७२ चित्तू लाल, १७३ गगा परसाद, १७४ खदेरू मल, १७५ रामचन्द्र नायक, १७६ वावूलाल कल्यान दास, १७७ नरपत राय खत्री, १७८ भवानी दयाल, १७९ वालगोविंद, १८० नरायनजी, १८१ काशीनाथ, १८२ किशन दास लछमन दास, १८३ रामजस दलीप राय, १८४ मसजरराम सलामत राय, १८५ मन्नू लाल, १८६ किरपा राम, १८७ रोहामल, १८८ वदली राम, १८९ परमू दास, १९० लालजी, १९१ विजै राम, १९२ सदानन्द, १९३ वावूलाल, १९४ कनैय्यू भगत, १९५ जीतन मल, १९६ गनपत, १९७ केसोराम, १९८ मगल सेन, १९९ पजाव दास, २०० हरिसुख, २०१ सगम लाल, २०२ पडीमल, २०३ नदराम गोपीनाथ, २०४ मेहरवान वजाज, २०५ नरायन वजाज, २०६ वावू जगतनरायन, २०७ वल्लभ दास ठाकुर दास, २०८ मोहन लाल, २०९ भैरो नाथ, २१० छोटेलाल, २११ मनोरथ वजाज, २१२ सीताराम रस्तोगी, २१३ नरोतम दास, २१४ वशी सिंह, २१५ केवल किशन, २१६ तोताराम मोहन लाल, २१७ राधाकिशन, २१८ भवानी चद, २१९ सेंधी राम, २२० केसोदयाल दस्तूरिया, २२१ गुलजारीमल, २२२ पीतम दास, २२३ ब्रिजवन दास, २२४ पडीमल, २२५ परभूदास पीतम दास, २२६ मीठालाल, २२७ भिखारी दास, २२८ सीताराम, २२९ जगजीवन दास, २३० काकामल, २३१ महताव सिंह, २३२ योहूमल, २३३ सुखदेव चद, २३४ फेरू मिसिर, २३५ सिपाहीमल, २३६ जतन मल, २३७ पन्नूधर, २३८ फक्कूमल, २३९ शिवनाथ, २४० वूरामल, २४१ चदरभान, २४२ गगा विशन, २४३ गरवरीमल, २४४ खुत्यामल, २४५ देवीदास, २४६ मौजी, २४७ वालगोविंद, २४८ लाला रामनाथ राजा काशीनाथ के वेटे, २४९ सीताराम हाडा, २५० गगा परसाद, २५१ गजपत राय।

उन महंतो और गोसाइयों के दस्तखत जो महाजनी और सौदागरी का पेशा करते थे

२५२ महत फकीर गिरि, २५३ महत लोला गिरि, २५४ महत टीका गिरि, २५५ महत मोती गिरि, २५६ महत पर्वतपुरि, २५७ महत इच्छा गिरि, २५८ महत शिव गिरि, २५९ महत लखपत गिरि, २६० महत नवखत भारती, २६१ गोसाई नरोत्तम भारती, २६२ महत फूल गिरि, २६३ महत रसाल गिरि, २६४. गोसाई भूपत गिरि, २६५ महत सुदेसर गिरि,

२६६ महत निरमल गिरि, २६७ महत सूरत गिरि, २६८ गोसाईं भोज गिरि, २६९ महत सुजान गिरि, २७० महत रामेसर गिरि, २७१ गोसाईं दौलत गिरि, २७२ गोसाईं अजन गिरि, २७३ महत गुलाव गिरि, २७४ गोसाईं मान गिरि, २७५. गोसाईं परताव गिरि, २७६ महत जोध गिरि, २७७ गोसाईं राज गिरि, २७८ महत भीकी गिरि, २७९ महत वल्त गिरि, २८० महत विशन भारती, २८१ महत नरोतम भारती, २८२ गोसाईं दीना भारती, २८३ गोसाईं सहज भारती, २८४ महत ग्यान गिरि, २८५ महत पेम गिरि, २८६ महत कृपाल गिरि, २८७ महत चेतन गिरि, २८८ महत देवी गिरि, २८९ महत राम गिरि, २९० महत हंस गिरि, २९१ महत चेत गिरि ।

वनारस के कारीगर वगैरह

२९२ लाला भोटा राम, २९३ राववहादुर सिंह, मुत्सद्दी वादशाही, २९४ लाला मोहर सिंह, मुत्सद्दी वादशाही, २९५ गगापरशाद, २९६ व्रिजवासीलाल सुखवासीलाल खत्री, २९७ जगतकिशोर, २९८ सूबाराय, २९९ परानमाथ, ३०० सुखवासी राय, ३०१ जैगोपाल, ३०२. कुवरभाई खत्री, ३०३ लछमनदत्त भट, ३०४ कुवरवख्श राय, ३०५ किरपाराम, ३०६ भागचन्द, ३०७ गुरुजी, ३०८. आत्माराम मिश्र, ३०९. भोला महतो, ३१० जाफर, ३११. वावरुला, ३१२. लाल मुहम्मद, ३१३ दूल्हा, ३१४ जैन महतो, ३१५. कीका महतो, ३१६ वधू मियाँ, ३१७ वारिस महतो, ३१८. खदेरू महतो, ३१९ भीखे महतो, ३२० हसन महतो, ३२१ भीकी महतो, ३२२ फेरू महतो, ३२३ अहमद महतो, ३२४ गुलाम महतो, ३२५ थनू महतो, ३२६ दूल्हा महतो, ३२७ खीरन महतो, ३२८ दोकड महतो, ३२९. हुसैन महतो, ३३० गुलाव सरदार, ३३१ सुलतान, ३३२. दूल्हा, ३३३ वाहिद महतो ३३४ मखा महतो, ३३५. हेवू महतो, ३३६ गरीबुल्ला महतो, ३३७ रहमू महतो, ३३८ साहू महतो, ३३९ हीदन महतो, ३४० जैन अल-आवेदीन, ३४१ भीखू महतो, ३४२ मुहम्मद महतो, ३४३ हेकना महतो, ३४४ जानमुहम्मद, ३४५ दीनमुहम्मद, ३४६ खान मुहम्मद, ३४७ लालचन्द ब्राह्मण, ३४८ रामदयाल, ३४९ मजलिसराय ब्राह्मण, ३५० वीधा मिश्र, ३५१ वस्तीराम, ३५२ चन्दनराय, ३५३ सोभाराम, ३५४ नियामतुल्ला सौदागर, ३५५ गगापरशाद, ३५६ तीरथराम, ३५७ महतावराय, ३५८ रजन मिश्र, ३५९ भीखन मिश्र, ३६० वस्तीराम, ३६१ लज्जाराम, ३६२ टीकाराम, ३६३ दुरगापरसाद, ३६४ वगता, ३६५ विशनाथ पडित, ३६६ नानकचन्द, ३६७. केशो चौधरी, ३६८ वसता मिश्र, ३६९ रतन मिश्र, ३७० लज्जासिंघ, ३७१ हैकूलाल, ३७२ दिलेरदास, ३७३ देसू महतो, ३७४. घीसू, ३७५ नूर महतो, ३७६ खुस महतो, ३७७ कुतुव महतो, ३७८ महमद महतो, ३७९. हीगन महतो, ३८० ताज महतो, ३८१ दरगाही महतो, ३८२ सुल्तान, ३८३ गुलाम अहमदुल्ला हुसैन, ३८४ ताजन, ३८५ पीर मुहम्मद, ३८६ भीखन महतो, ३८७ मानुल्ला, ३८८ दौलत मुहम्मद, ३८९ मानुल्ला, ३९० ईदन महतो, ३९१ झूला महतो, ३९२ तौलन महतो, ३९३ रफी उद्दीन, ३९४ दोस्त मुहम्मद, ३९५ शेखलेखा मोमिन ३९६ चूहड-मोमिन, ३९७ ईसन महतो, ३९८ पीर मुहम्मद, ३९९ ताज मुहम्मद, ४०० नफीसराय, ४०१ शेरू महतो, ४०२ रहीम, ४०३ पीर मुहम्मद, ४०४ मक्खू महतो, ४०५. फतह मुहम्मद, ४०६ फाजिल, ४०७. लाल मुहम्मद । ● ●

विशेष नाम सूची

आ

ख

ग

घ

च

छ

प

भ

म